सांख्यतत्त्वकौमुदी

[ईश्वरकृष्ण-कृत सांख्यकारिका तथा वाचस्पतिमिश्र-कृत तत्त्वकौमुदी का हिन्दी-अनुवाद एवं ज्योतिष्मती व्याख्या]

प्रणेता
रामशंकर भट्टाचार्य

मोतीलाल बनारसीदास
दिल्ली :: वाराणसी :: पटना

ईश्वरकृष्ण द्वारा विरचित यह ग्रन्थ 'साङ्ख्यकारिका' 'सप्तति', 'साङ्ख्यसप्तति' आदि नामों से प्रसिद्ध है। इसमें कारिकाओं की संख्या ७२ है, यद्यपि साङ्ख्यीयार्थ प्रतिपादन की समाप्ति ७० तम कारिका में ही हो जाती है। ७१-७२ कारिकाओं में हमें ग्रन्थ और ग्रन्थकार का संक्षिप्त परिचय मिलता है।

कई विचारकों के मत में यह शास्त्र साङ्ख्य नाम से इसलिये भी प्रसिद्ध है कि इसमें व्यक्त और अव्यक्त अचेतन प्रकृति के चौबीस रूपों के साथ चेतन पुरुष को मिलाकर पञ्चविंशति तत्त्वों का निरूपण हुआ है। कुछ भी हो, सङ्ख्याप्रधान होने के कारण इस शास्त्र का साङ्ख्य नामकरण हुआ।

साङ्ख्यशास्त्र में साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी का प्रतिष्ठित एवं अनुपम स्थान है। इस पर वाचस्पतिमिश्र ने तत्त्व-कौमुदी टीका लिखी। इस टीका के कारण यह कृति साङ्ख्य-तत्त्वकौमुदी नाम से प्रख्यात हुई है।

वाचस्पतिमिश्र दर्शनशास्त्र के प्रसिद्ध टीकाकार हुए हैं। किन्तु उन्हें जो साङ्ख्यकारिका की व्याख्या से ख्याति मिली वह अन्य किसी दर्शन की व्याख्या से नहीं मिली। साङ्ख्यकारिका की व्याख्या में उन्होंने प्रमाण, कार्यकारणवाद, पुरुषप्रकृतिस्वरूप, प्रकृतिसर्ग आदि साङ्ख्य-शास्त्रीय वर्ण्य विषयों का जो विवरण दिया उसके आगे कोई भी व्याख्याकार उनकी तुलना में नहीं ठहर सकता।

साङ्ख्यशास्त्र के कई विवादास्पद विषय हैं जिन पर भाष्यकार एकमत नहीं हैं। यहां तक कि निष्पक्ष व्याख्याता वाचस्पतिमिश्र भी उलझे हुए दीखते हैं। ऐसे विवादग्रस्त तथा अन्य विषयों को सुलझाने के लिये रामशङ्कर भट्टाचार्य ने ज्योतिष्मती टीका लिखी है, तत्त्वकौमुदी सहित कारिकाओं का हिन्दी अनुवाद भी किया है और ग्रन्थ के प्राक्कथन में शंकाओं के समाधान भी दिये हैं। अन्त में ज्योतिष्मती में व्याख्यात प्रमुख शब्दों की सूची भी दी है, टिप्पणी में पाठान्तर भी हैं। सांख्यीय साधन मार्ग, तत्त्वपरिचय, और तुलनात्मक सामग्री संवलित इस कृति में वे सभी गुण आ गये हैं जिनकी उच्च कृति में सदैव आशा बनी रहती है।

मूल्य रु. २५.०० (सजिल्द)
रु. १५.०० (अजिल्द)

सांख्यतत्त्वकौमुदी

[ईश्वरकृष्ण-कृत सांख्यकारिका तथा वाचस्पतिमिश्र-कृत तत्त्वकौमुदी का हिन्दी-अनुवाद एवं ज्योतिष्मती व्याख्या]

तत्त्व-स्वरूप-विश्लेषण, युक्ति-विशदीकरण एवं तत्त्वोपलब्धि-प्रक्रिया-विवरण
तथा वाचस्पति के ४० से अधिक तथा अन्यान्य ग्रन्थकारों
के ११० से अधिक मतों का युक्तायुक्तत्व-परीक्षण
इस व्याख्या का वैशिष्ट्य है।

प्रणेता
रामशंकर भट्टाचार्य
(एम० ए०; पी-एच० डी०; व्याकरणाचार्य)
Editor, Encyclopedia of Indian Philosophies
(Vol. on Samkhya and Yoga).

मोतीलाल बनारसीदास
दिल्ली : पटना : वाराणसी

प्रधान कार्यालय : बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली–७
शाखाएँ : (१) चौक, वाराणसी–१
(२) अशोक राजपथ, पटना–४

प्रथम संस्करण : वाराणसी, १९६७
परिवर्धित द्वितीय संस्करण : वाराणसी, १९७६
मूल्य : रु० १५.०० अजिल्द
२५.०० सजिल्द

श्री सुन्दर लाल जैन, मोतीलाल बनारसीदास, चौक, वाराणसी द्वारा प्रकाशित तथा एशियन प्रिंटिंग वर्क्स, वाराणसी द्वारा मुद्रित।

समर्पण

प्राचीन शास्त्रकारों के
अस्पष्टार्थक, बह्वर्थक एवं अंशतः अपूर्ण वाक्यों के
तात्पर्य को सम्यक् रूप से न समझने के कारण
जिन विचारकों ने सांख्यमतों पर
अज्ञता-मूलक आक्षेप किये हैं,
उनको यह ज्योतिष्मती-व्याख्या सादर समर्पित है
क्योंकि उनके द्वारा कृत आक्षेपों के समाधान के लिये
मुझे पारमर्ष तन्त्र का अन्तरंग मनन करना पड़ा
जिस मनन से मेरी बुद्धि आप्यायित हो गई।

●●●

ओम् नमः परमर्षये

व्याख्याकार का निवेदन

ऐश्वर्य-ज्ञान-वैराग्य-धर्मान्वितसुमेधसे ।
धर्ममेघप्रतिष्ठाय नमोऽस्तु कपिलर्षये ।।

मत्कृत ज्योतिष्मती-व्याख्या के साथ सतत्त्वकौमुदी सांख्यकारिका का एक संस्करण कुछ वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था, जो अब समाप्त हो गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ उस ग्रन्थ का उपबृंहित एवं बहुधा परिवर्तित संस्करण है। मित्रों के सुझावों के अनुसार इस संस्करण में प्रत्येक कारिका के साथ साथ ज्योतिष्मती व्याख्या को रखा गया है जिससे लोकप्रचलित तथा वाचस्पतिप्रोक्त सांख्यविषयक मतों से हमारे परम्परागत मतों का पार्थक्य सहजतया ज्ञात हो सके। छात्रों की सुविधा के लिए इस संस्करण में ज्योतिष्मती-व्याख्या को दो भागों में बाँट दिया गया है। एक भाग में सांख्यविषयक प्रचलित मतों के युक्तायुक्तत्व की समीक्षा प्रधानतः की गई है तथा दूसरे भाग में छात्रों की सुविधा के लिए तत्त्वकौमुदी के विशिष्ट पद-वाक्यों की स्पष्ट व्याख्या की गई है। तत्त्वकौमुदी के वाक्यों के अर्थ को स्पष्ट करने के लिये (हिन्दी-अनुवाद मे) कोष्ठकों में अनेक नई बातें जोड़ दी गई हैं। इस प्रकार यह संस्करण जिस प्रकार गवेषक विद्वानों के लिये उपयोगी है, इसी प्रकार छात्रों के लिये भी उपयोगी है।

ज्योतिष्मती टीका में प्रतिपादित मुख्य मत कापिलमठाचार्य पूज्यपाद स्वामी हरिहरानन्द आरण्य की दृष्टि का आश्रय करके प्रतिपादित हुये हैं। इस ग्रन्थ के सभी सूक्ष्म विचारों के मूल में आचार्यचरण का उपदेश है—यह निवेदनीय है।

ज्योतिष्मती व्याख्या को पढ़ने के समय पाठकों को यह प्रायः प्रतीत होगा कि इसमें सांख्यसम्बन्धी अनेक प्रचलित धारणाओं को सांख्यीय नहीं माना गया है। अनेक ऐसे मतों को सांख्यीय मतों के रूप में दीर्घकाल से विद्वद्-वर्ग मानते आ रहे हैं जो वस्तुतः सांख्यीय नहीं हैं। ऐसे मतों के कारण सांख्य को यथार्थतः समझने में बाधा होती है। सांख्यमार्ग के जो साधक नहीं हैं, उनके द्वारा रचित व्याख्याग्रन्थों को प्रामाणिक मानने के कारण यह क्लिष्ट परिस्थिति उत्पन्न हो गई है। एक उदाहरण लें—S. S. Suryanarayana Sastri कहते हैं—There is also the more fundamental difficulty as to how spirit, which is pure, unchanging, non-active, can have any purposes at all (Introduction, p. xi)। मेरा कहना है—पुरुष (तत्त्व) में purpose है—

यह सांख्य कहता है क्या? सांख्य ऐसा नहीं कहता—यह हमारा मत है तथा हमारा मत है कि पुरुष (तत्त्व) purpose से युक्त है—ऐसा मानने वाले सभी व्याख्याकार अवश्य ही सांख्य में अज्ञ हैं। Suryanarayana Sastri जी को चाहिये कि वे या तो यह दिखायें कि सांख्यशास्त्र अपरिणामी पुरुष को purpose-युक्त मानता है अथवा यह स्वीकार करें कि सांख्य में पुरुष purpose-युक्त स्वीकृत न होने पर भी वे किसी व्याख्याकार के दबाव के कारण पुरुष को वैसा मानते हैं, जिसके कारण उनको सांख्य-मत की संगति समझने में कठिनता होती है।

हमने जो कुछ भी लिखा है, वह गुणत्रय-पुरुष-सत्कार्यवाद के अनुसार है, अतः हम अपने मतों को सङ्गत ही समझते हैं। कितने ही ऐसे सांख्यमत प्रचलित हैं, जो त्रिगुणानुसारी नहीं हैं। ऐसे मतों को हम असांख्यीय ही समझते हैं। हमारे अनुसार सांख्य की मूल प्रतिज्ञाओं में अद्ययावत् कोई परिवर्तन नहीं हुआ; कुछ लोगों ने असांख्यीय मतों को अज्ञानवश सांख्यीय मत कहकर प्रचार किया—यह दूसरी बात है। शङ्करादि आचार्यों ने सांख्यमत के रूप में जिन मतों को प्रचारित किया, उनमें बहुसंख्यक मत सांख्यीय नहीं हैं, क्योंकि वे मत त्रिगुण-पुरुष-सत्कार्यवादानुगामी नहीं हैं। तत्त्वों की उपलब्धि समाधिसाध्य है—अतः बहिर्दृष्टि से सांख्यीय तत्त्वों के विषय में समालोचना करना उपहासास्पद कार्य है।

हमारा यह स्पष्ट मत है कि प्रचलित द्वैतवाद, अद्वैतवाद आदि के रूप में सांख्यीय दृष्टि को समझा नहीं जा सकता। दृष्टिकोणों की भिन्नता के आधार पर सांख्य अद्वैतवादी भी है, द्वैतवादी भी है। मूलीभूत पदार्थों की संख्या के अनुसार दर्शनों का श्रेणीविभाग करना अन्याय्य है, क्योंकि अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति की दृष्टि में इस विभाग का कोई फल नहीं है।

प्रस्तुत ग्रन्थ बहुत बढ़ जाने के कारण भूमिका में विचारार्ह 'सृष्टिप्रक्रिया' 'सांख्यीय दृष्टि का स्वरूप' तथा 'सांख्यीय ईश्वरवाद'—इन विषयों का विशद प्रतिपादन नहीं किया जा सका। सांख्यसंमत ब्रह्माण्ड-सर्जक प्रजापति रूप ईश्वर के विषय में आवश्यक बात इस ग्रन्थ में यथास्थान द्रष्टव्य है। [अनादिमुक्त-चित्त-व्यपदिष्ट क्लेशादि-अपरामृष्ट ईश्वर के विषय में ग्रन्थ में कुछ कहने का अवसर नहीं आया। वर्तमान काल के लोगों के लिए प्रजापति हिरण्यगर्भ ईश्वर का प्रणिधान करना ही सुकर है; अनादिमुक्त ईश्वर का प्रणिधान करना कठिन है—अतः यह विवृत नहीं हुआ]

सांख्य के विषय में इतना ही कहना यहाँ पर्याप्त होगा कि सांख्य प्रचलित अर्थ में न पूर्णतः ईश्वरवादी या निरीश्वरवादी है, न द्वैतवादी या अद्वैतवादी है, न जड़वादी या चेतनवादी है, न वस्तुवादी या विज्ञानवादी है। चेतन, जड़, नाना प्रकार के सोपाधिक पुरुष (जो धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य तथा इनके विपरीत चार भावों के कारण असंख्य प्रकार के हैं), इनका परस्पर सम्बन्ध, ब्रह्माण्ड और उसकी सृष्टि,

बन्ध-मोक्ष-व्यवस्था आदि विषयों पर सांख्य की निजी दृष्टियाँ हैं। प्रकृति और पुरुष (तत्त्व) चूंकि अविश्लेष्य हैं, अतः सांख्य इन दो असंवेद्य तत्त्वों को परस्पर निरपेक्ष स्वप्रतिष्ठ मानता है। ध्यान देना चाहिए कि किसी देश या काल में केवल पुरुष या शुद्ध प्रकृति प्राप्तव्य नहीं है। जो ध्येय या प्राप्तव्य है, वह अवश्य ही 'चिज्-जड़ का संघातभूत पदार्थ' होगा। इन विषयों का सविस्तार प्रतिपादन भविष्य में प्रकाशनीय प्रसंख्यानभाष्य (सांख्यकारिका पर) में द्रष्टव्य है।

सांख्य को सेश्वर-निरीश्वररूपेण विभक्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि ईश्वरता रूप धर्म का विश्लेषण करना सांख्य का विषय है (सांख्य से भिन्न किसी भी शास्त्र में ईश्वरता-धर्म का विश्लेषण नहीं है)। सांख्य का कहना है कि सृष्टि और स्रष्टा के विषय में सांख्य-भिन्न सम्प्रदायों में जो मत दिखाई पड़ते हैं, वे बहुत कुछ बालोचितचिन्तापूर्ण हैं। हमारा कहना है कि ईश्वर के विषय में आंशिक तत्त्वज्ञान भी उसी को होता है जो विभूतियों को समझ सकता है। पृथ्वी में प्रचलित सभी सम्प्रदायों में जो विचार हैं उन विचारों के आधार पर कोई भी किसी भी विभूति की पूर्ण व्याख्या नहीं कर सकता। यह असामर्थ्य सिद्ध करती है कि इन सम्प्रदायों की ईश्वरविषयक दृष्टियाँ बहुत कुछ अज्ञतापूर्ण हैं। क्या रामानुज-मध्व-निम्बार्क-वल्लभ-बलदेव-श्रीकर-श्रीकण्ठ आदि आचार्यों के ग्रन्थों से प्रतीत होता है कि वे विभूति की कार्यकारण-परम्परा को समझते थे? इन आचार्यों की तुलना में शङ्कराचार्य अधिक सूक्ष्मदर्शी थे—इसमें संशय नहीं है। कोई विभूतिविश्लेषणमूढ साम्प्रदायिक आचार्य जब ईश्वरविषय को लेकर विभूति को सम्यक् समझाने वाले सांख्य पर आक्षेप करते हैं तो उनकी इस धृष्टता पर मुझे हँसी आती है! साधारण लौकिक बुद्धि से यादृश ऐशी सत्ता समझी जाती है, सांख्यीय दृष्टि में वैसी ऐशी सत्ता असिद्ध है—ईश्वरासिद्धेः (सां० सू० १।९२)। सांख्यीय दृष्टि के अनुसार अनेक प्रकार के ईश्वर हैं और प्रत्येक प्रकार में ईश्वर-व्यक्तियों की संख्या अवधारणीय नहीं है। सांख्यीय अनादिमुक्तचित्तवान् ईश्वर की संख्या भी अनिर्धार्य है। संख्या के अनिर्धार्य होने पर भी ईश्वर-प्रणिधान में कुछ भी हानि या बाधा नहीं होती। त्रिगुण के कीदृश परिणाम होने पर उसमें सर्वज्ञता-सर्वशक्तिमत्ता आदि ऐश गुण प्रकटित हो सकते हैं—यह सांख्यशास्त्र का एक आवश्यक विचार्य विषय है, यद्यपि कैवल्यसिद्धि की दृष्टि में सर्वज्ञता—आदि विक्षेप ही हैं, अतः हेय हैं।

इस व्याख्या-ग्रंथ में निम्नोक्त विषयों का प्रतिपादन मुख्यतः किया गया है—

(१) कारिकाओं का पाठसम्बन्धी विचार—कुछ कारिकाओं के पाठ भ्रष्ट प्रतीत होते हैं, जिनको ठीक करने की चेष्टा की गई है। कुछ कारिकाओं के मूल पाठों को ऊहित करने की चेष्टा की गई है, जो आपातदृष्टि से निर्दोष हैं।

(२) तत्त्वकौमुदी के पाठों की समीक्षा—हमारी दृष्टि में तत्त्वकौमुदी के ८–९ वाक्य संशोधनार्ह हैं, जिनका संशोधन करने की चेष्टा यहाँ की गई है।

(३) तत्त्वकौमुदी में उद्धृत वाक्यों का आकर-ग्रन्थानुसारी अनुवाद—आकर-ग्रन्थों का परिज्ञान न रहने के कारण जिन उद्धृत वाक्यों की व्याख्या अशुद्ध रूप से की जाती है, उनका परिहार इस ग्रन्थ में किया गया है।

(४) तत्त्वकौमुदी के अनुवादों की अशुद्धियों का प्रदर्शन—अंग्रेजी और हिन्दी में तत्त्वकौमुदी के कई अनुवाद-ग्रन्थ प्रचलित हैं। इन ग्रन्थों के अनुवादों की अयुक्तता परिशिष्ट में यथास्थान द्रष्टव्य है।

(५) कारिका (एवं तत्त्वकौमुदी) के अस्पष्टार्थक एवं दुरूहार्थक शब्दों की व्याख्या—चेतन, अध्यवसाय, सङ्कल्प आदि शब्दों के शास्त्रकार-विवक्षित अर्थ यहाँ दिखाये गये हैं। परिशिष्ट में तत्त्वकौमुदी के गूढ़ार्थक शब्दों एवं वाक्यों के अर्थ विशदरूप से किये गये हैं।

(६) कारिकोक्त युक्तियों की व्याख्या—कारिकोक्त युक्तियों का प्रकृत स्वरूप क्या है—यह यहाँ दिखाया गया है। हमारी दृष्टि में कारिकोक्त अनेक युक्तियों की प्रचलित व्याख्या अपूर्ण, स्थूल एवं सदोष है।

(७) सांख्यीय सिद्धान्तों की गम्भीरता एवं सूक्ष्मता का प्रतिपादन—प्रत्येक सांख्यीय मत को गुणत्रय की दृष्टि से समझने की चेष्टा इस व्याख्या में की गई है। साथ-साथ सिद्धान्तों का परस्पर सम्बन्ध भी दिखाया गया है।

(८) भूत-तन्मात्र आदि तत्त्व एवं तत्त्व-निर्मित ईश्वरादि पदार्थों के स्वरूप का विशदीकरण—तत्त्वादि के स्वरूप के विषय में आजकल सर्वत्र विपर्यस्त ज्ञान ही दृष्ट होता है; जो जड़वैज्ञानिक शास्त्र के पदार्थों के साथ भूत आदि तत्त्वों के ऐक्य की बात करते हैं, वे अध्यात्म-शास्त्र को सर्वथा कदर्थित करते हैं। ज्योतिष्मती-व्याख्या में इन विषयों पर शास्त्रानुमोदित विचार किया गया है।

(९) तत्त्वों की उपलब्धि की प्रक्रिया का विवरण—भूत-तन्मात्र-इन्द्रियादि के स्वरूप को यथावत् समझने के लिए कहीं-कहीं इनकी उपलब्धि की पद्धति का लघु विवरण दिया गया है। साक्षात्कार की पद्धति को जानने से पदार्थ का स्वरूप कैसा होना चाहिए—इसका भी स्फुट ज्ञान हो जाता है—ऐसा समझकर साक्षात्कार-पद्धति का विवरण दिया गया है। पद्धति के इस विवरण को पढ़कर कोई साक्षात्कार करने की प्रक्रिया को यथार्थ रूप से जान नहीं सकता—यह ज्ञातव्य है।

(१०) सांख्य-सम्बन्धी लोकप्रचलित भ्रान्त धारणाओं का दूरीकरण—प्रमा, प्रमाण, बन्ध, जीव, ईश्वर आदि के विषय में सांख्यीय मतों के रूप में जिन मतों का प्रतिपादन किया जाता है, उनमें से अनेक मत हमारी दृष्टि में सांख्यीय नहीं हैं, जैसा कि यहाँ दिखाया गया है।

(११) आधुनिक समीक्षात्मक पद्धति के अनुसार चिन्तित सांख्य-विषयक भ्रान्त मतों का खण्डन—पाश्चात्त्य अनुसन्धान-पद्धति के सबसे बड़े दोष दो हैं—(१) शास्त्र की प्रकृति को न जानकर शास्त्रीय मतों पर विचार करना; तथा (२) ग्रन्थ में पदार्थ या मत का अनुक्त होना ग्रन्थकार द्वारा उसके अज्ञात होने का ज्ञापक है—यह मानना। ईदृश चिन्तन से जो दुष्ट मत निर्धारित होते हैं, उनके कई उदाहरण (खण्डन के साथ) इस व्याख्या में मिलेंगे।

(१२) अद्वैतवादी, बौद्ध आदि के द्वारा सांख्य पर किये गये आक्षेपों का समाधान—हमारा कहना है कि शङ्करादि आचार्य, उनके अनुयायी तथा बौद्ध-जैन-आचार्य आदि को सांख्य-मत का यथार्थ परिज्ञान नहीं था और बहुत्र उन्होंने असांख्यीय मत को सांख्यीय समझकर सांख्य का खण्डन किया है। कहीं-कहीं प्रकृत सांख्य मत का भी खण्डन करने के लिए इन आचार्यों ने चेष्टा की है। ज्योतिष्मती में कुछ खण्डनों का उत्तर दिया गया है।

(१३) अद्वैतवादी, बौद्ध, वैष्णव आदि की दृष्टियों की अयुक्तता का प्रतिपादन—दो चार स्थलों में प्रसङ्गवश इनकी दृष्टियों की सदोषता का प्रतिपादन किया गया है; इससे इनकी दृष्टियों की स्थूलता विज्ञात होगी।

(१४) बौद्धादि सम्प्रदायों के मतों का मूल है—सांख्यीय तत्त्वज्ञान को विकृतरूप से समझना; इस तथ्य का सोदाहरण प्रतिपादन यहाँ किया गया है।

(१५) इतिहास, मनोविज्ञान आदि आधुनिक शास्त्रों के मतों की सदोषता का प्रतिपादन—प्रासङ्गिक रूप से २।४ स्थलों में ऐसा प्रतिपादन किया गया है।

(१६) बौद्धमत, व्याकरण-न्याय-मीमांसा आदि के मतों का स्वच्छ विवरण—इन शास्त्रों के आकरग्रन्थों की सहायता से ये विवरण लिखित हुए हैं—यह ज्ञातव्य है।

ज्योतिष्मती-व्याख्या समीक्षाप्रधान है; इसमें स्वपक्ष-स्थापन के साथ-साथ परपक्ष-निर्जय भी है। सांख्य पर लिखने वाले अनेक विद्वानों के मतों की समीक्षा इसमें नाम-निर्देश-पुरःसर किया गया है। हमारे पाठक समीक्षित मतों को अच्छी तरह जान सकें तथा मतों के समीक्षा-स्थलों को अनायास ढूंढ सकें—इस उद्देश्य से हम यहाँ मत-प्रतिपादक ग्रन्थों के नाम-परिचय दे रहे हैं (व्याख्या के जिन पृष्ठों में समीक्षा की गई है, उन पृष्ठों के उल्लेख के साथ)—

तत्त्वकौमुदी के मतों की अयुक्तता का प्रतिपादन; द्र० पृ० १०, २६, ३०, ३७, ३८, ५६, ५८, ६१, ८७, ९२, ९३, १०१, १०३, ११५, ११६, १२१, १२३, १३७, १४०, १४९, १५२, १६३, १८०, १९१, २०१, २१२, २१५, २१७, २२४, २२८, २३३, २३७, २३८, २४४, २५१, २५२, २५३, २५६, २५७,

२६०, २७१, २७२, २७६, २८३, २८५, २९२, ३०३, ३०३, ३०४, ३०८, ३१४, ३१६, ३२२, ३२३, ४३०, ४३६।

तत्त्वकौमुदी के संपादन और व्याख्यान में जो दोष एकाधिक संस्करणों में दृष्ट होते हैं, उनकी आलोचना (विना किसी व्यक्ति का नाम लिये) यत्र-तत्र की गई है। द्र० पृ० १४, १५, १७, १०८, ११८, १२१, १३९, १७७, १८३, २४१, २५१, २५७, २५९, २६८, २९५, ३०२, ३०६, ३३०, ४२०, ४२५, ४२६, ४२७, ४२९, ४३०, ४३१, ४३२, ४३३, ४३४, ४३५, ४३६, ४३७, ४३८, ४३९, ४४०, ४४२।

जिन ग्रन्थों और निवन्धों के मतों की समीक्षा ज्योतिष्मती में की गई है, उनका विवरण नोचे दिया जा रहा है—

(क) तत्त्वकौमुदी की व्याख्यायें

प्रभा (डा० आद्याप्रसादमिश्र-कृत; ५ म संक०)—पृ० २२, ६७, ११२, २०२, २६१, २९३, ३१२, ३४९, ३६०, ३६२, ४३५।

तत्त्वप्रकाशिका (डा० गजाननशास्त्री मुसलगांवकर-कृत)—पृ० २४४, २५८, २६१, २७२, २८६, २९३, ३०६, ३१२, ३४४, ३६०, ३६१, ३९३, ४०४, ४०८, ४२७, ४४२।

सारवोधिनी (शिवनारायणशास्त्री-कृत)—पृ० २२ २८७, २९३, ३०६, ३११, ३९७, ४०८, ४२३, ४३७।

किरणावली (स्वामिनारायण-कृत)—पृ० ३०६।

तत्त्वविभाकर[1] (वंशीधरमिश्र-कृत) पृ० ११२, ४०८, ४३३, ४३६।

आवरणवारिणी (कृष्णनाथन्यायपञ्चानन-कृत) पृ० ४०४।

पूर्णिमा (पञ्चाननभट्टाचार्य-कृत)—पृ० २२८, ३६०, ४३९।

विद्वत्तोषिणी (वालरामउदासीन-कृत)—पृ० ३९७,

संस्कृतटिप्पणी (डा० हरदत्तशर्मा-कृत, तत्त्वकौमुदी-संवद्ध)—पृ० ३७२।

(ख) सांख्यकारिका की व्याख्यायें

अनुराधाव्याख्या (डा० व्रजमोहनचतुर्वेदी-कृत) पृ० १३, २२, १२३, १५३, २०३, २२५, २४३, २५९, २६५, २८६, २८७, २९२, २९८, ३१२, ३५०, ३५९, ३७६, ४२०, ४२१, ४२२, ४१४, ४२०, ४२१, ४२२, ४४२।

---

१. प्रभाटीका की भूमिका में इस टीका का नाम 'सांख्यतत्त्वदिवाकर' कहा गया है (पृ० ३९)। टीकाकार स्वयं 'कुर्वे तत्त्वविभाकरम्' कहते हैं (४र्थ मङ्गलाचरण-श्लोक)। ५ म श्लोक में 'सांख्यतत्त्वविभाकर' पद रहने पर भी टीका का नाम तत्त्वविभाकर ही सिद्ध होता है—यह वाक्यस्वारस्य से जाना जाता है।

(ग) सांख्यीय ग्रन्थ, निबन्धादि

(घ) अन्यान्य ग्रन्थ

न्यायकन्दली (श्रीधर-कृत)—पृ० ४३८ ।

तर्कभाषा की हिन्दी व्याख्या (पं० बदरीनाथशुक्ल-कृत)—पृ० ४० ।

तन्त्रालोक की जयरथकृतटीका—पृ० १०२ ।

तत्त्वसंग्रह (कमलशील-कृत)—पृ० ५८, १३१ ।

बोधिचर्यावतार (शान्तिदेव-कृत)—पृ० १३१ ।

परिमलटीका (अप्पय्यदीक्षित-कृत)—पृ० १६३ ।

शिवार्कमणिदीपिका (अप्पय्यदीक्षित-कृत)—पृ० १६३ ।

तन्त्रसिद्धान्तरत्नावली (चिन्नस्वामी-कृत)—पृ० १७ ।

History of Indian Philosophy (Dr. S. N. Dasgupta)—पृ० ७०, ७१, ३७७, ४३५ ।

Indian Philosophy (Dr. S. Radhakrishnan)—पृ० ९६, १४४, १६३, १६६, ३१३ ।

Critical Survey of Indian Philosophy (Dr. Chandradhar Sharma)—पृ० १२, १६६, २०२, ३१०, ३१३, ३५६ ।

Six Systems of Indian Philosophy (F. Max Muller)—पृ० १४४, ३९१, ४२७ ।

Sacred Books of the East (Max Muller)—पृ० ३९१, ४२९ ।

Essentials of Indian Philosophy (Dr. M. Hiriyanna)—पृ० १६७ ।

Indian Realism (Dr. J. N. Sinha)—पृ० ४१८ ।

An Introduction to Indian Philosophy (Chattejee & Datta)—पृ० ४१८ ।

Outlines of Hinduism (T. M. P. Mahadevan)—पृ० १४४ ।

History of Indian Literature (Winternitz)—पृ० ३७० ।

History of Dharmasastra (Dr. P. V. Kane)—पृ० ४३१ ।

Nature of the Physical World (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के चार विज्ञानाध्यापक द्वारा प्रणीत)—पृ० २४२, ३९९ ।

जिनके मतों की समीक्षा की गई है उनसे या उन मतों के अनुयायियों से मेरा अनुरोध है कि वे इस ग्रन्थ को पूरा पढ़ने के वाद ही खण्डन का प्रतिवाद करने के लिये चेष्टा करें । जिस मत का जहाँ खण्डन किया गया है, उस स्थल से भिन्न स्थलों में उस मत से संवन्धित अनेक तथ्यों पर विशद विचार किये गये हैं, जिनको जानना आवश्यक है ।

तत्त्वकौमुदी के संपादन-व्याख्यान में इच्छुक व्यक्ति के लिये यह सूचना देना आवश्यक समझता हूँ कि अनेक कोशों की सहायता से इस ग्रन्थ का एक अत्युत्कृष्ट सम्पादित संस्करण Hamburg से १९६७ ई० में प्रकाशित हुआ है (Srinivasa Ayya Srinivasan द्वारा सम्पादित; इसमें शारदालिपि में लिखित कोशों तथा अन्यान्य प्राचीन कोशों का भी उपयोग किया गया है; भूमिकादि जर्मन भाषा में हैं)।

मुझे अपने दो दोषों का उल्लेख करना है। मैं विगत ४-५ वर्षों से संस्कृत-अंग्रेजी में ही मुख्यतया कार्य करता आ रहा हूँ, जिसका फल यह हुआ कि हिन्दी भाषा के प्रयोग में मुझमें शैथिल्य आ गया। यही कारण है कि इस ग्रन्थ में हिन्दी-प्रयोगों में कुछ अशुद्धियाँ हो गई हैं। ग्रन्थकार के लिये यह अवश्य ही दोष है। दूसरा दोष मुद्रण के संबन्ध में है। इस ग्रन्थ का अक्षर-ग्रथन तीन प्रेसों में हुआ तथा अक्षर-ग्रथन एवं मुद्रण सदैव एक ही संस्था में नहीं हुये। मैं भी प्रेसकर्म में अदक्ष हूँ। इन हेतुओं का जो अवश्यंभावी फल होना चाहिये वह मुद्रित पृष्ठों में देदीप्यमान है। शुद्धिपत्र में केवल उन अशुद्धियों का निर्देश किया गया जिनके कारण अर्थबोध में विपर्यास होने की संभावना है।

शान्तश्रियः परमशास्त्रविदो महान्तो
वैगुण्यपुञ्जमपि सद्गुणतां नयन्ति।
दोषावलीमपरितापितया मृदूनि
ज्योतींषि विष्णुपदभाञ्जि विभूषयन्ति॥

गुरुपूर्णिमा
११ जुलाई, १९७६
२८ आषाढ़, विक्रम २०३३

रामशंकर भट्टाचार्य

विषय-सूची

जिन कारिकाओं पर छन्द या पाठ से सम्बन्धित विचार किया गया है, उनके साथ तारकाचिह्न संयुक्त है।

●●●

संक्षिप्त शब्दों का विवरण

प्रस्तुत ग्रन्थ में नामों का संक्षेप इस रूप से किया गया है कि विवक्षित नाम को जानने में कोई बाधा नहीं होगी। आवश्यकता समझकर कुछ शब्दों के संक्षिप्तरूप यहाँ दिये जा रहे हैं।

अ० = अध्याय
अष्टा० = अष्टाध्यायी
आवरण = आवरणवारिणी टीका
उप० = उपनिषद्
का० = कारिका
तत्त्ववै० = तत्त्ववैशारदी
त० वा० = तन्त्रवार्त्तिक
ता० टी० = न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका
तुल० = तुलनीय, मिलाओ
पाठा० = पाठान्तर
पु० = पुराण
द्र० = द्रष्टव्य
महाभा० = महाभारत
ब्रा० = ब्राह्मणग्रन्थ
युक्तिदी० = युक्तिदीपिका
यो० द० = योगद०
विद्वत्० = विद्वत्तोपिणीटीका
श्लो० वा०; श्लोक वा० = श्लोकवार्त्तिक
सारबो० = सारबोधिनीटीका
सू० = सूत्र
सूत्र० = सूत्रस्थान
C. H. I. = Cultural Heritage of India
C. S. I. P. = Critical Survey of Indian Philosophy
C. S. S. S. = A Critical Study of Samkhya System
H. Dh. S. = History of Dharmasastra (P. V. Kane)
H. I. L. = History of Indian Literature (M. Winternitz)
H, I. P. = History of Indian Philosophy (Dr. S. N. Dasgupta)
I. I. P. = An Introduction to Indian Philosophy (Chatterjee & Datta)
I. P. = Indian Philosophy (Dr. S. Radhakrishnan)
S. B. E. = Sacred Books of the East
S. S. I. P. = Six Systems of Indian Phylosophy

तत्त्वकौमुदीसहिता सांख्यकारिका
भाषाटीकया ज्योतिष्मतीव्याख्यया चान्विता

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां
बह्वीः प्रजाः सृजमानां नमामः।
अजा ये तां जुषमाणां भजन्ते
जहत्येनां भुक्तभोगां नुमस्तान् ॥१॥

कपिलाय महामुनये मुनये शिष्याय तस्य चासुरये।
पञ्चशिखाय तथेश्वरकृष्णायैते[1] नमस्यामः ॥२॥

(१) इह खलु प्रतिपित्सितमर्थं प्रतिपादयन् प्रतिपादयिताऽवधेयवचनो भवति प्रेक्षावताम्। (२) अप्रतिपित्सितमर्थं तु प्रतिपादयन् 'नायं लौकिको नापि परीक्षकः' इति प्रेक्षावद्भिरुन्मत्तवदुपेक्ष्येत।

हम उस (प्रकृति) को नमस्कार करते हैं, जो अज (अनुत्पन्न अर्थात् जिसका कोई उपादान कारण नहीं है), एकसंख्यक, लोहितशुक्ल-कृष्णरूपिणी (सत्त्व-रजस्तमोगुणमयी) एवं बहुसंख्यक प्रजाओं की सृष्टिकारिणी है। जो अनुत्पन्न प्राणी (क्षेत्रज्ञ आत्मा) (उपभोग को देकर) सेवा करने वाली उस प्रकृति का अनुसरण करते हैं और उस भुक्तभोगा प्रकृति को त्याग देते हैं, उनके प्रति भी हमारा नमस्कार है। ॥१॥

महामुनि कपिल, उनके शिष्य मुनि आसुरि, पञ्चशिख (आसुरिशिष्य) तथा ईश्वरकृष्ण को उनका अनुग्रह प्राप्त करनेके लिये हम नमस्कार करते हैं। ॥२॥

(१) यह निश्चित है कि इस व्यावहारिक जगत् में उस उपदेष्टा के वचन में हेय-उपादेय बुद्धिवालों की आस्था होती है जो उनके जिज्ञासित विषय का प्रतिपादन करता है; (२) इसके विपरीत अजिज्ञासित विषय के प्रतिपादक वक्ता को बुद्धिमान् लोग 'यह व्यक्ति न लौकिक (लोकव्यवहारज्ञ) ही है और न परीक्षक (प्रमाण द्वारा विवेचन-कारी) ही है—ऐसा समझकर उन्मत्त की भाँति उसकी उपेक्षा करते हैं।

---

१. एतानिति पाठस्तु अर्वाक्कालिक इति प्रतिभाति।

(३) स चैषां प्रतिपित्सितोऽर्थो यो ज्ञातः सन् परमपुरुषार्थाय कल्पते— इति प्रारिप्सितशास्त्रविषयज्ञानस्य परमपुरुषार्थसाधनहेतुत्वात् तद्विषय-जिज्ञासामवतारयति—

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके[1] हेतौ ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ॥१॥

(४) एवं हि शास्त्रविषयो न जिज्ञास्येत, यदि दुःखं नाम जगति न स्यात्, सद् वा न जिहासितम्, जिहासितं वाऽशक्यसमुच्छेदम् । अशक्य-समुच्छेदता च द्वेधा-दुःखस्य नित्यत्वाद् वा, तदुच्छेदोपायापरिज्ञानाद्वा। (५) शक्यसमुच्छेदत्वेऽपि च शास्त्रविषयस्य ज्ञानस्यानुपायत्वाद्वा, सुकरस्यो-पायान्तरस्य सद्भावाद्वा ।

---

(३) बुद्धिमानों का ज्ञातव्य विषय भी वही होता है, जिसका ज्ञान परम पुरुषार्थ (मोक्ष या कैवल्य) प्राप्त कराने में समर्थ होता है, अतः प्रारम्भ किये जाने वाले शास्त्र-विषय के ज्ञान के (मोक्षरूप) परम-पुरुषार्थ के साधन में हेतु होने के कारण कारिकाकार शास्त्र-विषय-सम्बन्धी जिज्ञासा का अवतरण करते हैं—

(आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक रूप) त्रिविध दुःख के साथ अभिघात होने से उसको विनष्ट करने वाले हेतु (उपाय) के विषय में जिज्ञासा उत्पन्न होती है । यदि यह कहा जाए कि दुःखविनाशकारी दृष्ट (=लौकिक) उपाय के विद्यमान होने के कारण यह (शास्त्रीय उपाय सम्बन्धी) जिज्ञासा व्यर्थ है, तो उत्तर यह है कि ऐसी बात नहीं है, क्योंकि लौकिक उपाय से दुःखत्रय का एकान्त (=अवश्यंभावी) और अत्यन्त (=पुनः उत्पत्तिहीन) अभाव नहीं होता ॥१॥

(४) यदि जगत् में दुःख न हो, अथवा होने पर भी दुःख त्यागने की इच्छा न हो अथवा परित्याग करने की इच्छा होने पर भी दुःख के नित्य (=अविनाशी) होने के कारण या उसके विनाश के उपाय का परिज्ञान न होने के कारण दुःखों की निवृत्ति सम्भव न हो, (५) अथवा दुःख की निवृत्ति सम्भव होने पर भी प्रस्तुत (सांख्य) शास्त्रप्रतिपाद्य विषय का ज्ञान दुःखनिवृत्ति का उपाय न हो, अथवा उपाय होने पर भी इस सांख्यीय तत्त्वज्ञान की अपेक्षा कोई सरलतर उपाय हो तो शास्त्रीय तत्त्वज्ञान रूप विषय के लिये जिज्ञासा कदापि उत्पन्न न होगी । (जिज्ञासा न हो इसके पाँच हेतु यहाँ कहे गये है, यह द्रष्टव्य है ।

---

१. तदवघातके इति पठ्यते कैश्चित् ।

(६) तत्र न तावद् दुःखं नास्ति, नाप्यजिहासितम् इत्यत उक्तम्—"दुःखत्रयाभिघाताद्" इति। दुःखानां त्रयं दुःखत्रयम्। (७) तत् खलु आध्यात्मिकम्, आधिभौतिकम्, आधिदैविकञ्चेति। (८) तत्राध्यात्मिकं द्विविधम्—शारीरं मानसं च। शारीरं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यनिमित्तम्, मानसं कामक्रोधलोभमोहभयेर्ष्याविषादविषयविशेषादर्शननिबन्धनम्। (९) सर्वञ्चैतदान्तरोपायसाध्यत्वादाध्यात्मिकं दुःखम्।

(१०) बाह्योपायसाध्यं दुःखं द्वेधा—आधिभौतिकम्, आधिदैविकञ्च। तत्राधिभौतिकं मानुषपशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावरनिमित्तम्; आधिदैविकं तु यक्षराक्षसविनायकग्रहाद्यावेश-निबन्धनम्।

(११) तदेतत् प्रत्यात्मवेदनीयं दुःखं रजःपरिणामभेदो न शक्यते प्रत्या-

---

(६) परन्तु जगत् में दुःख है ही नहीं—ऐसा नहीं कहा जा सकता अथवा दुःख के होने पर भी उसकी निवृत्ति किसी को काम्य नहीं है—ऐसा भी नहीं है; इसीलिये कारिकाकार ने कहा है—'दुःखत्रय के अभिघात के कारण'। 'दुःखत्रयम्' का व्यासवाक्य है—दुःखानां त्रयम्।

(७) दुःख तीन प्रकार के हैं—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक।

(८) इनमें से आध्यात्मिक दुःख शारीर (शरीर में जात) और मानस (मन में जात) भेद से दो प्रकार के हैं। वात (वायु) पित्त और कफ की विषमता से उत्पन्न दुःख को शारीर तथा काम, क्रोध, लोभ मोह, भय, ईर्ष्या एवं विषाद से उत्पन्न तथा अभीष्ट विषय की अप्राप्ति से उत्पन्न दुःख को मानस कहते हैं।

(९) ये सभी दुःख आभ्यन्तर उपायों (शरीरान्तर्गत पदार्थों) से उत्पाद्य होने के कारण 'आध्यात्मिक' कहलाते हैं। (कोई कोई साध्य=निवर्तनीय समझते हैं)।

(१०) बाह्य (शरीरादिबहिर्भूत) उपायों से साध्य दुःख दो प्रकार का होता है—आधिभौतिक और आधिदैविक। उनमें से मनुष्य, पशु, पक्षी, सरीसृप (सर्पादि विसर्पणशील) तथा स्थावर (स्थितिशील वृक्षादि) से उत्पन्न होने वाला दुःख आधिभौतिक है और यक्ष, राक्षस, विनायक (विघ्नकारी देवजातिविशेष), ग्रह आदि के आवेश (कुप्रभाव) से होनेवाला दुःख आधिदैविक कहलाता है।

(११) रजोगुण का परिणामभूत यह दुःख जो प्रत्येक प्राणी के द्वारा अनुभूत

ख्यातुम् । (१२) तद् अनेन दुःखत्रयेणान्तःकरणवर्तिना चेतनाशक्तेः प्रतिकूल-[1] तयाऽभिसम्बन्धोऽभिघात इति । एतावता प्रतिकूलवेदनीयत्वं जिज्ञासाहेतुरुक्तः । (१३) यद्यपि न सन्निरुध्यते दुःखम्, तथापि तदभिभवः शक्यः कर्तुमित्युपरिष्टा-दुपपादयिष्यते (द्र० ६५-६८ का०) ।

(१४) तस्मादुपपन्नम्'—"तदपघातके हेतौ" इति । तस्य दुःखत्रयस्य अपघातकस्तदपघातकः । (१५) उपसर्जनस्यापि बुद्ध्या समाकृष्टस्य 'तदा' परामर्शः; अपघातकश्च हेतुः शास्त्रप्रतिपाद्यो नान्य इत्याशयः । (१६) अत्र शङ्कते—"दृष्टे साऽपार्था चेत्" इति । (१७) अयमर्थः—अस्तु दुःखत्रयम्, जिहासितं च तद् भवतु, भवतु च तच्छक्यहानम्, सहतां च शास्त्रगम्य उपायस्तद्

होता है, अस्वीकार करने योग्य नहीं है । (१२) अन्तःकरण में वर्तमान इस त्रिविध

दुःख के साथ चेतन पुरुष के प्रतिकूल अभिसम्बन्ध को अभिघात कहते हैं । इस सन्दर्भ से यह कहा गया है कि दुःख की प्रतिकूलवेदनीयता (=अनिष्टरूप में अनुभव) ही उसके परिहार की इच्छा का कारण है । (१३) यद्यपि सत् पदार्थ होने के कारण दुःख का पूर्ण उच्छेद (अभाव) सम्भव नहीं है, तथापि उसका अभिभव (=प्रकट के होने देना) किया जा सकता है— इसे आगे (६५–६८ कारिकाओं में) उपपादित किया जाएगा ।

(१४) इस प्रकार 'दुःख के अपघातक हेतु के लिये'—यह कथन समीचीन है । 'तदपघात' का विग्रह है—तस्य अपघातकः; 'तद्' का अर्थ है—'दुःखत्रय' । (१५) यद्यपि 'दुःखत्रय' पद 'दुःखत्रयाभिघात'—इस समस्तपद का अप्रधान अंग है अतः 'तद् के द्वारा 'अभिघात' का ही परामर्श होना चाहिए, तथापि 'तद्' यह सर्वनाम शब्द बुद्धिस्थ 'दुःख-त्रय' पद का परामर्शक हुआ है । दुःखत्रय के ध्वंस का हेतु (सांख्यरूप) शास्त्रद्वारा प्रतिपाद्य है, अन्य प्रकार का कोई हेतु नहीं हो सकता—यह कारिकाकार का आशय है । (जिज्ञासा न होने के पूर्वोक्त पांच हेतुओं का खण्डन इस प्रकार कर दिया गया) ।

(१६) इस मत में एक शंका होती है—'सापार्था चेत्' । दुःखत्रय के विनाश का सहजतर दृष्ट (लौकिक) उपाय होने के कारण यदि वह जिज्ञासा (शास्त्रप्रतिपाद्य-हेतु-सम्बन्धित) व्यर्थ हो तो । (१७) इस कथन का तात्पर्य यह है—यह स्वीकार्य है कि त्रिविध दुःख जगत् में है, उसकी निवृत्ति भी अभीष्ट है और वह सम्भव भी है तथा शास्त्रोक्त उपाय दुःख को नष्ट करने में समर्थ भी है; तथापि उस उपाय के विषय में प्रज्ञा-वानों की जिज्ञासा नहीं होगी क्योंकि दुःखोच्छेद का एक अन्य सहजतर 'दृष्ट' (लोक-विदित) उपाय विद्यमान है ।

---

१. प्रतिकूलवेदनीयतयाऽभिसम्बन्ध इति कैश्चित् पठ्यते ।

उच्छेत्तुम् ; तथाप्यत्र प्रेक्षावतां जिज्ञासा न युक्ता, दृष्टस्यैवोपायस्य तदुच्छेदकस्य सुकरस्य विद्यमानत्वात् ।[1]

(१८) तथा च लौकिकानामाभाणकः—

अक्के[2] चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत् ।
इष्टस्यार्थस्य संसिद्धौ को विद्वान् यत्नमाचरेत् ॥ इति ॥

(१९) सन्ति चोपायाः शतशः शारीरदुःखप्रतीकारायेषत्करा भिषजां वरैरुपदिष्टाः । मानसस्यापि सन्तापस्य प्रतीकाराय मनोज्ञस्त्रीपानभोजनविलेपन-वस्त्रालङ्कारादिविषयसम्प्राप्तिरुपायः सुकरः । (२०) एवमाधिभौतिक-दुःखस्य नीतिशास्त्राभ्यासकुशलता-निरत्ययस्थानाध्यासनादिः प्रतीकारहेतुरीषत्करः । (२१) तथाधिदैविकस्यापि दुःखस्य मणिमन्त्रौषधाद्युपयोगः सुकरः प्रतीकारोपाय इति ।

---

(१८) (सरल मार्ग के रहते कठिन का अवलम्वन कोई नहीं करता) जैसा कि निम्नोक्त प्रवाद में प्रतिपादित हुआ है—यदि अक्क (गृहकोण) में ही मधु मिल जाए तो पर्वत पर किस लिये कोई जाए ? अभीष्ट अर्थ (प्रयोजन) की सिद्धि (प्राप्ति) हो जाने पर कौन विद्वान् तदर्थ (कठिन) प्रयत्न करेगा ?

(१९) शारीर दुःख की निवृत्ति के लिए श्रेष्ठ वैद्यों के द्वारा सैकड़ों सुख-साध्य उपाय उपदिष्ट हुए हैं । मानस दुःख के भी निवारण के लिये मनोज्ञ स्त्री, पान-भोजन, विलेपन, वस्त्र, अलंकार आदि विषयों की प्राप्तिरूप सुखसाध्य उपाय है । (२०) इसी प्रकार आधिभौतिक दुःख के निवारण के उपाय जैसे नीतिशास्त्रों के सतत अध्ययन से उत्पन्न कुशलता तथा निरुपद्रव स्थानों में वास आदि भी सुकर हैं । (२१) इसी प्रकार आधिदैविक दुःख के भी प्रतीकार के लिये मणि (मणिधारण), मन्त्र (मन्त्रानुष्ठान) तथा औषधादि-प्रयोग सरल उपाय हैं ।

---

१. एतदनन्तरम् 'तत्त्वज्ञानस्य तु अनेकजन्माभ्यासपरम्परायाससाध्यतयाऽतिदुष्करत्वात्' इत्यधिकं क्वचित् पठ्यते ।

२. आभाणकोऽयं शाबरभाष्ये पठ्यते (१।२।४; अत्र अर्केत्येव पाठः); क्वचिद् अक्केति पठ्यते । अत्र अक्के गृहकोणे इत्यर्थः । बृहदारण्यकभाष्ये अङ्केति पठ्यते (४।४।२२); द्र० गिरिटीका —पुरोदेशे मधु लभेत चेत् इति । अत्केत्यपि क्वचित् पठ्यते (द्र० शब्देन्दु-अतधातु-गता चन्द्रकला टीका; पृ० ४८६) । अक्केति शब्दस्य अप्रचलितत्वात् अर्वाक्काले अर्केति, अङ्केति वा पाठो जात इत्यस्माकं मतम् ।

(२२) निराकरोति—नेति। कुतः ? "एकान्तात्यन्ततोऽभावात्"। एकान्तो दुःखनिवृत्तेरवश्यम्भावः, अत्यन्तो निवृत्तस्य दुःखस्य पुनरनुत्पादः, तयोरेकान्तात्यन्तयोरभावः एकान्तात्यन्ततोऽभावः। (२३) षष्ठीस्थाने सार्वविभक्तिकस्तसिः[1]।

(२४) एतदुक्तं भवति—यथाविधि रसायनादिकामिनीनीतिशास्त्राभ्यासमन्त्राद्युपयोगेऽपि तस्य तस्याध्यात्मिकादे र्दुःखस्य निवृत्तेरदर्शनाद् अनैकान्तिकत्वम्, निवृत्तस्यापि पुनरुत्पत्तिदर्शनाद् अनात्यन्तिकत्वम्, इति सुकरोऽपि ऐकान्तिकात्यन्तिकदुःखनिवृत्तेर्न दृष्ट उपाय इति नापार्था जिज्ञासेत्यर्थः। (२५) यद्यपि दुःखममङ्गलम्, तथापि तत्परिहारार्थत्वेन तदपघातो मङ्गलमेवेति युक्तं शास्त्रादौ तत्कीर्तनमिति ॥१॥

---

(२२) इस दृष्ट उपाय का निराकरण करते हुए कारिकाकार कहते हैं—'ऐसा नहीं है'। क्यों ? 'एकान्त और अत्यन्त रूप से दुःख का अभाव न होने के कारण'। 'एकान्त' का अर्थ है—दुःख का अवश्यंभावी रूप से विनष्ट हो जाना तथा 'अत्यन्त' का अर्थ है—निवृत्त दुःख का पुनः उत्पन्न न होना।

(२३) एकान्तस्य अत्यन्तस्य च = एकान्तात्यन्तयोः [अभावः]। 'एकान्तात्यन्तयोः' इस षष्ठ्यन्त पद के स्थान में तसि प्रत्ययान्त एकान्तात्यन्ततः पद का प्रयोग हुआ है। यह तस् सार्वविभक्तिक (सर्व विभक्तियों के स्थान पर होने वाला) कहलाता है।

(२४) पूर्वोक्त दृष्टि का रहस्य यह है कि यथाविधि रसायन (जरादिनाशक औषध) आदि-प्रयोग, कामिनीसंग, नीतिशास्त्र के अभ्यास और मन्त्रादि के प्रयोग से भी उन आध्यात्मिकादि दुःखों की निवृत्ति नहीं दिखाई पड़ती, अतः वह (निवृत्ति) ऐकान्तिक नहीं है। निवृत्त हुए दुःख की भी पुनः उत्पत्ति दृष्ट होने कारण वह निवृत्ति आत्यन्तिक भी नहीं है। अतः यह सिद्ध ही है कि लौकिक उपाय सरल होते हुए भी दुःख की ऐकान्तिक (निश्चितरूप से) और आत्यन्तिक (पुनःदुःखोत्पत्ति न हो—इस प्रकार) निवृत्ति नहीं कर पाता। यही कारण है कि जिज्ञासा का होना व्यर्थ नहीं कहा जा सकता।

(२५) यद्यपि ग्रन्थारम्भ में 'दुःख' शब्द (का प्रयोग) अमंगलकारी है तथापि दुःख की निवृत्ति ही प्रतिपाद्य होने से 'तदपघात' (= दुःख का निरोध) पद मङ्गलसूचक ही है। अतः ग्रथारम्भ में दुःख शब्द का प्रयोग उचित ही है ॥१॥

---

१. तसिल् इति पाठान्तरम्। तसिरेव युक्तः, तसिप्रकरणे आद्यादिभ्य उपसंख्यानम् इति वार्तिकात् (५।४।४४)। तसिरयं सार्वविभक्तिक इति व्याख्यातारः।

ज्योतिष्मती व्याख्या

ऋषये परमायार्कमरीचिसमतेजसे ।
धर्ममेघप्रतिष्ठाय शान्ताय गुरवे नमः ॥१
अशेषसांख्ययोगार्थप्रवक्त्रेऽमितमेधसे ।
श्रीमद्हरिहरानन्दस्वामिने यतये नमः ॥२
गुणत्रयं तथात्मानं योगं सत्कार्यदर्शनम् ।
समाश्रित्य प्रवादा वै कृताः पञ्चशिखादिभिः ॥३
तांश्च संगृह्य यतिनेश्वरकृष्णेन धीमता ।
बह्वर्थवह्वाक्यैश्च संक्षिप्तैः सप्ततिः कृता ॥४
सप्ततिस्थानि वाक्यानि दुरूहार्थानि कानिचित् ।
जातानि कालवशतो भ्रष्टपाठानि कानिचित् ॥५
श्रीवाचस्पतिना टीका सप्ततेर्या कृता लघुः ।
न सा सांख्यीयराद्धान्तानुगा सर्वत्र दृश्यते ॥६
अतः सप्ततिवाक्यार्थान् प्रदर्शयितुमिच्छता ।
इयं ज्योतिष्मती टीका सांख्यतत्त्वार्थबोधिनी ॥७
हिन्दीभाषामयी लघ्वी रच्यतेऽतिप्रयत्नतः ।
रामशंकरसंज्ञेन विनेयेन यथामति ॥८

प्रथम कारिका की व्याख्या

वाचस्पति के अनुसार इस कारिका का तात्पर्य यह है—"इस जगत् में रजःपरिणाम-रूप दुःख है, यह अनपलाप्य है; यह दुःख अन्तःकरणवर्ती है। दुःख या तो आन्तर-उपाय-साध्य होगा या बाह्य-उपायसाध्य (साध्य का नाश्य अर्थ भी हो सकता है)। प्रथम शारीर तथा मानस रूप द्विविध है; शरीर और मन आत्मपदवाच्य हैं, अतः ये दुःख आध्यात्मिक कहलाते हैं। बाह्य उपाय से साध्य दुःख या तो भूत (विभिन्न प्रकार के प्राणी) द्वारा कृत होता है (जो आधिभौतिक कहलाता है) या देव अर्थात् यक्षादि का आवेश निबन्धन होता है। दुःख के साथ चेतनाशक्ति (चेतन पुरुष) का जो प्रतिकूल रूप से संवन्ध है, वह अभिघात है (यह संवन्ध आरोपित है, अतः अभिसंवन्ध शब्द प्रयुक्त हुआ है—यह कोई कोई कहते हैं)। अनिष्टरूपेण अनुभूत होने के कारण ही दुःख को परिहरणीय माना जाता है। यही कारण है कि उपर्युक्त त्रिविध दुःख का अभिभव करने में समर्थ हेतु (=उपाय) के लिये

जिज्ञासा होती है। त्रिविध दुःख के अभिभव (=उत्पत्ति न होना) के लिये लोकविदित उपाय हैं, जैसे, चिकित्सा, सुखकर-विषयोपभोग, निरुपद्रव स्थान में रहना, मण्यादि का उपयोग आदि। इन उपायों से दुःखनिवृत्ति होने पर भी वह निवृत्ति न एकान्त (अवश्यं-भावी) होती है और न अत्यन्त (पुनरुत्पत्तिहीन) होती है"।

दुःख को प्रतिकूल-वेदनीय मानना लोकसिद्ध है। न्यायवैशेषिक की लौकिक दृष्टि के अनुसार जो अप्रिय रूप से—अच्छा नहीं लगता, इस रूप से—बुद्धि का विषय होता है, वह आत्मगुण दुःख है; वस्तुतः यह मुख्य दुःख है; इस दुःख से अनुपक्त सभी पदार्थ गौण दुःख कहलाते हैं। (प्रतिकूलवेदनीय=प्रतिकूल भाव से अनुभूत होने योग्य)। इस लोक–सिद्ध दुःख के विषय में निम्नांकित प्रश्नों को लेकर सांख्यशास्त्र विचार करता है—(१) दुःख का ज्ञाता कौन है, या दुःख से वस्तुतः दुःखित कौन होता है; (२) क्यों कोई पदार्थ अप्रिय रूप से ज्ञात होता है; (३) क्यों प्राणी दुःख या दुःखकर पदार्थ को नहीं चाहता; (४) दुःख के त्रिविध भेद का आधार क्या है; (५) लौकिक उपाय से दुःख का एकान्त-अत्यन्त-नाश क्यों संभव नहीं है; (६) क्यों सांख्यशास्त्रीय उपाय से दुःख का ईदृश नाश संभव है। इन प्रश्नों से संवन्धित विभिन्न विषय अगली कारिकाओं की व्याख्या में व्याख्यात होंगे अतः यहाँ सांख्यीय दृष्टि ही संक्षेप से कही जा रही है।

सांख्यीय दृष्टि में दुःख का ज्ञाता (दुःखोत्पादक क्रिया से जो विकृत होता है ; जो अनुभव करता है कि मैं दुःखित हूँ) निर्गुण पुरुष नहीं है, बल्कि सोपाधिक पुरुष है, जो 'जीव' कहलाता है। यह पुरुष संहतपदार्थ है—शरीर, बाह्य करण, अन्तःकरण, प्राण की समष्टिरूप है। सशरीर जीव अपने करणों के द्वारा त्रिविध व्यापार करता रहता है —आहरण, धारण और प्रकाशन; इन तीन व्यापारों के साथ ही सुख-दुःख-मोह रूप त्रिविध वेदना का अच्छेद्य संवन्ध है। जीव का प्रत्येक व्यापार बाह्य या आन्तर विषय को लेकर ही होता है। विषय-संवद्ध कोई भी व्यापार यदि अनुकूल रूप से हो तो सुखवेदना, प्रतिकूलरूप से हो तो दुःखवेदना और अस्फुट-अविदित-रूप से हो तो मोह-वेदना होती है।

प्रत्येक जीव की अपनी 'करणप्रकृति' है। करणप्रकृति के शक्तिपरिमाण की अपेक्षा विषयव्यवहार-रूप क्रिया का परिमाण जव अधिक हो जाता है, तभी दुःखबोध होता है, यह सांख्यीय विश्लेषण है। **करणप्रकृति की शक्ति की एक सीमा है ; उस की अपेक्षा ही क्रियाधिक्य का निर्धारण होता है।** करणप्रकृति के साथ शरीर भी संवन्धित है। प्रत्येक करणप्रकृति में स्वगत स्वस्थता को अक्षुण्ण रखने की ससीम शक्ति है। जिस क्रिया से यह स्वस्थता विकृत हो जाती है उसका परिमाण करणसामर्थ्य से अधिक है—यह स्वीकार्य

है। सभी को यह अनुभूत है कि जिस विषयव्यवहार में अपेक्षाकृत अल्प शक्तिव्यय होता है अथवा शरीरेन्द्रिय की स्थिति की अपेक्षाकृत अल्प अवस्थान्तरता होती है वह व्यवहार सुखकर प्रतीत होता है। करणप्रकृति के अवस्थाभेद के अनुसार विषयव्यवहार सुख या दुःख का हेतु होता है, क्योंकि विषयव्यवहार की प्रतिकूलता और अनुकूलता करण-प्रकृति की अपेक्षा से ही होती है। यही कारण है कि एक ही बाह्य क्रिया विभिन्न जातियों के प्राणियों में समानरूप से प्रिय और अप्रिय नहीं होती—पश्वादि के प्रिय गन्ध-शब्दादि मनुष्य को अप्रिय प्रतीत हो सकते हैं। **करणों की चेष्टा जितनी बाधाहीन होती जायेगी, उतनी ही वह चेष्टा सुखप्रद होती जायेगी**; वह जितनी ही बाधायुक्त होती जायेगी, उतनी ही दुःखप्रद होगी—यह तथ्य भी अनुकूलता-प्रतिकूलता के स्वरूप को स्पष्ट करता है। बाधा की अधिकता-अल्पता भी करणप्रकृति एवं विषयप्रकृति पर निर्भर करती है। बाधाधिक्य से करणों में क्रियाधिक्य होता है (विषयव्यवहार करने के समय), अतः दुःख होता है।

जीव अनुकूलवेदनीय सुख को चाहता है, पर प्रतिकूलवेदनीय दुःख को नहीं चाहता। ऐसा क्यों होता है—इसके उत्तर में साधारणतया यही कहा जाता है कि यह जीव का स्वभाव है। दूसरे शब्दों में इस चाहना-नचाहना रूप व्यवहारभेद का कोई हेतु नहीं माना जाता। आजकल कुछ मनोविज्ञानी इसकी व्याख्या instinct शब्द से करते हैं। पर instinct (untaught ability ; **वह योग्यता या सामर्थ्य जो शिक्षालब्ध नहीं है**) **का उल्लेख करना हेतु का निर्देश करना नहीं है**—प्रायः लोग इस बात को समझ नहीं पाते। पूर्वोक्त चाहना-न चाहना instinct ही है ; अतः instinct उनका हेतु नहीं हो सकता। Instinct को हेतु के रूप में उपन्यस्त करना अपना अज्ञान प्रकट करना है।

सांख्य का विश्लेषण यह है कि **प्राणी का जो स्वसंविदित आत्मभाव है, सुख उसका बहुलतया अनुरूप है ; दूसरे शब्दों में सुखबोध प्राणी के आत्मभाव को अपेक्षाकृत अल्प विकृत करता है** ; यही कारण है कि अपने को प्रियतम समझने वाला प्राणी सुख (या सुखकर पदार्थ) को चाहता है। दुःखकर पदार्थ से उसको स्व-विच्युति का भय होता है। **प्राणी का व्यावहारिक आत्मभाव स्वप्रकाश निर्विकार द्रष्टा तथा प्रकाशबहुल बुद्धि का मिश्रणरूप है**। अतः प्राणी के लिये वही भाव प्रिय होता है, जिसमें प्रकाशशीलता अपेक्षाकृत अधिक है तथा विकारशीलता अपेक्षाकृत अल्प है—बुद्धि की परिणाम-प्रकृति की अपेक्षा से ही प्रकाशशीलता और विकारशीलता का निर्णय किया जाता है। इस विषय से संबन्धित अन्याय विषय टीका में यथास्थान व्याख्यात हुए हैं तथा भूमिका में भी व्याख्यात होंगे।

कारिका में जो दुःख शब्द है, उसका तात्पर्य दुःखकारक हेतु से है—यह स्पष्ट है। दुःखकारक हेतु को तीन भागों में बाँटा गया है, न कि दुःख को। दुःख की उत्पत्ति जिसके द्वारा होती है, वह यदि आत्मसंवन्धी है, तो तज्जात दुःख आध्यात्मिक है; यदि देवसंवन्धी है तो दुःख आधिदैविक है; यदि भूत (=प्राणी)-संबन्धी है तो दुःख आधिभौतिक है। प्रत्येक हेतु स्वगतभेदवान् है—इसमें स्थूल सूक्ष्म भेद हैं; किं च यह हेतु जिस पर प्रभाव डालता है वह भी असंहत-अपरिणामी पदार्थ नहीं है, पर परिणामी पदार्थ है। यही कारण है कि दुःख के नानाविध भेद होते हैं। जिस परिस्थिति में एक प्राणी को दुःख का बोध होता है, उस परिस्थिति में अन्य प्राणी को दुःख का बोध नहीं भी हो सकता है। दुःखोत्पादिका क्रिया एकजातीय प्राणियों पर भी समान फल उत्पन्न नहीं कर सकती।

जीवों के व्यक्त करण सदैव शरीर रूप अधिष्ठान में प्रतिष्ठित रहते हैं। अतः दुःखोत्पत्ति विचार में मन, इन्द्रिय तथा शरीर को लेकर विचार करना अपरिहार्य है। शरीरधारी प्राणी (शरीर भी स्थूल सूक्ष्म नानाप्रकार के हैं) में दुःखवेदना का एक हेतु है—बाह्य विषय के साथ व्यवहार (इस व्यवहार में शरीर और इन्द्रियों का यथायथ स्थान है)। दूसरा हेतु है—अन्य प्राणी। यहाँ प्राणी का तात्पर्य है—उनका ऐन्द्रियिक व्यापारमात्र जो अन्य प्राणी को प्रभावित करता है। जैसे किसी के कटु वाक्य से किसी को दुःख होना। प्राणी का शरीरहेतुक (चपेटाघात-जनित) दुःख यदि हो तो स्पर्श अंश में वह दुःख प्राणी द्वारा कृत न माना जायेगा। प्राय ये दो हेतु एक दूसरे के साथ अंशतः मिले रहते हैं। ये दो बाह्य हेतु हैं, अर्थात् प्राणी के आत्मभाव के अङ्ग नहीं हैं प्राणी-करण-हेतुक दुःख आधिभौतिक है (भूत=प्राणी)। बाह्य विषय हेतुक दुःख आधिदैविक है।

विषयहेतुक दुःख के आधिदैविक नाम का रहस्य है। आधिदैविक का **वाचस्पतिकृत व्याख्यान स्थूल है**। हमारी दृष्टि में आधिदैविक नाम का हेतु यह है—सांख्यानुसार भूत-तन्मात्र-भौतिक विषय के आविर्भाव (स्थूल रूप में आना) में भूत-तन्मात्र-भौतिक अभिमानी देवों का व्यापार है, अतः बाह्य-विषय-जनित दुःख आधिदैविक कहलाता है। विषयमूल भूतादि-अहंकार इन अभिमानी देवों के अभिमानों के सहयोग से क्रमशः स्थूल होता हुआ अस्मदादिद्वारा ग्राह्य विषय के रूप में व्यवहार्य होता है। स्थूल विषय के आविर्भाव में इन देवों का कर्तृत्व रहने के कारण विषयोत्थ दुःख आधिदैविक दुःख कहलाता है। ईदृश अभिमानी देवों की सत्ता सांख्यीययुक्ति से सिद्ध होती है जैसा कि यथास्थान दिखाया जायेगा।

जीव को स्वकीय आत्मभाव-जनित दुःख भी प्राप्त होता है। यह आत्मभाव स्थूलतः

उनका शरीर है (शरीर में आत्मभाव प्रसृत रहने के कारण)। शरीरगत जो चाञ्चल्य मुख्यतया शारीर-उपादान से ही उत्पन्न होकर दुःख देता है, वह शारीर दुःख है। यद्यपि इसमें भी बाह्य खाद्य आदि की हेतुता है, पर यहाँ शरीर-धातु-गतता आदि पर ही विवक्षा है। शरीर में आत्मबोध होने के कारण व्याधिरूप शारीर दुःख आध्यात्मिक कहलाता है।

मानस दुःख पर एक विशेष बात ज्ञातव्य है। मन आन्तर करण है और मन के साथ बाह्य करण भी ग्राह्य हैं- क्योंकि ये ११ इन्द्रियाँ अहंकार से उत्पन्न होती हैं। ध्यान देना चाहिये कि इन्द्रिय और मन को दुःख के हेतु के रूप में माना गया है। **चूंकि मन दुःख का हेतु है, अतः मन के अतिरिक्त कोई पदार्थ मानस दुःख से दुःखित होता है—यह न्यायतः स्वीकार्य होता है।** यह पदार्थ बुद्धि है, जैसा कि आगे कहा जायेगा।

जब मन भी आन्तर करण है और बुद्धि भी आन्तर करण है, तब क्या कारण है कि मानस दुःख की बोद्धा बुद्धि होती है, मन नहीं—ऐसा प्रश्न हो सकता है। मन, बुद्धि आदि के लक्षणों पर विचार करने से इन प्रश्नों का समाधान स्वतः हो जाता है। इस ग्रन्थ में यथास्थान इन विषयों पर विचार किया गया है।

सांख्ययोगियों का कहना है कि दुःख उत्पन्न न हो इसके लिये (१) विषय के साथ करणों का अनुकूल रूप से संयुक्त होना ; (२) विषय का अनुकूल रूप से ही रहना या परिणत होते रहना तथा (३) करणों में ऐसी शक्ति का रहना जिससे वे सदैव विषयों को अपने अधीन रख सकें—ये तीन निमित्त चाहिये। पर गुणत्रय के स्वभाव को देखने से ज्ञात होता है कि ऐसा होना कथमपि संभव नहीं है, अतः दुःख की उत्पत्ति सदैव न्यूनाधिकरूपेण होती रहेगी।

यहाँ यह बात स्पष्टीकरणीय है कि **दुःखोत्पादक बाह्याभ्यन्तर पदार्थों का अभाव करना अथवा नाश करना रूप उपाय सांख्यशास्त्र द्वारा चिन्तित नहीं हुआ है ;** दुःख का ज्ञाता किस उपाय से दुःखोत्पादक क्रिया से या दुःखकर पदार्थों से अतीत हो सकता है—(ऐसी अवस्था में पहुँच सकता है जहाँ दुःखोत्पादक क्रिया उस पर कोई प्रभाव नहीं डाल पायेंगी)—उस उपाय का प्रदर्शन करना सांख्यशास्त्र का मुख्य उद्देश्य है।

दुःख की जो एकान्त और अत्यन्त निवृत्ति है, उसके बाद कुछ अर्थिता (चाहना) नहीं रह जाता, क्योंकि यह निवृत्ति तभी संभव होती है जब बुद्धि रूप दुःखज्ञाता अव्यक्त हो जाती है। इस दृष्टि से ही यह निवृत्ति 'परम-पुरुषार्थ' है। **यह निवृत्ति कैवल्य का या मोक्ष का स्वरूप नहीं है**—यह ज्ञातव्य है। दुःख-निवृत्ति को फल कहा जा सकता है। अपरिणामी पुरुष सदा केवली, असंग ही हैं ; अतः दुःखनिवृत्ति से पुरुष का कुछ बनता-

बिगड़ता नहीं है—वे शान्त चित्त के भी निर्विकार द्रष्टा हैं, अशान्त चित्त के भी निर्विकार द्रष्टा हैं। बुद्धि अव्यक्त होकर ऐसी अवस्था में पहुँचती है कि वह दुःखोत्पादक (तथा सुखोत्पादक एवं मोहोत्पादक) क्रियाओं से अतीत हो जाती है। बुद्धि की इस अवस्थान्तरता से पुरुष की अवस्थान्तरता नहीं होती। बुद्धि में दुःखयोग रूप बन्धन का अभाव देखकर इस अवस्था को बुद्धि की मुक्ति (या मोक्षावस्था) कहा जाता है (पुरुष को मुक्त कहना या पुरुष की मुक्ति कहना सर्वथा औपचारिक दृष्टि है)। यही कारण है कि **मोक्षावस्था या कैवल्यावस्था (बुद्धि की अव्यक्तावस्था को बुद्धि की कैवल्यावस्था गौणदृष्टि से कहा जा सकता ही है) अभावरूप (Negative) नहीं है,**— दुःख या दुःखकारक संयोग का अभाव होने पर भी। इस अवस्था में न बुद्धि का अभाव होता है और न पुरुष का—यह ज्ञातव्य है।

सांख्यशास्त्र के पल्लवग्राही ज्ञान के आधार पर कुछ लोग सांख्यीय कैवल्य को negative कहते हैं। डॉ० चन्द्रधरशर्मा कहते हैं—The negative kaivalya suggests an influence of the Hīnayāna nīrvāṇa (C.S.I.P. p. 168)। न पुरुष की दृष्टि से कैवल्य negative है और न निवृत्त बुद्धि की दृष्टि से मोक्ष (दुःखकारक पदार्थों के संबन्ध से विच्युत होकर अत्यन्तनिवृत्त बुद्धि का अव्यक्तरूप से रहना) negative है, अतः यह negative दृष्टि सर्वथा अशास्त्रीय है। यह मानकर कि 'दुःखाभाव' तथा 'चित्तनिवृत्ति' हीनयान में भी स्वीकृत हैं, यह कैसे कहा जा सकता है कि सांख्यमत पर हीनयान का प्रभाव पड़ा है। हमें तो विपरीतमत ही सत्य प्रतीत होता है, क्योंकि हीनयानवादी दुःखाभाव तथा चित्तनिवृत्ति रूप स्वस्वीकृत तथ्यों को स्वदर्शन की प्रक्रिया के द्वारा उपपन्न नहीं कर सकते। जो स्वस्वीकृत किसी तथ्य को युक्ति से उपपन्न नहीं कर सकता, वह उस तथ्य को स्व-भिन्न किसी स्रोत से ही जान पाया है—यह युक्तितः स्वीकार्य है। अतः यही मत संगत जँचता है कि किसी प्राक्तन संप्रदाय से हीनयानियों ने उपर्युक्त मतों को ले लिया है। चूँकि दुःखाभाव–चित्तनिवृत्ति-रूप मतों को सांख्य ही समझा सकता है, अतः सांख्य ही इन दार्शनिक मतों का प्रवर्तक है।

दुःख को जिज्ञासा का प्रेरक माना गया है ; सुख को क्यों नहीं माना गया—यह प्रश्न हो सकता है। सांख्य का कहना है कि प्राणी में सुखस्मृति की तुलना में दुःखस्मृति में प्रवर्तन-कारिका शक्ति अधिक है। सुख होने पर प्राणी सुख के कारणादि को जानने के लिये उतना व्यग्र नहीं होता जितनी व्यग्रता दुःखोत्पत्ति होने पर दुःखकारण को जानने के लिये होती है। दुःख का राजस स्वभाव इस विलक्षणता का हेतु है। रजः उपष्टम्भक, उद्घाटक, चल है, अतः वह जिज्ञासा-वृत्ति का उन्मेष सहजतः कर देता है। सुख के साथ

यह प्रवृत्ति असंवद्ध है, यह वात नहीं ; पर दुःख की तुलना में अल्प है—यह प्रत्यात्मवेदनीय है। यह भी देखा जाता है कि दुःखानुशयी द्वेष से ग्रस्त हो कर कोई प्राणी जितना अधिक अपने को सक्रिय, चञ्चल, वनाता है, सुखानुशयी राग से ग्रस्त होकर अपने को उतना सक्रिय, चञ्चल नहीं बनाता। दुःखस्मृति जितने काल तक प्रवल रूप से रहती है, अनुरूप सुखस्मृति उतने काल तक उतनी प्रवलता के साथ नहीं रहती। सुख सात्त्विक है, अतः उसमें लघुता का प्राधान्य है। यही कारण है कि सुख किसी प्राणी को उतनी उत्कटता के साथ दीर्घकाल तक किसी विषय में प्रेरित नहीं कर सकता, जितना दुःख कर सकता है। 'आवश्यकता आविष्कार की जननी है' मत के मूल में भी दुःखवाद है। अनुरागजनित कर्मों और विद्वेषजनित कर्मों को देखने पर दुःख (दुःखानुशयी द्वेषः) की प्रेरिकाशक्ति की विशालता एवं गभीरता का अनुमान किया जा सकता है ॥१॥

(१) स्यादेतत्—मा भूद् दृष्ट उपायः, वैदिकस्तु ज्योतिष्टोमादिः सहस्र-संवत्सरपर्यन्तः कर्मकलापस्तापत्रयमेकान्तमत्यन्तञ्चापनेष्यति। (२) श्रूयते—"स्वर्गकामो यजेत"[1] इति। (३) स्वर्गश्च—

"यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं च तत् सुखं स्वःपदास्पदम्" ॥[2] इति ॥

(१) यह स्वीकार्य है कि (एकान्त-अत्यन्त) दुःखनिवृत्ति का कोई दृष्ट उपाय नहीं हो सकता, पर वेदोक्त सहस्र-संवत्सर-व्यापी ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ-समूह त्रिविध दुःखों की एकान्त और अत्यन्त निवृत्ति कर सकेंगे। (२) श्रुति का वचन भी है—'स्वर्ग की कामना करने वाले को यज्ञ करना चाहिए'। (३) स्वर्ग-स्वरूप पर कहा गया है 'जो न दुःख से मिश्रित है, न भविष्य में भी दुःख से युक्त हो सकता, तथा जो संकल्प-

१. तत्त्वकौमुद्याः कस्मिन्नपि संस्करणे वाक्यस्यास्याकरस्थलं न निर्दिष्टम्। उक्तमिदं ताण्ड्यब्राह्मणे (१६।३।२)। उद्धृतमिदं शवरशङ्करादिभिराचार्यैः। यजेदिति तकारान्तमिदं पद मिति डा० व्रजमोहनः। असंगतमिद मिति ज्ञेयम्।

२. उद्धृतोऽयं श्लोको नीलकण्ठेन, व्याख्यातं च—संभिन्नं मिश्रम्। ग्रस्तं भोगोत्तरपापावहम्। अभिलाषः संकल्पः (उद्योग ३३।७२)। सुखं स्वर्गपदास्पदम् इत्येवंरूपेण श्लोकोऽयमुद्धृतः पदमञ्जर्याम् (६।७।७५)। आस्पदं प्रतिपाद्यमिति वहवः। स्वपदाः देवाः। तदास्पदं तत्स्थम् इत्यर्थो वा इत्याह पूर्णिमाकारः। द्र० सकलदुः खसंभेदरहित-अभिलाषोपनीत-दीर्घतरदुःखसाधनत्वेन अर्थवादैः स्तूयमानं कर्म दृश्यते (प्रकरणपञ्जिका, पृ. १०२-१०३)।

(४) दुःखविरोधी सुखविशेषः। स च स्वर्गः स्वसत्तया समूलघातमपहन्ति दुःखम्। (५) न चैष क्षयी। (६) तथा हि श्रूयते[1]—'अपाम सोममममृता अभूम' इति (ऋग्० ८।४८।३)। तत्क्षये कुतोऽस्यामृतत्वसम्भवः ?

(७) तस्माद्वैदिकस्योपायस्य तापत्रयप्रतीकारहेतोर्मुहूर्तयामाहोरात्रमाससंवत्सरादिनिर्वर्तनीयतयाऽनेकजन्मपरम्परायाससम्पादनीयाद् विवेकज्ञानाद् ईषत्करत्वात् पुनरप्यपार्था जिज्ञासा-इत्याशङ्क्याह—

दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् ॥२॥

मात्र से प्राप्त होता है, वही सुख 'स्वः' अर्थात् स्वर्ग पदवाच्य है। (४) इस (प्रमाणभूत) वचन के अनुसार स्वर्ग दुःखविरोधी सुखविशेष है; और यह स्वर्ग अपनी सत्ता से दुःख को उसके मूल के साथ नष्ट कर देता है। (५) यह स्वर्ग क्षययुक्त भी नहीं है; (६) जैसा कि श्रुति में कहा गया है—"हमने (ज्योतिष्टोम याग आदि में) सोम का पान किया और हम अमर हो गए।" यदि यह (यज्ञजनित) स्वर्ग क्षययुक्त होता तो इसकी अमरता कैसे सम्भव होती ?

(७) इसलिये अनेक जन्मों के दृढ़ परिश्रम से निष्पादनीय विवेकज्ञान की अपेक्षा मुहूर्त, याम, अहोरात्र, मास तथा संवत्सर आदि कालों में साध्य एवं त्रिविध-दुःख-निवृत्ति के हेतुभूत वैदिक उपाय के सुकर होने के कारण (शास्त्रोक्त तत्त्वज्ञान रूप उपाय के लिये) जिज्ञासा होना फिर भी व्यर्थ ही है। इस शंका के उत्तर में कारिकाकार कहते हैं—

आनुश्रविक (=वैदिक) उपाय (यज्ञादिकर्म) भी लौकिक उपायों के सदृश (दुःखत्रय की ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक निवृत्ति में असमर्थ) है। यह आनुश्रविक उपाय अशुद्धि (दोष), क्षय (विनाश) तथा अतिशय (प्रकर्ष-विशेष) से अनुविद्ध है। व्यक्त (महत्-तत्त्व आदि विकार), अव्यक्त (सर्वव्यक्तोपादानभूत प्रकृति) तथा ज्ञ

---

१. अपाम सोमम्—इत्यादिमन्त्रस्याकरस्थलम् अथर्वशिर उपनिषदिति केचन सम्पादकाः। यद्यपि अथर्वशिरसि मन्त्रोऽयं पठ्यते तथापि अत्र संहितागतं ब्राह्मणगतं वाकरस्थलं प्रदेयम्, कर्मवैशिष्ट्यप्रतिपादकत्वेन अस्य मन्त्रस्येह उल्लेखनात्। अतएवास्माभिः ऋक्संहिता (शैशिरी-य-संहिता)-गतमाकरस्थलमिह निर्दिष्टम्। अथर्वशिरसि खलु मन्त्रोऽयं रुद्रमहिमपरक इति दृश्यते। मन्त्रोऽयम् 'कर्मणामपि मोक्षसाधनत्वावगमात्' इत्युक्त्वा उद्धृतो भाष्यकारेण (द्र० श्वेताश्व० उप १।१)। 'अमृतत्वलाभाय सोमपानम्' इत्यर्थप्रतिपादकोऽयं मन्त्र इति तत्त्ववैशारदीतो विज्ञायते (२।५)।

(८) "दृष्टे"ति। गुरुपाठादनुश्रूयते इत्यनुश्रवो वेदः। एतदुक्तं भवति—श्रूयत एव परं न तु केनचित् क्रियते इति। तत्र भव आनुश्रविकः। तत्र प्राप्तो ज्ञात इति यावत्।

(९) आनुश्रविकोऽपि कर्मकलापो दृष्टेन तुल्यो वर्तते, ऐकान्तिकात्यन्तिकदुःखप्रतीकारानुपायत्वस्योभयत्रापि तुल्यत्वात्। (१०) यद्यपि च 'आनुश्रविकः' इति सामान्येनाभिहितम्, तथाऽपि कर्मकलापाभिप्रायो[1] द्रष्टव्यः, विवेकज्ञानस्याप्यानुश्रविकत्वात्।

(११) तथा च श्रूयते—"आत्मा वा अरे ज्ञातव्यः"[2] (तु० बृहदा० २।

(चिद्रूप पुरुष) के विज्ञान से उत्पन्न जो उपाय वैदिक उपाय से भिन्न है वह उससे अधिक प्रशस्त है ॥ २ ॥

(८) गुरु के उपदेश के अनन्तर ही सुने जाने के कारण वेद को 'अनुश्रव' कहते हैं। तात्पर्य यह है कि वेद सुना ही जाता है, पर किसी के द्वारा बनाया नहीं जाता (अर्थात् उसकी शब्दानुपूर्वी प्रथमतः कृत नहीं होती)। अनुश्रव में उत्पन्न अर्थात् अनुश्रव से प्राप्त या ज्ञात होने वाला (उपाय) 'आनुश्रविक' कहलाता है (अनुश्रव+ठक्)।

(९) आनुश्रविक (वेदोक्त) कर्मकलाप भी लौकिक उपाय के सदृश है, क्योंकि दोनों ही उपाय त्रिविध दुःख की ऐकान्तिक और आत्यन्तिक निवृत्ति करने में समान रूप से असमर्थ हैं।

(१०) यद्यपि कारिका में वेद-सामान्यार्थक 'आनुश्रविक' इस शब्द का ग्रहण किया गया है, तथापि यहाँ इसका आशय (वेदोक्त) कर्मकाण्ड से ही है, ऐसा समझना चाहिए; अन्यथा विवेकज्ञान के आनुश्रविक (वेदानुमत) होने के कारण वह भी लौकिक उपाय के समान ही (दुःखनिवृत्ति में असमर्थ) हो जाएगा।

---

१. कर्मकलापाभिप्रायं द्रष्टव्यम् इति व्याख्यातृविशेष-संमतः पाठः।

२. केचन तत्त्वकौमुदीसम्पादकाः 'आत्मा वारे' इति पठन्ति। आसाधुरयं पाठः; आत्मा वै अरे इति पदच्छेद एव उपनिषद्भाष्यसंमतः। अत्र ज्ञातव्य इत्यश्रौतं पदम्; उपनिषदि 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्येव पठ्यते (बृहदा२।४।५)। इदं प्रतीयते यद् द्रष्टव्यशब्दसमानार्थकः ज्ञातव्य इति शब्दो वाचस्पतिना पठितः, स च पुनस्तेनैव व्याख्यातः—प्रकृतितो विवेक्तव्य इति; द्र० भाष्यम्—एवं हि असौ दृष्टो भवति श्रवणमनननिदिध्यासनसाधनैर्निर्वर्तितैः; अत्र गिरिटीकाऽपि द्रष्टव्या। इदमपि भवितुमर्हति यत् शाखान्तरीय-बृहदारण्यकोपनिषदि एवंविधः पाठः स्यात्। हेलाराजः 'आत्मा मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्येवंरूपेण कस्याश्चित् श्रुतेर्वाक्यमुद्धरति (द्र० वाक्यपदीय जाति. ४७ टीका)।

४।५)—प्रकृतितो विवेक्तव्यः; "न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते"[1] (छान्दोग्य० ८।१५।१) इति।

(१२) अस्यां प्रतिज्ञायां हेतुमाह—"स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः" इति। अविशुद्धिः सोमादियागस्य पशुबीजादिवधसाधनता।

(१३) यथाह स्म भगवान् पञ्चशिखाचार्यः—"स्वल्पसङ्करः[2] सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः" इति। 'स्वल्पसङ्करः' ज्योतिष्टोमादिजन्मनः प्रधानापूर्वस्य स्वल्पेन[3] पशुहिंसादिजन्मनाऽनर्थहेतुनाऽपूर्वेण सङ्करः; 'सपरिहारः' कियताऽपि प्रायश्चित्तेन परिहर्तुं शक्यः।

(१४) अथ प्रमादतः प्रायश्चित्तमपि नाचरितं प्रधानकर्मविपाकसमये स

---

(११) विवेकज्ञान वेदसंमत है—इस विषय में यह श्रुतिवाक्य है—'अरे ! आत्मा निश्चय ही ज्ञातव्य है' (बृहदा० २।४।५)। ज्ञातव्य=प्रकृति से आत्मा का पृथक् ज्ञान करना चाहिए। (अन्य वैदिक वाक्य भी हैं यथा—) वह (जितेन्द्रिय वैराग्यवान् ब्रह्म-लोक को प्राप्त कर) इस लोक में नहीं लौटता है (छान्दोग्य ८।१५।१); (इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि 'आनुश्रविक' शब्द का अभिप्राय यहाँ वैदिक कर्मकलाप ही है, विवेकज्ञान नहीं)।

(१२) वैदिक उपाय (कर्मकाण्ड) भी लौकिक उपाय के समान है, इस प्रतिज्ञा का हेतु कारिकाकार कहते हैं—'क्योंकि वह उपाय अशुद्धि, क्षय और अतिशय दोष से व्याप्त है'। पशुहिंसा, बीजनाश आदि साधनों से सम्पादित होना ही सोमादि याग की अविशुद्धि (=मलिनता) है। (१३) जैसा कि भगवान् (=योगैश्वर्यशाली) पञ्चशिखा-चार्य ने कहा है—(ज्योतिष्टोमादिजन्य पुण्य में हिंसादिजन्यपाप का) अत्यल्प मिश्रण रहता है जो परिहारयोग्य है और प्रत्यवमर्ष से युक्त होता है।

पञ्चशिखवाक्यगत स्वल्प-संकर(='अत्यल्पमिश्रण')=ज्योतिष्टोमादिजन्य अपूर्व (धर्म) रूप प्रधान फल के साथ पशुहिंसादिजन्य अनर्थजनक अपूर्व (गौणफल) का मिश्रण। 'सपरिहार' का अर्थ है—अत्यल्प प्रायश्चित्त से यज्ञगतदोष परिहार करने योग्य हो जाता है। (१४) परन्तु यदि प्रमादवश यज्ञकारी प्रायश्चित्त नहीं करता तो प्रधान कर्म

---

१. 'न स पुनरावर्तते' इत्येवंरूपेण तत्त्वकौमुदीसम्पादका वाक्यमिदं पठन्ति।

२. स्वल्पः संकर इति व्याख्यातृविशेषैः पठ्यते।

३. स्वल्पेनेति व्याख्यातृविशेषैः न पठ्यते।

विपच्यते। तथापि यावदसावनर्थं सूते तावत् सप्रत्यवमर्षः सहिष्णुतया सह वर्तत इति। (१५) मृष्यन्ते हि पुण्यसम्भारोपनीतस्वर्गसुधामहाह्रदावगाहिनः कुशलाः पापमात्रोपपादितां दुःखवह्निकणिकाम्।

(१६) न च—"मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि" इति सामान्यशास्त्रं विशेषशास्त्रेण "अग्नीषोमीयं पशुमालभते"[1] इत्यनेन बाध्यते इति युक्तम्। विरोधाभावात्। (१७) विरोधे हि बलीयसा दुर्बलं बाध्यते। न चेहास्ति कश्चिद्विरोधः भिन्नविषयत्वात्।

(१८) तथाहि—"मा हिंस्याद्" इति निषेधेन हिंसाया अनर्थहेतुभावो ज्ञाप्यते, न त्वक्रत्वर्थत्वमपि; "अग्नीषोमीयं पशुमालभते" इत्यनेन वाक्येन च पशुहिंसायाः क्रत्वर्थत्वमुच्यते, नानर्थहेतुत्वाभावः, तथा सति वाक्यभेदप्रसङ्गात्।

के फलकाल में वह पाप (अधर्म) फल देता है। ऐसा होने पर भी यह अधर्म जब तक दुष्परिणाम उत्पन्न करता है, वह प्रत्यवमर्ष से युक्त रहता है अर्थात् वह सहन करने योग्य है। (१५) देखा जाता है कि पुण्य-सञ्चय से प्राप्त स्वर्गरूपी अमृत सरोवर में अवगाहन करने वाले कुशलकर्मा (यज्ञादिकारी) किञ्चिन्मात्र पाप से प्राप्त दुःखाग्नि की कणिका (चिनगारी) को सह लेते ही हैं।

(१६) (यज्ञीय पाप-पुण्य की सांख्याभिमत दृष्टि की तुलना में पूर्वमीमांसकों का) यह कथन उचित नहीं है कि 'अग्नि और सोम देवता के लिये समर्प्यमाण पशु का आलम्भन (=हनन) करना चाहिये' इस विशेष विधि से 'किसी भी प्राणी की हिंसा न करनी चाहिये' यह सामान्य नियम बाधित हो जाता है, क्योंकि दोनों मतों में कोई विरोध नहीं है। (१७) विरोध होने पर ही बलवान् शास्त्र से दुर्बल शास्त्र बाधित होता है और यहाँ दोनों मतों के विषय परस्पर पृथक् होने के कारण उनमें कोई विरोध नहीं है।

(१८) यह विरोधाभाव इस प्रकार है—'किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी

---

१. सर्वेषु तत्त्वकौमुदीसंस्करणेषु 'आलभेत' इति पठ्यते। आलभते इत्येव वैदिकपरम्परानुसारी पाठः द्र० तै. सं. ६।१।११ ; ऐ ब्रा. २६। अपि द्र०। आलभते इति लेट्लकारान्तं रूपम् अतएव विध्यर्थो गम्यते। विध्यर्थलाभायैव अज्ञा ग्रन्थसम्पादकाः लिङन्तं रूपं (आलभेत) कल्पयन्ति। [अत्र 'वसन्ताय कपिञ्जलान् आलभते' (यजुर्माध्यन्दिन २४।२०) ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते (तै-ब्रा. ३।४।१-१८) इत्येवंविधानि वाक्यानि आलोच्यानि]। चित्रमिदं यत् चिन्नस्वामिनः तन्त्रसिद्धान्तरत्नावलौ तैत्तिरीयसंहिताया निर्देशं कृत्वाऽपि 'आलभेत' इत्येव पठन्ति। (पृ. १४५; द्र० उद्धृतवाक्यानामाकरसूची, पृ. १७७ च)। ४।१।११ मीमांसाभाष्ये 'आलभते' इत्येव पठ्यते।

(१९) न चानर्थहेतुत्वक्रतूपकारकत्वयोः कश्चिद्विरोधोऽस्ति। हिंसा हि पुरुषस्य दोषमावक्ष्यति, क्रतोश्चोपकरिष्यतीति।

(२०) क्षयातिशयौ च फलगतावप्युपाये उपचरितौ। (२१) क्षयित्वं च स्वर्गादेः सत्त्वे सति कार्यत्वादनुमितम्। (२२) ज्योतिष्टोमादयः स्वर्गमात्रस्य साधनम्, वाजपेयादयस्तु स्वाराज्यस्येत्यतिशययुक्तत्वम्। परसम्पदुत्कर्षो हि हीनसम्पदं पुरुषं दुःखाकरोति।

(२३) "अपाम सोमममृता अभूम" इति चामृतत्वाभिधानं चिरस्थेमानमुपलक्षयति। (२४) यदाहुः—आभूतसंप्लवं स्थानममृतत्वं हि

चाहिये'—यह निषेध वाक्य इतना ही ज्ञापित करता है कि हिंसा अनर्थकारिणी (अनिष्ट करने वाली) है, न कि यह भी ज्ञापित करता है कि 'हिंसा यज्ञ के लिये अनुपयोगी भी है'। इसी प्रकार 'अग्नि और सोम के लिये पशु का आलम्भन (=हनन) करना चाहिये'—यह वाक्य इतना ही बताता है कि 'पशुहिंसा यज्ञ के लिये उपयोगी है', न कि यह भी सूचित करता है कि 'वह हिंसा अनर्थकारिणी नहीं है'; क्योंकि वैसा (अर्थात् एक वाक्य के दो दो तात्पर्य) मानने पर वाक्यभेद रूप न्यायदोष हो जायेगा। (१९) और 'अनर्थकारकत्व' तथा 'यज्ञोपयोगित्व में कोई विरोध नहीं है। हिंसा यज्ञकारी पुरुष के पापदोष का कारण भी होगी और साथ ही वह यज्ञ का आवश्यक अङ्ग भी होगी। [इस विचार से यह स्पष्ट हो जाता है कि यज्ञादि आनुश्रविक उपायों में हिंसा अवश्यमेव होती है, अतः यज्ञादि कर्म अविशुद्धियुक्त अवश्य हैं।]

(२०) 'क्षय' तथा 'अतिशय' (प्रकर्षविशेष) वस्तुतः स्वर्गादि फलों में ही विद्यमान होते हैं, पर उपचारदृष्टि (=गौण वृत्ति) से वे यज्ञादि वैदिक उपायों के दोष कहे गये हैं। (२१) स्वर्गादि सत् (=भाव) पदार्थ होते हुए कार्य हैं, इसीसे उनका क्षयित्व (=विनाशित्व) अनुमान सिद्ध है। (२२) ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ स्वर्गमात्र प्राप्ति के साधन हैं। परन्तु वाजपेय आदि यज्ञ स्वर्गाधिपत्य के साधन हैं—इस प्रकार एक की अपेक्षा दूसरे का न्यूनीकरण है। यह कहना उचित ही है कि दूसरे की सम्पत्ति का उत्कर्ष हीन-सम्पत्ति-वाले पुरुष को अवश्य ही दुःख देता है।

(२३) 'अपाम सोमममृता अभूम' (=हम सोम पीकर अमृत हो गये)—इस वाक्य में उक्त अमृतत्व 'सुदीर्घकाल-स्थायित्व' का उपलक्षण है; (२४) जैसा कि पूर्वाचार्य कहते हैं—"भूत-संप्लव (=प्रलय) काल पर्यन्त अवस्थित रहना ही अमृतत्व

भाव्यते'[1] (विष्णु पु० २।८।९०) इति। (२५) अत एव च श्रुतिः—"न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः। परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद्यतयो विशन्ति"[2] (तै० आ० १०।१०) इति। (२६) तथा—"कर्मणा मृत्युमृषयो निषेदुः प्रजावन्तो द्रविणमीहमानाः। तथा परे ऋषयो ये मनीषिणः परं कर्मभ्योऽमृतत्व मानशुः" इति च[3]।

(२७) तदेतत् सर्वमभिप्रेत्याह—"तद्विपरीतः श्रेयान्" इति। तस्माद्

कहलाता है।" (२५) और इसीलिये (यज्ञादि के वास्तव अमृतत्व के साधक न होने के कारण) श्रुति भी कहती है कि कुछ ऋषियों ने कर्म, सन्तानोत्पत्ति या अर्थोपार्जन से नहीं, अपितु त्याग (=संन्यास-वैराग्य-विवेकज्ञान-प्रधान त्यागमार्ग) से अमृतत्व (=मोक्ष) की प्राप्ति की थी। स्वर्ग से भी उत्कृष्ट एवं गुहा (=बुद्धि) में स्थित यह अमृततत्त्व स्वतः प्रकाशित होता है जिसमें संयतेन्द्रिय दान्त व्यक्ति प्रविष्ट हो जाते हैं। (२६) और भी–प्रजावान् (=पुत्रादि के जनक) ऋषि धन की इच्छा करते हुए (यज्ञादि) कर्म द्वारा मृत्यु (अर्थात् स्वर्गादि मरणधर्मक फल) को प्राप्त हुए। अन्य ज्ञानवान् (निवृत्ति-मार्गी) ऋषि कर्म द्वारा अलभ्य अमृततत्त्व (विनाशहीन मोक्षपद) को प्राप्त हुए।

(२७) इसी सब अभिप्राय से कारिकाकार ने कहा—'उससे विपरीत उपाय ही अधिक श्रेयस्कर है'। 'उससे विपरीत' वाक्य का अर्थ है—हिंसादिदोष से अविशुद्ध, अनित्य तथा अतिशय से युक्त फलों वाले एवं दुःखनाशक समझे जाने वाले उस सोम-पान आदि

---

१. त्रैलोक्यस्थितिकालोऽयमपुनर्मार उच्यते—इत्युत्तरार्धम्। ब्रह्माहः पर्यन्तं यत् स्थानं तदेव अमृतत्वमुपचारादुच्यते। उपचारबीजमाह त्रैलोक्येति" (श्रीधरी टीका)। अपुनर्मारः पुनर्मृत्युरहितः क्रममुक्तिस्थानत्वात् (टीका)। आह शंकराचार्यः—अमृतत्वम् अमरण-धर्मत्वमापेक्षिकम्—आभूतसंप्लवम् इतिस्मृतेः (कठभाष्य २।३।१६)। आभूतसंप्लवार्थ-विषये नीलकण्ठ आह—आभूतं यावत् चतुर्विधभूतग्रामं तस्य संप्लवो जलेन अभिप्लावनम् (वनपर्व ३।५८ टीका)। वायौ 'आभूतसंप्लवस्थानममृत्वं विभाव्यते' इति पठ्यते (५०।२२१)। अत्र ब्रह्माण्ड० ३।१।२३६-२४२ अपि द्र०। वायौ (१०१।२३७-२३९) आभूतसंप्लवविषयकं वर्णनं द्र०। उक्तं च भागवते—आभूतसंप्लवात् सर्गप्रलयावश्नुतेऽवशः (११।३।७)।

२. न्यायभाष्ये (४।१।५७) श्लोकोऽयमुद्धृतः। आह वाचस्पतिः तात्पर्यटीकायाम्—नाकमिति अविद्यामुपलक्षयति, अविद्यातः परम्। निहितं गुहायमिति लौकिकप्रमाणागोचरत्वं दर्शयति; एके=योगिनः मुमुक्षवः।

३. श्लोकोऽयं न्यायभाष्ये (४।१।५७) उद्धृतः। आह वाचस्पतिः—"मृत्युमिति प्रेत्यभावम्; परं कर्मभ्य इति कर्मत्यागमपवर्गसाधनं सूचयति। अमृतत्वमिति चापवर्गो दर्शितः"। 'कर्मभिर्मृत्युम्' इति 'अथा परे' इति च भाष्ये पठ्यते। केषुचित् तत्त्वकौ० संस्करणेषु 'तथाऽपरे' इति पठ्यते।

आनुश्रविकाद् दुःखापघातकोपायात् सोमपानादेरविशुद्धाद् अनित्यसातिशयफलाद् विपरीतो विशुद्धो हिंसादिसङ्कराभावात्, नित्यनिरतिशयफलः, असकृत् पुनरावृत्तिश्रुतेः ।

(२८) न च कार्यत्वेनानित्यता फलस्य युक्ता, भावरूपस्य कार्यस्य तथात्वात्, दुःखप्रध्वंसस्य तु कार्यस्यापि तद्वैपरीत्यात् । (२९) न च दुःखान्तरोत्पादः, कारणाप्रवृत्तौ कार्यानुत्पादात्, विवेकज्ञानोपजनपर्यन्तत्वाच्च कारणप्रवृत्तेः । एतच्चोपरिष्टादुपपादयिष्यते (६६ कारिका द्र०) ।

(३०) अक्षरार्थस्तु—तस्माद् आनुश्रविकाद् दुःखापघातकाद् हेतोर्विपरीतः सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययः तत्साक्षात्कारो[1] दुःखापघातको हेतुः, अत एव श्रेयान् ।

(३१) आनुश्रविको हि वेदविहितत्वाद् मात्रया दुःखापघातकत्वाच्च

वैदिक उपाय से भिन्न (अर्थात् जो शुद्ध, नित्य एवं सर्वोत्कृष्ट है) । यह उपाय हिंसादिसंसर्ग से शून्य होने के कारण विशुद्ध है तथा इसका फल नित्य एवं निरतिशय है, क्योंकि श्रुति में बार-बार अपुनरावृत्ति रूप फल की बात कही गई है । (२८) यह कहना ठीक नहीं कि (जो भी कार्यभूत फल है, वह अनित्य है—इस नियम के अनुसार) मोक्षरूप फल कार्य (विवेकख्याति द्वारा निर्वर्त्य) होने के कारण अनित्य होगा, क्योंकि भावकार्यों के विषय में ही यह नियम घटता है ; दुःखध्वंस (=मोक्ष) के कार्य होने पर भी वह अनित्य से भिन्न (अर्थात् नित्य) है ।

(२९) विवेकज्ञान से संचित दुःख के ध्वंस होने पर भी अन्य दुःख की उत्पत्ति होगी —ऐसी बात नहीं, क्योंकि कारण की व्यापारशून्य स्थिति में कार्य उत्पन्न नहीं होता— यह नियम है ; (अर्थात् दुःख के कारण रूप प्रकृति की अप्रवृत्ति के हेतु दुःख रूप कार्य मोक्षावस्था में नहीं होता) । विवेक-ज्ञानोत्पत्ति पर्यन्त ही दुःखकारण (रूप प्रकृति) का व्यापार रहता है—वह आगे (६६ ; कारिका तथा अन्यत्र) स्पष्ट होगा ।

(३०) 'तद्विपरीतः श्रेयान्' का अक्षरार्थ इस प्रकार है :—सत्व (=बुद्धि) तथा पुरुष का पृथक्त्वज्ञान अर्थात् अन्यतासाक्षात्कार जो दुःख के (आत्यन्तिक) विनाश का उपाय है, वह दुःख के (यथाकथंचित्) विनाश के वैदिक उपाय से विपरीत है, इस हेतु से वह अधिक श्रेयस्कर है । (३१) श्रौत कर्म वेदविहित तथा अल्प-दुःख-नाशक होने के कारण प्रशस्य (उत्तम) है, और बुद्धि-पुरुष का पार्थक्य ज्ञान (=विवेकज्ञान) भी

---

१. साक्षात्कार इति बहुत्र पठ्यमानः पाठोऽसाधुः । (तद्=सत्त्वपुरुषान्यता) ।

प्रशस्यः। सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्ययोऽपि प्रशस्यः। तदनयोः प्रशस्ययोर्मध्ये सत्त्व-पुरुषान्यताप्रत्ययः श्रेयान्।

(३२) कुतः पुनरस्योत्पत्तिरित्यत आह--"व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्" इति। व्यक्तञ्च अव्यक्तञ्च ज्ञश्च व्यक्ताव्यक्तज्ञाः, तेषां विज्ञानं विवेकेन ज्ञानम्।

(३३) व्यक्तज्ञानपूर्वकमव्यक्तस्य तत्कारणस्य ज्ञानम्, तयोश्च पारार्थ्येनात्मा परो ज्ञायते, इति ज्ञानक्रमेणाभिधानम्। (३४) एतदुक्तं भवति—श्रुतिस्मृतीति-हासपुराणेभ्यो व्यक्तादीन् विवेकेन श्रुत्वा, शास्त्रयुक्त्या च व्यवस्थाप्य, दीर्घकालादरनैरन्तर्यसत्कार-सेविताद्[1] भावनामयाद् विज्ञानादिति। तथा च वक्ष्यति--

एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥ इति॥
(कारिका० ६४)॥२॥

उत्तम है, परन्तु इन दोनों प्रशंसित उपायों में बुद्धि-पुरुष का विवेकज्ञान अधिकतर प्रशंसित है।

(३२) फिर इस (साक्षात्कारात्मक विवेक-ज्ञान) की उत्पत्ति किससे होती है, इसके उत्तर में कहा गया है—'व्यक्त-अव्यक्त-ज्ञ के विज्ञान से'। 'व्यक्ताव्यक्तज्ञ' रूप समस्त पद का विग्रह है—व्यक्त, अव्यक्त (प्रकृति) और ज्ञ (ज्ञाता पुरुष); इनका विज्ञान अर्थात् भेदपूर्वक ज्ञान। (३३) व्यक्त (भूत से महत्तत्व पर्यन्त) का ज्ञान पहले होता है, तदनन्तर उसके कारण-भूत अव्यक्त (प्रकृति) का ज्ञान होता है; इन दोनों के परार्थ होने (अर्थात् अपने से पृथक् किसी के लिये होने) के कारण दोनों से अत्यन्त पृथक् आत्मा का ज्ञान होता है। इस प्रकार जिस क्रम से इन तीन पदार्थों का ज्ञान होना है, उस क्रम के अनुसार इनका उपस्थापन किया गया है।

(३४) तात्पर्य यह है कि श्रुति, स्मृति, इतिहास तथा पुराणों से 'व्यक्त' आदि को एक दूसरे से पृथक् जानकर तथा शास्त्रानुमोदित तर्कों द्वारा विनिश्चित कर दीर्घकाल तक निरन्तर श्रद्धा और शुश्रूषा से अनुष्ठित भावना (=मनन-निदिध्यासन)–मय विज्ञान (व्यक्त अव्यक्त-ज्ञ का भेदपूर्वक ज्ञान) से। इस तथ्य को ६४ वीं कारिका (एवं तत्त्वाभ्यासाद्…) में कारिकाकार कहेंगे [कारिकार्थ कारिकाव्याख्यान में द्रष्टव्य है] ॥२॥

---

१. सेविताद् धर्मात् इति पठ्यते कैश्चित्।

द्वितीय कारिका की व्याख्या

वाचस्पति के अनुसार कारिका का तात्पर्य यह है—"दृष्ट उपाय (हेतु) जिस प्रकार त्रिविध दुःख का एकान्त-अत्यन्त-निरोध करने में असमर्थ है, आनुश्रविक (कर्मकाण्डपरक वेदांश द्वारा विहित) उपाय भी उसी प्रकार का है। इसका हेतु यह है कि वेदोक्त उपाय अविशुद्धि से युक्त है (हिंसा आदि से संबद्ध होने के कारण)। किंच इस उपाय से उत्पन्न फल क्षयिष्णु है ; अपि च इस उपाय से उत्पन्न फल अतिशय से भी युक्त है।[1] (इन तीन हेतुओं में अविशुद्धि उपायगत है; क्षय और अतिशय उपायजन्य फल से सम्बन्धित हैं)। अतः यही मानना उचित है कि वेदोक्त क्रियाकलाप से जो उपाय (हेतु) विपरीत है (अर्थात् जो हिंसादि-दोष-शून्य है, जिसका फल नित्य एवं निरतिशय है, वह उपाय प्रशस्ततर है (आनुश्रविक उपाय प्रशस्य निश्चयेन है, क्यों कि वह दुःख-निरोध करने में कुछ दूर तक सहायक होता ही है)। यह प्रशस्यतर उपाय बुद्धि-पुरुष-भेद-ज्ञान है जो व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ (पुरुष) के विज्ञान से उत्पन्न होता है। विज्ञान=पार्थक्य-ज्ञान; यह विज्ञान भावनामय है (भावना—ध्येय पदार्थ में एकाग्रतापूर्वक चित्तनिवेश; यह भावना श्रवण-मनन-पूर्वक ही होती है ; यह भावना चिन्तनप्रधान है—ऐसा भी कहा जा सकता है। (इस भावना को अनुभवजनित गुणविशेष—स्मृति जिसका हेतु है—मानना यहाँ अनावश्यक है)"।

सांख्य का कहना है कि यज्ञादि रूप जो कर्मकाण्ड है, वह दुःख का एकान्त और अत्यन्त ध्वंस नहीं कर सकता, क्योंकि कर्मकाण्ड बाह्यसाधन-सापेक्ष है। जब मैत्री आदि बाह्य-साधनहीन उपाय भी दुःख का एकान्त-अत्यन्त-नाश नहीं कर सकते तब यज्ञादि कर्म कैसे दुःखनाश कर सकते हैं ? यज्ञादि द्वारा आधिदैविक दुःख का कथंचित् नाश संभव हो सकता है (कृषि आदि का उत्पादन करके), तथा कर्मकाण्ड द्वारा

---

१. अतिशय शब्द का अर्थ ज्ञातव्य है। टीकाकार इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं—स्वापेक्षया उत्कृष्ट-फलान्तरसत्ताकत्वम् (सारबोधिनी; आवरणवारिणी); न्यूनाधिक्य (डा० आद्या प्रसाद); न्यूनाधिकभाव (डा० व्रजमोहन)। एक फल की तुलना में अन्य उत्कृष्ट फल का होना मात्र अतिशय है—यह अर्थ अपूर्ण है। आधिक्य अतिशय नहीं है—यह पदमञ्जरी (५।३।५५) से जाना जाता है (प्रकर्षश्चात्र नाधिक्यं किं तर्ह्यतिशयो मतः)। अतिशय का प्रकृत अर्थ प्रकर्ष है, पर यह प्रकर्ष अधिक्यफलक न्यक्कार है—अधिक्यमात्र नहीं है; स्वापेक्षया अन्य का न्यूनीकरण रूप अभिभव है; अतः अतिशय का Surpassability रूप अनुवाद संगत है; इसका inequality (डा० झा-कृत अनुवाद) या excess रूप अनुवाद (Davies) सर्वथा समीचीन नहीं है।

अन्य प्राणी में मैत्री-आदि भावना की कथांचित् वृद्धि भी की जा सकती है (मित्रविन्दा इष्टि आदि द्वारा)। इसी प्रकार कर्मकाण्ड से शरीर और मन में भी शुद्धि तथा सामर्थ्य का आधान अल्प परिमाण में किया जा सकता है, जिसके फलस्वरूप मरणोपरान्त स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति हो सकती है, पर इस से दुःख के हेतुओं के साथ दुःखवोद्धा की सर्वथा सम्वन्धहीनता नहीं होती। किंच धर्माचरण चाहे कैसा भी क्यों न हो, वह कभी अभग्न रूप से चल नहीं सकता; वह बाधाग्रस्त अवश्य होता है। कर्मकाण्ड द्वारा प्रापणीय सुख भी स्वभावतः कुछ काल बाद नष्ट हो जाता है; सुखसाधन भी कालान्तर में परिवर्तित होकर दुःख का साधन बन जाता है, तथा सुख दुःख द्वारा कालान्तर में बाधित होता ही है। स्वर्गरूप सुख या स्वर्गादि-प्राप्तिजनित सुख त्रैगुणिक है। प्रत्येक सुखभोग भोक्ता जीव को अवश्य ही भोगान्त में अवसन्न कर देता है और वह स्वयं भी दुःखोत्पत्ति का द्वारभूत हो जाता है।

वाचस्पति का यह कहना अनुचित नहीं है कि कारिकोक्त जो तीन दोष आनुश्रविक उपाय में दिये गये हैं, उनमें अन्तिम दो दोष उपायजन्य फल के स्वभाव को दिखाते हैं। यज्ञादिकर्म से उत्पन्न जो फल है वह अतिशय और क्षय से अन्वित अवश्य होगा। स्वर्गादि रूप फल त्रैगुणिक हैं, अतः उनके क्षयित्व में संशय नहीं है। अतिशय को फलगत कहना उचित ही है, क्योंकि स्वर्गादि फल गुणविकार होने के कारण अनापेक्षिक नहीं हैं। निर्विकार पुरुष अनापेक्षिक हैं।

जिस प्रकार क्षय और अतिशय को यज्ञादि-उपाय के फल से संबन्धित किया गया है, अविशुद्धि को भी दृष्टिभेद से फलगत के रूप में माना जा सकता है। स्वर्गादि त्रैगुणिक होने के कारण अविशुद्ध हैं अर्थात् विकारशील हैं। निर्विकार पदार्थ ही शुद्ध है—इस दृष्टि से यह कहा गया है। किं च जिस प्रकार अविशुद्धि को उपायगत माना गया है, उसीप्रकार क्षय और अतिशय को भी उपायगत माना जा सकता है, द्रव्यादिसाध्य यज्ञादिकर्म स्वयं भी क्षयवान् और अतिशयवान् है—ऐसा कहना असंगत नहीं है। यह कहना अनुचित नहीं है कि इस कारिका में स्वर्गप्रापक उपाय तथा कैवल्य रूप दुःखातीन-अवस्था-प्रापक उपाय की तुलना की गई है। यह भी कहा जा सकता है कि इस कारिका में स्वर्गादिप्राप्ति तथा कैवल्यप्राप्ति इन दो प्राप्तिरूप उपायों की तुलना की गई है। इस कारिका का उद्देश्य है—स्वर्गरूप फल और मोक्षरूप फल की तुलना करना (Sūryanarayana Śas'tri p. 6)—यह गौणदृष्टि से ही संगत हो सकता है। कारिकागत तद्विपरीतः = 'आनुश्रविकोपाय-विपरीतः उपायः' है।

सार्वभौम अहिंसा और यज्ञोपयोगी पशुहिंसा में विषयभेद मानकर जो मत-समन्वय

वाचस्पति ने किया है, वह वस्तुतः किसी सांख्याचार्य का मत है या नहीं, यह अनुसन्धेय है। यह भी चिन्तनीय है कि क्या सांख्यदर्शन का उद्देश्य वेदोक्त वाक्यविशेष का अवलम्बन करके आत्मज्ञान पर विचार करना है या नहीं। इस विषय में हमारा स्पष्ट मत है कि सगुण और विशेषतः निर्गुण आत्मा के विषय में जो ज्ञान है और जो महदादि पदार्थ आत्मज्ञानी द्वारा भावित होते हैं उनको दार्शनिक पद्धति से प्रमाणित करना ही सांख्य का मुख्य विषय है। सांख्य का स्पष्ट मत है कि वैदिक वाक्यों के रचयिता सगुण-निर्गुण-आत्मज्ञान के अभ्यासी थे और वे आत्मज्ञान की स्वप्रतिष्ठ परम्परा से आत्मविद्या का ज्ञान प्राप्त करते थे। वैदिक वचन से सांख्यशास्त्र प्रवर्तित हुआ—यह सांख्यीय दृष्टि नहीं है; वेद के विभिन्नांशों के विभिन्न रचयिता सांख्यज्ञान के विभिन्न स्तरों के अभ्यासी थे—यह सांख्यीय दृष्टि के अनुसार (ज्ञान, विषय, करण आदि के स्वभाव को देखने पर) सिद्ध होता है।

यज्ञादि कर्मों में जो हिंसारूप तामसभाव है, तज्जनित फल का भोग करना ही होगा तथा जो सात्त्विक भाव है, उसके फल का भी भोग करना होगा—यह सांख्यमत है। कर्म अपनी प्रकृति के अनुसार फल का प्रसव करता ही है, यदि न निमित्तविशेष से उस फल का प्रसव होना रुद्ध हो जाये। वैदिक वचन में पशुहिंसामय कर्म विहित होने से हिंसाजनित फल की प्राप्ति नहीं होगी—यह सांख्यमत नहीं है। यह भी ज्ञातव्य है कि हिंसा का कोई एक ही रूप नहीं है। वह प्राणी का चित्तस्तरसापेक्ष है। जो कर्म एक प्राणी के लिये हिंसा है, वह अन्य प्राणी के लिये हिंसा नहीं भी हो सकता है। 'पर को ज्ञानेच्छा प्रयत्नपूर्वक पीड़ा देकर अपने को आनन्दित करना हिंसा का सूक्ष्म रूप है। ऐसा बोध जिसको नहीं होता, वह किसी की हत्या करने पर भी उस कर्म से 'हिंसक' नहीं हो जाता—यह सांख्यीय दृष्टि है (मनुष्य की हत्या करने पर व्याघ्र को हिंसा नहीं होती—या अणुमात्र होती है)। ईदृश कर्म से हिंसा न होने पर भी इस कर्म से अन्य प्रकार का संस्कार होता ही है। जिस प्रकार अर्थज्ञानपूर्वक जप-क्रिया का संस्कार होता है, उसी प्रकार अर्थज्ञानहीन जपक्रिया का भी स्वानुरूप संस्कार होता है। तथैव आनन्दलाभार्थ ज्ञानपूर्वक प्राणवियोग रूप कर्म का, अनजान से कृत प्राणीहत्या रूप कर्म का या 'हिंसा विधि प्राप्त है अतः करणीय है'—इस दृष्टि से कृत प्राणीहिंसा-रूप कर्म का पृथक् पृथक् संस्कार होता है, एवं संस्कार का प्रभाव कर्माशय पर पड़ता है।

मीमांसक का कहना यह है—जिससे अनर्थ (अनिष्ट) होता है, वह चोदना-प्राप्त होने पर भी अधर्म है। वेदोक्त श्येनयाग शत्रुमारक है, इससे हिंसा होती है, और फलस्वरूप नरकदुःख की प्राप्ति होती है। यह अनर्थ है और वेदोक्त होने पर भी धर्म नहीं है। यह न

सोचना चाहिये कि हिंसा होने पर ही अनर्थ होता है; निषिद्ध होने पर ही कोई कर्म अनर्थ-फलक होता है। मीमांसकानुसार हिंसामात्र पापजनन-हेतु नहीं है, निषिद्ध होना पाप-जनक है। ज्योतिष्टोम में जो पशुवध होता है, वह यज्ञ का सङ्गतासाधक है। श्येनयाग अपने फल के द्वारा अनर्थ का जनक है। इस शत्रुवधरूप फल से नरक-दुःख-प्राप्ति-रूप अनर्थ होगा। श्येन याग का फलभूत शत्रुवध विधिबोधित नहीं है। पर शत्रु यदि आततायी है, तो वध की विधि है। यहाँ हिंसा विधेय है; अतः श्येनयाग अनर्थकर नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि श्येनयाग स्वतः अनर्थफलक नहीं है—'अतः स्वतो न धर्मत्वं श्येनादेर्वाप्यधर्मता'।

आनुश्रविक उपाय के प्रति यह जो हेयदृष्टि (द्र० अतिशय) इस कारिका में कही गई है, उससे कुछ आधुनिक मनीषी यह समझते हैं कि वेदोक्त कर्मकलाप के विरुद्ध सांख्यीयज्ञान reaction (प्रतिक्रिया) है। कोई कोई यह भी कहता है कि सांख्य वेद का प्रामाण्य नहीं मानता या अल्प ही मानता है। इस प्रकार के सभी मत[1] शास्त्रीय प्रक्रिया में अज्ञता के सूचक हैं। **त्रिगुणसंबन्धित प्रत्येक दुःखनाशक उपाय स्वगत गुण के अनुसार आपेक्षिक दृष्टि से हेय-उपादेय होता है, अतः यह कहना कि यज्ञादि कर्मकलाप के विरोध में सांख्य का यह मत है—एक निर्मूल कल्पना है।** 'विरोध' कहने का अभिप्राय यह होता है कि यज्ञादि-कर्म आत्मज्ञान के मार्ग के विरोधी हैं। चूँकि यज्ञादिकर्म स्वरूपतः ऐसे नहीं हैं, अतः विरोध की कल्पना निराधार है। 'तात्कालिक हिंसामय यज्ञ के प्रचलनाधिक्य के कारण सांख्य ने कारिकोक्त मत को कहा' यह भी कोई कोई कहते हैं। यह भी अज्ञता-मूलक युक्ति है। सांख्यकारिकोक्त दोष तो कर्मकाण्ड में है ही। उपनिषदों में भी कर्म और उसके फलगत इन दोषों का प्रतिपादन मिलता है। बाह्यसाधन सापेक्ष कर्म से चित्तरोध के मार्ग में जो सहायता मिलती है वह बाह्य है, स्थूल है; यहाँ तक कि बाह्य साधन-निरपेक्ष उपासना-रूप उपाय भी दोषग्रस्त है। पर आत्मज्ञान के अधिगमार्थ वे अवस्थाविशेष में अवश्यानुष्ठेय हैं। चित्तेन्द्रियव्यापार-मूलक उपासना चाहे कितनी ही सात्त्विक क्यों न हो वह त्रैगुणिक ही है, अतः त्रिगुणस्वभाव के अनुसार जो दोष उसमें होना चाहिये, वह दोष अवश्य है। **इस दोष के कारण ही चित्तरोध का मार्ग सांख्ययोग शास्त्र में उपदिष्ट हुआ है।**

---

१. He [Kapila] denies that such a result can be obtained from the Vedas, for they are impure (J. Davies, p. 2); इस वाक्य में जो they शब्द है, वह Vedas परक है। Davies यह भी न जान सका कि यहां वेद-साहित्य को अविशुद्ध नहीं कहा जा रहा है।

वाचस्पति सत्वपुरुषान्यताख्याति-रूप उपाय को व्यक्ताव्यक्त-विज्ञान-हेतुक मानते हैं ; हमारे अनुसार 'तद्विपरीत उपाय' है—'कैवल्याधिगम' ; यह अधिगम व्यक्त-अव्यक्त-ज्ञ के विज्ञान (प्रत्येक को अपने लक्षण के अनुसार पृथक् पृथक् जानना—जैसा कि व्यासभाष्य में कहा गया है—जातितः प्रविभजन्ते ते सम्यग्दर्शिनः तैरधिगतः पुरुषः, ४।२३) से ही संभव होता है। ईदृश ज्ञान विवेकख्याति है, जो कैवल्य का उपाय है (यह कैवल्य-रूप फल का उत्पादक नहीं है; विवेकख्याति कैवल्य का उपाय किस रूप से है, यह यथास्थान विवृत होगा)। सत्त्व-पुरुषान्यताप्रत्यय=विवेकख्याति-रूप उपाय व्यक्त-अव्यक्त-ज्ञ के विज्ञान से होता है—यह तभी कहा जा सकता है जब विवेकख्याति और व्यक्त-अव्यक्त-ज्ञ का विज्ञान परम्परागत रूप से पृथक् माने जाते हों और द्वितीय को प्रथम का उत्पादक हेतु माना जाता हो।

सत्त्वपुरुषान्यता-प्रत्यय रूप विवेकख्याति (विवेक=पार्थक्य, अन्यता; ख्याति=ज्ञान; विवेक भी विवेकज्ञान रूप अर्थ में कभी कभी व्यवहृत होता है), गुण-पुरुषान्तर-ज्ञान रूप विवेकख्याति तथा अत्रत्य 'व्यक्त-अव्यक्त-ज्ञ' का पार्थक्य ज्ञान—इन दोनों पर कुछ विशेष वक्तव्य है। योगसाधन की दृष्टि से सत्त्वपुरुष की अन्यता का ज्ञान करना पड़ता है; केवल त्रिगुण असंवेद्य है। अतः गुण-पुरुष का भेद असंवेद्य है। यद्यपि इस दृष्टि से गुण-पुरुषान्तर-ज्ञान कहना उपपन्न नहीं होता तथापि सांख्यशास्त्र में बुद्धि-पुरुष-भेदज्ञान के साथ साथ गुण-पुरुष भेदज्ञान का जो उल्लेख मिलता है, उसका हेतु है। यह गुणपुरुष-भेदज्ञान तत्त्वदृष्टि से है—योगसाधनदृष्टि से नहीं ; यह कहना अधिकतर संगत है कि यह कथन शुद्ध तार्किकदृष्टि से है ; जो पदार्थ स्वीय अपरिणामित्व के कारण बुद्धि से पृथक् होगा, वह अवश्य ही त्रिगुण से पृथक् होगा—इस दृष्टि से यह कहा गया है। 'बुद्धि से पुरुष पृथक् है' —इस मत में भी यह ज्ञातव्य है कि बुद्धि पुरुष-संयुक्त ही है, पुरुषसंबन्धहीन होकर बुद्धि रहती ही नहीं है। 'बुद्धि' स्वयं ही विचारविशेष द्वारा यह जान सकती है कि औपादानिक दृष्टि से मेरा जो स्वरूप है, पुरुष उससे विलक्षण है। बुद्धि पुरुष से निरपेक्ष पृथग्भूत जड़ पदार्थ मात्र के रूप में विद्यमान है, ईदृश मत असंगत है ; बुद्धि चिज्-जड-संघातरूप ही है। यही कारण है कि तत्त्वदृष्टि से गुणपुरुष-अन्यता-ज्ञान का कथन किया गया है; यहाँ गुण=गुणों की अवैषम्यावस्था।

वाचस्पति कहते हैं कि व्यक्त और अव्यक्त की परार्थता से आत्मा का निश्चय होता है। व्यक्त (बुद्धि) को यथार्थरूप से देखने पर यह तो जाना जा सकता है कि वह संहत है; वह पुरुषप्रकाश्य, पुरुषसाक्षिक भाव है; पर बुद्धिगत गुणवैषम्य का भंग होने पर जो अवैषम्यरूप अवस्था होती है, वह अवस्था भी परार्थ है—यह कहना संगत प्रतीत

नहीं होता, क्योंकि यह अवस्था संहतावस्था नहीं है—यह हमारा मत है। संहत पदार्थ अवश्य ही 'कार्य' होगा, केवल कारण नहीं होगा। गुणों की अविषम-अवस्था कार्यरूप नहीं है, अतः वह परार्थ नहीं है। एकाधिक-गुण-रूप मूल उपादान अविच्छेद से मिलित रहने के कारण अव्यक्त भाव संहत है—यह कहना अनुचित है। संहत पदार्थ वह है जिसकी संहतता से कोई कार्य निष्पन्न होता है; अव्यक्तावस्था से कोई कार्य निष्पन्न नहीं होता, अतः अव्यक्त परतन्त्र नहीं है।[1] संहत स्वतन्त्र नहीं होता (द्र० शारीरक २।४।१०) ॥२॥

(१) तदेवं प्रेक्षावदपेक्षितार्थत्वेन शास्त्रारम्भं समाधाय शास्त्रमारभमाणः श्रोतृबुद्धिसमवधानाय तदर्थं संक्षेपतः प्रतिजानीते—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥ ३ ॥

(२) "मुले"ति। संक्षेपतो हि शास्त्रार्थस्य चतस्रो विधाः; कश्चिदर्थः प्रकृतिरेव, कश्चिदर्थो विकृतिरेव, कश्चित् प्रकृतिविकृतिः, कश्चिदनुभयरूपः।

---

(१) इस प्रकार प्रकृत शास्त्र में आये हुए विषय के प्रेक्षावानों के लिये आवश्यक होने के कारण शास्त्रारम्भ करने का निश्चय करके (कारिकाग्रन्थरूप) शास्त्र का आरम्भ करते हुये ग्रन्थकार श्रोता की बुद्धि की एकाग्रता के लिये शास्त्रीय विषय को संक्षेप में कहते हैं (शास्त्रोक्त-साध्यविषय-परक निर्देश करते हैं)—

एक मूल प्रकृति है जो किसी का विकार (कार्य) नहीं है; महान् आदि सात पदार्थ (अपने कार्यों की) प्रकृति और (अपने कारणों की) विकृति दोनों हैं। सोलह पदार्थों का एक समुदाय ऐसा है, जो केवल विकार (कार्य) ही है; पुरुष रूप एक पदार्थ है, जो न उपादान कारण ही है और न कार्य ही ॥ ३ ॥

(२) (सांख्य नामक) शास्त्र के पदार्थ संक्षेपतः चार प्रकार के हैं। कोई पदार्थ

---

१. ऐसा प्रतीत होता है कि 'तदर्थ एवं दृश्यस्यात्मा' (२।२१) सूत्र से वाचस्पति को यह भ्रम हुआ होगा कि दृश्य अर्थात् अव्यक्त तदर्थ=पुरुषार्थ है। योगसूत्रकार दृश्य को 'भूतेन्द्रियात्मक' कहते हैं (२।१८); भाष्यकार 'दृश्याः बुद्धिसत्त्वोपारूढाः सर्वे धर्माः' कहते हैं (२।१७)। दृश्य के द्वारा चित्त उपरक्त होता है, यह भी कहते हैं (४।२३), अतः योगसूत्र का दृश्य ज्ञेयभाव है; यह गुणत्रय की अवैषम्यावस्था या साम्यावस्था नहीं है। दृश्य मूलतः स्वतन्त्र अव्यक्त है, पर परार्थ हेतु परतन्त्र है (भाष्य २।१७)—इस वाक्य से जाना जाता है कि दृश्य अव्यक्त नहीं है, क्योंकि अव्यक्तभाव परतन्त्र नहीं है।

(३) तत्र का प्रकृतिरेवेत्युक्तम्—"मुलप्रकृतिरविकृतिः" इति । प्रकरोतीति प्रकृतिः प्रधानम्, सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था, सा अविकृतिः, प्रकृतिरेवेत्यर्थः ।

(४) कस्मादित्यत उक्तम्—"मूलेति" । मूलञ्चासौ प्रकृतिश्चेति मूलप्रकृतिः—विश्वस्य कार्यसङ्घातस्य सा मूलम् । (५) न त्वस्य मूलान्तर मस्ति, अनवस्थाप्रसङ्गात् । न चानवस्थायां प्रमाणमस्तीति भावः ।

(६) कतमाः पुनः प्रकृतिविकृतयः, कियत्यश्चेत्यत उक्तम्—"महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त" इति । प्रकृतयश्च ता विकृतयश्च ता इति "प्रकृति-विकृतयः" सप्त । (७) तथा हि—महत्तत्त्वम् अहङ्कारस्य प्रकृतिः, विकृतिश्च मूलप्रकृतेः ।

(८) एवमहङ्कारतत्त्वं तन्मात्राणामिन्द्रियाणाञ्च प्रकृतिः; विकृतिश्च महतः । (९) एवं पञ्चतन्मात्राणि भूताना माकाशादीनां प्रकृतयः, विकृतयश्चाहङ्कारस्य ।

केवल प्रकृति (=उपादान कारण) रूप है; कोई केवल विकृति (=कार्य रूप) है, कोई प्रकृति-विकृति रूप (कारण और कार्य दोनों) है, कोई न उपादानकारण (=प्रकृति) है और न कार्य (=विकृति) है । (३) अब इनमें से प्रकृति (=उपादानकारण) कौन है, यह कहते हैं :—मूल प्रकृति विकार (=कार्य) से भिन्न (अर्थात् चरम कारण) है । जो परिणत होकर कार्यों को उत्पन्न करता है, वही प्रकृति है; यह प्रधान (सब कुछ इसमें विधृत हैं) भी कहलाती है । यह सत्त्व, रजः और तमः नामक गुणों की साम्यावस्था-रूप है । यह किसी का कार्य नहीं, बल्कि कारण ही है; (४) यह क्यों ? इसके उत्तर में कहते हैं :—'यह प्रकृति मूल है'—सभी कार्यों का अन्तिम उपादान है । (५) इसका भी मूल (उपादान) कोई है, ऐसा मानने पर अनवस्था-दोष होगा और यह अनवस्था किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होती (अतः अनवस्था न हो इसलिये साम्यावस्थारूप प्रकृति का मूलान्तर नहीं माना जाता ।

(६) अब प्रकृति-विकृति (=कारण-कार्य-उभयरूप) कौन और कितने हैं, इसके उत्तर में कहते हैं । 'महान्[1] अहङ्कार तथा पञ्चतन्मात्र—ये सात उपादानकारण और कार्य दोनों हैं । वे प्रकृति भी हैं, विकृति भी । (७) ये प्रकृति-विकृतियाँ इस प्रकार हैं—महत्-तत्त्व अहङ्कार का उपादान है और मूलप्रकृति का कार्य है । (८) इसी प्रकार अहङ्कार-तत्त्व शब्दादि-तन्मात्रों और द्विविध इन्द्रियों का कारण और महत्-तत्त्व का कार्य है । (९) इसी प्रकार पाँच तन्मात्र आकाश आदि पाँच स्थूल भूतों की प्रकृति (=कारण) तथा अहङ्कार की विकृति (=कार्य) हैं ।

---

१. 'महत्' प्रायेण पुंलिङ्ग में ही प्रयुक्त होता है । पर 'महदुपरागात् विपरीतम्' इस सांख्यसूत्र (१।६१) में नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त हुआ है ।

(१०) अथ का विकृतिरेव, कियती च—इत्यत उक्तम्—"षोडशकस्तु विकारः" इति। षोडशसङ्ख्यापरिमितो गणः षोडशकः। (११) 'तु' शब्दोऽवधारणे भिन्नक्रमः। (१२) पञ्च महाभूतानि एकादशेन्द्रियाणि चेति षोडशको गणो विकार एव, न प्रकृतिरिति। (१३) यद्यपि पृथिव्यादीनामपि गोघटवृक्षादयो विकाराः, एवं तद्विकारभेदानां पयोबीजादीनां दध्यङ्कुरादयः, तथापि गवादयो बीजादयो वा न पृथिव्यादिभ्यस्तत्त्वान्तरम्।

(१४) तत्त्वान्तरोपादानत्वं च प्रकृतित्वमिहाभिप्रेतम्, इति न दोषः। (१५) सर्वेषां गोघटादीनां स्थूलतेन्द्रियग्राह्यता च समा, इति न तत्त्वान्तरत्वम्।

(१६) अनुभयरूपमाह—"न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः" इति। एतत् सर्वमुपरिष्टादुपपादयिष्यते ॥ ३ ॥

---

(१०) अब कौन केवल विकार (=कार्य) हैं और वे कितने हैं, इसे कहते हैं—विकार सोलह हैं। सोलह संख्या का परिणाम जिस गण में है वह 'षोडशक' कहलाता है। (११) 'तु'—शब्द का अर्थ अवधारण (=निश्चय) है, जो भिन्नक्रम (=अयथास्थान में पठित) है (अर्थात् 'षोडशकः' पद के आगे 'तु' न होकर 'विकारः' के आगे इसको होना चाहिये था)। (१२) इस प्रकार (आकाश आदि) पाँच महाभूत तथा ग्यारह इन्द्रियाँ—इन सोलह तत्वों का समूह केवल कार्य हैं, (तत्वान्तर का) उपादान नहीं।

(१३) यद्यपि पृथ्वी आदि महाभूतों के भी गो, घट, वृक्ष आदि विकार (=कार्य) हैं, इसी प्रकार उनके विकारभूत दुग्ध, बीज आदि विकार के भी दधि और अंकुर आदि कार्य हैं, तथापि ये सब गो आदि या बीज आदि पृथिवी आदि से भिन्न कोई तत्व नहीं हैं। (१४) अपने से भिन्न किसी तत्व का उपादान-कारण बनने वाली वस्तु ही यहाँ 'प्रकृति' शब्द से अभिप्रेत है, अतएव पृथिवी आदि (महाभूतों) को प्रकृति न कहकर केवल 'विकृति' कहना कोई दोष नहीं है। (१५) गो, घट आदि पृथिवी आदि से पृथक् तत्व नहीं हैं, क्योंकि इन गो, घट आदि की स्थूलता और इन्द्रियगोचरता वैसी ही है जैसी कि पृथिवी रूप महाभूत की।

(१६) अनुभय-रूप (अर्थात् जो न कारण है और न कार्य है) को कहते है—पुरुष न उपादान कारण ही है और न कार्य ही। इस सब का उपपादन आगे (१९–२२ कारिकाओं में) करेंगे।

तृतीय कारिका की व्याख्या

मूल प्रकृति=अपरिच्छिन्न सत्त्व, रजः और तमः। इसका कोई उपादान है—यह प्रमित नहीं होता। परिच्छिन्न सत्त्व आदि का उपादान होता है, अपरिच्छिन्न का नहीं। इस अवस्था में सत्त्वादि तुल्यबल रहते हैं—यह अवैषम्यावस्था है। इस अवस्था में धर्म-धर्मिभाव अप्रयोज्य होता है। गुणवैषम्यावस्था में हम कह सकते हैं कि सत्त्व प्रकाशशील है (प्रकाश सत्त्व का सदाविद्यमान धर्म है; शील=स्वभाव), रजः क्रियाशील है, तमः स्थितिशील है। **अवैषम्यावस्था में 'किसी का प्रकाश' ऐसा नहीं कहा जा सकता; उस अवस्था में प्रकाश, क्रिया और स्थिति ही मूल द्रव्य हैं, ऐसा कहना पड़ता है।** सात प्रकृतिविकारों से मूल प्रकृति का यह भेद विशेषतः द्रष्टव्य है। अवैषम्यावस्था में किसी भी प्रकार का कार्यकारणभाव व्यपदिष्ट नहीं हो सकता; इस अवस्था में कोई परिणाम व्यक्त नहीं होता।

मन, दश इन्द्रियाँ और पाँचभूत—ये १६ विकार हैं। इनका धर्म-लक्षण-अवस्था-रूप तीन परिणाम होते हैं—तत्त्व रूप कोई परिणाम नहीं होता। कर्ण आदि इन्द्रियों में वाधिर्यादि परिणाम या पशुकर्ण, पक्षिकर्ण आदि रूप जितने भी परिणाम होते हैं, वे सब कर्ण रूप इन्द्रिय के धर्मादि-परिणाम-रूप ही होंगे। पाँच भूतों के मिश्रण से जो भौतिक पदार्थ उद्भूत होते हैं, वे भूततत्त्व के ही अन्तर्गत हैं। ये १६ विकार अस्मदादि की दृष्टि में अतीन्द्रिय पदार्थ हैं; ये समाधिविशेष द्वारा ही साक्षात्करणीय हैं। यह ज्ञातव्य है कि प्रकृति-विकृतियाँ प्रकृति शब्द से भी अभिहित होती हैं। 'अष्टौ प्रकृतयः' इस तत्त्व-समाससूत्र में ईदृश व्यवहार दृष्ट होता है।

वाचस्पति ने तत्त्वान्तर की बात कही है। यह तत्त्व क्या है—सांख्यीयदृष्टि से इसका स्पष्टीकरण वाचस्पति ने नहीं किया है। **वाचस्पति का यह कहना कि गो-घट आदि पदार्थों की स्थूलता और इन्द्रियग्राह्यता वही है जो पृथिवी आदि भूतों की है—एक भ्रान्त दृष्टि है।** यदि ऐसी बात होती तो क्षिति आदि भूत अस्मदादि द्वारा साक्षात् कृत हो सकते थे। भूततत्त्व चूँकि समाधि-विशेष द्वारा साक्षात्करणीय है, अतः भूत घटादिभौतिकों से सूक्ष्म हैं; और उनका साक्षात्कार भी गोलक-निरपेक्ष इन्द्रिय द्वारा होता है; जब कि गोघटादि का ज्ञान गोलकाधिष्ठित इन्द्रियों द्वारा होता है।

सांख्यीय दृष्टि से 'तत्त्व'[1] को समझने से ज्ञात होगा कि क्यों गो, घट, पट, सूत्र

---

१. शास्त्रान्तर में प्रयुक्त 'तत्त्व' शब्द शास्त्रान्तरीय अर्थ का वाचक है, सांख्यीय अर्थ का नहीं। 'किं पुनः तत्त्वम्? सतः सद्भावः असतश्च असद्भावः (न्यायभाष्य) का तत्त्व सांख्यीय नहीं है।

आदि तत्त्व नहीं है; प्रसिद्ध मिट्टी, जल, आग, हवा भी तत्त्व नहीं है। **बहु पदार्थों में जो सामान्य भाव है वह तत्त्व है, यदि उसका निर्धारण ध्यानविशेष से किया गया हो।** सांख्यीय दृष्टि में घटों में विद्यमान मिट्टी तत्त्व नहीं है—क्योंकि इस निर्धारण के लिये योगज ध्यान की आवश्यकता नहीं है। सभी भौतिक विषयों में पाँच भाव साधारण हैं—शब्दगुणक जड़ परिणामी बाह्य द्रव्य, तथैव स्पर्शगुणक, रूपगुणक, रसगुणक, एवं गन्धगुणक (प्रत्येक भूत एक एक गुण का गुणी है)। चूँकि यह प्रथम ध्यानज विश्लेषण है, अतः यह 'पञ्चभूत' स्थूलतम तत्त्व है। प्रत्येक भूत में स्वगत विशेष हैं। शब्दादि के विशेष जब नहीं रहते—विशेषहीन शब्दमात्र, स्पर्शमात्र, रूपमात्र, रसमात्र और गन्धमात्र रहते हैं, तब ये भूतों का उपादान रूप 'तन्मात्र तत्त्व' (ग्राह्यविषय-संबन्धी) कहलाते हैं। यह निर्धारण सूक्ष्मतरध्यान-साध्य है। इसी पद्धति से तन्मात्र का उपादान अहंकार, उसका उपादान बुद्धि और बुद्धि का उपादान गुणत्रय रूप प्रधान निश्चित होता है; ये सब सूक्ष्मतर ध्यानगम्य हैं। प्राणी की विषयव्यवहार सामर्थ्य को भी ध्यानज दृष्टि से दश इन्द्रियों में तथा एक मन में विभक्त किया गया है। ये ११ पदार्थ अस्मिता (=अहंकार) के विकारभूत हैं—यह भी ध्यानज दृष्टि से निर्धारित होता है (अनुमान से भी यह निर्धारण गौणरूप से होता है)। ये २४ पदार्थ 'कार्य और उसके उपादान' की दृष्टि से है। इस दृष्टि से तत्त्व २४ होते हैं और पुरुष रूप उपादानकारण-कार्य-संबन्ध-हीन पदार्थ तत्त्व नहीं होता। शान्तिपर्व से ज्ञात होता है कि इन २४ पदार्थों को ही 'तत्त्व कहने की एक परिपाटी थी, जिसमें पुरुष को माना तो जाता था, पर तत्त्वरूप से नहीं। 'तत्त्व न मानने का यह अर्थ नहीं कि पदार्थ की सत्ता ही न मानी जाये। **सभी विकारों के मूल निमित्त होने के कारण ही पुरुष को गौणतः तत्त्व माना जाता है।** इस पदार्थ की जो तत्त्व संज्ञा दी गई है, उसका कोई सूक्ष्म सार्थक्य प्रतीत नहीं होता। ध्यान देना चाहिए कि यह तत्त्व[1] शब्द न पदार्थगणनापरायण सांख्यसूत्र (१।६१) में है और न इस कारिका में।

जिस दृष्टि में २४ पदार्थ तथा पुरुष तत्त्व समझे जाते हैं, उस दृष्टि में सोपाधिक पुरुष (बुद्ध्यादि-उपाधि तथा तद्द्रष्टा पुरुष का संहत रूप) तत्त्व नहीं होता। स्वबुद्धिगत

---

१. तत्त्वस्वरूप के निर्धारण के लिये निम्नोक्त दो वचन द्रष्टव्य हैं—यद्धि यस्य नान्यापेक्षं स्वरूपं तत् तस्य तत्त्वम्; यद् अन्यापेक्षं न तत् तत्त्वम् अन्याभावेऽभावात् (तै. उप. २।८ भाष्य)। तस्य भावस्तत्त्वमिति भिन्नानां वर्गाणां वर्गीकरणनिमित्तं यदेकमविभक्तं भाति तत् तत्त्वम्, यथा गिरिवृक्षपुरप्रभृतीनां नदीसरःसागरादीनां च पृथिवीरूपत्वम् अब् रूपत्वं च (प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी ३।१।२)।

धर्म-ज्ञान-वैराग्य-ईश्वरता धर्म के असाधारण विकाश के कारण ईश्वरादि नानाविध जीव भी कोई तत्त्व नहीं होते। यही कारण है कि ब्रह्माण्डसृष्टिकर्ता प्रजापति ईश्वर, अनादि-मुक्त-चित्तवान् ईश्वर, भूत-तन्मात्रादि-अभिमानी ईश्वर आदि कोई तत्त्व नहीं हैं। तत्त्व न होने पर भी ये सब सांख्यानुमोदित हैं। यों तत्त्व शब्द के अर्थ में कुछ परिवर्तन कर ईश्वरादि को भी तत्त्व के रूप में कहा ही जा सकता है, पर इससे ईश्वरादि उस अर्थ में तत्त्व नहीं होंगे, जिस अर्थ में उपर्युक्त २५ पदार्थ तत्त्व होते हैं—यह विवेचनीय है।

यह ज्ञातव्य है कि सांख्ययोगशास्त्र में 'पुरुष' शब्द का प्रयोग कूटस्थ, निर्गुण अपरिणामी पुरुष के लिये, ग्रहीता-रूप पदार्थ के लिये, एवं शरीरी जीव के लिये प्रयुक्त होता है। संक्षेप में—सगुण और निर्गुण—दोनों आत्माओं के लिये तथा बद्ध पुरुष और मुक्त पुरुष-इन दो प्रकार के पुरुषों के लिये पुरुष शब्द प्रयुक्त होता है—ब्रह्म शब्द की तरह। ईदृश शब्द-व्यवहार भ्रमोत्पादक अवश्य है, पर यह दोष न्यायादि सभी शास्त्रों के ग्रन्थों में समान रूप से मिलता है। निर्गुण पुरुष ही निर्गुण ब्रह्म है—योऽसौ उपनिषत्स्वेव अधिगतः पुरुषोऽसंसारी ब्रह्म उत्पाद्यादि-चतुर्विधद्रव्यविलक्षणः···(शारीरक १।१।४)। स्थूल या सूक्ष्म शरीर रूपी पुर से संबन्धित होने के कारण ही पुरुष को पुरुष कहा जाता है।

इस निर्गुण बुद्धिसंगहीन पुरुष को परमात्मा भी कहा जाता है ; प्रत्येक पुरुष स्वरूपतः स्वकीय नित्यमुक्त शुद्ध बुद्ध स्वभाव के कारण परमात्मा है और बुद्ध्यादिसंपर्क की दृष्टि से आत्मा कहलाता है—यह भी एक व्यवस्थित शब्दप्रयोग है। "आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः। तैरेव तु विनिर्मुक्तः परमात्मेत्युदाहृतः॥ (शान्ति १८७।२३)।

'परमात्मा' इस शब्द का व्यवहार सांख्ययोगसंप्रदाय में था—यह इतिहास-पुराणों से ज्ञात होता है (शान्ति ३४०।२८)। यह आवश्यक नहीं है कि इतिहास-पुराणकारों ने पर-मात्मा शब्द के सांख्यीय अर्थ को जानकर उसी अर्थ में ही सर्वत्र'परमात्मा' शब्द का प्रयोग किया है—पौराणिक प्रवचनों में दार्शनिक सूक्ष्मता सर्वत्र रक्षित नहीं होती है। सूक्ष्म शरीर के नाश के बाद पुरुष की बन्धातीत अवस्था को लक्ष्यकर पुरुष को परमात्मा कहा जाता है—यह गौड़पादभाष्य से भी जाना जाता है (द्र० का० ४४)। **यह परमात्मा लोक-प्रसिद्ध Universal soul नहीं है।** यह परमात्मा ईश्वर है—यह कथन (द्र० हीरेन्द्रनाथ दत्त कृत बङ्गला 'सांख्यदर्शन', पृ. १७८) असंगत है। ईश्वरता बुद्धिधर्म ही है। Universal soul की कल्पना असांख्यीय है॥३॥

(१) तमिममर्थं प्रामाणिकं कर्तुमभिमताः प्रमाणभेदा लक्षणीयाः । न च सामान्यलक्षणमन्तरेण शक्यं विशेषलक्षणं कर्तुम्, इति प्रमाणसामान्यं तावल्लक्षयति—

दृष्टमनुमानमाप्तं वचनं[1] सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् ।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ॥ ४ ॥

(२) "प्रमाणमिष्टम्" इति । अत्र च 'प्रमाणम्' इति समाख्यालक्षपदम्[2] । (३) तन्निर्वचनं च लक्षणम् । प्रमीयतेऽनेनेति निर्वचनात् प्रमां प्रति करणत्वमवगम्यते । (४) तच्चा[3]ऽसन्दिग्धाविपरीतानधिगतविषया चित्तवृत्तिः । (५) बोधश्च पौरुषेयः फलं प्रमा, तत्साधनं प्रमाणमिति । (६) एतेन—संशयविपर्ययस्मृतिसाधनेष्व प्रसङ्गः[4] ।

---

(१) अब पूर्वोक्त शास्त्रीय अर्थ (=विषय) को प्रमाणगम्य सिद्ध करने के लिये विभिन्न प्रमाणों के लक्षण करने होगें । चूंकि सामान्यलक्षण के बिना विशेष-लक्षण नहीं हो सकता, इसलिये पहले प्रमाण-सामान्य का लक्षण कहते हैं—

दृष्ट (प्रत्यक्ष), अनुमान तथा आप्तवचन ('शब्दप्रमाण') में ही अन्य सभी प्रमाणों के अन्तर्भाव होने के कारण (सांख्य को) ये तीन ही प्रमाण मान्य हैं । प्रमाण से ही प्रमेयों की सिद्धि (निश्चयज्ञान) होती है ॥ ४ ॥

(२) यहाँ पर 'प्रमाण' शब्द समाख्यालक्ष (जो समाख्या=योग=अवयवार्थ से लक्षण का बोध कराता है) है । (३) उस शब्द का निर्वचन (=प्रकृति-प्रत्ययार्थ) ही प्रमाणपदार्थ का लक्षण (=अन्यव्यावर्तक धर्म) है । जिसके द्वारा यथार्थ ज्ञान हो, वही 'प्रमाण' है—इस निर्वचन से यह ज्ञात होता है कि प्रमा या यथार्थ ज्ञान का करण (=मुख्य साधक) प्रमाण है ।

(४) यह (प्रमाण) चित्तवृत्तिरूप है, जिसका विषय असन्दिग्ध (=निश्चित), अविपरीत (=बाधित न होने वाला) तथा अनधिगत (=पूर्व से अज्ञात) है । (५) इस प्रमाण का फल है—पौरुषेय बोध जो 'प्रमा' कहलाता है । इस बोधरूप प्रमा का साधक (चित्तवृत्ति) प्रमाण है । (६) इस कथन से संशय, विपर्यय (=मिथ्याज्ञान) तथा स्मृति के

---

१. प्रचलितः पाठस्तु—'दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्व…' इत्येव; स चाशुद्ध इति व्याख्यायां दर्शितम् ।
२. समाख्यया लक्ष्यपरम् इति समाख्या लक्ष्यपदम् इति च पठ्यते कैश्चित् ।
३. तच्चेति न सर्वत्र पठ्यते । पाठभेदजनितार्थभेदविषये व्याख्यायां विचारः कृतः ।
४. 'साधनेषु अप्रमाणेषु अप्रसंगः' इति पाठः कैश्चित् स्वीकृतः । अपरे 'साधनेषु प्रमाणेषु न प्रसंगः' इति पठन्ति (प्रमाणेषु=प्रमाणाभासेषु) ।

(७) संख्याविप्रतिपत्तिं निराकरोति—"त्रिविधम्" इति। तिस्रो विधा यस्य प्रमाणसामान्यस्य, तत् त्रिविधम्, न न्यूनम्, नाप्यधिकमित्यर्थः। विशेषलक्षणानन्तरञ्चैतदुपपादयिष्यामः (५ म कारिका द्र०)।

(८) कतमाः पुनस्ता विधाः ? इत्यत आह—"दृष्टमनुमानमाप्तं वचनम्" इति। एतच्च लौकिकप्रमाणाभिप्रायम्, लोकव्युत्पादनार्थत्वाच्छास्त्रस्य, तस्यैवात्राऽधिकारात् (९) आर्षं तु विज्ञानं योगिनामूर्ध्वस्रोतसां[१] च न लोकव्युत्पादनायाऽलम्, इति सदपि नाऽभिहितम्, अनधिकारात्।

(१०) स्यादेतत्—मा भून्न्यूनम्, अधिकं तु कस्मान्न भवति ? सङ्गिरन्ते हि वादिन उपमानादीन्यपि प्रमाणानि, इत्यत आह—"सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्" इति। एष्वेव दृष्टानुमानाप्तवचनेषु सर्वेषां प्रमाणानां सिद्धत्वात् —अन्तर्भावादित्यर्थः। एतच्चोपपादयिष्यत इत्युक्तम्।

साधकों में प्रमाणलक्षण की प्रसक्ति नहीं होती है (अर्थात् स्मृत्यादि के साधकतम करण प्रमाण नहीं हैं)।

(७) अब प्रमाणों की संख्या के विषय में विद्यमान विप्रतिपत्ति (=विरुद्धमत) का निराकरण करते हुए कहते हैं—प्रमाण के तीन प्रकार हैं,—न कम और न अधिक है। प्रमाणों के विशेष लक्षण कहने के बाद इसका उपपादन (=युक्ति से सिद्धि) करेंगे।

(८) ये तीन प्रकार कौन हैं, यह कारिकाकार कहते हैं—'दृष्ट' 'अनुमान' तथा 'आप्तवचन'। यह त्रिविधत्वकथन लौकिक (=लोकविदित) प्रमाणों के अभिप्राय के अनुसार है क्योंकि शास्त्र लोक (=साधारण जनों) की व्युत्पत्ति (=ज्ञान) के लिये प्रणीत होता है ; यही कारण है कि यहाँ लौकिक प्रमाण या लोक ही विचार के लिये अधिकृत हुआ है। (९) ऊर्ध्वस्रोतों (देवविशेष) और योगियों का 'आर्षविज्ञान' रूप प्रमाण साधारण जनों को ज्ञान कराने में समर्थ नहीं है। इसलिये विद्यमान होने पर भी अधिकार न होने के कारण अथवा लोक में अनुपयोगी होने के कारण यहाँ इस प्रमाण का उल्लेख नहीं किया गया है।

(१०) तीन से कम प्रमाण न हों तो न सही, पर तीन से अधिक प्रमाण क्यों नहीं होते ? विभिन्न वादों के मानने वाले उपमान आदि को भी प्रमाण मानते हैं। अतः कारिकाकार कहते हैं—इन्हीं दृष्ट (प्रत्यक्ष), अनुमान तथा आप्तवचनों में ही सब प्रमाणों की सिद्धि (=अन्तर्भाव) होने के कारण अन्य प्रमाणों का निर्देश नहीं किया गया। बाद में इसकी उपपत्ति की जाएगी—यह हमने पहले कहा ही है।

---

१. चेति न पठ्यते कैश्चिद् व्याख्यातृभिः। तन्मते ऊर्ध्वस्रोतसो योगिन एव।

(११) अथ प्रमेयव्युत्पादनाय प्रवृत्तं शास्त्रं कस्मात् प्रमाणं सामान्यतो विशेषतश्च लक्षयति ? इत्यत आह—"प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि" इति। सिद्धिः प्रतीतिः।

(१२) सेयमार्याऽर्थक्रमानुरोधेन पाठक्रममनादृत्यैव व्याख्याता ॥४॥

---

(११) प्रमेयों (=ज्ञेय विषयों) का ज्ञान कराने के लिये आरम्भ किया गया शास्त्र प्रमाण-सामान्य का तथा प्रमाण-विशेष का लक्षण क्यों करने लगा ? इसका उत्तर कारिकाकार देते हैं—क्यों कि प्रमेयों की सिद्धि (=प्रतीति) प्रमाण से होती है (अतः प्रमेय-विचार-परायण शास्त्र में प्रमाण का विचार करना आवश्यक होता है)।

(१२) इस आर्या का व्याख्यान पाठक्रम (=वाक्यपौर्वापर्य) के अनुसार न करके अर्थक्रम (=प्रयोजनानुसारी क्रम) के अनुसार ही किया गया है (अर्थात् पहले 'त्रिविधं प्रमाणमिष्टम्' की व्याख्या और इसके बाद 'दृष्टमनुमानमाप्तं वचनम्' की व्याख्या की गई है)।

चतुर्थ कारिका की व्याख्या

हमारी दृष्टि में चतुर्थ कारिका के पूर्वार्ध का पाठ ईषद् भ्रष्ट हो गया है; इसका प्रकृत पाठ होगा—**दृष्ट मनुमानमाप्तं वचनं सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्** अर्थात् आप्तवचन रूप समस्त पद न होकर 'आप्तं वचनम्' होगा। इस पाठ में आर्याछन्द की मात्राएँ ठीक हो जाती हैं। इस पाठ में 'च' की आवश्यकता नहीं रह जाती। ध्यान देना चाहिये किसी भी व्याख्याकार ने इस 'च' पर कुछ नहीं कहा, क्योंकि उनकी दृष्टि में कारिका में 'च' था ही नहीं। 'च' को एवकारार्थक नहीं माना जा सकता, क्योंकि 'त्रिविधं प्रमाणमिष्टम्' कण्ठतः कहा गया है। प्रचलित पाठ में यतिभङ्ग भी होता है तथा निरर्थक 'च' को पढ़ना पड़ता है 'आप्तं वचनम्' रूप दो पद पढ़ने पर भी आप्तवचन एक ही प्रमाणनाम होगा—इसमें कोई शास्त्रीय दोष नहीं है। अगली कारिका में 'आप्तवचन' शब्द है ही। यह नहीं कहा जा सकता कि पञ्चम कारिका में 'आप्तवचन' रूप समस्त शब्द रहने के कारण इस कारिका में भी समस्त पद ही होना चाहिये।

कारिका का कहना है कि प्रमेय की सिद्धि (=निश्चयज्ञान) प्रमाण से होती है। यह प्रमेय क्या है—यह कारिका में उक्त नहीं हुआ है। यदि कहा जाये कि प्रमाणगम्य= प्रमेय, तो अर्थ होगा—'प्रमाण द्वारा ज्ञेय जो वस्तु है, उसका निश्चयज्ञान प्रमाण से ही होता है'। ईदृश कथन व्यर्थ है।

पूर्वोक्त विचार से यह निश्चित होता है कि कारिका का 'प्रमेय' 'प्रमाण द्वारा ज्ञेय' ऐसा नहीं है; बल्कि क्या प्रमेय है—यह पहले से ही निर्णीत है। उन प्रमेयों की सिद्धि प्रमाण से होती है—यह कारिका का तात्पर्य है। न्यायशास्त्र में भी अपने प्रमेयों की पृथक् गणना है; यह नहीं कि जो प्रमाणगम्य है, वही प्रमेय है। कारिकोक्त प्रमेय (तथा न्यायसूत्रोक्त प्रमेय) को हम पारिभाषिक कह सकते हैं।

पूर्व से निश्चित ये प्रमेय वे हैं जो पूर्व कारिका (का. ३) में उक्त हुये हैं, अर्थात् मूलप्रकृति आदि २५ पदार्थ। इनका निश्चयज्ञान प्रमाणों से होता है। **यह स्पष्टतया ज्ञातव्य है कि ये २५ पदार्थ यौगिक चित्तस्थैर्य के द्वारा ही साक्षात्करणीय हैं।** अतः प्रमाणों के लक्षणों की व्याख्या करते समय यह ध्यान देना होगा कि प्रमाणों के परिच्छेद्य विषय अतीन्द्रिय हैं। जो इन प्रमाणों को 'ये सर्वथा लौकिक हैं' अर्थात् लौकिक प्रमा के ही साधक ये प्रमाण हैं—ऐसा समझकर उनकी व्याख्या करते हैं (वाचस्पति ने ऐसा ही कहा है) वे भ्रान्त हैं; **२५ अतीन्द्रिय पदार्थों के प्रतिपादक शास्त्र के अनुमत प्रमाण पाञ्चभौतिक क्षेत्रमात्र-व्यापी हैं (पाञ्चभौतिक पदार्थ ही लौकिक प्रमाणों से जाने जाते हैं—यह मत) यह सोचना—सर्वथा असंगत है।** प्रतीत होता है कि वाचस्पति प्रमाण के प्रसंग में इन्द्रिय से वही पदार्थ समझते हैं, जो न्याय या आयुर्वेद आदि में स्वीकृत है।

हमारी दृष्टि में मनुष्यादि के सभी करण और उनकी शक्तियाँ जिस प्रकार लौकिक है, प्रजापति हिरण्यगर्भ तथा योगियों के करण भी तत्त्वतः उसी प्रकार हैं—स्वगत गुणों के विकाश में ही तारतम्य है। प्रत्येक त्रैगुणिक पदार्थ लौकिक है तथा सत्यलोक पर्यन्त संसार की व्याप्ति है—यह सांख्यीय दृष्टि है। यह बात अच्छी तरह से जान लेनी चाहिये कि **प्रत्यक्षादि-प्रमाणों की व्यवस्था सभी प्रकार के जीवों के लिये है;** यह बात दूसरी है कि जीव के प्रकार के अनुसार प्रमाण के भी स्थूल-सूक्ष्म भेद होते हैं। हम चूंकि अन्य प्रकार के जीवों के विषय में अत्यल्प ही जानते हैं, अतः हम मनुष्यजाति के व्यक्तियों को लेकर ही प्रमाणलक्षणों पर विचार करते हैं। **सभी प्रकार के प्राणियों में ये प्रमाण किस रूप से हैं, यह जो जानता है वही प्रमाणों का तत्त्ववेत्ता है।** मनुष्य जिस प्रकार अनुमान करता है, पशु भी स्वप्रकृति के अनुसार उसी प्रकार अनुमान करता है[1]।

---

१. उद्यत दण्ड को देखकर पशु का पलायन पशु के अनुमानप्रयोग का ही फल है। 'पहले उद्यत दण्ड के संपर्क में आने पर मैं प्रहृत हुआ था, यह भी उद्यत दण्ड है, अंतः इसके द्वारा भी मैं प्रहृत हो सकता हूँ, अतः भाग जाऊँ'—यह पशु सोचता है; यह चिन्तन अनुमान ही है। कुछ आधुनिक व्यक्ति इस पलायनक्रिया को instinct मानते हैं, अनुमानपूर्वक क्रिया नहीं। Instinct सामर्थ्यविशेष को कहते हैं—इसे पलायनक्रिया के हेतु रूप में उपन्यस्त नहीं किया जा सकता।

इतना ही नहीं—वृक्षादि-प्राणी भी अनुमान करते हैं। पर वृक्षादिकर्तृक प्रमाण-प्रयोग को समझने के लिये उपयोगी ज्ञानशक्ति चाहिये।

वाचस्पति कहते हैं कि "साधारण जन में प्रसिद्ध जो प्रमाण हैं, वे ही कारिका में भी ग्राह्य हैं, क्यों कि साधारणजनों को समझाना ही शास्त्र का प्रयोजन है; यही कारण है कि आर्षविज्ञान का उल्लेख कारिका में नहीं किया गया है, क्योंकि उसका कोई उपयोग साधारणजनों में नही है"। हमारी दृष्टि में वाचस्पति का यह मत असांख्यीय एवं अगभीर है। कारिका में ऐसा कोई संकेत नहीं है जिससे यह निश्चित हो कि दृष्ट प्रमाण में आर्षविज्ञान नहीं आता। दृष्टप्रमाण एकप्रकार की चित्तवृत्ति है, आर्षविज्ञान भी चित्तवृत्ति है; दोनों में सत्त्वोत्कर्ष का ही भेद है। अतः जब तक निषेधज्ञापक कोई हेतु न मिले तब तक यह कैसे निश्चित हो कि आर्षविज्ञान दृष्टप्रमाण में नहीं आता ?

सांख्यस्वीकृत २५ तत्त्व उस दृष्ट प्रमाण से जाना नहीं जा सकता, जिसको वाचस्पति 'लौकिक' कहते हैं। अस्मदादि के लौकिक प्रत्यक्ष से अविज्ञेय २५ तत्त्व (जो अस्मदीय लौकिक दृष्टि में सर्वथा अतीन्द्रिय हैं) कभी भी अस्मत्सदृश लौकिक पुरुषों द्वारा अनुमान-गम्य नहीं हो सकते। **इन अतीन्द्रिय विषयों के साक्षात्कारियों ने ही इन विषयों को अनुमान से सिद्ध करने की पद्धति का प्रवर्तन किया है।** अतः यह स्वीकार्य ही होता है कि ये पदार्थ शक्तिमान् मनुष्यों के प्रत्यक्षगम्य हैं। (यह प्रत्यक्ष भी तत्त्वतः लौकिक ही है, यद्यपि लोक का अर्थ संकुचित कर इसको अलौकिक या योगज कहा जाता है)। प्रत्यक्षगम्य का अर्थ है—अध्यवसाय का साक्षात् विषय। यह अध्यवसाय प्रत्येक प्राणी की बुद्धि का लक्षण या वृत्ति है। अध्यवसाय या बुद्धिगत सामर्थ्य का उत्कर्ष करके कोई भी भूत आदि तत्त्वों का साक्षात्कार कर ही सकता है। सांख्यीय दृष्टि में त्रैगुणिक सभी पदार्थ लौकिक हैं। दृष्ट प्रमाण में जिस प्रकार स्तर-भेद होता है, उसी प्रकार अनुमान में, लिङ्गदर्शन-सामर्थ्य में भी स्तरभेद होता है। उपदेश में भी स्थूल-सूक्ष्म स्तर हैं।

अधिकारी की योग्यता के अनुसार उपदेश में भेद होता है; उच्च अधिकारी के लिये सूक्ष्मार्थविज्ञापक उपदेश की आवश्यकता होती है। एक स्तर के योगी के लिये भी आपेक्षाकृत-उच्चस्तरीय उपदेश साधनार्थ आवश्यक होता ही है। उच्चतरस्तरीय योगी भी साधारण जन है—पूर्णविवेकख्याति का अधिगम जिन्होंने नहीं किया वे सब आपेक्षिक दृष्टि से साधारणजन ही हैं। ईदृश सभी साधारणजन (विवेकख्याति के प्राथमिक अभ्यासी भी जिसके अन्तर्गत हैं) अस्मदादि द्वारा व्यवहरणीय प्रमाण की जो प्रकृति है, उस स्थूल प्रमाण को भले ही न प्रमाण समझें, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर प्रमाण को वे भी स्वीकार करेंगे—यह सांख्यीय दृष्टि है। **इन उच्च कोटि के लोगों के लिये भी यथोपयोगी प्रत्यक्षादि प्रमाणों की आवश्यकता है; वे भी कारिका में लक्षित हुये हैं।**

इन २५ प्रमेयों (इन तत्त्वों से निर्मित पदार्थ भी 'प्रमेय' हैं, भले ही वे मुख्य प्रमेय न हों) में प्रकृति (=सत्त्वरजस्तम की अवैषम्यावस्था) चित्तेन्द्रिय का संवेद्य विषय नहीं हो सकती ; पुरुष भी बुद्धि द्वारा संवेद्य नहीं हो सकता। महदादि भी अपने असंकीर्ण रूप में अस्मदादि द्वारा साक्षात्कृत नहीं हो सकते—इसके लिये योगज सामर्थ्य अपेक्षित है। अतः प्रत्येक प्रमाण के साथ प्रमेयों का संवन्ध सर्वथा एकरूप नहीं हैं—यह ज्ञातव्य है। **सांख्य का कहना है कि सभी गुणविकार (२३ तत्त्व तथा स्वर्ग-अपूर्वादि त्रैगुणिक पदार्थ) साक्षात्कार-योग्य हैं।** वे चित्त और इन्द्रियों के द्वारा—स्थैर्य-विशेष की सहायता से—साक्षात्कृत हो सकते हैं। ईदृश स्थैर्य से हीन व्यक्ति अनुमान द्वारा ही इन पदार्थों की सत्ता का सामान्यतः निश्चय कर सकते हैं। एक स्तर के चित्तेन्द्रिय के लिये जो पदार्थ प्रत्यक्षयोग्य है वह दूसरे स्तर के चित्तेन्द्रिय के लिये अनुमेय होता है, इसमें संशय नहीं किया जा सकता।

अनुमान करने के लिये व्याप्तिज्ञान तथा पक्षधर्मता का ज्ञान चाहिये; साधारण व्यक्ति का चित्त न अतीन्द्रिय पदार्थ को पक्ष बना सकता है और न अतीन्द्रय पदार्थ की सत्ता का गमक जो लिङ्ग है उसका परिज्ञान ही कर सकता है। लिङ्ग रहने पर भी उसको लिङ्ग के रूप में जानने के लिये चित्त में उपयोगी सत्त्वोत्कर्ष चाहिये। मनुष्य के साधारण व्यावहारिक जीवन के क्षेत्र में कितने ही ऐसे विषय हैं, जो अतीन्द्रिय पदार्थों के लिङ्ग हैं, पर व्याप्तिज्ञान न रहने से उन पदार्थों का ज्ञाता व्यक्ति अतीन्द्रिय वस्तुओं का आनु-मानिक निश्चय नहीं कर सकता। ऐसे स्थलों में आप्तपुरुष का वाक्य अर्थनिश्चायक होता है (आप्त का स्वरूप अगली कारिका में व्याख्यात होगा)।

जिस प्रकार केवल अनुमेय पदार्थ सांख्य में है, उस प्रकार क्या केवल आप्तोपदेश-गम्य पदार्थ भी हैं, जो न प्रत्यक्ष का विषय है, न अनुमान का—इस प्रश्न के उत्तर में वक्तव्य है कि सांख्य की प्रक्रिया को भलीभाँति देखने से यह जाना जाता है कि **सांख्य की दृष्टि में कोई भी सत् पदार्थ ऐसा नहीं है, जो प्रत्यक्ष अथवा अनुमान द्वारा गम्य न हो। आप्तप्रमाण के मूल में भी प्रत्यक्ष-अनुमान है।** अर्थात् आप्त का वाक्य जिस विषय का प्रतिपादन करता है वह विषय आप्त द्वारा प्रत्यक्ष या अनुमान से पहले ज्ञात रहता है। कोई व्यक्ति अविकशित चित्तेन्द्रिय द्वारा जिस विषय का निश्चय आप्तोपदेश से करता है, वह बाद मे चित्तेन्द्रिय के उत्कर्षविशेष द्वारा उस विषय का निश्चय अनुमान से या प्रत्यक्ष से कर सकता है—यह स्वतः बोध्य है। वस्तुतः समाधिविशेष के द्वारा सभी त्रैगुणिक पदार्थ साक्षात्कृत हो सकते हैं। वाचस्पति के न मानने पर भी हम यह मानते हैं कि स्वर्ग, अपूर्व, देवतादि पदार्थ उसी प्रकार साक्षात्कृत हो सकते हैं, जैसे अस्मदादि

द्वारा घटादि साक्षात्कृत होते हैं। इस विषय में मीमांसकों की दृष्टि सांख्ययोगशास्त्र द्वारा मान्य नहीं है।[1]

सांख्यीय प्रमाण-प्रमा के प्रसंग में दो मत प्रसिद्ध हैं—(१) विषयाकार बुद्धिवृत्ति प्रमाण है ('अयं घटः' रूप) और उस वृत्ति का जो पुरुष-सम्बन्ध है वह प्रमा है ('घटमहं जानामि' रूप)। (२) अन्य मत यह है कि प्रमा एवं प्रमाण दो दो प्रकार के हैं। प्रथम वह प्रकार है जो ऊपर कहा गया है। दूसरा है—चक्षुरादि इन्द्रियाँ प्रमाण हैं और विषयाकार चित्तवृत्ति ही प्रमा है। कोई यह कहते हैं कि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष-जन्य चित्तवृत्तिरूप जो प्रमा है, वह वस्तुतः मुख्यप्रमा नहीं है, अमुख्य प्रमा है। पुरुषवर्ती बोध ही मुख्य प्रमा है, जो 'पौरुषेय चित्तवृत्तिबोध' नाम से अभिहित होता है।

प्रमाण और प्रमा के विषय में जो प्रथम मत है, उसे वाचस्पति ने व्यासभाष्य (१।७) की व्याख्या में कहा है और वही व्याससंमत है, यह उनका मत है। तदनुसार ही हम 'तच्च असन्दिग्ध···चित्तवृत्ति···प्रमा' पाठ रखा है। जो चित्तवृत्ति को ही प्रमा समझते हैं, वे 'तच्च' नहीं पढ़ते हैं और 'असन्दिग्धाविपरीतानधिगताविषया चित्तवृत्तिः' को प्रमा का लक्षण कहते हैं, जिसको लक्ष्यकर 'बोधश्च पौरुषेयः फलम्' कहा गया है—ऐसा समझते हैं। ये 'तत्साधनम्' का लक्ष्य चक्षुरादि इन्द्रिय समझते हैं। यह दृष्टि व्यासभाष्यानुमोदित नहीं है।[2]

व्यासभाष्यानुमोदित **प्रमा के स्वरूप के निर्धारण में एक भ्रम दीर्घकाल से चला आ रहा है।** व्यासभाष्य का वाक्य है— फलम् अविशिष्टः पौरुषेयश्चित्तवृत्तिबोधः (१।७)। चूँकि प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण के बाद ही भाष्यकार ने इस वाक्य को कहा है, अतः यह समझा जाता है कि फल=प्रमाणरूप वृत्ति का फल अर्थात् प्रमा पौरुषेय चित्त-

१. इस प्रसंग में हम यह कहना आवश्यक समझते हैं कि योगज करणोत्कर्ष के विषय में मीमांसकगण अत्यन्त अज्ञ थे। प्रतीत होता है कि आजकल के Thought reader जातीय कुछ लोगों को ही वे योगी समझते थे। कुमारिल का 'यश्चाप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनात्' वाक्य सिद्ध करता है कि योगजविभूति को वे समझते ही नहीं थे। (कुमारिल के इस मत की समीक्षा के लिये वाक्यपदीय काण्ड ३, जाति ४६ हेलाराजीय टीका द्र०)।

२. प्रमा का उपर्युक्त द्वैविध्य १।८७ सां० सू० पर प्रतिष्ठित है—ऐसा कहा जाता है। अन्यवादी के मतानुसार सूत्रगत 'तत् साधनम्' का अर्थ है—पौरुषेय बोधरूप प्रमा का जो साधन है वह चित्तवृत्ति है (जो 'असन्दिग्धाविपरीतानधिगत-विषया' है); वही प्रमाण है। सांख्यसूत्र की जो स्थिति है, उसको देखते हुये हमारा निर्णय यही है कि व्यासभाष्य के अनुसार ही प्रमा-प्रमाण-व्यवस्था को मानकर चलना चाहिये। सांख्यदर्शन की उपर्युक्त सूत्र अत्यन्त अस्पष्टार्थक है, यह कोई भी सहजतः समझ सकता है।

वृत्तिबोध है। यह पूर्णतः भ्रान्त दृष्टि है। **पौरुषेय बोध प्रत्येक प्रकार की वृत्ति (विपर्यय आदि) का भी फल है, न कि केवल प्रमाण वृत्ति का।** प्रत्येक वृत्ति चूँकि राजस क्रिया द्वारा उद्घाटित होती है, अतः उसका फल अवश्य होगा। यह सहजतः समझ में आ सकता है कि जिस प्रकार प्रमाणवृत्ति का फल है विपर्यय-विकल्प-निद्रा-स्मृति का भी तथैव फल है और यह फल अविशेषरूप से पौरुषेय-चित्तवृत्ति-बोध ही है। भाष्यकार ने जो फल शब्द का प्रयोग किया है, वह फल केवल प्रमाण का ही नहीं है। **अतः पौरुषेय चित्तवृत्ति को प्रमा कहना सर्वथा संगत भी नहीं है, क्योंकि प्रमा कहने से ध्वनित होता है कि यह प्रमाण वृत्ति का ही फल है।** प्रमाण का फल यदि प्रमा-पद-वाच्य हो तो विपर्यय, विकल्प आदि के फलों का भी पृथक् पृथक् नाम देना चाहिये। वृत्ति चाहे जिस प्रकार की क्यों न हो, उसका फल एकरूप ही है—जो पौरुषेयचित्तवृत्ति-बोध ही है। यही कारण है कि व्यासभाष्य में फल का प्रसंग एक ही बार किया गया है—प्रत्येक चित्तवृत्ति के लिये पृथक्-पृथक् फल का प्रसंग नहीं किया गया।

पौरुषेय बोध को प्रमा मानने में बाधा है, यह कुछ लोग कहते हैं। वे कहते हैं—अर्थाकार बुद्धिवृत्ति वास्तव में बुद्धि का धर्म होने से बुद्धि में ही आश्रित होती है, पुरुष तो निर्धर्मक और कूटस्थ है, अतः अर्थाकार बुद्धिवृत्ति पुरुष में कदापि कथमपि आश्रित नहीं रह सकती। फिर भी उसमें पुरुषगतत्व का बोध इसलिये होता है कि वह अपनी आधारभूता बुद्धि के साथ पुरुष में प्रतिबिम्बित होती है। ऐसी स्थिति में यह अत्यन्त स्पष्ट है कि बुद्धिवृत्ति में पुरुषगतत्व का बोध प्रतिबिम्ब-दोष-मूलक भ्रम है। फिर इस भ्रम को प्रमा कहने में औचित्य क्या है? (बदरीनाथ शुक्ल, तर्कभाषा, पृ० ९८; व्यासभाष्य पर दृष्टि रखकर यह विचार किया गया है)।

वृत्तिमात्र का फलरूप पौरुषेय बोध के विषय में हमने ऊपर जो कहा है, उससे उपर्युक्त मत स्वतः खण्डित हो जाता है। इस प्रसंग में इतना और जानना चाहिए कि **प्रमाणरूप वृत्ति के मूल में भी अविद्या है, अविद्यामूलक पुम्-प्रकृति-संयोग है।** गुणत्रय और अविद्या की विद्यमानता में ज्ञान की जितनी और जैसी अर्थप्रकाशन-सामर्थ्य हो सकती है, उतनी सामर्थ्य ही प्रमाण के प्रसंग में ग्राह्य है। यह भूलना नहीं चाहिए कि **समाधिसिद्धि के लिये जिस प्रकार विपर्यय एक रोद्धव्य वृत्ति है, प्रमाण भी उसी प्रकार एक रोद्धव्य वृत्ति है।**

पौरुषेय बोध या पुरुषवर्ती बोध के विषय में प्रचलित व्याख्यान यह है—'अहं घटं जानामि' यह पौरुषेय बोध का स्वरूप है, 'अयं घटः' यह प्रमाण रूप चित्तवृत्ति है। यह पौरुषेय बोध वस्तुतः बुद्धिवृत्ति ही है, पर औपचारिक रूप से कहा जाता है कि यह पुरुष का धर्म है या पुरुष में अवस्थित है, क्यों कि पुरुष चित्त (=बुद्धि) में प्रतिबिम्बित

है; पुरुष और बुद्धि का अभेदग्रह ही इस औपचारिक कथन का हेतु है। कोई यह भी कहते हैं कि बुद्धि में ही यदि प्रमा उत्पन्न हो तो उसे पौरुषेय कहना असंगत है; अतः उसको पौरुषेय कहने का हेतु यही है कि अर्थोपरक्त बुद्धिवृत्ति का प्रतिविम्ब पुरुष में पड़ता है।

यह स्पष्टतया ज्ञातव्य है कि बुद्धि की यह जो वृत्ति है कि 'यह इस प्रकार का है' (अर्थात् प्रमाण) वह विषयेन्द्रिय सन्निकर्ष से होता है (प्रत्यक्ष के क्षेत्र में), अथवा व्याप्तिज्ञान से होता है (अनुमान के क्षेत्र में)। इस चित्तवृत्ति का जो फल है, वह भी बोधविशेष ही है, जो पौरुषेय है—चिदात्मक पुरुष से संवद्ध है। वृत्ति या अध्यवसाय का चिदात्मक-पुरुष-संवन्ध ही प्रमा है।

कहा जाता कि प्रमाणरूप बुद्धिवृत्ति (जो विषयाकार बुद्धि-परिणाम है) तभी ज्ञात होती है, जब उसके साथ चैतन्यप्रकाश युक्त होता है, क्योंकि बुद्धि जड़ है। बुद्धि पुरुष-प्रतिविम्ब ग्रहण कर प्रकाशयुक्त हो जाती है, अतः विषय को प्रकाशित करती है। अब यदि विषयाकार परिणाम को प्रमाण माना जाये तो इस परिणाम के प्रतिविम्बमूलक पुरुषसंवन्ध को प्रमा माना जायेगा। यही वहुसंमत मत है और कहा जाता है कि यही व्यासभाष्य संमत है (द्र० १।७)। पर यदि विषयकार परिणाम को प्रमा माना जाये तो उसको उत्पन्न करने वाला जो करण है (अर्थात् इन्द्रिय, लिङ्ग अथवा शब्द), वह प्रमाण कहलायेगा। यह भी कहा जाता है कि बुद्धि में पुरुष का प्रतिविम्ब होने पर बुद्धि पुरुषसदृश हो जाती है, जिसका फल यह होता है कि बुद्धिधर्म जो ज्ञान, सुख आदि हैं वे पुरुषाश्रित धर्म रूप से ज्ञात होते हैं। अन्य मत यह भी है कि पुरुष में बुद्धि का प्रतिविम्ब पड़ता है।

प्रचलित पठन-पाठन पद्धति में पूर्वोक्त रूप से जो सांख्यीय प्रक्रिया समझायी जाती है, वह सांख्यीय तत्त्व-ज्ञान का एक विकृत रूप है। अध्यात्मज्ञान का सक्रिय अनुशीलन जब न रहे और केवल वाक्यमात्राश्रित विचार चलता रहे तो पूर्वोक्त काल्पनिक बातें उत्पन्न होती हैं। पुरुष को जडधर्मक दृश्य की तरह और बुद्धि को बाह्यदेशव्यापी जडमात्र पदार्थ की तरह समझकर उपर्युक्त बातें कही गई हैं जो असंगत हैं। पञ्चम कारिका के व्याख्यान में यह विषय विवृत होगा।

सांख्यशास्त्र में अनुमान का मुख्य उद्देश्य अतीन्द्रिय अर्थों की सिद्धि करना है—यह जानकर अनुमान के स्वरूप पर विचार करना चाहिये। उदाहरणार्थ जो भौतिक द्रव्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं जानता, उसे अतीन्द्रिय भूततत्त्व के विषय में निश्चयज्ञान कराना—सांख्यीय अनुमान का अन्यतम उद्देश्य है। यह अनुमान किस प्रकार से किया जाता था, प्रचलित ग्रन्थों में वह प्रकार अत्यन्त अस्फुट है, यद्यपि हमारी परम्परागत प्रणाली में यह ज्ञान बहुत कुछ सुरक्षित है।

'सिद्धत्वात्' का तात्पर्य हमारी दृष्टि में यह है—उपमान, अर्थापत्ति आदि अन्यान्य

जिन प्रमाणों की बात सुनी जाती है, वे सब इन तीन प्रमाणों के समाहारभूत है, अर्थात् वे सब या तो इसी में से किसी प्रमाण में पूर्णतः आते हैं या इन प्रमाणों के समाहारभूत हैं। कारिकाकार के कथन से यह ज्ञात होता है कि उपमानादि 'प्रमाण' प्रमेयों की सिद्धि करते हैं—यह वे भी मानते हैं, पर ये प्रमाण असंकीर्ण प्रमाण नहीं हैं। उपमानादि प्रमाणों का कैसा स्वरूप कारिकाकार को ज्ञात था, यह दुर्निरूपणीय है। इन प्रमाणों का स्वरूप सर्वत्र एकरूप नहीं है—यह ज्ञातव्य है।

(१) सम्प्रति प्रमाणविशेषलक्षणावसरे प्रत्यक्षस्य सर्वप्रमाणेषु ज्येष्ठत्वात्, तदधीनत्वाच्चाऽनुमानादीनाम्, सर्ववादिनामविप्रतिपत्तेश्च, तदेव तावल्लक्षयति—

प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं त्रिविधमनुमानमाख्यातम् ।
तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमाप्तश्रुतिराप्तवचनं तु ॥५॥

(२) "प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्" इति। अत्र "दृष्टम्" इति लक्ष्य-निर्देशः। परिशिष्टं तु लक्षणम्। (३) समानासमानजातीयव्यवच्छेदो लक्षणार्थः।

(४) अवयवार्थस्तु = विसिन्वन्ति[1]—विषयिणमनुबध्नन्ति, स्वेन रूपेण

---

(१) अब प्रत्यक्षादि प्रमाणविशेष (=पृथक् पृथक् प्रमाणों के लक्षण) कहने के समय सर्वप्रथम प्रत्यक्ष का ही लक्षण कारिकाकार कहते हैं, क्योंकि वह समस्त प्रमाणों में ज्येष्ठ (प्राथमिक; पूर्ववर्ती) है, अनुमान आदि उसी पर आश्रित रहते हैं और सभी वादियों का उसके (प्रामाण्य के) विषय में अविरोध है।

विषय से सन्निकृष्ट इन्द्रिय पर आश्रित अध्यवसाय (जो बुद्धिधर्म है) दृष्ट ('प्रत्यक्षप्रमाण') कहलाता हैं। अनुमान (पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट नामक) तीन प्रकार का कहा गया है, वह लिङ्ग (=व्याप्य) तथा लिङ्गी (=व्यापक)—पूर्वक (वस्तुतः लिङ्ग-साध्य-पक्षधर्मतापूर्वक) ज्ञान (=चित्तवृत्ति) ही है। 'आप्तवचन का अर्थ है—आप्ता श्रुति (अर्थात् युक्त वाक्य से उत्पन्न अर्थज्ञान) ॥५॥

(२) कारिकागत 'प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्' वाक्य में 'दृष्ट' शब्द से लक्ष्य का निर्देश किया गया है, शेष अंश (प्रतिविषयाध्यवसायः) लक्षण का निर्देशक है। (३) सजातीय और विजातीय पदार्थों से लक्ष्य को पृथक् करना लक्षण का प्रयोजन हैं।

(४) प्रत्यक्ष के लक्षणवाक्य में पठित शब्दों का अर्थ यह है :—जो विषयी (अर्थात् चित्तवृत्ति) को बाँधते हैं—अपने आकार से आकारित करते हैं, वे 'विषय' कहलाते हैं;

---

१. विषिण्वन्ति इति पाठान्तरमसाधु, सात् पदाद्योरिति षत्वनिषेधात्।

निरूपणीयं कुर्वन्तीति यावत् । विषयाः—पृथिव्यादयः सुखादयश्च । (५) अस्मदादीनामविषयास्तन्मात्रलक्षणा योगिनामूर्ध्वस्रोतसां च विषयाः । (६) विषयं विषयं प्रति वर्त्तते—इति प्रतिविषयम् इन्द्रियम् । वृत्तिश्च सन्निकर्षः । अर्थसन्निकृष्टमिन्द्रियमित्यर्थः । तस्मिन्नध्यवसायः—तदाश्रित इत्यर्थः ।

(७) अध्यवसायश्च बुद्धिव्यापारो ज्ञानम् । उपात्तविषयाणामिन्द्रियाणां वृत्तौ सत्यां बुद्धेस्तमोऽभिभवे सति यः सत्त्वसमुद्रेकः, सोऽध्यवसाय इति, वृत्तिरिति, ज्ञानमिति चाख्यायते । इदं तावत् प्रमाणम् । (८) अनेन यश्चेतनाशक्तेरनुग्रहः, तत्—फलं प्रमा,[1] बोधः ।

(९) बुद्धितत्त्वं हि प्राकृतत्वादचेतनमिति तदीयोऽध्यवसायोऽप्यचेतनो घटादिवत् । एवं हि बुद्धितत्त्वस्य सुखादयोऽपि परिणामभेदा अचेतनाः, पुरुषस्तु

विषय पृथिवी आदि बाह्य और सुख आदि मनोभाव-विशेष हैं । (५) हमारी इन्द्रिय के विषय न होने वाले तन्मात्र-रूप ग्राह्य विषय योगियों तथा ऊर्ध्वस्रोतों (देवविशेष) के विषय हैं ।

(६) जो विषयों में प्रवृत्त होता है वह 'प्रतिविषय' अर्थात् इन्द्रिय कहलाता हैं । 'विषयं विषयं प्रति वर्तते' ऐसा कहने पर (वर्तते—इस क्रिया के आधार पर) 'वृत्ति' का बोध होता है । व्यापाररूप वृत्ति का अर्थ संबंधविशेष या सन्निकर्ष है; इस प्रकार 'प्रतिविषय' शब्द का अर्थ है—विषय से सन्निकृष्ट (=सम्बन्धित) इन्द्रिय । 'प्रतिविषयाध्यवसाय' का अर्थ है—विषय से संयुक्त इन्द्रिय पर आश्रित अध्यवसाय । (७) अध्यवसाय' बुद्धि का व्यापार (या परिणाम) रूप ज्ञान है । वस्तुतः गृहीतविषय इन्द्रियों का (विषयों के साथ) सन्निकर्ष होने पर बुद्धिगत तमोगुण के अभिभव होने के साथ साथ सत्त्वगुण का जो स्फुरण होता है, उसी को अध्यवसाय, वृत्ति या ज्ञान कहा जाता है । यही वृत्ति या ज्ञान प्रत्यक्ष नामक प्रमाण है । (८) इसी (प्रमाणभूत वृत्तिरूप ज्ञान) के साथ चेतनाशक्ति-रूप पुरुष का जो अनुग्रह (संबन्ध, गृहीत विषय का चेतन में समर्पण) है, वही प्रमाण-फलभूत प्रमा है, जो बोध (=पौरुषेय चित्तवृत्तिबोध) कहलाता है ।

(९) बुद्धि-तत्त्व जड प्रकृति का परिणाम (=विकार) होने के कारण अचेतन है, इसलिये उसका अध्यवसाय (=ज्ञान)-रूप परिणाम भी घट आदि के सदृश अचेतन ही है । इसी प्रकार बुद्धि के सुख, दुःख आदि विभिन्न परिणाम भी अचेतन हैं । इसके

---

१. प्रमाबोध इत्येकं पदम्, प्रमात्मको बोध इत्यर्थ इति केचन व्याख्याकाराः ।

सुखाद्यननुषङ्गी चेतनः । (१०) सोऽयं बुद्धितत्त्ववर्त्तिना ज्ञान-सुखादिना तत्प्रतिबिम्बितस्तच्छायापत्त्या ज्ञानसुखादिमानिव भवतीति चेतनोऽनुगृह्यते । (११) चितिच्छायापत्त्या चाऽचेतनाऽपि बुद्धि स्तदध्यवसायोऽपि चेतन इव भवतीति । तथा च वक्ष्यति--

तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम् ।
गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः ॥ इति ॥

(२० कारिका)

(१२) अत्राध्यवसायग्रहणेन संशयं व्यवच्छिनत्ति, संशयस्याऽनवस्थितग्रहणेनाऽनिश्चितरूपत्वात् । निश्चयोऽध्यवसाय इत्यनर्थान्तरम् । विषयग्रहणेन चासद्विषयं विपर्ययमपाकरोति । प्रतिग्रहणेन चेन्द्रियार्थसन्निकर्षसूचनादनुमानस्मृत्यादयः पराकृता भवन्ति । (१३) तदेवं समानासमानजातीयव्यवच्छेदकत्वात् 'प्रतिविषयाध्यवसायः' इति दृष्टस्य सम्पूर्णं लक्षणम् । (१४) तन्त्रान्तरे[1] तैर्थिकानां लक्षणान्तराणि न दूषितानि विस्तरभयादिति ।

विपरीत पुरुष (त्रैगुणिक) सुख-दुःख आदि से असंवद्ध है, यह चेतन है । (१०) ईदृश पुरुष बुद्धि में प्रतिविम्बित होता है । अतः बुद्धिस्वरूप के आरोप के कारण बुद्धि में स्थित ज्ञान, सुख आदि धर्मों के द्वारा पुरुष भी उनसे युक्त-सा (प्रतीत) होता है । इस प्रकार चेतन पुरुष बुद्धि के द्वारा 'अनुगृहीत' होता है । (११) और चेतन पुरुष के साथ तादात्म्यभाव को प्राप्त होने के कारण अचेतन बुद्धि तथा उसका अचेतन ज्ञान—ये दो चेतन-से होते हैं, जैसा कि वाद में कारिकाकार ('तस्मात्…' श्लोक २० वीं कारिका में) कहेंगे ।

(१२) यहाँ प्रत्यक्ष के लक्षण में 'अध्यवसाय' पद के ग्रहण से कारिकाकार ने संशय (=संशयात्मक बुद्धिवृत्ति) का परिहार किया है, क्योंकि संशय अनेककोटिक ज्ञान होने के कारण अनिश्चित-रूपवाला होता है, और अध्यवसाय तो निश्चय का ही नामान्तर है । 'विषय' पद के ग्रहण से असत् (=अविद्यमान) विषय वाले विपर्यय (=मिथ्याज्ञान) का परिहार किया गया है; 'प्रति' पद के प्रयोग से इन्द्रिय और विषय का सन्निकर्ष सूचित किया गया है, जिससे अनुमान-स्मृति आदि का निराकरण हो जाता है । (ये वृत्तियाँ विषयेन्द्रिय-सन्निकर्ष-जन्य नहीं होती हैं) । (१३) इस प्रकार सजातीय (अनुमान आदि) तथा विजातीय (मिथ्याज्ञान आदि) से 'दृष्ट' को पृथक् करने के कारण 'प्रतिविषयाध्यवसाय' उसका सम्पूर्ण लक्षण सिद्ध होता है । (१४) अन्य

---

१. तन्त्रान्तरेष्विति केचन पठन्ति ।

(१५) नाऽनुमानं प्रमाणमिति वदता लौकायतिकेनाऽप्रतिपन्नः सन्दिग्धो विपर्यस्तो वा पुरुषः कथं प्रतिपद्येत ? न च पुरुषान्तरगता अज्ञानसन्देहविपर्यासाः शक्या अर्वाग्दृशा प्रत्यक्षेण प्रतिपत्तुम्। नापि मानान्तरेण, अनभ्युपगमात्। (१५) अनवधृताज्ञानसंशयविपर्यासस्तु यं कञ्चित्पुरुषं प्रति प्रवर्त्तमानोऽनवधेय-वचनतया प्रेक्षावद्भिरुन्मत्तवदुपेक्ष्येत। (१६) तदनेनाऽज्ञानादयः परपुरुष-वर्त्तिनोऽभिप्रायभेदाद्वचनभेदाद्वा[1] लिङ्गादनुमातव्याः, इत्यकामेनाप्यनुमानं प्रमाणमभ्युपेयम्।

(१७) तत्र प्रत्यक्षकार्यत्वादनुमानं प्रत्यक्षानन्तरं निरूपणीयम्। (१८) तत्रापि सामान्यलक्षणपूर्वकत्वाद् विशेषलक्षणस्य, अनुमानसामान्यं तावल्लक्ष-यति--"लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमि"ति। लिङ्गं व्याप्यम्। लिङ्गि व्यापकम्।

दर्शनशास्त्रों के आचार्यों द्वारा किए गए प्रत्यक्ष-लक्षणों का खण्डन विस्तार के भय से नहीं किया गया।

(१५) 'अनुमान प्रमाण नहीं है' ऐसा कहने वाले लौकायतिक (=लोकायत-शास्त्रवित्) यह कैसे निश्चित कर सकता है कि कोई व्यक्ति अप्रतिपन्न (=अज्ञानी), सन्दिग्ध (=सन्देहयुक्त) अथवा विपर्यस्त (=मिथ्याज्ञानवान्) है ? स्थूलदृष्टिसंपन्न मनुष्यों के द्वारा अन्य पुरुष में स्थित अज्ञान, सन्देह और विपर्यय न तो प्रत्यक्ष प्रमाण से ही जाना जा सकता है और न अन्य किसी प्रमाण से ही, क्योंकि प्रत्यक्ष से भिन्न कोई प्रमाण लोकायतशास्त्रवेत्ता मानता ही नहीं। इस प्रकार अपने से भिन्न किसी पुरुष में विद्यमान अज्ञान, संशय, या मिथ्याज्ञान का निश्चय किए विना जिस किसी पुरुष के बोध के लिये वाक्यप्रयोग में प्रवृत्त हुआ लौकायतिक—अपने वाक्यों के दूसरों के लिये ध्यान देने योग्य न होने के कारण—बुद्धिमानों द्वारा उन्मत्तवत् उपेक्षापूर्ण दृष्टि से देखा जाएगा। (१६) इसलिये (लौकायतियक को) पर-पुरुष-वर्ती अज्ञान-संशय-विपर्यय का अनुमान उसके अभिप्रायविशेषरूप लिङ्ग या वाक्यविशेषरूप लिङ्ग से करना होगा।

(१७) अनुमान अवश्य स्वीकर्तव्य है—यह निश्चित होने पर अनुमान के प्रत्यक्षाश्रित (=भूयोदर्शनजनित) होने के कारण प्रत्यक्षानन्तर उसका निरूपण करना चाहिए। (१८) फिर सामान्यलक्षण के बाद ही विशेषलक्षण हो सकने के कारण पहले अनुमानसामान्य का लक्षण करते हैं–"यह अनुमान (अनुमानरूप मान=ज्ञान=प्रमा) लिङ्ग तथा लिङ्गी के ज्ञानसे उत्पन्न होता है।" लिङ्ग का अर्थ हैं—'व्याप्य' (=किसी के द्वारा व्याप्त) तथा 'लिङ्गी' का अर्थ है—'व्यापक' (अर्थात् हेतु-पदार्थ के सभी आधारों के साथ संबन्धयुक्त)।

१. वचनभेदाल् लिङ्गात् इति, वचनभेदलिङ्गात् इति च पाठौ व्याख्यातृभिः कैश्चिद् पठितौ।

(१९) शङ्कितसमारोपितोपाधिनिराकरणेन वस्तुस्वभावप्रतिबद्धं व्याप्यम् । येन च प्रतिबद्धं तद् व्यापकम् ।

(२०) लिङ्गलिङ्गिग्रहणेन च विषयवाचिना विषयिणं प्रत्ययमुपलक्षयति । धूमादिर्व्याप्यो वह्न्यादिर्व्यापक इति यः प्रत्ययस्तत्पूर्वकम् । (२१) लिङ्गिग्रहणं चावर्त्तनीयम् । तेन लिङ्गमस्यास्तीति पक्षधर्मताज्ञानमपि दर्शितं भवति । (२२) तद्व्याप्यव्यापकभाव-पक्षधर्मताज्ञानपूर्वकमनुमानमिति—अनुमानसामान्यं लक्षितम् ।

(२३) अनुमानविशेषांस्तन्त्रान्तरलक्षितानभिमतान्[1] स्मारयति—"त्रिविधमनुमानमि"ति । (२४) तत् सामान्यतो लक्षितमनुमानं विशेषतस्त्रिविधम्—पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो दृष्टञ्चे'ति । (२५) तत्र प्रथमं तावद् द्विविधं वीतमवीतं

---

(१९) सन्दिग्ध तथा समारोपित (=निश्चित) इन दो उपाधियों के निराकरणपूर्वक वस्तुविशेष के साथ स्वाभाविक संबन्ध से जो संबद्ध होता है, उसे 'व्याप्य' कहते हैं । जिसके साथ वह सम्बद्ध रहता है,' उसे 'व्यापक कहते हैं ।

(२०) कारिकोक्त 'लिङ्गी' और 'लिङ्ग-शब्द (यथा-धूम-वह्नि) विषयों के वाचक हैं, पर वे लक्षणा से लिङ्गज्ञान और लिङ्गी-ज्ञान को सूचित करते हैं । धूमादि के दर्शन से पर्वतादि में वह्नि आदि की अनुमिति रूप ज्ञान 'धूमादि व्याप्य हैं और वह्न आदि व्यापक हैं (अर्थात् जहाँ जहाँ धूम है वहाँ वहाँ वह्नि है')—इस ज्ञान से होता है । (२१) (व्यापक का वाचक) 'लिङ्गी'-शब्द की पुनः आवृत्ति करनी चाहिए ('लिङ्ग-लिङ्गिपूर्वकम् इस वाक्य में) इससे लिङ्गी शब्द की 'लिङ्ग है वर्तमान जिसमें—इस व्युत्पत्ति के कारण (अनुमान के लक्षण में) पक्षधर्मता के ज्ञान की भी आवश्यकता प्रदर्शित हो जाती है (अर्थात् धूमादि-लिङ्ग पर्वतादि-पक्ष में विद्यमान हैं—यह ज्ञान भी अनुमान-सिद्धि के लिये आवश्यक है) । (२२) इस प्रकार व्याप्य-व्यापक-भाव (लिङ्ग और लिङ्गी का व्याप्ति-ज्ञान) तथा पक्षधर्मता (लिङ्ग की पक्ष में स्थिति) से उत्पन्न ज्ञान अनुमान-प्रमाण कहलाता है; इस प्रकार अनुमानसामान्य का लक्षण किया गया है ।

(२३) अब स्वाभिमत (=स्वशास्त्रोक्त) अनुमानविशेषों को जो (न्याय आदि) अन्य शास्त्रों में लक्षित हुए हैं, स्मरण करते हैं "अनुमान त्रिविध" है । (२४) अर्थात् जिस अनुमान-सामान्य का लक्षण कहा गया है, वह पूर्ववत् शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट रूप से तीन प्रकार का है । (२५) सामान्य और विशेष रूप अनुमानों में जो अनुमान-

---

१. 'अभिमतान्' इति क्वचिन्न । अभिमतानिति पदं स्थापनीयमेव, यतो हि अनुमानत्रैविध्यं सांख्याचार्यैरपि व्याख्यातम् । षष्टितन्त्रे त्रिविधानुमानचर्चाऽसीदिति विज्ञायते ।

च। अन्वयमुखेन प्रवर्त्तमानं विधायकं वीतम् । व्यतिरेकमुखेन प्रवर्तमानं निषेधकमवीतम् ।

(२६) तत्रावीतं शेषवत् । शिष्यते परिशिष्यते इति शेषः, स एव विषयतया यस्यास्त्यनुमानज्ञानस्य तच्छेषवत् । यदाहुः—"प्रसक्तप्रतिषेधे अन्यत्राप्रसङ्गाच् शिष्यमाणे सम्प्रत्ययः परिशेषः" इति (न्यायभाष्य १।१।५)। अस्य चाऽवीतस्य व्यतिरेकिण उदाहरणमग्रेऽभिधास्यते (द्र० ९ का० टी०)।

(२७) वीतं द्वेधा–पूर्ववत् सामान्यतोदृष्टं च। तत्रैकं दृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयं यत्तत्पूर्ववत्; पूर्वं प्रसिद्धं दृष्टस्वलक्षणसामान्यमिति यावत्; तदस्य विषयत्वेनास्त्यनुमानज्ञानस्येति पूर्ववत्।(२८) यथा धूमाद् वह्नित्वसामान्यविशेषः

सामान्य है वह दो भागों में विभक्त होता है—वीत और अवीत। अन्वयव्याप्ति (तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम्=हेतु के रहने पर साध्य का अवश्य रहना) से जो ज्ञान होता है, वह विधायक (=प्रमाणान्तर से अनवगत भावविशेष का ज्ञापक) होता है, जो 'वीत' कहलाता है। व्यतिरेकव्याप्ति (तदसत्त्वे तदसत्त्वम्=साध्य के अभाव में हेतु का अभाव) द्वारा जो बुद्धिवृत्तिरूप ज्ञान प्राप्त होता है, वह निषेधक (=प्रमाणान्तर से अनवगत अभावविशेष का ज्ञापक) होता है, जो 'अवीत' कहलाता है।

(२६) इनमें 'अवीत' शेषवत् कहलाता है। 'शेष' वह है जो 'बाकी रह जाये'। वही शेष जिस अनुमान-रूप ज्ञान का विषय हो, उसे 'शेषवत्' कहते हैं। इस विषय में (न्यायसू० १।१।५ के भाष्य में) इस प्रकार कहा गया है—"परिशेष (=शेषवत्) अनुमान उसे कहते हैं जिससे प्रसक्त (सन्देहविषयक पदार्थ) के प्रतिषेध (अनुमान से उसका अभावनिश्चय) होने पर अन्यत्र अप्रसङ्ग होने के कारण (जिस पदार्थ में प्रसंग नहीं है, उसमें सन्देह न होनेके कारण) शिष्यमाण पदार्थ (=जो पदार्थ प्रतिषिद्ध नहीं होता, अतएव बच जाता है) में सम्प्रत्यय (=सम्यक् अनुमिति) होता है।" इस अवीतनामक व्यतिरेकी अनुमान का उदाहरण आगे (नवीं कारिका में) दिया जाएगा।

(२७) वीत नामक अनुमान दो प्रकार का होता है—पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट। इनमें से पूर्ववत् अनुमान का विषय ऐसा 'सामान्य' होता है, जिसका स्वलक्षण (=अवयवसन्निवेशविशेषालिङ्गित व्यक्तिविशेष) (सहचारदर्शनकाल में) प्रत्यक्षीकृत हुआ है; (सामान्य=सामान्यधर्मयुक्त वस्तुविशेष, सकलव्यक्तिसाधारण घटत्व आदि)। 'पूर्व' का अर्थ है—प्रसिद्ध अर्थात् किसी वस्तु का सामान्य रूप, जिसका विशिष्ट रूप पहले प्रत्यक्ष हो चुका है; ऐसा सामान्य जिस अनुमान का विषय हो, उसे 'पूर्ववत्' अनुमान कहते हैं; (२८) जैसे धूम रूप हेतु के द्वारा उस 'वह्नित्व' रूप सामान्य धर्म से अवच्छिन्न (=युक्त) विशेष

पर्वतेऽनुमीयते। तस्य च वह्नित्वसामान्यविशेषस्य स्वलक्षणं वह्निविशेषो दृष्टो रसवत्याम्। (२९) अपरं च वीतं सामान्यतो दृष्टम्—अदृष्टस्वलक्षण-सामान्य-विषयम्। यथेन्द्रियविषयकमनुमानम्। अत्र हि रूपादिविज्ञानानां क्रियात्वेन करणवत्त्वमनुमीयते। (३०) यद्यपि करणत्व–सामान्यस्य छिदादौ वास्यादि स्वलक्षणमुपलब्धम्, तथापि यज्जातीयस्य रूपादिज्ञाने करणवत्त्वमनुमीयते तज्जातीयस्य करणस्य न दृष्टं स्वलक्षणं प्रत्यक्षेण। (३१) इन्द्रियजातीयं हि तत्करणम्; नचेन्द्रियत्वसामान्यस्य स्वलक्षणमिन्द्रियविशेषः प्रत्यक्षगोचरोऽर्वाग्दृशाम्, यथा वह्नित्वसामान्यस्य स्वलक्षणं वह्निः। (३२) सोऽयं पूर्ववतः सामान्यतोदृष्टात् सत्यपि वीतत्वेन तुल्यत्वे विशेषः।

(३३) अत्र च दृष्टं दर्शनम्, सामान्यत इति सामान्यस्य, सार्वविभक्तिकस्तसिः। अदृष्टस्वलक्षणस्य सामान्यविशेषस्य दर्शनं––सामान्यतोऽ दृष्टमनुमान-

---

(अर्थात् पर्वतीय) वह्नि का पर्वत में अनुमान करना (वह्नित्वस्वरूप धर्मविशेष ही वह्नित्व-सामान्य विशेष है), जिस वह्नित्वसामान्य का स्वलक्षण वह्निविशेष पाकशाला में पहले देखा जा चुका है।

(२९) सामान्यतोदृष्ट नामक दूसरे प्रकार के वीतानुमान का विषय ऐसी सामान्य वस्तु होती है, जिसका स्वलक्षण (सहचारदर्शनकाल में) दृष्ट नहीं हुआ है, जैसा कि इन्द्रियविषयक अनुमान में देखा जाता है। इसमें 'रूपरसादिविषयक प्रत्यक्षज्ञान क्रिया होने के कारण अवश्य ही करण-युक्त (अर्थात् करणोत्पन्न) होगा, क्यों कि जो क्रिया होती है, वह अवश्य ही किसी करणविशेष से उत्पन्न होती है'–इतना ही अनुमित होता है। (३०) यद्यपि छेदन आदि क्रियाओं के विषय में 'करणत्व' सामान्य के स्वलक्षण (स्वस्वरूप=करणस्वरूप) वसूला आदि सहचारदर्शनकाल में प्रत्यक्ष ही रहते हैं, तथापि रूप, रस आदि के ज्ञान के विषय में जिस प्रकार के करण का अनुमान किया जाता है, उस प्रकार के करण का कोई स्वलक्षण (=व्यक्तिविशेष) कभी प्रत्यक्ष नहीं होता। (३१) वह करण इन्द्रियजातीय है (वसूला आदि की तरह मूर्त नहींहै)। 'इन्द्रियत्व' रूप सामान्य का स्वलक्षण कोई एक इन्द्रिय स्थूलदृष्टिवालों को कभी प्रत्यक्ष नहीं होता, जैसा कि 'वह्नित्व' रूप सामान्य के अपने स्वलक्षण वह्नि का (रन्धनगृह में) प्रत्यक्ष होता है। (३२) 'वीत' रूप से समानता (साधनसत्त्वे साध्यसत्तारूप समता) होने पर भी सामान्यतोदृष्ट से पूर्ववत् का यही भेद है।

(३३) 'सामान्यतोदृष्ट' शब्द में 'दृष्ट' का अर्थ है—दर्शन (=ज्ञान); सामान्यतः का अर्थ है—'सामान्यस्य' (=सामान्य का)। यह 'तसि' (तस्) प्रत्यय सभी विभक्तियों

मित्यर्थः । (३४) सर्वं चैतदस्माभिर्न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीकायां (१।१।५) व्युत्पादितमिति नेहोक्तं विस्तरभयात् ।

(३५) प्रयोजकवृद्धशब्दश्रवणसमनन्तरं प्रयोज्यवृद्धप्रवृत्तिहेतुज्ञानानुमानपूर्वकत्वाच्छब्दार्थसम्बन्धग्रहणस्य, स्वार्थसम्बन्धज्ञानसहकारिणश्च शब्दस्यार्थप्रत्यायकत्वादनुमानपूर्वकत्वमित्यनुमानानन्तरं शब्दं लक्षयति—"आप्तश्रुतिराप्तवचनं तु" इति । (३६) आप्तवचनमिति लक्ष्यनिर्देशः, परिशिष्टं लक्षणम् । आप्ता प्राप्ता युक्तेति यावत् । आप्ता चासौ श्रुतिश्चेति आप्तश्रुतिः, श्रुतिः वाक्यजनितं वाक्यार्थज्ञानम् । (३७) तच्च[1] स्वतः प्रमाणम्; अपौरुषेयवेदवाक्यजनितत्वेन

के अर्थ में प्रयुक्त होने वाला है । इस प्रकार यह जाना जाता है कि अदृष्टस्वलक्षण सामान्य विशेष का जो दर्शन है, वही सामान्यतोदृष्ट है । (३४) यह सब हमने अपनी न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका (१।१।५) में विशेष रूप से प्रतिपादित किया है, इसलिये यहाँ विस्तार के भय से उसे पुनः नहीं कहा ।

(३५) अनुमान के बाद शब्दरूप प्रमाण का लक्षण कारिकाकार कहते हैं—"आप्त वचन आप्तश्रुति" है । अनुमान के बाद शब्दप्रमाण का उपन्यास करनेका हेतु यह है कि शब्दनिष्ठवाचकता-शक्तिग्रह अनुमानपूर्वक होता है, यथा—जब कोई प्रेरक व्युत्पन्न व्यक्ति शिष्यादि को कार्यविशेष का आदेश करने के लिये वाक्य (जैसे गो को लाओ, 'गामानय' आदि) का प्रयोग करता है तब आज्ञापालक व्युत्पन्न शिष्यादि की (आनयन-क्रियापरक) प्रवृत्ति होती है; उससे उसके करणभूत ज्ञान का अनुमान होता है; पुनः उस ज्ञान की शब्दजन्यता का अनुमान होता है, जिससे शब्द और उसके अर्थ के सम्बन्धविशेष का ज्ञान होता है । चूँकि शब्द और अर्थ के इस सम्बन्धविशेष का ज्ञान होने पर ही शब्द अपने अर्थ की प्रतीति कराता है, इसलिये शब्दज्ञान की अनुमान-पूर्वकता सिद्ध है ।

(३६) कारिकागत 'आप्तवचन' पद से लक्ष्य का कथन किया गया है, अवशिष्ट वाक्य लक्षण है । लक्षणवाक्य के अन्तर्गत 'आप्त' शब्द का अर्थ है—प्राप्त या युक्त (=अबाधितार्थ-विषय; सत्यार्थबोधनशक्तिमान्) । जो श्रुति आप्ता है, वह आप्तश्रुति है । 'श्रुति' का अर्थ है—वाक्य से उत्पन्न वाक्यतात्पर्यज्ञान ।

(३७) यह वाक्यार्थविषयक (बुद्धिवृत्तिरूप) ज्ञान स्वतःप्रमाण होता है, यदि वह अपौरुषेयवेद वाक्यों से उत्पन्न हो, क्योंकि ऐसा होने पर वह ज्ञान समस्त (भ्रम आदि) दोषों से रहित होता है । इस प्रकार वाक्यार्थज्ञान की यह स्वतःप्रमाणता संगत होती है ।

---

१. आप्तश्रुतिः श्रुतिवाक्यजनितं वाक्यार्थज्ञानम्, तच्च···इति केश्चित् पठयते व्याख्यायते च; (आप्तश्रुतिरित्यनन्तरं श्रुतिरिति न पठयते इति विज्ञेयम्) ।

सकलदोषाशङ्काविनिर्मुक्तत्वेन[1] युक्तं भवति। (३८) एवं वेदमूलस्मृतीतिहास-पुराणवाक्यजनितमपि ज्ञानं युक्तं भवति।

(३९) आदिविदुषश्च कपिलस्य कल्पादौ कल्पान्तराधीत-श्रुतिस्मरणसम्भवः, सुप्तप्रबुद्धस्येव पूर्वेद्युरवगतानामर्थानामपरेद्युः। (४०) तथा च आवट्यजैगी-षव्यसंवादे भगवान् जैगीषव्यो दशमहाकल्पवर्तिजन्मस्मरणमात्मन उवाच— "दशसु महाकल्पेषु विपरिवर्तमानेनानभिभूतबुद्धिसत्त्वेन मया" इत्यादिना ग्रन्थसन्दर्भेण (द्र० व्यासभाष्य ३।१८)।

(४१) आप्तग्रहणेनाऽयुक्ताः शाक्यभिक्षु-निर्ग्रन्थक-संसारमोचकादीनाम् आगमाभासाः परिहृता भवन्ति। (४२) अयुक्तत्वं चैतेषां विगानात्, विच्छिन्न-मूलत्वात्, प्रमाणविरुद्धार्थाभिधानात् कैश्चिदेव म्लेच्छादिभिः पुरुषापसदैः पशुप्रायैः परिग्रहाद् बोद्धव्यम्।

(४३) 'तु'-शब्देनानुमानाद् व्यवच्छिनत्ति। (४४) वाक्यार्थो हि प्रमेयो न तु तद्धर्मो वाक्यं येन तत्र लिङ्गं भवेत्। (४५) न च वाक्यं वाक्यार्थं बोधयत्

---

(३८) इसी प्रकार वेदाश्रित स्मृति, इतिहास और पुराणों के वाक्यों से उत्पन्न ज्ञान भी युक्त (=निर्दोष) होता है।

(३९) आदिविद्वान् (इस सृष्टि में सर्वप्रथम आत्मानात्मविवेकज्ञानवान्) कपिल को पूर्व-कल्प में अधीत वेद का इस कल्प के आरम्भ में स्मरण होना सम्भव है, जैसा कि निद्रानन्तर जागरित पुरुष को पहले दिन के ज्ञात विषयों का दूसरे दिन स्मरण होता है। (४०) इस तथ्य का उदाहरण है—आवट्य-जैगीषव्यसंवाद, जिसमें भगवान् जैगीषव्य ने अपने दशमहा-कल्पगत जन्मपरिणामों का अनुभव आवट्य से 'दशसु महाकल्पेषु···' वाक्य द्वारा कहा था।

(४१) 'आप्त' पद के ग्रहण से बौद्धभिक्षु, निर्ग्रन्थ (=जैन), संसारमोचक आदि अनाप्तों के आगमसदृश प्रतीत होने वाले वचनों का निराकरण हो जाता है। (४२) इन वचनों की अयुक्तता इनके (मन्वादि द्वारा) निन्दित होने से, उच्छिन्नमूल होने से (=वेदमूलक न होने से), प्रमाण-विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादन करने से तथा कुछ ही नीच पशु-सदृश म्लेच्छ आदि के द्वारा स्वीकृत होने से सिद्ध होती है—ऐसा समझ लेना चाहिए।

(४३) मूलगत 'तु' पद (आप्तवचनं तु—इस वाक्य में) आगमप्रमाण को (लिङ्ग-लिङ्गिपूर्वक) अनुमान से पृथक् करता है। (४४) आप्तवचन (वाक्यविशेष) को अनुमान से पृथक् प्रमाण मानने की युक्ति यह है कि (परस्पर-पदार्थ-संसर्ग-रूप) वाक्यार्थ को प्रमेय (=अनुमान द्वारा ज्ञेय) कहना होगा; पर वाक्य प्रमेय वाक्यार्थ का धर्म नहीं होता जैसा होने पर वाक्य वाक्यार्थ का लिङ्ग (ज्ञापक चिह्न) हो सकता था। (४५) फिर वाक्य अपने अर्थ

---

१. विनिर्मुक्तेरिति कैश्चित् पठ्यते।

सम्बन्धग्रहणमपेक्षते, अभिनवकविरचितस्य वाक्यस्यादृष्टपूर्वस्याननुभूतचर-वाक्यार्थबोधकत्वादिति।

(४६) एवं प्रमाणसामान्यलक्षणेषु तद्विशेषलक्षणेषु च सत्सु, यानि प्रमाणान्तराण्युपमानादीनि प्रतिवादिभिरभ्युपेयन्ते तान्युक्तलक्षणेष्वेव प्रमाणेष्वन्तर्भवन्ति। तथाहि—

(४७) उपमानं तावत्–यथा गौस्तथा गवय इति वाक्यम्। तज्जनिता धीरागम एव। योऽप्ययं गवयशब्दो गोसदृशस्य वाचक इति प्रत्ययः, सोऽप्यनुमानमेव। (४८) यो हि शब्दो यत्र वृद्धैः प्रयुज्यते, सोऽसति वृत्त्यन्तरे तस्य वाचकः, यथा गोशब्दो गोत्वस्य[1], प्रयुज्यते चैवं गवयशब्दो गोसदृशे, इति तस्यैव वाचकः–इति तज् ज्ञानमनुमानमेव।

(४९) यत्तु गवयस्य चक्षुःसन्निकृष्टस्य गोसादृश्यज्ञानं तत् प्रत्यक्षमेव।

का बोध कराता हुआ सम्बन्धज्ञान (=व्याप्तिज्ञान) की अपेक्षा नहीं रखता, क्योंकि अभिनव कवि के द्वारा रचित अश्रुतपूर्व वाक्य सर्वथा नूतन अर्थ का ज्ञान कराता है—ऐसा देखा जाता है (प्रस्तुत उदाहरण में संबन्ध-ग्रहण रूप व्याप्ति की संभावना नहीं है, पर नूतन श्लोक से अभिनव भाव ज्ञात होता है; इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अनुमान से वाक्यार्थ का बोध होना सम्भव नहीं है, अतः शब्द को अनुमान से पृथक् प्रमाण मानना चाहिए)।

(४६) इस प्रकार प्रमाणसामान्य और इसके इन भेदों के लक्षण कहे गए, अवशिष्ट उपमान आदि जो अन्य प्रमाण प्रतिवादीगण (नैयायिक, मीमांसक आदि) मानते हैं वे इन प्रमाणों के अन्तर्गत हैं, जैसा कि दिखाया जा रहा है।

(४७) उपमान प्रमाण का अन्तर्भाव इस प्रकार है—'गो के सदृश ही गवय होता है'—इस वाक्य से उत्पन्न जो ज्ञान (=यह गोसदृश प्राणी गवयपदवाच्य है) है वह आगम (=शाब्दबोध) ही है (क्योंकि आगमप्रमाण ज्ञानविशेष=वाक्यजनित वाक्यार्थज्ञान है)। 'गवय शब्द गोसदृश पिण्ड का वाचक है'–यह प्रत्यय (संज्ञासंज्ञि-संबन्ध-ज्ञानरूप) भी अनुमान (अनुमान का फल=अनुमिति) है। (४८) युक्ति यह है—व्युत्पन्न पुरुषों के द्वारा जो शब्द जिस पदार्थ के लिये प्रयुक्त होता है, वह अभिधा के अतिरिक्त लक्षणा आदि अन्य वृत्ति के न होने पर उसी का वाचक होता है, जैसे, गोशब्द गोत्व का वाचक होता है। चूंकि यह गवय शब्द गो-सदृश पिण्ड के लिये प्रयुक्त होता है, इसलिये गवय शब्द गो-सदृश पिण्ड का ही वाचक है—इस प्रकार यह ज्ञान अनुमान (=अनुमिति) ही होता है।

(४९) गवय का चाक्षुष प्रत्यक्ष होने पर उसमें रहने वाले गो-सादृश्य का ज्ञान तो

---

१. गोत्वे इति व्याख्यातृविशेषसंमतः पाठः।

अतएव स्मर्यमाणायां गवि गवयसादृश्यज्ञानं प्रत्यक्षम् । (५०) न ह्यन्यद् गवि सादृश्यमन्यच्च गवये । भूयोऽवयवसामान्ययोगो हि जात्यन्तरवर्ती जात्यन्तरे सादृश्यमुच्यते । (५१) सामान्ययोगश्चैकः; स चेद् गवये प्रत्यक्षो गव्यपि तथेति नोपमानस्य प्रमेयान्तरमस्ति यत्र प्रमाण मुपमानं भवेत्–इति न प्रमाणान्तर-मुपमानम् ।

(५२) एवमर्थापत्तिरपि न प्रमाणान्तरम् । तथा हि––जीवतश्चैत्रस्य गृहाभावदर्शनेन बहिर्भावस्यादृष्टस्य कल्पनमर्थापत्तिरभिमता वृद्धानाम् । साऽप्यनु-मानमेव । (५३) यदा खल्वव्यापकः सन्नेकत्र नास्ति तदाऽन्यत्रास्ति । यदाऽ-व्यापक एकत्रास्ति तदाऽन्यत्र नास्तीति सुकरः स्वशरीरे एव व्याप्तिग्रहः । तथा च सतो गृहाभावदर्शनेन लिङ्गेन बहिर्भावदर्शनमनुमानमेव ।

(५४) न च चैत्रस्य क्वचित्सत्त्वेन गृहाभावः शक्योऽपह्नोतुम्, येनासिद्धो

प्रत्यक्ष ही है, (मीमांसक-संमत) उपमिति नहीं है; गवयगत गोसादृश्य का प्रत्यक्ष होने के कारण स्मर्यमाण गो में गवयसादृश्य का जो ज्ञान होता है, वह भी प्रत्यक्षज्ञान ही है (उपमिति नहीं है) । (५०) ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि गोगत गवय-सादृश्य से गवयगत गो-सादृश्य पृथक् है, क्योंकि एक जाति में प्राप्त अनेक अवयवों की समानता-का सम्बन्ध ही अन्य जाति में सादृश्य कहलाता है और (५१) यह सामानता-योग (=अवयवैक्य-सम्बन्ध) एक है; इसलिये यदि वह सादृश्य गवय में प्रत्यक्ष है, तो गो में भी प्रत्यक्ष होगा । इस प्रकार (सादृश्यज्ञान के प्रत्यक्षसिद्ध होने पर) यह स्पष्ट हो जाता है कि उपमानप्रमाण का ऐसा कोई पृथक् प्रमेय विषय नहीं है, जिसके लिये उपमान को पृथक् प्रमाण मानना पड़े । इसलिये उपमान कोई अतिरिक्त प्रमाण नहीं है ।

(५२) इसी प्रकार (मीमांसकसंमत) अर्थापत्ति भी पृथक् प्रमाण नहीं है । अर्थापत्ति का स्वरूप यह है—जीवित चैत्र के घर में दृष्ट न होने पर उसके अप्रत्यक्ष बहिर्भाव (=बाहर रहना) की कल्पना को ही वृद्धों (=ज्ञानी मीमांसक) ने अर्थापत्ति प्रमाण माना है; पर यह अर्थापत्ति भी अनुमान (=अनुमिति) ही है । (५३) क्योंकि जब कोई अव्यापक (=एकदेशस्थित) पदार्थ किसी एक जगह पर नहीं रहता तो वह अन्यत्र अवश्य रहता है; तथैव यदि वह एक स्थान पर रहता है तो अन्यत्र नहीं रहता—ऐसी व्याप्ति अपने शरीर के ही दृष्टान्त से सरलतापूर्वक समझी जा सकती है । और इस प्रकार सत् (=विद्यमान अर्थात् जीवित) चैत्र घर में नहीं दिखाई पड़ता, इस उदाहरण में गृहाभाव-रूप हेतु से 'वह बाहर होगा'—ऐसा जो ज्ञान होता है, वह अनुमान (=अनुमानसाध्य अनुमिति) ही है ।

(५४) यह कहना ठीक नहीं चैत्र के कहीं विद्यमान होने के कारण उसका 'घर में

गृहाभावो बहिर्भावे न हेतुः स्यात्। न च गृहाभावेन वा सत्त्वमपह्नूयते, येन सत्त्वमेवानुपपद्यमानमात्मानं न बहिरवस्थापयेत्। (५५) तथाहि--चैत्रस्य गृहासत्त्वेन सत्त्वमात्रं वा विरुध्यते, गृहसत्त्वं वा ? न तावद्यत्र क्वचन सत्त्वस्यास्ति विरोधो गृहासत्त्वेन, भिन्नविषयत्वात्। (५६) देशसामान्येन गृहविशेषाक्षेपोऽपि पाक्षिक इति समानविषयकतया विरोध इति चेत्; न, प्रमाणविनिश्चितस्य गृहेऽसत्त्वस्य पाक्षिकतया सांशयिकेन गृहसत्त्वेन प्रतिक्षेपायोगात्।

(५७) नापि प्रमाणनिश्चितो गृहाभावः पाक्षिकमस्य गृहसत्त्वं प्रतिक्षिपन् सत्त्वमपि प्रतिक्षेप्तुं सांशयिकत्वं वा व्यपनेतुमर्हतीति युक्तम्। गृहावच्छिन्नेन चैत्राभावेन गृहसत्त्वं विरुद्धत्वात् प्रतिक्षिप्यते, न तु सत्त्वमात्रम्, तस्य तत्रौदा-

---

न होना' बाधित हो जाता है जिससे चैत्र के 'बाहर होने' के अनुमान में लिङ्ग बननेवाला 'उसका घर में न रहना' कोई हेतु ही न हो (हेत्वसिद्धि-दोष) है। ऐसा भी नहीं कि घर में उसके अभाव के कारण उसका होना ही अस्वीकार किया जा सके कि जब चैत्र का सत्त्व (=होना) ही असिद्ध है तो उसका बाहर रहना कैसे सिद्ध हो सकता है ? (साध्यशून्य पक्ष रूप बाध-दोष का प्रसंग यहाँ उपस्थित हो रहा है)।

(५५) यह सोचना चाहिए कि चैत्र घर में नहीं है' इस वाक्य से उसके सत्त्व-सामान्य (=जहाँ कहीं होना) का विरोध होता है, वा केवल गृहसत्त्व (=घर में होना) का ? वस्तुतः 'घर में न होने' के साथ 'कहीं अन्यत्र होने' का विरोध नहीं है, क्योंकि 'घर में न होने' और 'जहाँ कहीं होने' के विषय भिन्न-भिन्न हैं (प्रथम का घर और द्वितीय का बाह्य स्थान)। (५६) यदि कहा जाए कि प्रस्तुत स्थल में भी विषय की अभिन्नता है अर्थात्—चैत्र 'जीवित कहीं है'—इस आप्त वाक्य से स्थान-सामान्य की प्राप्ति होने पर गृहरूप स्थान-विशेष के भी उसके अन्तर्गत होने के कारण वैकल्पिक रूप से गृह (घर में रहना) की भी प्राप्ति होती है ; इस प्रकार दोनों का एक ही विषय होने के कारण परस्पर विरोध है (क्वचित् सत्त्व और गृहासत्त्व का)—ऐसा कहना युक्त नहीं ; क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण से सिद्ध 'घर में नहीं है'—यह बुद्धि पाक्षिकरूप से प्राप्त हुई 'घर में हो भी सकता है'—इस संशययुक्त बुद्धि से निराकृत नहीं हो सकती।

(५७) चैत्र का प्रमाण विनिश्चित गृहाभाव (=घर में न रहना) चैत्र के पाक्षिक गृहसत्त्व (=घर में रहना) का निराकरण करता हुआ चैत्र के अस्तित्व का भी निराकरण करेगा—यह कहना युक्त नहीं है। यह गृहाभाव गृहसत्त्व के सांशयिकत्व का ही अपनोदन करने में समर्थ है। गृहमात्र से संबन्धित (=सीमित) चैत्र का अभाव (अर्थात् घर में न रहना) उसके गृहान्तर्गत रहने के संशय का निराकरण (विरोध होने के कारण) करता है, उसके भावमात्र का नहीं; क्योंकि चैत्र के गृहाभाव का उसके भावमात्र के निरसन में

सीन्यात् । तस्माद् गृहाभावेन लिङ्गेन सिद्धेन सतो बहिर्भावोऽनुमीयत इति युक्तम् ।

(५८) एतेन 'विरुद्धयोः प्रमाणयोर्विषयव्यवस्थयाऽविरोधोपपादन[1]मर्थापत्तेर्विषयः' इति निरस्तम् । अवच्छिन्नानवच्छिन्नयोर्विरोधाभावात् ।

(५९) उदाहरणान्तराणि चार्थापत्तेरेवमेवानुमानेऽन्तर्भावणीयानि[2] । तस्मान्नानुमानात् प्रमाणान्तरमर्थापत्तिरिति सिद्धम् ।

(६०) एवमभावोऽपि प्रत्यक्षमेव । न हि भूतलस्य परिणामविशेषात् कैवल्यलक्षणादन्यो घटाभावो नाम । (६१) प्रतिक्षणं परिणामिणो हि सर्वं एव भावा ऋते चितिशक्तेः । (६२) स च परिणामभेद ऐन्द्रियकः, इति नास्ति प्रत्यक्षानवरुद्धो[3] विषयो यत्राभावाह्वयं प्रमाणान्तरमभ्युपेयमिति ।

कोई व्यापार नहीं है । इसलिये प्रमाण-सिद्ध गृहाभाव रूप लिङ्ग (=हेतु) से जीवित चैत्र के वहिर्भाव का अनुमान होता है—यह कथन संगत है ।

(५८) पूर्वोक्त विचार (अर्थात् अर्थापत्ति अनुमान है एवं उसका कोई पृथक् प्रमेय नहीं है) से कुछ लोगों के इस कथन का भी निराकरण हो जाता है कि दो विरुद्ध प्रमाणों द्वारा प्राप्त हुए ज्ञान (यथा—गृहाभाव और बहिर्भाव) में विरोध होने पर विषय की व्यवस्था करके अविरोध का उपपादन करना अर्थापत्ति का विषय है, क्योंकि अवच्छिन्न (=गृहावच्छिन्न—असत्त्व=घर में न रहना) और अनवच्छिन्न (=गृहानवच्छिन्न= सामान्यतःसत्ता=अन्यत्र रहना) में कोई विरोध नहीं है ।

(५९) अर्थापत्ति के अन्य उदाहरणों का भी इसी प्रकार अनुमान में समावेश कर लेना चाहिए । इस प्रकार अन्तर्भाव हो जाने के कारण अर्थापत्ति अनुमान से भिन्न कोई प्रमाण नहीं है ।

(६०) इसी प्रकार अभाव (=अनुपलब्धि) भी प्रत्यक्ष प्रमाण ही है । (उपलब्धि-अभाव-जन्य अर्थाभावज्ञान अभावरूप प्रमाण की प्रमिति है) । 'भूतल में घट का अभाव' भूतल के 'केवल भूतल का रहना 'रूप परिणाम-विशेष से भिन्न कोई अन्य पदार्थ नहीं है (भूतल में घटाभाव का अर्थ है—भूतल का एकाकी रहना ।) (६१) (सद्वितीय भूतल का केवल रहना रूप परिणाम क्यों होगा—इसके उत्तर में वक्तव्य है कि) चितिशक्ति (=पुरुष) के अतिरिक्त सभी भाव पदार्थ प्रतिक्षण परिणामी ही हैं । (६२) और यह घटरहितत्व-रूप भूतल-परिणाम-विशेष (चक्षुरूप) इन्द्रिय से ग्राह्य ही है । इसलिये प्रत्यक्ष प्रमाणा-योग्य या प्रत्यक्षागोचर ऐसा कोई भी विषय नहीं हैं जिसके ज्ञान के लिये 'अभाव' (=अनुपलब्धि) नामक पृथंक प्रमाण मानने की आवश्यकता हो ।

---

१. अविरोधापादनम् इति कैश्चित् पठ्यते ।

२. अन्तर्भावणीयानीत्यत्र णत्वं भवत्येव; केषुचित् संस्करणेषु दृश्यमानः न-घटितः पाठोऽसाधुरेव ।

३. प्रत्यक्षाद्यनवरुद्ध इति कैश्चित् पठ्यते ।

(६३) सम्भवस्तु यथा—खार्यां द्रोणाढकप्रस्थाद्यवगमः। स चानुमानमेव। खारीत्वं हि द्रोणाद्यविनाभूतं प्रतीतं खार्यां द्रोणादिसत्त्वमवगमयति।

(६४) यच्च—अनिर्दिष्टप्रवक्तृकं प्रवादपारम्पर्यमात्रम्—इति होचुर्वृद्धाः—इत्यैतिह्यम् (द्र० न्यायभाष्य २।२।१); यथा 'इह वटे यक्षः प्रतिवसति' इति—न तत् प्रमाणान्तरम्; अनिर्दिष्टप्रवक्तृकत्वेन सांशयिकत्वात्। आप्तवक्तृकत्वनिश्चये त्वागम एव—इत्युपपन्नम्—"त्रिविधम्प्रमाणम्" इति ॥५॥

---

(६३) संभव प्रमाण इस प्रकार है–खारी (=चार द्रोणपरिमाण) में द्रोण (=चार आढक), आढक (=चार प्रस्थ), प्रस्थ आदि अल्प परिमाणों (=तौल) का सद्भाव है—यह ज्ञान करने वाला 'सम्भव' नामक पृथक् प्रमाण है; यह भी अनुमान ही है; क्योंकि द्रोण आदि की अविनाभूत (=विना न होने वाली) 'खारी' आदि अपने में द्रोण, आढक आदि अल्प परिमाणों की सत्ता का अनुमान कराती है (जैसे अग्नि-व्याप्य धूम स्व-व्यापक अग्नि की सत्ता का अनुमान कराता है)।

(६४) ऐतिह्यप्रमाण यह है—'इस वृक्ष पर यक्ष रहता है' ऐसा वृद्धजन कहते थे इत्यादि प्रकार का अनिश्चितवक्तृक परम्परागत प्रवाद (=जनश्रुति) ऐतिह्य प्रमाण है; यह प्रत्यक्षादि के अतिरिक्त कोई प्रमाण नहीं है क्योंकि वक्ता के निश्चयज्ञान न होने के कारण यह 'ऐतिह्य' सन्दिग्ध रहता है। यदि यह निश्चय रूप से ज्ञात हो कि इसका वक्ता कोई आप्त पुरुष है, तब तो यह आगम प्रमाण ही है। इस प्रकार प्रमाण तीन ही हैं—यह सिद्ध होता है।

पञ्चम कारिका की व्याख्या

'प्रतिविषयाध्यवसायः' दृष्ट-प्रमाण का स्वरूप है। वाचस्पति के अनुसार प्रतिविषयम्=इन्द्रियम्; इन्द्रिये अध्यवसायः—इन्द्रियगत अध्यवसाय (जो बुद्धि का व्यापार है) ही दृष्ट प्रमाण है। यह विषय या तो सुखादि (आन्तर) है या शब्दादि (बाह्य) है। 'प्रतिविषयम्' में अव्ययीभाव समास है और दोनों पदों का समास 'सह सुपा' (अष्टा० २।१।४) द्वारा हुआ है। इससे स्पष्ट होता है कि 'दृष्ट' रूप प्रमाण बुद्धि-धर्म-विशेष (अर्थात् ज्ञान) है।

हमारी दृष्टि में इस लक्षणपरक वाक्य का यह अर्थ अधिकतर संगत है कि विषय के प्रति अभिमुख अध्यवसाय ही दृष्ट प्रमाण है। विषय यदि बाह्य हो तो बाह्य 'इन्द्रिय' का अन्तर्भाव इस लक्षण में करना होगा। विषय यदि आन्तर हो तो आन्तर इन्द्रिय अर्थात् मन का अन्तर्भाव करना होगा—यह ज्ञातव्य है। मन आन्तर इन्द्रिय ही है। बाह्य वैषयिक क्रिया द्वारा बाह्य ज्ञानेन्द्रियाँ उपरञ्जित होती हैं; इन्द्रियगत यह चाञ्चल्य बुद्धि में जाकर बुद्धिस्थ (तमोभाव को अभिभूत कर) प्रकाशभाव को उद्घाटित करता

है—यह प्रकाश, ज्ञान या वृत्ति है; सुखादि आन्तर विषय भी मन रूप इन्द्रिय द्वारा गृहीत होकर बुद्धि में प्रकाशित होते हैं (सुख बाह्य वस्तु हेतुक भी होता है, आन्तर-वस्तु-हेतुक भी होता है, उभयहेतुक भी होता है)।

'विषयाभिमुख अध्यवसाय' में विषय की स्थूलता—सूक्ष्मता के अनुसार इन्द्रिय (जो अर्थात्-लब्ध है) की भी अनुरूप शक्ति स्वीकार्य होनी चाहिए। प्रकृत-इन्द्रिय-गत धर्म के भेद से ही यह शक्तिभेद होता है। भौतिक-भूत-तन्मात्र रूप विषयों का ग्रहण बाह्य-इन्द्रिय-प्रणाली-सापेक्ष अवश्य है, पर इन्द्रियगत सामर्थ्य के अनुसार विषय प्रत्यक्षीकृत होता है। सामर्थ्यभेद से इन्द्रिय-ततुत्व में भेद नहीं हो जाता।

मोक्षदर्शन के प्रसंग में इन्द्रिय का आयुर्वेदशास्त्रानुसारी अर्थ (शरीरयन्त्रविशेष) लेना उचित नहीं है। शारीर यन्त्र इन्द्रियों के अधिष्ठानमात्र हैं। अधिष्ठान-गत जाडयादि-दोष के कारण प्रकृत इन्द्रिय की शक्ति बहुत कुछ व्याहत होती है। यह शरीररूप अधिष्ठान प्रकृत इन्द्रिय की तरह सूक्ष्म नहीं है (इन्द्रियाँ सात्त्विक अहंकार का विकार-भूत हैं; शरीर का उपादान भूत—उसका तन्मात्र—उसका तामस अहंकार उपादान है)। **इन्द्रिय की सामर्थ्य कितनी और कैसी है, यह वही जान सकता है, जो शारीर अधिष्ठान से पृथक् कर इन्द्रियस्वरूप को जान सकता है।** साधारणतया इन्द्रियसामर्थ्य के विषय में जो कुछ कहा जाता है, वह प्रायेण स्थूलदृष्ट्या ही है।

वाचस्पति कहते हैं—"अध्यवसाय या ज्ञान जिसकी वृत्ति या लक्षण है, उस बुद्धि तत्त्व का उपादान जड़ प्रकृति है, अतः बुद्धि का व्यापार जो अध्यवसाय है, वह वैसा ही जड़ होगा, जैसा कि घट। सुखादि भी वैसे जड़ पदार्थ ही हैं। बुद्धि में पुरुष प्रति-बिम्बित=प्रतिफलित होता हैं। यही कारण है कि विषय का इन्द्रियगृहीत प्रतिबिम्ब चेतन-सी बुद्धि द्वारा प्रकाशित होता है और ज्ञान-सुखादिशून्य पुरुष ज्ञान-सुखादिमान् की तरह प्रतीत होता है। चित्-स्वरूप पुरुष की छाया बुद्धि में पड़ने के कारण स्वरूपतः अचेतन बुद्धि भी चेतनवत् होती है। बुद्धिगत अध्यवसाय भी चेतनवत् होता है"।

वाचस्पति का यह कथन अत्यन्त अस्पष्ट है, तथा भ्रमोत्पादक भी है। पहली बात तो यह कि उपादानदृष्टि से बुद्धि जड़ त्रिगुण का कार्य अवश्य है, पर **क्या पुरुषसंयोग हीन बुद्धि की सत्ता पृथक् रूप से रहती है? यदि पुरुष-संयोगहीन होकर केवल गुणत्रय-सन्निवेश-विशेष-रूप बुद्धि रहती,** तो यह कहा जा सकता था कि अध्यवसाय शुद्ध जड़ है। अध्यवसाय अचेतनरूप है और पुरुष का योग होने पर वह चेतनयुक्त हो जाता है—ऐसा कहना वस्तुस्थिति का अपलाप करना ही है। **हमारी दृष्टि में बुद्धि आदि को जड़ कहना एक तार्किक विश्लेषणमात्र है, वस्तुस्थिति नहीं है।** क्योंकि किसी भी काल में अध्यवसाय चेतन-संयोग-शून्य होकर नहीं रहता—प्रलयकाल में भी नहीं रहता (प्रलय-

काल में विषयाभाव के कारण सुप्तावस्था में रहता है—यह पुरुष संवन्धहीन होकर रहता नहीं है; पुरुष-संवन्ध में तारतम्य होने का कोई प्रश्न भी नहीं है)।

प्रत्यक्षप्रमाण के प्रसंग में बुद्धि में पुरुष का प्रतिविम्ब होने का जो मत वाचस्पति ने कहा है, वह हमारी दृष्टि में कोई तथ्य (fact) नहीं है। यह उपमा की भाषा है,[1] पर लोग इसको तथ्य समझते हैं और सांख्यीय दर्शन को विपर्यस्त करते हैं। **प्रतिबिम्ब पतन रूप कोई घटना वस्तुतः घट ही नहीं सकती।** बुद्धि काचादि की तरह कोई स्वच्छ पदार्थ नहीं है[2] कि उसमें प्रतिविम्वग्रहण की योग्यता हो। **प्रतिबिम्ब-पतन का जो वैज्ञानिक नियम है वह निर्गुण देशकालातीत निरवयव निष्क्रिय पुरुष में तथा 'ज्ञाताहम्' रूप देशव्याप्तिहीन बुद्धि में घट ही नहीं सकता।** लौकिक विषय पर जो मुग्धता है वही प्रतिविम्वपतन-रूप मत की कल्पना करने का हेतु है।

इस विषय में सांख्यीय दृष्टि यह है—बुद्धि उपादानदृष्टि से सत्त्व-रज-स्तभः का सन्निवेश-विशेष है; केवल सत्त्व-रजस्तमः में ज्ञातृत्व नहीं है, पर बुद्धि नित्य ही 'मैं जानता हूँ' रूप है। अतः यह अनुमित होता है कि सत्त्वरजस्तमः के इस सन्निवेश के साथ स्वप्रकाश किसी पदार्थ का योग है; यह स्वप्रकाश पुरुष है। चूंकि बुद्धि त्रैगुणिक है, स्वप्रकाश का योग ही उसके व्यक्तीकरण का हेतु है, अतः बुद्धिगत प्रकाश परिणामी और चञ्चल है; वह 'मैं जानता हूँ' 'मैं जानता हूँ' इस सदृश धारा में प्रवाहित होता रहता है— यही बुद्धि की चेतन-सदृशता है।

जब हम यह समझते हैं कि (१) व्यक्त बुद्धि सदैव चेतनसदृश ही रहती है, (२) पर वैसा होना नहीं चाहिये था (बुद्धि के उपादान में चैतन्य न होने के कारण) तथा जब हमें यह निश्चय होता है कि (३) बुद्धिसंबद्ध होने पर भी चैतन्य वस्तुतः परिणामी, विकारी नहीं हो जाता है और (४) चैतन्य न मिश्रित होनेवाला पदार्थ है और (५) न वह वस्तुतः बुद्धि में संक्रान्त होता है तब हमें यदि चैतन्यरूप पुरुष और बुद्धि के संवन्ध को लौकिक पुरुषों को स्थूलरूप से समझाना हो तो हमें प्रतिबिम्ब-उपमा का प्रयोग करना ही होगा। **पूर्वाचार्यों ने प्रतिबिम्ब का उपन्यास उपमा के रूप में ही किया है,**

---

१. हम जब कहते हैं—'ठण्डा दिल' 'टेढ़ी बुद्धि' 'मुक्त विचार' 'दिमाग गरम करना' 'चित्त की ऋजुता' तब उपमा की भाषा का ही प्रयोग करते हैं। दिल, बुद्धि आदि पदार्थ ठंडा, टेढ़ा आदि नहीं होते, पर बाह्य पदार्थों के ईदृश रूपों के साथ किसी सादृश्य को लेकर हम दिल आदि को भी ठण्डा आदि कहते हैं—बाह्य पदार्थगत धर्मों का आरोप आन्तर पदार्थों में करते हैं।

२. हमें ज्ञात है कि शास्त्र में कहीं कहीं चित्त को 'स्वच्छ' कहा गया है। यह स्वच्छता उपमा की भाषा है, दर्पणादि में वस्तुतः स्वच्छता (transparency) है। जिस प्रकार स्वच्छ पदार्थ ऐसा है कि उसमें स्थित पदार्थ (अर्थात् पदार्थ का प्रतिबिम्ब) स्पष्ट दीखता है, उसी प्रकार चित्त जब इतना स्थिर या एकाग्र हो जाये कि वह स्वगत सूक्ष्मातिसूक्ष्म विकारों की भी जान सके, तब वह चित्त 'स्वच्छ' कहलाता है।

तथ्य के रूप में नहीं; इसका एक प्रमाण यह भी है कि विम्व-प्रतिविम्व-भाव का उल्लेख अनियत रूप से किया गया है; बुद्धि-पुरुष में से जिस किसी को विम्व या प्रतिबिम्व मानकर बुद्धि-पुरुष-संवन्ध की व्याख्या की गई है—यदि प्रतिबिम्ब एक वास्तव तथ्य होता। तो ऐसा नहीं किया जा सकता था।[१]

चैतन्य-सी प्रतीत होने पर भी बुद्धि में चैतन्य संक्रामित नहीं होता—इसी भाव को स्थूलदृष्टिवालों को समझाने के लिये ही 'प्रतिबिम्ब' की उपमा है। यह बुद्धि इतनी पुरुष-सदृश हो जाती है कि किसी किसी को बुद्धि चेतन ही प्रतीत होती है (चेतन-युक्त के स्थान पर)। इस भाव को भी समझाने के लिये प्रतिविम्ब की उपमा दी गई है। इस विषय में वाक्यपदीय का 'अचेतनेषु चैतन्यं संक्रान्तमिव दृश्यते। प्रतिविम्बक-धर्मेण...(३।१४।३२८) वाक्य आलोचनीय है। पुरुष में प्रतिविम्ब वस्तुत: होता है—यह मानकर प्रायः सांख्यपक्ष को दूषित किया जाता है, जो आक्षेपकारी की अज्ञता का प्रदर्शक है; अतः तत्त्वसंग्रहकार कमलशील का यह कहना कि यदि प्रतिविम्ब पुरुषगत हो तो पुरुष उदयव्ययभाक् होगा (२९८)—एक अलीक दूषण है।

'विषयज्ञान' की जो प्रक्रिया वाचस्पति ने कही है (और जो पठन-पाठन की पद्धति में प्रचलित है), वह पूर्णतः सांख्यीय नहीं है क्योंकि इसमें (१) विषय (२) इन्द्रिय (३) विषयेन्द्रिय-संवन्ध, (४) विषयाकार चित्तपरिणाम और (५) उस परिणाम का ज्ञात होना—ये पाँच विषय सांख्यीय दृष्टि के अनुसार चिन्तित नहीं हुये हैं—यह हमारा मत है। न्यायादि शास्त्रों की दृष्टि के अनुसार विषय आदि का स्वरूप जैसा है, उसको ही बहुलतया मानकर सांख्यीय दृष्टि की व्याख्या की गई है—अतः प्रचलित व्याख्यान असांख्यीय हो गया है। सांख्यीय दृष्टि के अनुसार प्रत्यक्ष का विश्लेषण इस प्रकार होगा—

सांख्यीय दृष्टि के अनुसार 'विषय' का स्वरूप पहले ज्ञातव्य है। **बाह्यविषय मूलतः भूतादिनामक तामस अहंकार का ग्राह्यीभूत रूप है।** यह भूतादि अहंकार ग्राह्यीभूत होकर क्रमशः स्थूल होता हुआ विभिन्न प्रकार के प्राणियों का व्यवहार्य विषय होता है। यह व्यवहार भी प्राणी की इन्द्रियों के शक्तिस्तर के अनुसार होता है। ग्राह्यीभूत भूतादि के भी अनेक स्थूल-सूक्ष्म स्तर हैं जो उपयोगी इन्द्रिय के विषय होते हैं। प्राणी की इन्द्रियाँ आहंकारिक हैं, और यह ग्राह्यीभूत भूतादि भी आहंकारिक है, अतः एक **मन जिस प्रकार दूसरे मन को आकृष्ट-प्रभावित-उपरंजित-परिणामित करता है,**

---

१. उपमा में सर्वत्र ईदृश परिवर्तन किया जा सकता है। प्रायः बुद्धि को उपाधि माना जाता है, जिसके सम्पर्क से पुरुष परिणामवान् प्रतीत होता है। कभी कभी पुरुष को भी उपाधि मानकर इस प्रतीति की व्याख्या की गई है, यह अभिज्ञ व्यक्ति जानते ही हैं। उपाधि द्वारा व्याख्या करना उपमा-निर्भर है, अतः ईदृश विपर्यास किया ही जा सकता है।

उसी प्रकार भूतादि का स्थूल भाव रूप जो विषय है वह प्राणियों की इन्द्रियों को उपरञ्जित करता है—परिणामित करता है। ग्राह्यीभूत भूतादि प्राणियों के बाह्य इन्द्रिय से संबद्ध होने पर इन्द्रिय को चञ्चल करता है (इन्द्रियस्थित अस्मिता चाल्यमान होती है)। यह चाञ्चल्य-रूप परिणाम मन-अहंकार द्वारा वाहित होकर बुद्धि-गत सत्त्वगुण को उद्घाटित करता है। यह उद्घाटन चाञ्चल्य की प्रकृति के अनुरूप ही होता है। **बुद्धि अर्थात् 'मैं ज्ञाता हूं' रूप पदार्थ के साथ इस चाञ्चल्य के योग होने पर मैं ज्ञाता हूं रूप बौद्ध ज्ञातृत्व परिच्छिन्न हो जाता है, और 'मैं विषय का ज्ञाता हूं' रूप प्रकाश व्यक्त होता है।** यह विषयज्ञान अप्रकाशित वैषयिक चाञ्चल्य का प्रकाशनमात्र है।

'मैं विषय का ज्ञाता हूँ' रूप बुद्धि पुरुषसंयुक्त पदार्थ है; अर्थात् अनादिकाल से स्वप्रकाश चित् के साथ बुद्धि (जो उपादानदृष्टि से जड़ है) अभिन्न की तरह ही विद्यमान है। अतः जिस क्षण 'ज्ञाताहम्' रूप बुद्धि 'विषय-ज्ञाता अहम्' रूप में परिणत होती है (यही बुद्धि का विषयाकार परिणाम है; **बुद्धि इन्द्रियपथ द्वारा वस्तुतः निर्गत होकर घटाद्याकार होती है—यह बालोचित चिन्ता है**) उस क्षण 'मैं जानता हूँ कि मैं विषयज्ञानवान् हूँ' इस रूप से एक अन्य परिणाम भी बुद्धि में होता है।

यह विषय बहुत सूक्ष्म है पर शास्त्र को समझने के लिये इसका रहस्य जानना भी आवश्यक है। बात यह है कि 'मैं विषय को जानता हूँ' रूप बुद्धि बुद्धि का स्थूल रूप है। बुद्धि का सर्वोच्च सूक्ष्म रूप है—पुरुषाकारा बुद्धि—'मैं अपने को जानता हूँ'। इस रूप में बुद्धि ही स्वगत एक भाव को विषय के रूप में जानती है। दूसरे शब्दों में बुद्धि का प्रकृत रूप है—'मैं जानता हूँ कि मैं हूँ'। यह ज्ञेय 'मैं हूँ' रूप दृश्य अंश ही वैषयिक चाञ्चल्य से सम्बद्ध होकर शब्दादि-ज्ञानों में परिणत होता है; और 'ज्ञाताऽहम्' को 'विषयज्ञाताऽहम्' का रूप दे देता हैं। **दूसरे शब्दों में 'मैं जानता हूँ कि मैं हूँ' बोध ही परिणत होकर 'मैं जानता हूं कि मैं शब्दादि का ज्ञाता हूँ' हो जाता है।** आन्तर-विषय-ज्ञान बाह्येन्द्रियसाध्य नहीं है; अतः आन्तर-विषय-ज्ञान के क्षेत्र में 'मैं जानता हूँ कि मैं सुखी हूँ' ऐसा बोध होता है।

मैं विषयज्ञानवान् हूँ यह यदि ज्ञान, बोध या प्रमाण है, तो यह दूसरा परिणाम प्रतिज्ञान, प्रतिबोध, प्रमा है। इस अर्थ में प्रतिबोध, शब्द का प्रयोग केन उपनिषद् में है (२।१२) जहाँ यह भी कहा गया है कि **इस प्रतिबोध के द्वारा निर्गुण ब्रह्म की सत्ता का अनुमान होता है।** वस्तुतः 'मैं जानता हूँ कि मैं विषयज्ञानवान् हूँ' इसमें जो प्रथमांश है, उसको प्रतिसंवेद कहना उचित ही है। उपमा की दृष्टि में 'बोध' का यह 'प्रतिबोध' 'बिम्ब-प्रतिबिम्ब' भाव-रूप हैं; दूर सादृश्य से ही प्रतिबिम्ब-भाव की कल्पना की गई है। ईदृश प्रतिसंवेद के लिये कोई प्रतिसंवेदक रूप हेतु चाहिये, जैसे आलोक के प्रतिफलन के लिये प्रतिफलक की आवश्यकता होती है। यह हेतु ही पुरुष है; यही कारण है कि व्यास-

भाष्य (२।७) में पुरुष को—'बुद्धि का प्रतिसंवेदी' कहा गया हैं। 'मैं विषयज्ञानवान् हूँ' यह भाव पुनः 'मैं जानता हूँ' के रूप में प्रतिबुद्ध होता है। यह प्रतिसंवेद या प्रतिबोध ही पौरुषसत्ता का गमक है।

जिसको हम शब्दादि-रूप ज्ञेय विषय समझते हैं, वे शब्दादि वस्तुतः बुद्धिगत विकार हैं; इन्द्रियबाह्य 'वस्तु' शब्दादियुक्त नहीं है। वह शब्दादिबोध का उत्पादक हेतु है। जीव पूर्वसंस्कारवश सोचते हैं कि शब्दरूपादिबोध इन्द्रियबाह्य वस्तु में हैं। 'ज्ञान विषयासंबद्ध कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है; ज्ञान सदैव विषयोपरक्त है अर्थात् ज्ञान=शब्दादिज्ञान। यह शब्दादि ज्ञान जब बुद्धिपरिणाम हैं, तब शब्दादि इन्द्रियबाह्यस्थ कैसे हो सकते हैं।[1] शब्दादि-विषय वस्तुतः ग्राह्यीभूत भूतादिरूप पदार्थ तथा प्राणी की इन्द्रियों का संपर्कजात हैं। शब्दादिरूप विषय चूँकि सम्पर्कज हैं अतः कभी भी शब्दादि के मूल उपादान के साक्षात्कार बाह्य द्रव्य के रूप से नहीं हो सकता। शब्दादि के चरम सूक्ष्म अवस्थारूप (पर इन्द्रियबाह्य) तन्मात्र का ही बाह्यरूप से साक्षात्कार हो सकता हैं; तन्मात्र का मूल कभी भी बाह्यरूप से साक्षात्करणीय नहीं होता, क्योंकि वह आन्तर पदार्थ—अहंकार नामक अबाह्य पदार्थ—है।

'पौरुषेय बोध' के विषय में कुछ विशेष वक्तव्य है। कोई कहते हैं कि 'वृत्तिरूप प्रमाण से पुरुष को जो ज्ञान होता है वही प्रमा रूप (प्रमाण का फल) पौरुषेय बोध है। चूँकि पुरुष (तत्त्व) में ज्ञान वस्तुतः उत्पन्न नहीं होता अतः यह मत असंगत है। कोई कहते हैं कि 'चैतन्यप्रकाश अर्थात् अर्थोपरक्त वृत्ति-प्रतिबिम्बाश्रय रूप जो चैतन्य है वही पौरुषेय बोध है'। ईदृश मतों के प्रख्यापक आचार्य भूल जाते हैं कि प्रमाण का फल भी त्रैगुणिक ही होगा, अतः चैतन्य कभी भी प्रमाण का फल रूप पौरुषेय बोध नहीं हो सकता। 'मैं घट जानता हूँ' यह पौरुषेय बोध का उदाहरण है और 'यह घट है'—यह प्रमाण है—अध्यात्मज्ञान का अनुशीलन लुप्त हो जाने के कारण ही ईदृश काल्पनिक व्याख्यान प्रचलित हो गया है। क्या 'यह घट है' ईदृश ज्ञातृभावहीन बोध हो सकता है? हमारे अनुसार सदैव बोध ज्ञातृभाव से अच्छेद्य रूप से संयुक्त रहता है, अर्थात् 'मैं घट जानता हूँ' इस प्रकार मैं-भाव को लेकर ही विषयज्ञान होता है; केवल 'यह घट है' ऐसा बोध कभी भी नहीं होता। 'यह घट है' जब हम कहते हैं, तब 'मैं घट

---

१. हम बाद में दिखायेंगे कि भूतादि अहंकार ब्रह्माण्ड के सृष्टिकर्ता प्रजापति का है; प्रजापति के अन्तःकरण में भी पूर्वसृष्टि के शब्दादि ज्ञान का संस्कार है, और उनका भूतादि (जो ग्राह्यग्राभूत होकर प्राणियों का 'विषय' होता है) भी ईदृश संस्कार से युक्त ही है। भूतादि में भी शब्दादिबोधजननयोग्यता है। भूतादिकृत चाञ्चल्य ही प्राणी की बुद्धि को परिणामित कर ज्ञान को उद्घाटित करता है। यह सत्त्व या ज्ञान भी सूक्ष्मरूपेण प्राणी के अन्तःकरण में ही रहता है, जो राजस चाञ्चल्य द्वारा उद्घाटित होता है।

जानता हूँ' बोध ही रहता हैं। उसी एक बोध को हम पूर्वोक्त दो भागों में कल्पनामात्र के बल पर बाँटते हैं, यद्यपि इस विभाजन की कोई वास्तव स्थिति नहीं है।

'पौरुषेय बोध' (चित्तवृत्ति-बोध) का स्फुट अनुभव करना योगज चित्तस्थैर्य-सापेक्ष है। चूँकि वृत्ति सब को ज्ञात होती है अतः वृत्ति का फल भी सबको ज्ञात ही होगा— यह आग्रह नहीं किया जा सकता। प्रत्येक क्षणव्यापी वृत्ति का स्फुटज्ञान भी सब जीवों को नहीं होता। पौरुषेय बोध के प्रतिक्षण उदित होने पर भी उसका पृथक् रूप से अनुभव नहीं होता, जिस प्रकार अनेक नक्षत्रों की रश्मियाँ नेत्र पर पतित होने पर भी जाड्य-निबन्ध न उन नक्षत्रों का स्पष्ट रूप से साक्षात्कार नहीं होता—बहुनक्षत्रज्ञान-मिश्रणरूप संकर्ण बोध ही होता है। साधारणतया पौरुषेय बोध वृत्ति में उपसर्जनीभूत ही रहता है।

विषयप्रकाशक वृत्तियों के मूल में पुरुष की साक्षिता है—यह अवधारण ही तत्वतः 'पौरुषेय बोध' है। प्रत्येक ज्ञान में मूल ज्ञाता और ज्ञेय का अपृथक्त्वख्याति होती है; यह अविद्या का फल है—ईदृश अन्र्तदृष्टि जब प्रस्फुट हो जाती है तब पौरुषेय-बोध बुद्धि में विकशित होने लगता है। पुरुष बुद्धि का प्रतिसंवेदी हैं; यही कारण है कि प्रत्येक ज्ञान का प्रतिसंवेदन होता है; यह प्रतिसंवेदन भाव ही पौरुषेय बोध है। उदाहरणार्थ 'मैं घट जानता हूँ' यह जो प्रमाण रूप वृत्ति है, वह सदैव 'मैं' जानता हूँ कि मैं घट जानता हूँ' इस रूप से प्रतिसंविदित होती है। यह 'मैं जानता हूँ' रूप प्रथम अंश ही पौरुषेय बोध का स्थूल रूप है; यह क्रमशः प्रस्फुट होता रहता है और अन्त में 'वृत्ति की पुरुषसाक्षिता' रूप यथार्थ पौरुषेय बोध में पर्यवसित होता है। वृत्ति के साथ पुरुष का जो संबन्ध है, उसको जानना पौरुषेय बोध है—यह व्याख्या निर्दोष है। यह प्रमा या पौरुषेय बोध बुद्धि की ही वृत्ति है—यह स्मर्तव्य है।

विषयज्ञान की जो प्रकिया वाचस्पति ने कही है और जो प्रक्रिया पठन-पाठन-पद्धति में प्रचलित है, उससे हमारे द्वारा ऊपर विशदीकृत मत बहुत कुछ भिन्न है। यथा— (१) बुद्धि इन्द्रियपथ से निर्गत होकर विषयाकारा होती है—यह माना जाता है। कोई चक्षु के विषय में ही यह निर्गमन मानते हैं, तथा घ्राणादि के विषय में शरीर के भीतर ही अर्थाकार परिणाम मानते हैं। कोई चक्षु के किरणों के साथ बुद्धि का अंशतः गमन तथा विषयदेश में विषयाकार में उसका परिणमन मानते हैं। **यह निर्गमन तथा निर्गमनपूर्वक परिणमन हमारी दृष्टि में असिद्ध है।** (२) विषय का प्रतिबिम्ब इन्द्रिय में होता है, और विषय-प्रतिबिम्ब सहित इन्द्रियाँ बुद्धि में उपस्थित होती हैं—यह माना जाता है। हमारे अनुसार वस्तुतः प्रतिबिम्ब नहीं होता। प्रतिबिम्ब उपमा की भाषा है; बुद्धि में इन्द्रियों का उपस्थित होना आक्षरिक अर्थ में सत्य नहीं है। (३) बुद्धितत्त्व में पुरुष प्रतिबिम्बित होता है—यह प्रचलित मत है। **ऐसा प्रतिबिम्ब वस्तुतः नहीं होता है— यह उपमा की भाषा है।** (४) बुद्धि अचेतन है और अचेतन बुद्धि में पुरुष का योग होता है

—यह प्रचलित मत है। **व्यक्त बुद्धि कभी भी चेतनसंबन्धहीन (=अचेतन) नहीं रहती—** यह हमारा मत है। अत एव हम ज्ञानको या सुख को जड परिणाम मात्र नहीं मानते—यह चिदधिष्ठित बुद्धि का विकार है। (५) चेतनशक्ति के अनुग्रह रूप व्यापार को जिस रूप से समझाया जाता है—वह हमारी दृष्टि में असंगत है। (६) बुद्धिद्वारा गृहीत विषयप्रतिविम्वों या विषयाकारों का बुद्धिकर्तृक बुद्धि-प्रतिविम्वित पुरुष को समर्पण रूप क्रिया की प्रचलित व्याख्या हमारी दृष्टि में यथार्थ नहीं है। अस्मदीय दृष्टि के अनुसार यहाँ समर्पण शब्द का प्रयोग भाक्त है। (७) अयं घटः' प्रमाण है 'घट महं जानामि' प्रमा है—यह हमारी दृष्टि में असंगत है। (८) **बाह्य-वस्तु के शब्दादि धर्म तत्त्वतः बाह्यवस्तु के हैं—यह प्रचलित व्याख्यान असंगत है।** (९) पुरुष में बुद्धि का प्रतिविम्ब पड़ने पर पुरुषगतत्वेत बुद्धिवृत्ति का बोध प्रमा है—यह हमारी दृष्टि में असंगत है। (१०) पुरुष में वस्तुतः बुद्धितत्त्व का प्रतिविम्ब होता है—यह भिक्षुमत असिद्ध है।

यह निश्चित है कि सांख्याचार्यों ने अनुमान और उसके भेदों पर पर्याप्त विचार किया था। यही कारण है कि सांख्यदर्शन के लिये 'यह अनुमान-प्रधान है'—ऐसी प्रसिद्धि हो गई थी। षष्टितन्त्र की जो विषयसूची अहिर्बुध्न्य-संहिता में है, उसमें 'प्रमाण के लिये तीन तन्त्र' ऐसा कहा गया है (त्रीणि प्रमाणतन्त्राणि—१२।२६)। जयमङ्गलाटीका में कहा गया है—षष्टितन्त्रे व्याख्यातम्—पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टमिति (का० ५)। प्राचीन आचार्यों ने व्याप्ति पर भी पुष्कलविचार किया था, यह सांख्यसूत्र ५।२८–३६ से ज्ञात होता है।

सांख्यकारिका में अनुमान का कोई लक्षण नहीं है—ऐसा सामान्यतया प्रतीत होता है। प्राचीन आचार्यों की प्रतिपादन-शैली को न जानने के कारण ही ऐसी अज्ञतालमूक धारणा उत्पन्न होती है। जब अनुमान के तीन भेद कह दिये गये और यह भी कह दिया गया कि अनुमान लिङ्ग-लिङ्गिपूर्वक है, तो इसका लक्षण सुविज्ञात हो गया—तीनों भेदों का जो सामान्य है, वही लक्षण है[1]। 'अनुमान' यह शब्द भी लक्षणज्ञान में सहायक है—यह ज्ञातव्य है।

---

१. यदि All definition is classification माना जाये तो classification को देखकर definition का स्वरूप विज्ञात हो ही सकता है। पाश्चात्त्य मनोविद्याविद् के अनुसार मन का लक्षण मन के विभाग का ज्ञापक है। अतः पदार्थ के विभाग से भी उसके स्वरूप को जाना जा सकता ही है। (Thus the definition is also a division of the mind; that is, a classification of its leading or fundamental attributes (A. Bain : Mental and Moral Science, p. 2).

प्रमाण को चूंकि चित्तवृत्ति विशेष मानना संगततर है, अतः आप्तवचन-श्रवण-जात वृत्ति =आप्तवचन (आगम) माना गया है। प्रमाण श्रोता में है, वक्ता में नहीं। स्वप्रोक्त वचन केसुन ने समय वक्ता को भी ज्ञान होता ही है—यह दूसरी बात है। जिस व्यक्ति की दृष्टि में जो आप्त है, उसके वाक्य को सुनकर जो **'अविचार-सिद्ध निश्चय' होता है, वह आगम प्रमाण है।** सुनने मात्र पर निश्चय हो जाना—अर्थात् सुनने और निश्चय होने के मध्य में तर्कण न करना—आगम प्रमाण का वैशिष्ट्य है। किसी भी प्रकार से युक्ति या हेतु प्रदर्शन के लिये कुछ भी आग्रह श्रोता की ओर से न होना आगम प्रमाण के लिये आवश्यक सर्त है। आप्तों के वचन (=वाक्य) से यह प्रमाणवृत्ति उदित होती है। यतः वचन वाक्-रूप इन्द्रिय का व्यापार है, अतः वाक् इन्द्रिय की सूक्ष्मता तथा वचनरूप व्यापार की सूक्ष्मता के अनुसार आगम प्रमाण की भी सूक्ष्मता होती है। वाक्रूप इन्द्रिय और उसके व्यापार के विषय में प्रचलित व्याख्या अत्यन्त भ्रष्ट है। अस्मदीय रीति से व्याख्यात वाक् इन्द्रिय और उसके व्यापाररूप वचन को जानने से आप्त प्रमाण की विविधता और सूक्ष्मता ज्ञात होगी।

आप्तवचन को 'आप्त पुरुषों का वचन' ऐसा भी समझा जा सकता है। सांख्यीय दृष्टि के अनुसार भी ऐसी व्याख्या की जा सकती है। इस व्याख्या के अनुसार भी 'प्रमेय-सिद्धिः प्रमाणाद्धि' मत को उपपन्न किया जा सकता है। यह यहाँ ज्ञातव्य है कि मुक्त चित्त प्रवाहतः अनादि है अतः मुक्तचित्त द्वारा अनुशासनीय मोक्षविद्या भी अनादि है। स्वरूपतः अनादि होने पर भी व्यवहारतः उसके भिन्न भिन्न कालों में नूतन-नूतन रूप से प्रवर्तन होता है। इन मूलभूत प्रवर्तनकारियों (आपेक्षिक दृष्टि से) के वाक्यों को मूलभूत आप्तवचन रूप आगम (प्रमाण) माना जा सकता है; उन वचनों पर आश्रित वाक्यों को भी प्रमाण माना जा सकता है।

यह जानना चाहिये 'आप्त' प्रत्येक विद्या के क्षेत्र में हो सकते हैं। जो प्रत्यक्ष-अनुमान-पूर्वक पदार्थ को जानते है, उनका कथन आप्तवचन है। आप्तगत आप्ति के उत्कर्ष-अपकर्ष के अनुसार इन वचनों का प्रामाण्य है। जिस प्रकार प्रत्यक्ष का भी उत्कर्षापकर्ष है, व्याप्तिज्ञान की सामर्थ्य का भी उत्कर्षापकर्ष है, उसी प्रकार आप्ति के क्षेत्र में भी जानना चाहिये। **जिसप्रकार प्रत्यक्षाभास, या दुष्ट प्रत्यक्ष हैं, उसीप्रकार आगमाभास, दुष्ट आगम भी है, जो बाद में बाधित हो जाता है।**

ये तीन प्रमाण यद्यपि असंकीर्ण हैं, तथापि एक के लिये दूसरा सहायक है। अनुमान प्रत्यक्षनिर्भर है—यह प्रसिद्ध है; उपदेशगम्य विषय को लेकर भी अनुमान करने की प्रवृत्ति होती है। प्रायः प्रत्यक्षज्ञान के साथ व्यवहारतः अनुमानसाध्य ज्ञान मिला हुआ रहता है ॥५॥

(१) एवं तावद् व्यक्ताव्यक्तज्ञलक्षण-प्रमेयसिद्ध्यर्थं प्रमाणानि लक्षितानि।

(२) तत्र व्यक्तं पृथिव्यादि स्वरूपतः पांसुलपादो हालिकोऽपि प्रत्यक्षतः प्रतिपद्यते, पूर्ववता चानुमानेन धूमादिदर्शनाद् वह्न्यादीनि चेति तद्व्युत्पादनाय मन्दप्रयोजनं शास्त्रम्, इति दुरधिगम मनेन व्युत्पादनीयम्। (३) तत्र यत्प्रमाणं यत्र समर्थं तद् उक्तलक्षणेभ्यः प्रमाणेभ्यो निष्कृष्य दर्शयति—

सामान्यतस्तु दृष्टाद् अतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात्।
तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम् ॥६॥

(४) "सामान्यतः" इति। 'तु'-शब्दः प्रत्यक्षपूर्ववद्भ्यां विशिनष्टि। सामान्यतोदृष्टादध्यवसायादतीन्द्रियाणां प्रधानपुरुषादीनां प्रतीतिः—प्रतिपत्तिः[1]। (५) उपलक्षणं चैतत्, शेषवत इत्यपि द्रष्टव्यम्।

---

(१) इस प्रकार व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ (=चिद्रूप पुरुष) रूप प्रमेयों की सिद्धि के लिये प्रमाणों के लक्षण कहे गये (२) उसमें पृथ्वी आदि व्यक्त को घट-पटादि रूप से धूलि-धूसरित, हल चलानेवाला (अर्थात् अज्ञजन) भी प्रत्यक्ष प्रमाण से साक्षात् रूप से जानता है; धूमादि-रूप लिङ्ग के दर्शन से (व्यवहित या अदृश्य) अग्नि आदि को भी वह पूर्ववत् नामक अनुमान प्रमाण द्वारा जानता ही है। इसलिये इस प्रकार के प्रमेयों का ज्ञान कराने के लिये प्रवृत्त होनेवाले शास्त्र की आवश्यकता अल्प हो जाती है, अतः लौकिक बुद्धि की अगम्य (अव्यक्त आदि) वस्तु ही इस शास्त्र से व्युत्पाद्य हैं। (३) उपरि लक्षित प्रमाणों में से जो प्रमाण जिस प्रमेय को सिद्ध करने में समर्थ है, उसका पृथक्-पृथक् निर्देश कारिकाकार करते है—

अतीन्द्रिय पदार्थ 'समान्यतोदृष्ट' नामक अनुमान से सिद्ध (=ज्ञात) होते है; उससे एवं शेषवत् अनुमान से असिद्ध परोक्ष पदार्थ आप्तागम रूप प्रमाण से सिद्ध होता है ॥६॥

(४) कारिकागत 'तु' यह निपात शब्द सामान्यतोदृष्ट अनुमान को प्रत्यक्ष और पूर्ववत् अनुमान से पृथक् करता है (अर्थात् प्रधानादि की प्रतीति न प्रत्यक्ष से और न पूर्ववत् अनुमान से होता है)। 'सामान्यतोदृष्ट' रूप अध्यवसाय से प्रधान, पुरुष आदि इन्द्रियातीत ततत्वों की प्रतीति होती है। प्रतीति अर्थात् प्रतिपत्ति (=अध्यवसाय या ज्ञान)। (५) यहाँ 'सामान्यतोदृष्ट' रूप अनुमानविशेष का कथन उपलक्षण है, जिससे 'शेषवत्' रूप अनुमान-भेद का भी ग्रहण कर लेना चाहिए।

---

१. चिच्छायापत्तिर्बुद्धेरध्यवसाय इत्यधिकं क्वचित् पठ्यते।

(६) तत्किं सर्वेष्वतीन्द्रियेषु सामान्यतोदृष्टमेव प्रवर्तते ? तथा च यत्र तन्नास्ति महदाद्यारम्भक्रमे स्वर्गापूर्वदेवतादौ च, तत्र तेषामभावः प्राप्त इत्यत आह—"तस्मादपि" इति । (७) तस्मादित्येतावतैव सिद्धे 'च'-कारेण 'शेषवतः' इत्यपि समुच्चितम् ॥ ६ ॥

---

(६) तो क्या सभी अतीन्द्रिय विषयों में सामान्यतोदृष्ट रूप अनुमान की ही प्रवृत्ति होती है ? यदि ऐसा ही माना जाये तो जिनमें अनुमान की प्रवृत्ति नहीं होती, जैसे—महान् आदि तत्वों के आरम्भक्रम (प्रकृति से महान्, महान् से अहंकार इत्यादि रूप क्रम) तथा स्वर्ग, अपूर्व, देवता आदि विषय—उनका तो अभाव मानना होगा । इसीलिये कारिकाकार कहते हैं—'उससे (सामान्यतोदृष्ट और शेषवत् अनुमान से) भी असिद्ध अतीन्द्रिय पदार्थों की सिद्धि आगम से होती है' । (७) 'तस्मादपि' इतने मात्र वाक्य से ही विवक्षित अर्थ की सिद्धि हो जाने पर 'च' का प्रयोग 'शेषवत्' अनुमान का भी समुच्चय करने के लिये किया गया है, ऐसा समझना चाहिए (अर्थात् सामान्यतोदृष्ट एवं शेषवत् इन दोनों से असिद्ध पदार्थ की सिद्धि आप्तवचन से होती है) ॥६॥

षष्ठ कारिका की व्याख्या

अतीन्द्रिय पदार्थ सापेक्ष भी है, अनापेक्षिक भी । पुरुष (तत्त्व) और गुणों की अवैषम्यावस्था चित्तेन्द्रिय-संवेद्य नहीं हैं, अतः ये दो अनापेक्षिक अतीन्द्रिय हैं । अन्य सभी व्यक्त पदार्थ (महदादि-तत्त्व तथा तत्त्वनिर्मित पदार्थ, यथा स्वर्गादिलोक) प्रत्यक्षयोग्य हैं (अधिकारी-विशेष के लिये) और अनुमानयोग्य भी हैं । स्वलक्षण = सजातीय दृष्टान्त न मिलने पर भी जो अनुमान होता है, वह सामान्यतोदृष्ट ही होता है—यह स्पष्ट है । इन्द्रिय-सत्ता का निश्चय जो अनुमान द्वारा ही करता है, वह इन्द्रियजातीय किसी वस्तु का किसी के साथ साहचर्य नहीं जानता, अतः उसके लिये सामान्यतोदृष्ट अनुमान ही एक मात्र शरण है—यह कहना उचित ही है । एक व्यक्ति की दृष्टि में जो पदार्थ सामान्यतोदृष्ट अनुमान से गम्य है, वह पदार्थ अन्य के लिये प्रत्यक्ष से गम्य भी होता है—इसका अपलाप नहीं किया जा सकता । चन्द्र का अपर भाग अप्रत्यक्ष रहा है, पर चूँकि प्रत्यक्षयोग्य है[1], अतः उपायविशेष द्वारा उसका प्रत्यक्ष हो ही सकता है (अधुना इसका प्रत्यक्ष हो गया है) । इन्द्रिय भी प्रत्यक्षयोग्य वस्तु है ।

अनुमान से असिद्ध ऐसा कौन-सा पदार्थ है जिसके लिये आप्तवचन की आवश्यकता

---

१. पृथिव्यधोभाग और चन्द्र का अपरभाग अप्रत्यक्ष है—यह न्यायमञ्जरी में कहा गया है—
अप्रत्यक्षत्वमात्रेण न च कालस्य नास्तिता । युक्ता पृथिव्यधोभागचन्द्रमःपरभागवत् ॥ (आ० २) ।

होती है—यह विचार्य है। कोई भी त्रैगुणिक वस्तु ऐसी नहीं है जो किसी न किसी का प्रत्यक्षयोग्य न हो (स्वर्गादि सभी पदार्थ—जो मीमांसकादि के द्वारा सर्वथा प्रत्यक्षायोग्य समझे जाते हैं, वे भी)। उसीप्रकार एक व्यक्ति द्वारा जो पदार्थ अनुमातव्य नहीं होता, वह अन्य व्यक्ति द्वारा अनुमातव्य होता ही है (यदि इस व्यक्ति में लिङ्गदर्शन-सामर्थ्य का आधिक्य हो)। अतः अनापेक्षिक दृष्टि से ऐसा कोई भी सत्पदार्थ नहीं है जो आप्तवचन-मात्रगम्य हो। यही कारण है कि हम समझते हैं कि आपेक्षिक दृष्टि से ही 'तस्मादपि चासिद्धम्' का तात्पर्य लेना चाहिये, अर्थात् जो किसी पदार्थ को न दृष्ट से या न अनुमान से जान सकता है वह उसे उपदेश के माध्यम से जान सकता है।

शेषवत् अनुमान द्वारा अतीन्द्रिय विषय का सत्तानिश्चय होता है—यह वाचस्पति का मत संगत है। वाचस्पति के टीकाकारों ने अतीन्द्रियार्थनिश्चय के जो उदाहरण दिये हैं, उन पर हमारा कुछ वक्तव्य है। टीकाकारों का अनुमत एक उदाहरण लें—तन्मात्र अहंकारोपादानक हैं; क्योंकि तन्मात्र द्रव्य होने के साथ साथ अहंकार का कार्य हैं; जिसका उपादान अहंकार नहीं होता, वह द्रव्य होने के साथ साथ अहंकार का कार्य भी नहीं होता, जैसे पुरुष (तत्त्व) (यहाँ हेतु व्यतिरेकी है, यह पुरुष रूप दृष्टान्त से जाना जाता है)। पाठकों को विचारना चाहिये कि जो वाचस्पति और उनके टीकाकार प्रमाण का तात्पर्य सर्वथा लौकिक प्रमाण से ही मानते हैं, वे तन्मात्ररूप (उनकी दृष्टि में) सर्वथा अतीन्द्रिय पदार्थ को पक्ष मानकर अनुमिति कैसे कर सकते हैं? किञ्च इस अनुमिति का जो हेतु (=लिङ्ग) है, क्या वह लौकिक पुरुष द्वारा प्रत्यक्षीकृत होता है? अप्रत्यक्ष लिङ्ग होने पर उससे अनुमिति कैसे होगी? प्रकृत स्थल में पक्ष है सर्वथा अतीन्द्रिय और हेतु है अप्रत्यक्ष; अतः अनुमिति होने की संभावना ही नहीं है। आगम द्वारा तन्मात्रसत्ता का निश्चय जो करता है, वह आगम द्वारा ही तन्मात्र की अहंकार-कार्यता जान सकता है। प्रकृत उदाहरण में हेतु भी आगमगम्य ही है (अयोगी लौकिक पुरुषों के लिये)।

इस कारिका के अर्थ में एक विशिष्ट बात है। कुछ आधुनिक विचारक कहते हैं कि इस कारिका में दृष्ट, अनुमान और आप्तवचन रूप तीन प्रमाणों[1] के विषय पृथक् कर कहे गये हैं, अर्थात् दृष्ट रूप प्रमाण से सामान्य का ज्ञान होता है; अतीन्द्रिय की प्रतीति

---

१. हम समझते हैं कि सांख्याचार्यों ने कभी अनुमान को दो भागों में बाँटा था—विशेषतोदृष्ट और सामान्यतोदृष्ट; विशेषतो दृष्ट दो प्रकार का है—पूर्ववत् और शेषवत्। जो जिसके लिये अतीन्द्रिय है, वह उसकी सत्ता का निश्चय सामान्यतोदृष्ट अनुमान से ही कर सकता है। अतीन्द्रिय न होने पर भी जो अप्रत्यक्ष है, उसका ज्ञान विशेषतोदृष्ट से होता है। इस विषय पर विशद विचार प्रसंख्यान-भाष्य में किया गया है।

अनुमान से होती है; अनुमान से जो असिद्ध हो वह आप्तवचन से सिद्ध होता है[1]। यद्यपि चन्द्रिकाटीका में ईदृश तात्पर्य ही माना गया है, पर इस तात्पर्य को मानने में कई बाधाएँ हैं और हमारी दृष्टि में यह तात्पर्य अस्वारसिक ही है। संस्कृतभाषा की दृष्टि में भी ईदृश अर्थ नहीं हो सकता—यह ज्ञातव्य है।

'सामान्यानां दृष्टात् (प्रमाणात्) प्रतीतिर्भवति' रूप अर्थ करने पर यह प्रश्न होगा कि यह 'सामान्य' क्या है ? क्या यह सामान्य नैयायिकों का सामान्य है (=समान अनेक आश्रयों में रहनेवाला धर्म) ? अथवा क्या यह सामान्य-रूप धर्म (सांख्ययोगीय दृष्टि) का वाचक है ? प्रत्यक्ष प्रमाण से सामान्य-विशेषात्मा धर्मी का विशेषावधारण-प्रधान ज्ञान होता है—यह सिद्धान्त सांख्य को मान्य है। क्या यह सामान्य शब्द अत्रत्य अतीन्द्रिय-शब्द की तरह विशेषण शब्द है—'समानेषु भवः' इस अर्थ में ? अशास्त्रीय पद्धति से अपनी रुचि से यह अर्थ करना कि 'सर्वसामान्य वस्तुओं का ज्ञान दृष्ट-प्रमाण से होता है' (डॉ० आद्याप्रसाद कृत अर्थ; द्र० भूमिका, पृ० ३८) हमारी दृष्टि में एक व्यर्थ की बात है। यह 'सर्वसामान्य' क्या है ? पाञ्चभौतिक पदार्थ ? क्या अध्यवसाय से तन्मात्रादि साक्षात्कृत नहीं होते ? ध्यान देना चाहिये कि दृष्ट प्रमाण के लक्षण में 'विषय' शब्द प्रयुक्त हुआ ही है। 'विषय के प्रति अध्यवसाय' अथवा 'विषय-सन्निकृष्ट इन्द्रिय का अध्यवसाय' जब कहा ही गया है, तब पुनः उसके विषय के कथन की क्या आवश्यकता है ?

जिस उद्देश्य की सिद्धि के लिये आधुनिक व्याख्याकार इस कारिका की पूर्वोक्त रूप से व्याख्या करते हैं, वह उद्देश्य यदि कारिकाकार का होता तो वे 'सामान्यानां दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात्' कहते। इस पाठ में 'तु' का अनावश्यक प्रयोग भी नहीं करना पड़ता। अथवा यदि 'तु' अभीष्ट होता तो वे 'सामान्यस्य तु दृष्टात्' इस प्रकार कुछ कहते।

यह ध्यान से लक्षणीय है कि यह कहना आवश्यक था कि सामान्यतोदृष्ट अनुमान का उपयोग अतीन्द्रिय पदार्थ की प्रतीति के लिये आवश्यक है। जो पदार्थ जिसके लिये अतीन्द्रिय है, उस पदार्थ के विषय में दृढ़ 'संभावनाबुद्धि' तो सामान्यतोदृष्ट प्रमाण से अवश्य ही उत्पन्न होती है; बहुतों के लिये सामान्यतोदृष्ट अनुमान सर्वथा निश्चायक है।

---

१. इस मत के सविस्तार प्रतिपादन के लिये A.I.O.C. (Srinagar) में पठित पण्डित चैत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय का 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि' लेख द्रष्टव्य है (हमने इस लेख की summary ही देखी है). C.K. Raja ने भी ऐसी ही व्याख्या की है (द्र० तत्कृत कारिका की अंग्रेजी व्याख्या)। Raja ने चन्द्रिकाकार नारायण को one old commentator कहा है (p. 61) जो अनवधानमूलक उक्ति है। नारायणतीर्थ के काल के विषय में म. म. गोपीनाथ कविराज ने ठीक ही कहा है कि he was later than the middle of the seventeenth century (द्र० S. B. Studies में प्रकाशित उनका लेख History and Bibliography of Nyaya-Vaisesika Literature).

इस कारिका के चतुर्थ चरण के 'परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम्' वाक्य में 'आगम' शब्द प्रथमतः प्रयुक्त हुआ है। 'परोक्षमाप्तवचनात् सिद्धम्' पाठ होने पर छन्दोदोष होता। यदि 'परोक्ष माप्तश्रुतेः सिद्धम्' पठित हो तो कोई दोष नहीं होता। आप्तश्रुति आप्तवचन का लक्षण है। अतः ऐसा पाठ होना उचित था। आगम-पद-घटित इस शब्द का कोई विशेष तात्पर्य हमें प्रतीत नहीं होता ॥६॥

(१) स्यादेतत्; यथा गगनकुसुम-कूर्मरोम-शशविषाणादिषु प्रत्यक्षमप्रवर्तमानं तदभावमवगमयति, एवं प्रधानादिष्वपि। तत्कथं तेषां सामान्यतोदृष्टादिभ्यः सिद्धिरित्यत आह—

अतिदूरात् सामीप्याद् इन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात् ।

सौक्ष्म्याद् व्यवधानाद् अभिभवात् समानाभिहाराच्च ॥७॥

(२) "अतिदूरात्" इति। अनुपलब्धिरिति वक्ष्यमाणं (का० ८) सिंहावलोकनन्यायेनानुषञ्जनीयम्। (३) यथा—उत्पतन् वियति पतत्री अतिदूरतया सन्नपि प्रत्यक्षेण नोपलभ्यते। (४) सामीप्यादित्यत्राप्यति रनुवर्तनीयः, यथा

---

(१) प्रमाण के द्वारा प्रमिति की सिद्धि होती है, ऐसा मानने पर भी प्रश्न हो सकता है कि जिस प्रकार आकाश के कुसुम, कछुए के रोम तथा खरगोश के सींग आदि के विषय से प्रत्यक्ष अप्रवृत्त होकर (गगनकुसुमादि का ज्ञान प्रत्यक्ष से न होने पर) उन आकाश-पुष्प आदि का अभाव सूचित करता है, उसी प्रकार प्रत्यक्षाभाव प्रकृति आदि का भी अभाव सूचित करेगा (प्रकृति की अनुपलब्धि के कारण प्रकृति की असत्ता सिद्ध होगी)। तब सामान्यतोदृष्ट आदि प्रमाणों से उनकी सिद्धि कैसे हो सकती है ? इस प्रश्न के उत्तर में (कारिकाकार) कहते हैं—

अत्यधिक दूरत्व, अत्यधिक सामीप्य, इन्द्रियों का घात (=कार्य में अक्षमता), चित्त की अस्थिरता, सूक्ष्म होना, बीच में किसी व्यवधान का आ जाना, अभिभव (=तिरस्कृत हो जाना) और सदृश वस्तु में मिल जाना—इन हेतुओं से (वस्तुओं की उपलब्धि नहीं होती है) ॥७॥

(२) अगली कारिका में पठित 'अनुपलब्धि' पद का अन्वय सिंहावलोकनन्याय (=पूर्वसूत्र में परसूत्रीय पद की अनुवृत्ति) से इस कारिका के साथ करना चाहिए। (३) आकाश में उड़ता हुआ पक्षी अत्यधिक दूर होने के कारण दृष्ट नहीं होता। (४) 'सामीप्य' पद के साथ भी 'अति' शब्द को जोड़ना चाहिए (सामीप्य=अतिसामीप्य);

लोचनस्थमञ्जनमतिसामीप्यान्न दृश्यते। (५) इन्द्रियघातोऽन्धत्वबधिरत्वादिः।

(६) "मनोऽनवस्थानात्"—यथा कामाद्युपहतमनाः स्फीतालोकमध्यवर्तिनमिन्द्रियसन्निकृष्टमर्थं न पश्यति। (७) "सौक्ष्म्यात्"—यथेन्द्रियसन्निकृष्टं परमाण्वादि प्रणिहितमना अपि न पश्यति। (८) "व्यवधानात्"—यथा कुड्यादिव्यवहितं राजदारादि न पश्यति। (९) 'अभिभवात्"—यथाऽहनि सौरीभिर्भाभिरभिभूतं ग्रहनक्षत्रमण्डलं न पश्यति। (१०) "समानाभिहारात्"–यथा तोयदविमुक्तानुदविन्दून् जलाशये न पश्यति। (११) 'च'-कारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः। तेनानुद्भवोऽपि सङ्गृहीतः; तद्यथा क्षीराद्यवस्थायां दध्याद्यनुद्भवान्न दृश्यते।

(१२) एतदुक्तं भवति। न प्रत्यक्षनिवृत्तिमात्राद् वस्त्वभावो भवति, अतिप्रसङ्गात्। तथा हि—गृहाद्विनिर्गतो गृहजनमपश्यंस्तदभावं विनिश्चिनुयात्,

---

जैसे आँख का अञ्जन अत्यधिक समीप होने के कारण प्रत्यक्षतः नहीं दीखता। (५) इन्द्रियों का घात (=अपने अपने कार्य करने की शक्ति का नाश) जैसे—अन्धापन, बहरापन आदि।

(६) मन की अस्थिरता (=विक्षिप्तता) के कारण भी अनुपलब्धि होती है, जैसे—कामना आदि से विक्षिप्तचित्तवाला पुरुष स्फीत आलोक में पड़े हुए विषय को इन्द्रियगोचर होने पर भी नहीं देख पाता। (७) सूक्ष्मता के कारण—जैसे एकाग्रचित्त पुरुष भी इन्द्रिय-सम्बद्ध (सूक्ष्म) परमाणु आदि को नहीं देख पाता। (८) व्यवधान के कारण—जैसे कुड्य (=दीवार) आदि की आड़ में छिपी हुई राजमहिषी आदि को कोई नहीं देख पाता। (९) अभिभव होने के कारण—जैसे दिन में सूर्य के किरणों से अभिभूत हुए ग्रहनक्षत्रमण्डल को कोई नहीं देख पाता। (१०) समान (=सदृश) वस्तु के साथ मिश्रित हो जाने के कारण—जैसे मेघ से गिरे हुए जल-विन्दुओं को सरोवर में (पृथक् कर) कोई नहीं देख पाता।

(११) कारिका में पठित 'च' के प्रयोग से अनुक्त हेतुओं का भी संग्रह करना इष्ट है। इससे अनुद्भव (=अनभिव्यक्ति, प्रकट न होना) भी हेतुओं में स्वीकृत हुआ है—जैसे दूध आदि की अवस्था में अप्रकटित दही आदि भी नहीं दिखाई पड़ते।

(१२) इस विषय में यह कहा जाता है कि किसी वस्तु के प्रत्यक्ष न होने मात्र से उसका अभाव सिद्ध नहीं हो जाता, क्योंकि ऐसा होने से अतिप्रसङ्गदोष होता है। यदि प्रत्यक्ष न होने मात्र पर वस्तु का अभाव निश्चित हो तो घर से बाहर गए हुए पुरुष को घर के लोगों को न दिखाई पड़ने पर उसका अभाव का निश्चय हो जाना चाहिए, पर ऐसा नहीं होता; अपितु योग्यानुपलब्धि (=प्रत्यक्षयोग्य वस्तु का प्रत्यक्ष न होना) होने पर ही उसके अभाव का निश्चय कोई पुरुष करता है। (जिस अवस्था में प्रतियोगी के रहने पर अवश्य ही उसका प्रत्यक्ष होना चाहिए, उस अवस्था में प्रत्यक्ष न होने पर ही

न त्वेवम्। अपि तु योग्यप्रत्यक्षनिवृत्तेरयमभावं विनिश्चिनोति। (१३) न च प्रधानपुरुषादीनामस्ति प्रत्यक्षयोग्यता, इति न तन्निवृत्तिमात्रात्तदभावनिश्चयो युक्तः प्रामाणिकानामिति ॥ ७ ॥

प्रतियोगी नहीं है, ऐसा समझना चाहिए। (१३) प्रकृति, पुरुष आदि पदार्थ प्रत्यक्ष-योग्य नहीं हैं, इसलिये प्रत्यक्ष का विषय न होने से ही उनके अभाव का निश्चय कर लेना प्रामाणिक (प्रमाण से व्यवहार करनेवालों) पुरुषों के लिये न्यायसंगत कार्य नहीं है ॥७॥

सप्तम कारिका की व्याख्या

कारिका में वाक्यशेष का ज्ञापक कोई पद नहीं हैं; वाचस्पति ने आगामी कारिका में पठित अनुपलब्धि शब्द का अध्याहार करके यह कहा है कि अतिदूरत्व आदि के कारण उपलब्धि नहीं होती है। उपलब्धि का अर्थ यदि ज्ञानमात्र न होकर यथार्थ ज्ञान हो तो यह कहना संगत है; पर उपलब्धि का अर्थ यदि ज्ञानमात्र हो तो कहा जा सकता है कि अतिदूरत्व आदि के कारण अस्पष्ट या अस्फुट ज्ञान या भ्रमज्ञान उत्पन्न होता है।

टीकाकारों ने जो भी उदाहरण दिये हैं, उनसे जाना जाता है कि इस कारिका का विषय प्रत्यक्ष है,[1] अनुमिति या आप्तवचन नहीं है। जिस प्रकार प्रत्यक्ष-व्याघातक तत्त्व हैं, उसी प्रकार अनुमान और आप्तवचन के दोष भी हैं, जिनके कारण अनुमानाभास होता है, या आगम विप्लुत हो जाता है (द्र० व्यासभाष्य १।७—स आगमः प्लवते)। अतः यह प्रश्न हो सकता है कि कारिकाकार ने जब प्रत्यक्ष के दोषों की चर्चा करना उचित समझा तब उन्होंने अनुमान और आगम के दोषों की चर्चा क्यों नहीं की?

हमें इस बात की क्षीण संभावना प्रतीत होती है कि सप्तम कारिका के बाद एक अन्य कारिका थी, जिसमें इन दो विषयों की चर्चा थी और इस कारिका में वाक्यशेष-ज्ञापक क्रियापद भी था; और इन दो कारिकाओं में वाक्य पूर्ण होता था (सप्तम कारिका में वाक्यशेष-ज्ञापक पद नहीं है—यह लक्षणीय है; ईदृश उदाहरण १५-१६ कारिकाओं में भी मिलता है, जहाँ क्रियापद १६ वीं कारिका में दिया गया है)।

अष्टम कारिका से अनुवृत्त (सिंहदृष्टिन्याय से) 'अनुपलब्धि' शब्द पर कुछ ज्ञातव्य है। यह निश्चित है कि व्याख्याकारों की दृष्टि में सप्तम कारिका प्रत्यक्ष-परक है, अतः

---

१. कोई कोई समझते हैं कि अतिदूरत्व आदि दोषों का संबन्ध चाक्षुषज्ञान से ही है (which frustrate visual perception, H. I. P. Vol. I, p. 219). वस्तुतः ये दोष कर्णादि-इन्द्रिय साध्य ज्ञान के भी यथायथ रूप से बाधक होते ही हैं।

अष्टम कारिका की अनुपलब्धि का अर्थ है–अप्रत्यक्ष; पर इसी कारिका के 'कार्यतस्तदुपलब्धेः' वाक्य में उपलब्धि का अर्थ है—'अनुमान द्वारा सत्तानिश्चय', 'अनुमिति' रूप प्रमिति (क्योंकि कार्यहेतुक जो उपलब्धि होती है वह प्रत्यक्ष नहीं है; अनुमिति ही है)। इस प्रकार अष्टम कारिका के पूर्वार्ध में अनुपलब्धि शब्द का घटक उपलब्धि शब्द प्रत्यक्ष और अनुमिति के वाचक के रूप में प्रयुक्त हुआ है—यह मानना पड़ता है।

अतिदूरत्व आदि प्रत्यक्ष दोष योगसाधन-पक्ष में भी है। चित्तस्थैर्य-विशेष-द्वारा अतीन्द्रिय अर्थ के प्रत्यक्ष करने के समय भी ये दोष उपस्थित होते हैं। विस्तार के साथ यह विषय प्रसंख्यानभाष्यमें विवृत हुआ है। सूक्ष्म-व्यवहित-विप्रकृष्ट ज्ञान के लिये विभूतिविशेष का उल्लेख योगसूत्र (३।२५) में है।

डा० दाशगुप्त कहना चाहते हैं कि सप्तम-कारिकास्थ विषय का प्रत्यक्ष संबन्ध सांख्य के साथ नहीं है : This however is not a doctrine concerned with the strictly technical part of Sāṁkhya (H.I.P. Vol. I P. 219)। सांख्यीय तत्त्वों की उपलब्धि के लिये चेष्टा करने पर विदित होगा कि इन दोषों का कितना निकट सम्बन्ध इस शास्त्र के साधनांश के साथ है। हाँ; यह अवश्य जानना चाहिए कि टीकाकारों ने जिस प्रकार के उदाहरणों को देकर दोषों को समझाया है, तादृश उदाहरण बहुत ही स्थूल हैं; इस शास्त्र के हीं पदार्थों को लेकर उचित उदाहरण देना चाहिये था। ये दोष लौकिक प्रत्यक्ष के क्षेत्र में बाधक तो हैं ही, प्रारम्भिक योगज प्रत्यक्ष में भी बाधक हैं। निर्विचार समाधिज ऋतम्भरा प्रज्ञा में ये दोष नहीं रहते ॥७॥

(१) कतमत्पुनरेषु कारणं प्रधानादीनामनुपलब्धावित्यत आह—

सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाभावात् कार्यतस्तदुपलब्धेः ।
महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिसरूपं विरूपं च ॥ ८ ॥

(२) "सौक्ष्म्यात्" इति । अथाभावादेव सप्तमरसवदेतेषामनुपलब्धिः

---

(१) प्रकृति आदि के प्रत्यक्ष न होने में इन अतिदूरत्व आदि में से कौन-सा कारण है ? इसके उत्तर में कहते हैं :—

सूक्ष्म होने के कारण उसकी (=प्रकृति की) उपलब्धि (=प्रत्यक्ष) नहीं होती, अभाव के कारण नहीं; क्योंकि कार्यों से उसकी (=प्रकृति की) उपलब्धि (=अनुमिति) होती है। यह कार्य महत्तत्व आदि व्यक्त पदार्थ हैं जो प्रकृति के सरूप (=सदृश) भी हैं और उसके विरूप (=विसदृश) भी है ॥८॥

(२) जिस प्रकार अभाव के कारण (कटु-अम्ल आदि षट् रसों से विलक्षण किसी)

कस्मान्न भवतीत्यत आह—"नाभावात्" इति। कुतः? "कार्यतस्तदुपलब्धेः" इति। 'तद्' इति प्रधानं परामृशति। (३) पुरुषोपलब्धौ तु प्रमाणं वक्ष्यति—"सङ्घातपरार्थत्वात्" (कारिका १७) इति। (४) दृढतरप्रमाणावधारिते हि प्रत्यक्षमप्रवर्तमानमयोग्यत्वान्नप्रवर्तते—इति कल्प्यते। सप्तमस्तु रसो न प्रमाणेनाऽवधारित इति न तत्र प्रत्यक्षस्य योग्यता शक्याध्यवसातुमिति भावः।

(५) किं पुनस्तत्कार्यं यतः प्रधानानुमानमित्यत आह—"महदादि तच्च कार्यम्" इति। एतच्च यथा गमकं तथोपरिष्टादुपपादयिष्यते।

(६) तस्य च कार्यस्य विवेकज्ञानोपयोगिनी सारूप्यवैरूप्ये आह—"प्रकृतिसरूपं विरूपं च" इति। एते तूपरिष्टाद्विभजनीये इति॥८॥

सातवें रस की उपलब्धि(=प्रत्यक्ष) नहीं होती, उसी प्रकार इन प्रकृति-पुरुष आदि तत्त्वों का भी अभाव होने के कारण ही प्रत्यक्ष नहीं होता, ऐसा क्यों नहीं माना जाता? इसके उत्तर में कहते हैं—"अभाव के कारण ऐसा नहीं कहा जा सकता"। क्यों? 'क्यों कि कार्यों से उसकी उपलब्धि होती हैं'। 'तदुपलब्धेः' में जो 'तद्' शब्द है, पह प्रकृति को लक्ष्य करता है। (३) पुरुष की उपलब्धि में जो प्रमाण है उसको आगे (१७वीं कारिका में) कारिकाकार कहेंगे। (पुरुष की क्रिया द्वारा उत्पन्न कोई कार्य नहीं है, अतः कार्य से पुरुष की उपलब्धि=अनुमिति नहीं होती)।

(४) अत्यन्त दृढ़ (अनुमानादि) प्रमाणों के द्वारा निश्चित पदार्थ का ज्ञान यदि प्रत्यक्ष प्रमाण से न हो तो यह माना जाता है कि प्रत्यक्ष उसमें अयोग्य है। परन्तु सातवाँ रस किसी प्रमाण से निश्चित नहीं होता, इसलिये उसके विषय में प्रत्यक्ष की असमर्थता नहीं मानी जा सकती—यह कारिका का अभिप्राय है।

(५) वह कौन-सा कार्य है जिससे प्रधान (=प्रकृति) का अनुमान होता है? इसके उत्तर में कहते हैं—वह कार्य महत्-तत्त्व आदि हैं। ये महत् आदि कार्य जिस रूप से प्रकृति के अनुमापक होते हैं, इसका उपपादन आगे (१४ तथा १५ कारिकाओं में) किया जाएगा। (६) इन कार्यों का सारूप्य (=साधर्म्य) और वैरूप्य (=वैधर्म्य) विवेकज्ञान में उपयोगी हैं, जैसा कि कहा गया है—"कार्य प्रकृति के सदृश और उससे विसदृश होते हैं"। इसका विभागपूर्वक प्रतिपादन (१० तथा ११ कारिकाओं में) आगे किया जाएगा॥८॥

अष्टम कारिका की व्याख्या

यह द्रष्टव्य है कि कार्य के द्वारा जिसकी अनुपलब्धि और उपलब्धि की बात कही जा रही है, उसका नाम कण्ठतः नहीं लिया गया है; दूसरी बात यह है कि कार्य के

उदाहरण में 'महदादि' कहा गया है । अतः कारिकाकार अनुपलब्धि से महत् से सूक्ष्मतर वस्तु अर्थात् प्रकृति को लक्ष्य कर रहे हैं, यह स्पष्ट है । पुरुष का कोई परिणाम या क्रिया नहीं है, अतः स्वकार्य द्वारा पुरुष वस्तुतः अनुमित नहीं हो सकता; कार्य द्वारा प्रकृति-पुरुष-संयोग लक्षित हो सकता है क्योंकि इस संयोग का सर्गरूप कार्य है (संयोग निमित्तकारण है) । कार्यों को देखकर निमित्तकारण है—ऐसा निश्चय होता है । पर उसके स्वभावादि का ज्ञान अत्यल्प ही होता है । उपादानकारण का मूल स्वभाव कार्य देखकर अवश्य ही ज्ञात होता है । कार्य से कारण की जो उपलब्धि होती है, वह अनुमिति ही होती है, प्रत्यक्ष नहीं होती—यह ज्ञातव्य है । ७म कारिका में अतिदूरत्व, अतिसामीप्य आदि हेतुक जिस अनुपलब्धि की बात कही गई है, वह उपलब्धि प्रत्यक्षज्ञान ही है । इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि सप्तम कारिका के बाद ही अष्टम कारिका का कथन स्वारसिक नहीं है । सप्तम-अष्टम-कारिका के बीच में किसी एक कारिका की विलुप्ति की जो बात हमने कही है, वह इस प्रसंग में पुनः स्मरणीय है ।

'सूक्ष्म होने के कारण वस्तु की उपलब्धि नहीं होती' यह कथन सापेक्ष है । एक ज्ञाता के लिये जो वस्तु सूक्ष्मताहेतु प्रत्यक्षायोग्य है, वह अधिकशक्तिमान् के लिये प्रत्यक्षयोग्य होता ही है । चित्तेन्द्रियशक्ति में उत्कर्ष-अपकर्ष है—यह सांख्यीय मान्यता है । न केवल प्रत्यक्ष में बल्कि लिङ्ग ग्रहणयोग्यता में भी तारतम्य है; लिङ्ग विद्यमान रहने पर भी उसका ज्ञान न भी हो सकता है ।

प्रकृति के कार्य महदादि प्रकृति के सरूप भी हैं, विरूप भी । प्रकृति के जो तीन अङ्ग हैं—सत्त्व, रजः और तमः, वे असंभिन्न-शक्तिप्रविभाग हैं; अतः वैषम्यावस्था में भी गुण अपने स्वभाव से अप्रच्युत ही रहते हैं । गुणप्रधान-भावरूप वैषम्य होने के कारण जैसी भिन्नता होनी चाहिये, वैसी भिन्नता ही होती है । चूंकि यह वैषम्य सहेतुक है, अतः महदादि व्यक्त पदार्थ हेतुमान् होंगे । गुण-प्रधान भाव की हेतुमत्ता को ध्यान से विचारने पर यह स्वतः ज्ञात होता है कि महदादि व्यक्तपदार्थ क्यों अनित्य, सक्रिय, आश्रित, अनेक, लयशील, सावयव और परतन्त्र होते हैं । कार्यमात्र हेतुमान्, अनित्य आदि होता है —यह ज्ञातव्य है ॥८॥

---

(१) कार्यात् कारणमात्रं गम्यते । (२) सन्ति चात्र वादिनां विप्रतिपत्तयः । तथा हि—केचिदाहुः—असतः सज्जायत इति; एकस्य सतो विवर्त्तः

---

(१) किसी कार्य को देखने से इतना ही ज्ञात होता है कि अवश्य ही उसका कोई कारण (उपादान=समवायी कारण) है । (२) परन्तु उस कारण के विषय में विभिन्न मतवादियों में विरुद्ध दृष्टियाँ हैं । जैसे—कुछ लोग (वैनाशिक बौद्ध) कहते हैं—असत्

कार्यजातं न वस्तुसत्-इत्यपरे; अन्ये तु-'सतोऽसज् जायते' इति, 'सतः सज् जायते' इति वृद्धाः।

(३) तत्र पूर्वस्मिन् पक्षत्रये प्रधानं न सिध्यति सुखदुःखमोहभेदवत्स्वरूपपरिणाम-शब्दाद्यात्मकं हि जगत्[1] कारणस्य प्रधानस्य सत्त्वरजस्तमःस्वभावत्वमवगमयति। (४) यदि पुनरसतः सज्जायेत, असन्निरुपाख्यं कारणं सुखादिरूपशब्दाद्यात्मकं कथं स्यात्, सदसतो स्तादात्म्यानुपपत्तेः। (५) अथैकस्य सतो विवर्त्तः शब्दादिप्रपञ्चः, तथापि सतः सज्जायत इति न स्यात्। न चास्याद्वयस्य प्रपञ्चात्मकत्वम्, अपि त्वप्रपञ्चस्य प्रपञ्चात्मकतया प्रतीतिर्भ्रम एव। (६) येषामपि कणभक्षाक्षचरणादीनां सत एव कारणादसतो जन्म, तेषामपि

(=अविद्यमान=अभाव रूप) कारण से सत् (=विद्यमान) कार्य (वस्तु) उत्पन्न होता हैं। दूसरे लोग (अद्वैतवादी) कहते हैं कि सभी कार्य एक ही सत् वस्तु (अर्थात् ब्रह्म) के विवर्त (=अतात्त्विक परिणाम) हैं; कार्यभूत वस्तु वस्तुतः सत् पदार्थ नहीं हैं। कुछ अन्य लोग (वैशेषिक) कहते हैं कि सत् कारण (अर्थात् परमाणु) से असत् (अर्थात् उत्पत्ति के पूर्व अविद्यमान) उत्पन्न होता है। वृद्धों (=प्राचीनतम दार्शनिक) का कहना है कि सत् कारण से सत् कार्य उत्पन्न होता है।

(३) इनमें से प्रथम तीन पक्षों में यह सिद्ध नहीं होता कि जगत् का कारण (=उपादानकारण) 'प्रधान' (सत्त्वरजस्तमोरूप) है। जगत् शब्दादि-आत्मक है; ये सुख-दुःख-मोह-रूप-परिणाम-विशेष हैं; ये स्वानुरूप अपने कारण के बोधक हैं, जो कारण सत्त्व-रजः-तमः-स्वभाव ही होगा (शब्दादि के सुखादिरूप होने के कारण उनका कारण भी सुखादिरूप ही होगा, जैसे लाल-नील-श्वेतवर्णयुक्त पट का कारण लाल-नील-श्वेत-वर्णमय तन्तु ही हैं); यह कारण प्रधान कहलाता है। (४) परन्तु यदि 'असत् से सत् की उत्पत्ति होती है' (यह वैनाशिक पक्ष यदि मान लिया जाए)—तो असत् एवं निरुपाख्य (=धर्मशून्य) कारण सुख-दुःख-आदि-रूप शब्द-स्पर्श आदि कार्यों से अभिन्न कैसे होगा ? क्योंकि सत् और असत् में तादात्म्य (=अभेद) असम्भव है।

(५) (अद्वैत वेदान्त के अनुसार) शब्दादि प्रपञ्च को एक ही सत् वस्तु ब्रह्म का विवर्त (=अतात्त्विक परिणाम) मान लेने पर भी 'सत् से सत् की उत्पत्ति' का सिद्धान्त सिद्ध नहीं हो सकता। हेतु यह है कि यह अद्वय-सत्ता-रूप ब्रह्म प्रपञ्चात्मक नहीं है, अपितु इस प्रपञ्चहीन (निर्गुण) ब्रह्म की प्रपञ्चात्मक रूप से जो प्रतीति होती है वह भ्रम ही है। (६) जिन कणभक्ष (=कणाद) और अक्षचरण (=अक्षपाद

---

१. सुख-दुःख-मोहभेदवत्-स्वरूपपरिणाम-शब्दाद्यात्मकत्वं हि जगत्कारणस्य प्रधानत्वं सत्त्वरजस्तमःस्वभावत्वम् इति पठ्यते कैश्चित्।

सदसतो रेकत्वानुपपत्तेर्न कार्यात्मकं कारणमिति न तन्मते प्रधानसिद्धिः। (७) अतः प्रधानसिद्धयर्थं प्रथमं तावत् सत्कार्यं प्रतिजानीते—

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत् कार्यम् ॥ ९ ॥

(८) "असदकरणात्" इति। सत् कार्यम्—कारणव्यापारात् प्रागपीति शेषः (९) तथा च न सिद्धसाधनं नैयायिकतनयै[1]रुद्भावनीयम्। (१०) यद्यपि वीज-मृत्पिण्डादिप्रध्वंसानन्तरमङ्कुरघटाद्युत्पत्तिरुपलभ्यते, तथापि न प्रध्वंसस्य कारणत्वम्, अपि तु भावस्यैव बीजाद्यवयवस्य। (११) अभावात्तु भावोत्पत्तौ तस्य सर्वत्र सुलभत्वात् सर्वदा सर्वकार्योत्पादप्रसङ्गः—इत्यादि

=गौतम) के अनुसार सत् कारण (अर्थात् परमाणु) से असत् कार्य (अर्थात् द्वयणुक) का उद्भव होता है, उनके मत में भी सत् और असत् की एकता की उपपत्ति न होने के कारण कार्यात्मक कारण नहीं होता, अतः उनके मत में प्रधान की सिद्धि नहीं होती। (७) इसलिये (सर्वोपादानभूत) प्रधान की सिद्धि के लिये कारिकाकार पहले ही सत्कार्यवाद की प्रतिज्ञा करते हैं :—

(कारण-व्यापार के पूर्व भी) कार्य विद्यमान रहता है, क्योंकि—(१) असत् (=अविद्यमान) होने पर कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती; (२) (कार्य की उत्पत्ति के लिये) उपादान कारण के साथ कार्य का नियत सम्बन्ध स्वीकार करना पड़ता है; (३) सभी कार्य सभी उपादानकारणों से उत्पन्न नहीं होते; (४) शक्त (कार्यानुकूल-शक्तिमान्) कारण ही शक्य (=उत्पन्नयोग्य) कार्य को उत्पन्न करता है; और (५) कार्य कारण से अभिन्न होता है ॥ ९ ॥

(८) कारिका के अन्त में आए हुए 'सत् कार्यम्' (कार्य सत् है) इस वाक्यांश में 'कारणव्यापार के पूर्व भी'—इन शब्दों को जोड़ देना चाहिए। (९) ऐसा करने पर (आरम्भवादी) नैयायिक-शिष्य हमारे मत पर 'सिद्धसाधन' (=ज्ञात अर्थ का पुनः ज्ञापन) का दोष नहीं दे सकते।

(१०) यद्यपि वीज और मृत्तिका-पिण्ड आदि के नष्ट हो जाने पर ही उनसे क्रमशः अङ्कुर और घट आदि की उत्पत्ति देखी जाती है, तथापि बीज आदि का ध्वंस (=विनाश) अंकुर आदि की उत्पत्ति का कारण नहीं है, अपितु बीजादि के भावरूप अवयव ही कारण हैं। (११) पर यदि अभाव से भाव की उत्पत्ति मानी जाए, तो (बीजादि के)

---

१. नैयायिकनयैरिति कैश्चित् पठ्यते व्याख्यायते च नैयायिकानामिव नयो मतं येषां तैरिति।

न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीकायामस्माभिः प्रतिपादितम् (द्र० ता० टी० ४ । १ । १७-१८) । (१२) प्रपञ्चप्रत्ययश्चासति बाधके न शक्यो मिथ्येति वदितुम् इति । (१३) कणभक्षाक्षचरणमतमवशिष्यते ।

(१४) तदिदम्[1] प्रतिज्ञातम्—"सत् कार्यम्" इति । अत्र हेतुमाह—"असदकरणात्" इति । असच्चेत् कारणव्यापारात् पूर्वं कार्यम्, नास्य सत्त्वं केनापि कर्त्तुं शक्यते । (१५) न हि नीलं शिल्पिसहस्रेणापि शक्यं पीतं कर्त्तुम् । (१६) 'सदसत्त्वे घटस्य धर्मौ' इति चेत्, तथाप्यसति धर्मिणि न तस्य धर्म इति सत्त्वं तदवस्थमेव । तथा च नासत्त्वम् । असम्बद्धेनाऽतदात्मना चासत्त्वेन कथमसन्

अभाव के सर्वत्र सुलभ होने से (=अभावों के विशेष न रहने से) सर्वत्र सभी कार्यों के उत्पन्न होने का दोष आ जाएगा । इसे हमने न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका में स्पष्टतः दिखाया है । (१२) जगत्-प्रपञ्च की प्रतीति मिथ्या है—ऐसा उस प्रतीति के किसी बाधक (अर्थात् पूर्ववर्ती मिथ्याज्ञान का बाधक उत्तरवर्ती सत्यज्ञान) के उपस्थित किये विना नहीं कहा जा सकता है ।

(१३) (इस प्रकार पूर्वोक्त दोनों मतों—बौद्धमत और अद्वैतवेदान्तमत—का निराकरण हो जाने पर) न्याय-वैशेषिकमत अवशिष्ट रहते हैं । (१४) इस मत का खण्डन करने के लिये ही कारिकाकार प्रतिज्ञा करते हैं—'कार्य सत् है' और इस कथन के समर्थन में (प्रथम) हेतु देते हैं—'असत् के अकरण से' । अर्थात् यदि कारण-व्यापार के पूर्व कार्य असत् (=अविद्यमान) होता तो उस कार्य को कोई भी सत् (=विद्यमान) नहीं बना सकता । (१५) नील रंग को हजारों शिल्पी पीला नहीं कर सकते हैं । (१६) यदि यह कहा जाए (नैयायिक के द्वारा) कि एक ही घट (कारण-व्यापार के पूर्व) 'असत्' और (कारणव्यापार के बाद) 'सत्' हो सकता है (अर्थात् सत्ता और असत्ता दोनों ही घट के धर्म हैं) तो ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि (उत्पत्ति से पूर्व) धर्मी घट के अविद्यमान रहने पर असत्त्व रूप धर्म उसमें (आधेय-रूप से) कैसे रह सकेगा ? इसलिये कारण-व्यापार से पूर्व भी घट रूप कार्य सत् ही रहता है असत् नहीं । जिस 'असत्त्व धर्म' का 'धर्मी' घट से कोई सम्बन्ध नहीं है (धर्मधर्मिभेद-पक्ष में) और न वह धर्म धर्मिरूप ही है (धर्मधर्मि-अभेद-पक्ष में), उसका आश्रयण कर घट को असत् कैसे कहा जा सकता है ? (धर्मत्व=वृत्तिमत्त्व; जो किसी आश्रय में रहता है, वह धर्म है) । इसलिये जिस प्रकार कारण-व्यापार (=उत्पादन) के अनन्तर कार्य सत् होता है, उसी प्रकार उसके पूर्व भी कार्य सत् होता है ।

---

१. तत्रेदमिति केषाञ्चित् पाठः (तत्र=कणादादिमते; तन्मतावलम्बिनमुद्दिश्यैव सत् कार्यमिति प्रतिज्ञा—इत्येवंरूपेण व्याख्यायते)

घट:? तस्मात् कारणव्यापारादूर्ध्वमिव ततः प्रागपि सदेव कार्यमिति। (१७) कारणाच्चास्य सतोऽभिव्यक्तिरेवावशिष्यते। सतश्चाभिव्यक्तिरुपपन्ना, यथा पीडनेन तिलेषु तैलस्य, अवघातेन धान्येषु तण्डुलानाम्, दोहनेन सौरभेयीषु पयसः। (१८) असतः करणे तु न निदर्शनं किञ्चिदस्ति। न खल्वभिव्यज्यमानं चोत्पद्यमानं वा क्वचिदसद् दृष्टम्।

(१९) इतश्च कारणव्यापारात् प्राक् सदेव कार्यमित्याह—'उपादानग्रहणात्"। उपादानानि कारणानि, तेषां ग्रहणं कार्येण सम्बन्धः। उपादानैः कार्यस्य सम्बन्धादिति यावत्। (२०) एतदुक्तं भवति—कार्येण सम्बद्धं कारणं कार्यस्य जनकम्। सम्बन्धश्च कार्यस्यासतो न सम्भवति, तस्मात्सदिति।

(२१) स्यादेतत्—असम्बद्धमेव कार्यं कारणैः कस्मान्न जन्यते? तथा चासदवोत्पद्यत इत्यत आह—"सर्वसम्भवाभावात्" इति। (२२) असम्बद्धस्य

---

(१७) इस प्रकार सत् कार्य का उसके कारण से केवल अभिव्यक्त होना ही शेष रहता है (अर्थात् अभिव्यक्ति को ही उत्पत्ति के रूप में निश्चित किया जाता है)। सत् की अभिव्यक्ति प्रमाण से सिद्ध है। जैसे, तिलों के पीडन (पेरे जाने) से (उनमें पहले से ही विद्यमान) तेल अभिव्यक्त होता है, धान के कूटे जाने से (उनमें विद्यमान) चावल अभिव्यक्त होता है तथा गायों के दुहने से (उनमें विद्यमान) दूध अभिव्यक्त (=प्रकट) हो जाता है। (१८) परन्तु असत् (=अविद्यमान) वस्तु के उत्पन्न होने में कोई दृष्टान्त नहीं है। वस्तुतः असत् वस्तु कभी अभिव्यक्त या उत्पन्न होती हुई नहीं देखी गई।

(१९) कारणव्यापार होने से पूर्व कार्य के (अव्यपदेश्यरूपेण) विद्यमान होने का अन्य हेतु 'उपादानग्रहण' भी है। 'उपादान' का अर्थ है—कारण (समवायिकारण-न्यायानुसार) और 'ग्रहण' का अर्थ है—कार्य के साथ उसका सम्बन्ध; इस प्रकार 'उपादान-ग्रहण' पद का अर्थ है—कार्य के साथ कारण का सम्बन्ध। (२०) इस विषय में यह कहा जाता है कि कार्य के साथ नियतसंबन्धयुक्त कारण ही कार्य को उत्पन्न करता है (सांख्यदृष्टि में कहना होगा—संस्थानविशेष का अभिव्यञ्जक होता है); यदि कार्य असत् है, तो कारण के साथ उसका कोई सम्बन्ध होना असम्भव है। इसलिये (कारण-व्यापार से पूर्व भी) कार्य सत् होगा।

(२१) यह कथन तो ठीक है, पर कारण से असम्बद्ध कार्य क्यों उत्पन्न नहीं होता और ऐसा मान लेने पर यह सिद्ध हो जाएगा कि असत् (कार्य) ही उत्पन्न होता है (सम्बन्ध के अनुरोध से कार्य को कारण में विद्यमान मानने की आवश्यकता नहीं है)। इसके उत्तर में कहते हैं—"सभी कार्यों की उत्पत्ति सभी कारणों से न होने के कारण"। (२२) तात्पर्य यह है कि (कारण से) असम्बद्ध कार्य की उत्पत्ति मान लेने पर

जन्यत्वे असम्बद्धत्वाविशेषेण सर्वं कार्यजातं सर्वस्माद् भवेत्। न चैतदस्ति, तस्मान्नासम्बद्धेन जन्यते अपि तु सम्बद्धं सम्बद्धेन जन्यत इति। (२३) यथाहुः सांख्यवृद्धाः—

असत्त्वे नास्ति सम्बन्धः कारणैः सत्त्वसङ्गिभिः।
असम्बद्धस्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थितिः॥ इति[1]॥

(२४) स्यादेतत्—असम्बद्धमपि तदेव तत् करोति यत्र यत्कारणं शक्तम्। शक्तिश्च कार्यदर्शनादवगम्यते। अतो नाव्यवस्थेत्यत आह—"शक्तस्य शक्यकरणात्" इति। (२५) सा शक्तिः शक्तकारणाश्रया सर्वत्र वा स्यात्,

---

'असम्वद्धता' के सर्वत्र समान रूप से प्राप्त होने के कारण सभी कार्य सभी कारणों से उत्पन्न होने लगेंगे; पर ऐसा नहीं होता है। अतः (यह मानना पड़ता है कि) असम्वद्ध कार्य असम्बद्ध कारण से उत्पन्न नहीं होता, बल्कि सम्बद्ध कार्य ही सम्बद्ध कारण से उत्पन्न होता है। (२३) इस विषय में सांख्य के पूर्वाचार्यों ने कहा है—"उत्पत्ति से पूर्व कार्य को असत् मानने पर सत्तावान् (=विद्यमान) कारणों के साथ उस कार्य का सम्बन्ध नहीं हो सकता और कारण से असम्बद्ध कार्य की उत्पत्ति होती है—ऐसा मानने पर कोई व्यवस्था नहीं होती, अर्थात् 'अमुक कारण से ही अमुक कार्य की उत्पत्ति होती है'—ऐसा निर्धारण नहीं किया जा सकता"।

(२४) इस युक्ति के ठीक होने पर भी ऐसा तो कहा ही जा सकता है कि असम्बद्ध होकर भी कोई कारण उसी कार्य को उत्पन्न कर सकता है जिस कार्य में उसकी शक्ति हो (सभी कार्यों को भले ही वह उत्पन्न न करे); कारण में ऐसी कोई शक्ति है—यह कार्य को देखकर अनुमित होता है (मृत्तिका से घट की उत्पत्ति देखकर यह अनुमित होता है कि घटानुकूल शक्ति मिट्टी में है, तन्तु में यह शक्ति नहीं है), अतः कोई अव्यवस्था नहीं होगी। (शक्ति फल से अनुमेय होती है, अतः जिस कारण से जिस कार्य की उत्पत्ति नहीं देखी जाती उस कार्य के जनन में उस कारण की शक्ति नहीं है—ऐसा कहा जाएगा, अतः कोई अव्यवस्था नहीं होगी)। इसके समाधान में कहते हैं—जो कारण जिस कार्य की उत्पत्ति में कार्यजननानुकूलशक्ति से युक्त है, उस शक्त कारण से उसी शक्य (अर्थात् उत्पाद्य कार्य) के उत्पन्न होने से कारण और कार्य परस्पर असंवद्ध नहीं हो सकते और असम्बद्ध न होने पर कार्य का सत् होना अनिवार्य है।

(२५) अब प्रश्न यह उठता है कि शक्त (=कार्यजननशक्तिमान्) कारण में

---

१. श्लोकोऽयं युक्तिदीपिकायामुद्धृतः—उक्तं च—असत्त्वान्नास्ति···कारकैः···इति (का० ९)। अस्मन्मते इदं राजवार्त्तिकगतं वाक्यम्।

शक्ये एव वा ? सर्वत्र चेत्तादवस्थैवाव्यवस्था; शक्ये चेत्, कथमसति शक्ये तत्र, इति वक्तव्यम्। (२६) शक्तिभेद एव स तादृशो यतः किञ्चिदेव कार्यं जनयेद् न सर्वमिति चेत्, हन्त भोः शक्तिविशेषः कार्यसम्बद्धो वाऽसम्बद्धो वा ? सम्बद्धत्वे नासता सम्बन्ध इति सत् कार्यम्। असम्बद्धत्वे सैवाव्यवस्था—इति सुष्ठूक्तम्—"शक्तस्य शक्यकरणात्" इति।

(२७) इतश्च सत् कार्यमित्याह—"कारणभावाच्च"। कार्यस्य कारणात्मकत्वात्; न हि कारणाद्भिन्नं कार्यम्; कारणं च सत्, इति कथं तदभिन्नं कार्यमसद् भवेत् ? (२८) कार्यस्य कारणाभेदसाधनानि च प्रमाणानि—

(२९) न पटस्तन्तुभ्यो भिद्यते, तन्तुधर्मत्वात्। इह यद्यतो भिद्यते तत्

आश्रित यह शक्ति सभी कार्यों के उत्पादन में प्रवृत्त (कार्यजननानुकूल) होती है, या केवल उसके द्वारा शक्य (=उत्पाद्य) कार्य में ही प्रवृत्त होती है ? यदि सभी कार्यों के विषय में प्रवृत्त हो, तब तो (उपर्युक्त) अव्यवस्था ज्योंकी-त्यों बनी रहेगी और यदि (निरूपकता-संबन्ध से) उत्पाद्य कार्य-विशेष के विषय में ही शक्ति हो तो शक्य (=शक्ति का विषय=कार्य) के अविद्यमान होने पर 'उस (कार्य) के विषय में ही कारण की शक्ति (=कारणशक्तिगत विशेष) प्रवृत्त होती है' यह कैसे कहा जा सकता है ? (२६) (स्वपक्षस्थापन के लिये) यदि यह कहा जाये कि कारण में इस प्रकार की शक्ति होती है कि वह विशेष को ही उत्पन्न करती है, सभी कार्यों को नहीं तो ऐसा कहना भी व्यर्थ है, क्योंकि तब दुःख के साथ प्रश्न करना पड़ेगा कि यह विशिष्ट शक्ति कार्य-विशेष से सम्बद्ध है या नहीं ? यदि सम्बद्ध है, तो असत् कार्य से उसका सम्बन्ध नहीं होगा, इसलिये कार्य को सत् कहना होगा। यदि कार्य सम्बद्ध नहीं है, तो उपर्युक्त अव्यवस्था (अर्थात् सर्वत्र सर्वकार्योत्पत्ति) बनी रहेगी; अतः कारिकाकार ने कार्य को सत् सिद्ध करने के लिये जो 'शक्तस्य शक्यकरणात्' कहा है, वह ठीक ही है।

(२७) सत्कार्यपक्ष की सिद्धि के लिये एक अन्य हेतु भी देते हैं—'कार्य के कारण से अभिन्न होने के कारण'। कार्य कारण-भिन्न नहीं होता और कारण चूँकि सत् है इसलिये उससे अभिन्न कार्य असत् कैसे होगा ? (सत् से अभिन्न पदार्थ सत् ही होगा)।

(२८) कारण से कार्य का अभेद सिद्ध करनेवाले प्रमाण ये है :—

(२९) पट (वस्त्ररूप कार्य) तन्तुसमूह-रूप कारण से भिन्न नहीं है, क्योंकि वह (वस्त्र) तन्तुओं का धर्म (सूत्र में आश्रित) है (अतएव उसमें समवायसंबन्ध से युक्त है)। जो पदार्थ जिससे अभिन्न नहीं होता है, वह उसका धर्म नहीं होता, यथा गो अश्व का (अर्थात् गाय घोड़े से भिन्न होने के कारण उसका धर्म नहीं होता)। पट (वस्त्र) तन्तुओं का धर्म है, अतएव पट उससे अर्थान्तर (=भिन्न) नहीं है। (यह साध्याभाव में हेत्वभाव रूप अवीत अनुमान में व्यतिरेक दृष्टान्त है)।

तस्य धर्मो न भवति तथा गौरश्वस्य। धर्मश्च पटस्तन्तूनां, तस्मान्नार्थान्तरम्। (३०) उपादानोपादेयभावाच्च नार्थान्तरत्वं तन्तुपटयोः। ययोरर्थान्तरत्वं न तयोरुपादानोपादेयभावः, यथा घटपटयोः। उपादानोपादेयभावश्च तन्तुपटयोः, तस्मान्नार्थान्तरत्वमिति। (३१) इतश्च नार्थान्तरत्वं तन्तुपटयोः संयोगाप्राप्त्यभावात्। अर्थान्तरत्वे हि संयोगो दृष्टो यथा कुण्डबदरयोः, अप्राप्तिर्वा यथा हिमवद्विन्ध्ययोः। न चेह संयोगाप्राप्ती तस्मान्नार्थान्तरत्वमिति।

(३२) इतश्च पटस्तन्तुभ्यो न भिद्यते, गुरुत्वान्तरकार्याग्रहणात्। इह यद्यस्माद्भिन्नम्, तस्मात् तस्य गुरुत्वान्तरःकार्यं गृह्यते—यथैकपलिकस्य स्वस्तिकस्य यो गुरुत्वकार्योऽवनतिविशेषस्तस्माद् द्विपलिकस्य स्वस्तिकस्य गुरुत्वकार्योऽवर्नातभेदोऽधिकः। न च तथा तन्तुगुरुत्वकर्यात् पट-गुरुत्वस्यकार्यान्तर

---

(३०) कार्य (पट) और कारण (तन्तु) की अभिन्नता में उपादान-उपादेयभाव भी हेतु है। जो भी दो पदार्थ एक दूसरे से भिन्न होते हैं; उनमें उपादानोपादेयभाव (=कार्यकारणभाव) नहीं होता है, जैसा कि घट और पट में देखा जाता है। तन्तु और पट में उपादान-उपादेयभाव है, अत; वे भिन्न पदार्थ नहीं हैं।

(३१) कार्य (वस्त्र) और कारण (तन्तु) में परस्पर 'संयोग का अभाव' और 'अप्राप्ति (=विभाग) का अभाव' होने से भी दोनों में भेद नहीं है। एक पदार्थ के दूसरे से भिन्न होने पर परस्पर में संयोग (=अप्राप्तिपूर्वक प्राप्ति) संवन्ध देखा जाता है, जैसे कुण्ड और बदरी फल में। उसी प्रकार भेद होने पर अप्राप्ति (=किसी भी समय संबन्धहींनता) होती है, जैसाकि हिमालय और विन्ध्यपर्वत रूप दो अत्यन्त पृथक् पदार्थों में देखी जाती है। कार्य और कारण में संय ग और अप्राप्ति (=विभाग) दोनों का ही अभाव है। अतः कार्य (पट) और कारण (तन्तु) अर्थान्तर (=परस्पर पृथक्) नहीं हैं।

(३२) पट के तन्तुओं से भिन्न न होने का एक हेतु यह भी है—उपादान (तन्तु) के गुरुत्व (=भार=वह गुण जिससे पृथिवी और जल का पहला पतन होता है) से (पट रूप) कार्य की भारभिन्नता-जनित तुलादण्ड अवनित में भेद न होना। जो जिससे भिन्न होता है, उसकी अपेक्षा उससे न्यूनाधिकगुरुत्वरूप कार्य (भिन्न भार का कार्य) प्राप्त होता है, जैसे एक पल सुवर्ण के बने हुए 'स्वस्तिक' नामक अलङ्कार के गुरुत्व का कार्यभूत जो अवनति-विशेप (तुलादण्ड पर उसे रखने से पलड़े का उचितमात्रा में नीचे गिर जाना) होगा, उसकी अपेक्षा दो पलों के बने हुए स्वस्तिक नामक अलङ्कार के गुरुत्व-कार्यभूत अवनति-विशेष अधिक होगा। परन्तु तन्तुओं के गुरुत्व के कार्य (अर्थात् तुलादण्ड-पतन विशेष) से उन्हीं तन्तुओं से निर्मित) पट के गुरुत्व का भिन्न कार्य नहीं दिखाई पड़ता। इसलिये तन्तुओं से पट अभिन्न है।

दृश्यते। तस्मादभिन्नस्तन्तुभ्यः पट इति। (३३) तान्येतान्यभेदसाधनान्यवीतानि। (३४) एवमभेदे सिद्धे, तन्तव एव तेन तेन संस्थानभेदेन परिणताः पटः; न तन्तुभ्योऽर्थान्तरं पटः।

(३५) स्वात्मनि [1]क्रियानिरोधसम्बन्धबुद्धिव्यपदेशार्थक्रियाभेदाश्च नैकान्तिकं भेदं साधयितुमर्हन्ति, एकस्मिन्नपि तत्तद्विशेषाविर्भाव- तिरोभावाभ्यामेतेषामविरोधात्। (३६) यथा हि कूर्मस्याङ्गानि कूर्मशरीरे निविशमानानि तिरोभवन्ति, निःसरन्ति चाविर्भवन्ति, न तु कूर्मतस्तदङ्गान्युत्पद्यन्ते प्रध्वंसन्ते वा। एवमेकस्या मृदः सुवर्णस्य वा घट-मुकुटादयो विशेषा निःसरन्त आविर्भवन्त उत्पद्यन्त इत्युच्यन्ते, निविशमानाश्च तिरोभवन्तो विनश्यन्तीत्युच्यन्ते। न पुनरसतामुत्पादः

---

(३३) कार्य और कारण में अभेद सिद्ध करने वाले ये हेतु अवीत (व्यतिरेकी, व्यतिरेकव्याप्तिमूलक) हैं (जितने दृष्टान्त दिये गये हैं वे सब अवीत अनुमान के व्यतिरेक दृष्टान्त हैं)। (३४) इस प्रकार अभेद सिद्ध होने पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि तन्तु ही (आतान-वितानरूप) अवयव-सन्निवेश के द्वारा वस्त्र हो जाते हैं; तन्तु से भिन्न वस्त्र नामक कोई पदार्थ नहीं है। [कार्यकारण-अभेदवादी सांख्य की यही दृष्टि है]।

(३५) कार्यरूप वस्तु में जो क्रियाबुद्धिव्यपदेश (यह उत्पन्न है—ऐसी प्रतीति का व्यवहार), निरोधबुद्धि-व्यपदेश (यह विनष्ट है—ऐसी प्रतीति का व्यवहार), संबन्ध-बुद्धिव्यपदेश (तन्तु में पट होता है—ऐसा आधार-आधेय-संबन्ध प्रतीति का व्यवहार) और अर्थ-क्रिया-भेद (प्रयोजननिर्वाहकता का भेद, यथा—पट से किसी का आवरण किया जाता है, तन्तु से नहीं) होते हैं, वे भी कारण से कार्य का ऐकान्तिक (निश्चितरूप से) भेद सिद्ध नहीं करते, क्योंकि अभिन्न होने पर भी (कार्य और कारण की अभिन्नता मानने पर भी) विशेष धर्मों के कभी अविर्भाव (=कारण से प्रकट होना) और कभी तिरोभाव (=कारण में अप्रकट होना) से इन क्रियाबुद्धि-व्यपदेश आदि हेतुओं का अविरोध ही होता है (अर्थात् वे हेतु कार्य-कारण के भिन्नत्व के साधक नहीं होते)। [कोई कोई पाँच हेतु मानते हैं—क्रियाभेद, निरोधभेद, बुद्धिभेद, व्यपदेशभेद और अर्थक्रियाभेद]।

(३६) जिस प्रकार कछुए के अङ्ग उसके शरीर में प्रविष्ट हो जाने पर तिरोहित हो जाते हैं और बाहर निःसृत होने पर प्रकट हो जाते हैं, न कि कूर्म के अंग कछुए से उत्पन्न (अर्थात् पहले वे नहीं थे और बाद में उत्पन्न हुए) और उसमें विनष्ट (=ध्वंस-

---

१. क्रियाविरोधबुद्धि-; क्रियानिरोधबुद्धि-; क्रियाविरोधव्यपदेशार्थक्रियाभेदक्रियाव्यवस्थाश्च; क्रियाविरोधसम्बन्ध-; क्रियानिरोधसम्बन्ध-; अर्थक्रिया-क्रियाव्यवस्थाभेदाश्च—इति पाठान्तराणि विभिन्नैर्व्याख्यातृभिः स्वीकृतानि व्याख्यातानि च।

सतां वा निरोधः। (३७) यथाह भगवान् कृष्णद्वैपायनः—"[1]नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः" (गीता २।१६) इति ॥

(३८) यथा कूर्मः स्वावयवेभ्यः सङ्कोचविकाशिभ्यो न भिन्नः, एवं घटमुकुटादयोऽपि मृत्-सुवर्णादिभ्यो न भिन्नाः। (३९) न चार्थक्रियाभेदोऽपि भेदमापादयति, एकस्यापि नानार्थक्रियादर्शनात्। यथैक एव वह्निर्दाहकः पाचकः प्रकाशकश्चेति। (४०) नाप्यर्थक्रियाव्यवस्था वस्तुभेदे हेतुः, तेषामेव समस्तव्यस्तानामर्थ-

प्राप्त) होते हैं, उसी प्रकार मिट्टी या सोने से घट, मुकुट आदि कार्य निःसृत (=प्रकाशित) होने पर 'ये उत्पन्न हुए', ऐसा कहा जाता है, एवं उसी मिट्टी तथा सोने में मिल जाने पर 'ये विनष्ट हुए' ऐसा कहा जाता है; न कि असत् (=कारण में अविद्यमान घट, मुकुट आदि) की उत्पत्ति होती है। (३७) जैसा कि भगवान् कृष्णद्वैपायन ने (गीता में) कहा है—'न तो असत् (=अविद्यमान) का सत्त्व कभी होता है और न सत् (=विद्यमान) का कभी अभाव होता है'। (३८) जिस प्रकार कछुआ (=कछुआ का देह) अपने सिकुड़ने वाले तथा फैलने वाले अंगो से भिन्न कोई वस्तु नहीं है, उसी प्रकार घट, मुकुट आदि भी मिट्टी, सोने आदि से भिन्न नहीं हैं। इस प्रकार (कारण और कार्य दोनों के एक होने पर) 'इन तन्तुओं में यह पट निर्मित हुआ है'—यह व्यहवहार (=भेदपूर्वक प्रयोग) उसी प्रकार संगत होता है, जिस प्रकार कि तिलक नामक वृक्षों के वन के विषय में यह व्यवहार कि 'इस वन में ये तिलक के वृक्ष हैं' (अभेद में भेद की विवक्षा कर आधाराधेय-भाव का प्रयोग)।

(३९) 'अर्थक्रियाभेद' (कारण तथा कार्य की प्रयोजन-भिन्नता) से भी कार्य-कारण का भेद सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि एक (=अभिन्न) ही पदार्थ के अनेक कार्य देखे जाते हैं। जैसे एक ही अग्नि जलाने, प्रकाश करने तथा पकाने का कार्य करता है (दाह-प्रकाशादि कार्यों से अग्नि का भेद नहीं होता)। (४०) अर्थक्रिया ही की व्यवस्था (अर्थात् क्रियासम्पादननियम) भी पदार्थभेद के साधन में हेतु नहीं हो सकता, क्योंकि उन्हीं वस्तुओं के मिलकर एवं पृथक् कार्य करने से अर्थ-क्रिया की व्यवस्था देखी जाती है; जिस प्रकार प्रत्येक भारवाहक (=वेतन ने लेकर कार्यकारी) अपना-अपना मार्ग देखना रूप कार्य करता है; पर प्रत्येक व्यक्ति स्वयं पालकी ढोने का कार्य नहीं करता, परन्तु वे सब मिलकर पालकी ढोते हैं; उसी प्रकार प्रत्येक तन्तु पृथक्-पृथक् किसी वस्तु को नहीं ढकता है, पर यदि वे तन्तुएँ मिल जाते हैं, तो अपने पट रूप कार्य के प्रकट (या कार्य को प्राप्त) हो जाने पर आवरणकार्य भी कर सकते हैं।

१. बृहदारण्यकभाष्ये (१।४।६) उक्तम्—'अथैवं सति नासत उत्पत्तिः न सतो विनाश इत्यवधृतं भवति'। अत्राह गिरिः—नासतो विद्यते भावः…इति स्मृति रनुसृता भवतीति भावः। श्लोकस्यास्य टीकाया माह देवबोधः—अविद्यमानस्य अपूर्वजन्मकस्य जन्म न इति।

क्रियाव्यवस्थादर्शनात्; यथा प्रत्येकं विष्टयो वर्त्मदर्शनलक्षणामर्थक्रियां कुर्वन्ति, न तु शिबिकावहनम्, मिलितास्तु शिबिकां वहन्ति, एवं तन्तवः प्रत्येकं प्रावरणमकुर्वाणा अपि मिलिता आविर्भूतपटभावाः प्रावरिष्यन्ति ।

(४१) स्यादेतत्—आविर्भावः पटस्य कारणव्यापारात् प्राक् सन् असन् वा ? असंश्चेत् प्राप्तं तर्ह्यसदुत्पादनम् । अथ सन् कृतं तर्हि कारणव्यापारेण । न हि सति कार्ये कारणव्यापारप्रयोजनं पश्यामः । (४२) आविर्भावे चाविर्भावान्तरकल्पनेऽनवस्थाप्रसङ्गः । तस्मादाविर्भूतपटभावास्तन्तवः क्रियन्त इति रिक्तं वचः ।

(४३) मैवम्; अथासदुत्पद्यत इति मते केयमसदुत्पत्तिः ? सती, असती वा ? सती चेत्, कृतं तर्हि कारणैः । असती चेत्, तस्या अप्युत्पत्त्यन्तर मित्यनवस्था । (४४) अथ उत्पत्तिः पटान्नार्थान्तरम्, अपि तु पट एवासौ तथापि यावदुक्तं भवति 'पटः' इति, तावदुक्तं भवति 'उत्पद्यते' इति । ततश्च 'पटः' इत्युक्ते, 'उत्पद्यते' इति न वाच्यम्, पौनरुक्त्यात् । 'विनश्यति' इत्यपि न वाच्यम्, उत्पत्तिविनाशयोर्युगपदेकत्र विरोधात् ।

---

(४१) यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि (कारण और कार्य में अभेद मानने पर) तन्तुओं के कारण। व्यापार (अर्थात् उत्पादन) से पूर्व पट का आविर्भाव सत् है या असत् ? यदि आविर्भाव असत् है तो असत् की ही उत्पत्ति सिद्ध होती है और यदि अविर्भाव सत् है तो कारणव्यापार व्यर्थ होता है, क्योंकि कार्य (यहाँ आविर्भाव) के विद्यमान होने पर कारण-व्यापार का कोई प्रयोजन नहीं दिखाई पड़ता । (४२) यदि यह कहा जाये कि पट के सत् आविर्भाव के लिये एक अन्य आविर्भाव की आवश्यकता है तो एक आविंर्भाव के लिये अन्य आविर्भाव की कल्पना करने पर अनवस्था रूप दोष होगा । इसीलिये तन्तुसमुह ही पटरूप से प्रकटित होते हैं—यह (सांख्यीय) कथन निस्सार है ।

(४३) (सांख्यपक्ष का उत्तर) पूर्वोक्त दूषण ठीक नहीं है, क्योंकि कारण में असत् कार्य उत्पन्न होता है—इस न्यायमत के विषय में भी यह प्रश्न उठता है कि असत् कार्य की जो उत्पत्ति होती है वह सत् है या असत् है ? यदि उत्पत्ति सत् (=विद्यमान) है, तो कारण-व्यापार निरर्थक होगा और उत्पत्ति यदि असत् है तो इस असत् उत्पत्ति को भी दूसरी उत्पत्ति माननी होगी और इस प्रकार यहाँ भी वही अनवस्था दोष आ जाएगा ।

(४४) (नैयायिक की ओर से) यदि यह कहा जाये कि पट की उत्पत्ति पट से भिन्न कोई वस्तु नहीं, अपितु पट ही है (चूँकि पट कारणव्यापार से पूर्व अनुत्पन्न रहता है, अतः पट से अभिन्न उसकी उत्पत्ति भी अनुत्पन्न हुई), तब फिर 'पट उत्पन्न होता है' ऐसा पुनरुक्ति के भय से नहीं कहा जाना चाहिए, क्योंकि 'पट' और 'उत्पत्ति' के एक पदार्थ होने से 'पट' कहने से ही 'उत्पन्न होता है'—यह भी उक्त हो जाता है। इसी

(४५) तस्मादियं पटोत्पत्तिः स्वकारणसमवायो वा, स्वसत्तासमवायो वा, उभयथापि नोत्पद्यते। अथ च तदर्थानि कारणानि व्यापार्यन्ते। एवं सत एव पटादेराविर्भावाय कारणापेक्षेत्युपपन्नम्। (४६) न च पटरूपेण कारणानां संबन्धः, तद्रूपस्याक्रियात्वात्, क्रियासम्बन्धित्वाच्च कारकाणाम्,[1] अन्यथा कारणत्वाभावात्। (४७) तस्मात् सत् कार्यमिति पुष्कलम्॥ ९॥

प्रकार 'पट नष्ट होता है'—यह भी नहीं कहा जाना चाहिए, क्योंकि एक ही वस्तु में (यहाँ 'पट') एक ही काल में उत्पत्ति और विनाश (क्योंकि पट=पटोत्पत्ति) रूप दो विरोधी धर्मों का संबन्ध नहीं हो सकता (पट=पटोत्पत्ति यदि हो तो 'पटो नष्टः' नहीं कहा जा सकता क्योंकि उत्पत्ति और विनाश का सहावस्थान नहीं होता)।

(४५) इसलिये पट की यह उत्पत्ति चाहे स्वकारण-समवाय (=पटरूप कार्य का अपने कारणभूत तन्तुओं में नित्यसम्बन्धरूप समवाय) हो अथवा 'स्वसत्तासमवाय' (पटरूप कार्य में सत्ता जाति का समवाय-सम्बन्ध है; समवाय=नित्यसम्बन्ध) हो, दोनों ही पक्षों में 'उत्पत्ति' उत्पन्न ही नहीं हो सकती (क्योंकि समवाय के नित्य होने के कारण तदभिन्न उत्पत्ति क्रिया भी नित्य ही सिद्ध होती है; नित्य की उत्पत्ति नहीं होती)। इस दृष्टि से उत्पत्ति के सम्भव नहीं होने पर भी उत्पत्ति के लिये जिस प्रकार कारणव्यापार होता है; इसी प्रकार सत् (कारण-व्यापार के पूर्व विद्यमान) पट आदि के आविर्भाव के लिये कारण अपेक्षित है, ऐसा (सांख्यीय मत) सर्वथा संगत है।

(४६) किंच पट के (शुक्लनीलादि) रूप के साथ (तन्तु आदि) कारणों का सम्वन्ध ही पटरूप कार्य की उत्पत्ति है—ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि पट का 'रूप' गुण है, क्रिया नहीं; और 'कारक' क्रिया से ही अन्वित होता है, अन्यथा वह 'कारक' कारण होगा ही नहीं (करणरूप कारकविशेष ही कारण होता है; जो क्रिया-जनक नहीं होता, वह कारण भी नहीं होता)। (४७) अतएव 'कार्य उत्पत्ति के पूर्व भी उपादानकारण में विद्यमान रहता है'—यह प्रमाणसिद्ध या निर्दोष है॥९॥

नवम कारिका की व्याख्या

वाचस्पति के अनुसार कारिकागत 'सत् कार्यम्' वाक्य का अर्थ है—कार्य उत्पत्ति से पूर्व भी सत् (=विद्यमान) है। हमारे अनुसार इस वाक्य का यह तात्पर्य अपूर्ण है; **इसका प्रकृत तात्पर्य है—कार्य सदैव (=त्रिकाल में) सत् (=किसी न किसी रूप में विद्यमान) है,** केवल उत्पत्ति से पूर्व नहीं। जो मत 'अतीतानागतं स्वरूपतः अस्ति अध्वभेदाद् धर्माणाम्' (योगसू० ४।१२) वाक्य का है—वही इस कारिका की युक्तियों

१. कारणानाम् इति कैश्चित् पठ्यते।

द्वारा प्रतिपादित हुआ है। 'असदकरणात्' आदि पाँच युक्तियों के द्वारा यही मत प्रमाणित होता है, केवल 'उत्पत्ति से पूर्व कार्य की सत्ता' रूप मत नहीं। इन युक्तियों की व्याख्या में भी वाचस्पति से हमारा ईषत् मतभेद है—जिसके लिये प्रसंख्यानभाष्य द्रष्टव्य है। इस कारिका के प्रथम चरण में यतिदोष है।

John Davies कहते हैं कि इस कारिका का उद्देश्य है—'कार्य से कारण की सत्ता को प्रतिपादित करना—न कि कारणसत्ता के आधार पर कार्यसत्ता को प्रमाणित करना'।[1] यह असंगत इस बोध है। यदि किसी पदार्थ पर यह बोध हो जाये कि यह कार्य है तो के साथ 'इसका कोई कारण है' यह बोध भी अवश्यंभावी रूप से उदित होता है, भले ही यह कारण कौन है—इसका निर्धारण सदैव न हो। सत्कार्यवाद के विषय में सांख्य की जो दृष्टि है, वह इस प्रकार है—यह देखा जाता है कि वस्तु के अतीत और अनागत परिणाम का प्रत्यक्षज्ञान किसी किसी में (उदाहरणार्थ योगी में) होता है[2]। कितने ही ऐसे भविष्यद्-अर्थज्ञापक स्वप्न होते हैं जो यथार्थ सिद्ध होते हैं। चूँकि ज्ञान सविषय होता है, अत: यह मानना पड़ता है कि अतीतज्ञान और अनागतज्ञान का भी अनुरूप विषय है। यह अतीत विषय (=शान्त धर्म) और अनागत विषय (=अव्यपदेश्य धर्म) धर्मी में जिस रूप से रहते हैं—वह सूक्ष्मरूपेण अवस्थान है। कार्य 'अव्यक्त रूप से रहता है' न कहकर 'सूक्ष्म रूप से रहता है'—ऐसा कहना संगत है। सूक्ष्मावस्था में स्थित यह धर्म जब उदित (=इन्द्रियवेद्य) होता है, तब 'कार्य का आत्मलाभ हुआ' ऐसा सांख्यीय दृष्टि से कहा जाता है। जो नहीं था, वह हुआ—यह बात नहीं; पर जो सूक्ष्म-रूप से था, वह स्थूल हुआ—यह सांख्यीय दृष्टि है। इससे यह भी ध्वनित होता है कि धर्म की वर्तमानता आपेक्षिक है; किसी के लिये जो भविष्यत् धर्म है, वह अन्य (अर्थात् अधिकतर-शक्तिशाली-इन्द्रियसामर्थ्य से युक्त) के लिये वर्तमान है। यह सामर्थ्य जितनी ही बढ़ती जायेगी, अतीत-अनागत धर्माश्रित कालभेद का ज्ञान उतना ही घटता जायेगा। यही कारण है कि जिस ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति से प्रलय तक का काल-परिमाण प्रजापति की दृष्टि में क्षणमात्र है, वही हमारी दृष्टि में बहुसंख्यक मन्वन्तर-कल्पादिव्यापी है।

सत्कार्यवाद के विषय में कुछ विशेष बातें ज्ञातव्य हैं। उपादानकारण और कार्य में एकान्त अभेद है—यह सांख्यीय दृष्टि नहीं है। उपादान का जो सन्निवेशविशेष होता है,

---

1. The object of the stanza is to establish the existence of cause from its effects, and not of effects from the existence of cause (p. 18). कारिकोक्त युक्तियों की डेविसकृत व्याख्या से भी हम सर्वत्र सहमत नहीं हैं—प्रसंख्यानभाष्य में इस पर विस्तृत विचार द्रष्टव्य है।

२. द्र० योगिनां चातीतानागतज्ञानस्य सत्यत्वात्। असंश्चेद् भविष्यद् घट ऐश्वरं भविष्यद्घट-विषयं प्रत्यक्षज्ञानं मिथ्या स्यात्। न च प्रत्यक्षमुपचर्यते (बृहदा० १।२।१ भाष्य)।

उस सन्निवेश का भंग भी होता है—यह सांख्य कहता है; सन्निवेश का भंग होने पर कारण अन्य सन्निवेश में सन्निवेशित हो जाता है। इसी दृष्टि से ही 'कार्य को कारण का स्थूल रूप' माना जाता है।

कार्य-कारण-भाव जब तक चिन्तित होता रहेगा तब तक कार्य-कारण में एकान्त अभेद सोचा भी नहीं जा सकता। यदि सांख्य 'अभेद' कहता भी है तो भी 'कार्य कारण का अवस्थानभेदमात्र है' यही तात्पर्य वहाँ अभिप्रेत है—यह ज्ञातव्य है। उपादान कारण को छोड़कर कार्य नहीं रह सकता, उपादान कारण से पृथक् कार्य की सत्ता नहीं है—इस दृष्टि से ही कार्य कारण से अभिन्न है। यह **'सन्निवेशविशेष' ही कार्य को कारण से पृथक् करता है।**

कार्यकारण सम्बन्ध के विषय में यह जानना चाहिये कि इसमें व्यवहारदृष्टि और परमार्थदृष्टि-दोनों दृष्टियाँ प्रवर्तित होती हैं। जिस अवस्था में धर्मधर्मिदृष्टि प्रवर्तित नहीं होती, उस अवस्था में कार्यकारण में भिन्नता नहीं की जा सकती। पर यह परमार्थदृष्टि है; यह दृष्टि गुणों की अवैषम्यावस्था में ही प्रयोज्य है। गुणवैषम्य के क्षेत्र में धर्मधर्मी में भेदाभेद हैं; पर इस भेदाभेद में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि जिस दृष्टि से 'भेद' है, उसी दृष्टि से 'अभेद' नहीं है। 'हेमात्मना यथाऽभेदः कुण्डलाद्यात्मना भिदा'[1] यह वाक्य सांख्यीय दृष्टि का प्रतिपादक है।

सांख्य से प्रायः यह प्रश्न किया जाता है कि कार्य-कारण में या तो आप भेदपक्ष माने या अभेदपक्ष; भेदाभेद मानना अन्याय्य है। सांख्यीय दृष्टि को यथार्थतः समझने पर ईदृश प्रश्न उठता ही नहीं। कारण का स्थूलरूप कार्य है—इतना ही सांख्य कहता है। पूर्वोक्त सन्निवेशविशेष यदि अभेद का स्वरूप है तो सांख्य अभेदवादी है; यदि यह सन्निवेश भेद का स्वरूप है तो सांख्य भेदवादी है। भेदवादी और अभेदवादी का ही यह कर्तव्य है कि वे देखें कि सांख्य उनके अनुसार भेदवादी है या अभेदवादी है—**अपनी दृष्टि में सांख्य न भेदवादी है, और न अभेदवादी।**[2]

---

१. यह प्रसिद्ध कारिका ब्रह्मसूत्रभाष्यकार भास्कर की है—ऐसा प्रतीत होता है—तथा च संग्रहश्लोकः—कार्यरूपेण नानात्वमभेदः कारणात्मना। हेमात्मना···भिदा (ब्र० सू० १।१।४ पर)। यह संग्रहश्लोक स्वकृत प्रतीत होता है। प्रसंगतः यह ज्ञातव्य है कि यद्यपि यही प्रसिद्धि है कि यह भास्कर वाचस्पति से अर्वाचीन है, पर हमें प्रतीत होता है कि यह मत असंगत है। भामती में उद्धृत अनेक मतों को कल्पतरुकार ने भास्कर के मत के रूप में ही माना है—यह हमारे स्वपक्ष में युक्ति है।

२. हमारे इस कथन को कोई 'व्यर्थ शब्दाडम्बर' कह सकते हैं; पर यह अभियोग अनुचित है; पूर्वोक्त प्रश्न 'अव्याकरणीय' है। न्यायशास्त्र में भी ईदृश उत्तर दिया गया है। आत्मेश्वरसंबन्ध व्यापक है या अव्यापक है—इसके विषय में उद्द्योतकर का मत देखें—स पुनः आत्मेश्वरसंबन्धो व्यापको वाऽव्यापको वेति। अर्थाभावाद् अव्याकरणीयः प्रश्नः। आत्मेश्वरसंबन्धोऽस्तीत्येत देव शक्यं वक्तुम्। स पुनरीश्वरात्मानौ व्याप्नोति न व्याप्नोति इति न व्याक्रियते। (न्यायवा० ४।२।२०)।

कार्य-कारण में अभेद सिद्ध करने के लिये जो पाँच युक्तियाँ वाचस्पति ने दी हैं (धर्मधर्मिभाव, उपादान-उपादेयभाव, संयोगाभाव, अप्राप्ति का अभाव तथा गुरुत्वान्तरकार्य का अग्रहण), वे किस प्राचीन सांख्याचार्य के द्वारा प्रदत्त हैं—यह ज्ञात न हो सका। हमारी दृष्टि में इन युक्तियों से कार्य ही कारण होता है—यह सिद्ध नहीं होता। कारण का सन्निवेशविशेष कार्य है, या कारण का स्थूल रूप कार्य है—यही सिद्ध होता है।

कारण में कार्य जिस रूप से रहता है उस रूप में कार्य साधारणतया इन्द्रिय से अवेद्य ही रहता है; जो व्यक्ति घट को मिट्टी से पृथक् समझता है, उसकी इन्द्रियशक्ति कारण में कार्य की सत्ता को प्रत्यक्षतः जान नहीं सकती। कारण में कार्यसत्ता के प्रत्यक्ष दर्शन के लिये योगज सामर्थ्य चाहिये। तिल में जो तेल रहता है, वह तिलज्ञाता की इन्द्रियशक्ति से संवेद्य है; तिल को हाथ से रगड़ने पर (लौकिक प्रयत्न से) तेल निकल आता है—लौकिक व्यक्ति एक साथ दोनों की सत्ता को देख पाता है। अतः तिलतैल सत्कार्यवाद का उदाहरण नहीं है। हाँ, तिल की उस अवस्था को यदि लिया जाये जिसमें तेल की सत्ता लौकिक-प्रत्यक्ष-गम्य नहीं है, तो यह उदाहरण संगत है। कूर्म के स्वीय अङ्गों का संहरण कथमपि सत्कार्यवाद का उदाहरण नहीं है। कूर्मभ्रूण में कूर्माङ्गों की स्थिति सत्कार्यवाद का उदाहरण अवश्य है। 'धान्य-तण्डुल' सत्कार्यवाद का उदाहरण नहीं है।

कारण में कार्य की सूक्ष्मरूपेण स्थिति आपेक्षिक है। घट की मिट्टी में, पञ्चभूत में, पञ्च तन्मात्र में, भूतादि अहंकार में, अहंकारकारण बुद्धि में क्रमशः सूक्ष्म-सूक्ष्मतर रूपों में स्थिति होती है—यह ज्ञातव्य है। उन उन सूक्ष्म-सूक्ष्मतर घटों के साथ व्यवहार करने के लिये इन्द्रियशक्ति को भी तादृश सूक्ष्म होना पड़ता है। इस प्रसंग में एक आवश्यक तथ्य पर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। कार्य को कारण से जितना भिन्न हम समझते हैं, हमारी चित्तेन्द्रियशक्ति का स्तर उसमें हेतु है। ज्ञानशक्ति जैसी जैसी व्यापक होती जायेगी, हम कार्य को देखकर उसकी कारण-सन्निवेश-विशेष-मात्रता को उतनी ही अधिक मात्रा में समझ पायेंगे।

'सर्वसंभवाभाव' युक्ति की वाचस्पतिकृत व्याख्या के विषय में हमारा कुछ वक्तव्य है। यह जानना चाहिए कि सांख्य 'सर्वं सर्वात्मकम्' मानता है तथा वह यह भी मानता है कि उपयुक्त निमित्त से सभी से सब कुछ परिणाम अभिव्यक्त हो सकते हैं। त्रिगुण से असंबद्ध जब कुछ है ही नहीं, तब 'संबद्धं संबद्धेन जन्यते' कहने का सूक्ष्म अभिप्राय ज्ञातव्य है। सांख्य को यह दिखाना है कि असंबद्ध कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। संबद्धता की सूक्ष्मता के स्तर को समझना चित्तोत्कर्ष-सापेक्ष है। उपयुक्त हेतु का प्रयोग करने की सामर्थ्य यदि हो तो बालु से भी तेल निकाला जा सकता है। त्रिगुण को कारणरूप से समझने की शक्ति जिसकी होगी वह 'सर्वं सर्वात्मकम्' कह सकेगा। मिट्टी से घट बनाना कुम्भकार-जातीय अल्पशक्ति व्यक्ति का कार्य है। यदि उपयुक्त शक्ति हो तो भूत या तन्मात्र या भूतादि का ग्रहण करके भी घट बनाया जा सकता है। मिट्टी में भी घट सूक्ष्मरूप से रहता है,

भूततन्मात्रादि में भी सूक्ष्मतररूपेण रहता है। चित्तस्तर के उत्कर्ष से उपादानज्ञान का भी उत्कर्ष होता है और सब कुछ एक त्रिगुण से जात होने के कारण सबसे सभी वस्तुयें बनायी जा सकती ही हैं। इस प्रकार 'सर्वसंभवाभावात्' को समझना चाहिए।

यह निश्चित है कि अस्मदीय लोकव्यवहार की निष्पत्ति आरम्भवाद से भलीभांति की जा सकती है, पर चित्तरोध, अलौकिक शक्ति आदि की व्याख्या सत्कार्यवाद के बिना सम्भव नहीं है। साधकों को यह प्रत्यक्ष अनुभूत होता है कि ईश्वरप्रणिधान आदि से चित्तस्थ अनभिव्यक्त ईश्वरता की ही अभिव्यक्ति होती है। हमने पहले ही कहा है कि अनागत और अतीत परिणामों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्रज्ञालोक से होता है। जिसको यह ज्ञान होता है, उसे सत्कार्यवाद मानना ही पड़ता है। स्वप्न आदि में अनागत परिणाम का ज्ञान यदि वर्तमानकाल में प्रत्यक्षतः होता है तो मानना ही होगा कि अनागत कार्य सूक्ष्मरूपेण कारण में है। हमारी लौकिक दृष्टि से हम यह मान सकते हैं कि 'इस मिट्टी में घट है' ऐसा मानकर कुम्भकार घटनिर्माण में प्रवृत्त नहीं होता, बल्कि 'इस मिट्टी से घट होगा' ऐसा समझकर ही प्रवृत्त होता है। पर लौकिक-बुद्धिसिद्ध घटनाओं की ही व्याख्या के लिये सांख्यशास्त्र प्रवृत्त नहीं हुआ है; अध्यात्मविद्या के तथ्यों (अलौकिक ज्ञान और शक्ति, चित्त का रोध, सृष्टि और प्रलय आदि) की व्याख्या के लिये सत्कार्यवाद को छोड़कर अन्य गति नहीं है।

(१) तदेवं प्रधानसाधनानुगुणं सत् कार्यमुपपाद्य यादृशं तत् प्रधानं साधनीयं तादृशमादर्शयितुं विवेकज्ञानोपयोगिनी व्यक्ताव्यक्तसारूप्यवैरूप्ये तावदाह—

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् ।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥१०॥

---

(१) इस प्रकार प्रधान की अनुमिति में उपयोगी सत्कार्यवाद का उपपादन करके जिस धर्मसे युक्त प्रधान की सिद्धि करनी है, उस प्रकार के प्रधान को दिखलाने के लिये सर्वप्रथम विवेकज्ञान में उपयोगी (व्यक्ताव्यक्त के साधर्म्यज्ञान होने से तद्विलक्षण पुरुष का स्वरूपावधारण होगा—ऐसा समझकर) व्यक्त (महान् से भूत पर्यन्त) तथा अव्यक्त (=प्रधान) के सारूप्य (=साधर्म्य) एवं वैरूप्य (=वैधर्म्य) कहते हैं (१०–११ श्लोकों में)—

व्यक्त हेतुमान् (=सकारण अर्थात् उत्पन्न होने वाला), अनित्य (=विनाशी), अव्यापी (=एकदेशी, व्याप्य), सक्रिय (=परिस्पन्दरूपक्रियायुक्त) अनेक, स्वकारण में आश्रित, लिङ्ग (=प्रधान का अनुमापक) एवं अवयवयुक्त (=अप्राप्तिपूर्वक प्राप्ति रूप संयोग विशिष्ट) है; अव्यक्त इसके विपरीत होता है॥ १० ॥

(२) "हेतुमत्" इति। व्यक्तं हेतुमत्; हेतुः कारणम्, तद्वत्। यस्य च यो हेतुस्तमुपरिष्टाद् वक्ष्यति (द्र० २२ का०)। (३) "अनित्यम्", विनाशि, तिरोभावीति यावत्। (४) "अव्यापि", सर्वं परिणामिनं न व्याप्नोति। कारणेन हि कार्यमाविष्टम्, न कार्येण कारणम्। न च बुद्ध्यादयः प्रधानं वैविषतीत्य[1] व्यापकाः।

(५) "सक्रियम्", परिस्पन्दवत्। तथाहि—बुद्ध्यादय उपात्तमुपात्तं देहं त्यजन्ति, देहान्तरं चोपाददते—इति तेषां परिस्पन्दः। शरीर-पृथिव्यादीनां च परिस्पन्दः प्रसिद्ध एव। (६) "अनेकम्" प्रतिपुरुषं बुद्ध्यादीनां भेदात्। पृथिव्याद्यपि शरीरघटादिभेदेनानेकमेव।

(७) "आश्रितम्", स्वकारण माश्रितम्। बुद्ध्यादिकार्याणामभेदेऽपि कथञ्चिद् भेदविवक्षयाऽऽश्रयाश्रयिभावः; यथेह वने तिलका इत्युक्तम् (द्र० का० ९)।

---

(२) व्यक्त 'हेतुमान्' अर्थात् हेतु (=कारण) से युक्त होता है; व्यक्त पदार्थों में जो जिसका कारण है, उसे आगे (२२ कारिका में) कहेंगे। (३) 'अनित्य' अर्थात् विनाशी, अपने कारण में लीन (=सूक्ष्मरूप से अवस्थित) रहने वाला (४) 'अव्यापी' अर्थात् व्यक्त समस्त परिणामी (जडवर्ग) को अपने परिणाम से व्याप्त नहीं करता, क्योंकि कारण से कार्य व्याप्त होता है, कार्य से कारण व्याप्त नहीं होता। बुद्धि-अहंकार आदि परिणामभूत व्यक्त पदार्थ कारणभूत 'प्रधान' को व्याप्त नहीं करते, अतः वे बुद्ध्यादि अव्यापक हैं।

(५) 'सक्रिय' अर्थात् क्रियायुक्त; क्रिया=परिस्पन्द (=चलन)। बुद्धि आदि व्यक्त पदार्थ पुनः पुनः ग्रहण किए गए शरीर को छोड़ते हैं (मृत्युकाल में) और दूसरे-दूसरे शरीर को ग्रहण करते हैं (जन्मकाल में)—यह त्याग-ग्रहण उनका परिस्पन्द है। शरीर, पृथिवी आदि स्थूल व्यक्त पदार्थों का परिस्पन्द (=स्वस्थान से स्थानान्तर की प्राप्ति) प्रसिद्ध (=प्रत्यक्षसिद्ध) ही है। (६) व्यक्त अनेक हैं—क्योंकि प्रत्येक पुरुष (=जीव) में बुद्धि आदि पृथक् पृथक् हैं। पृथिवी आदि (स्थूल) व्यक्त भी शरीर, घट आदि के भेद से अनेक हैं।

(७) व्यक्त बुद्धि आदि कार्यपदार्थ 'आश्रित' अर्थात् अपने कारण में आश्रित हैं (व्यक्त बुद्धि आदि अभेद सम्बन्ध से स्व-स्व कारणों में रहते हैं)। यद्यपि बुद्धि आदि कार्यों का अपने (गुणत्रय रूप उपादान) कारण से वस्तुतः कोई भेद नहीं है, तथापि किसी न किसी प्रकार से भेद की विवक्षा कर के आश्रय-आश्रित भाव का सम्बन्ध स्वीकृत होता

---

१. वेविषतीत्यत्र केचन संपादकाः 'वेविपन्ति' इति पठन्ति; झेरदादेशे वेविषतीत्येव रूपं स्यात् न पुनः वेविपन्तीति। केचित् वेविशन्ति इति पठन्ति। विशधातुरयं तौदादिकः प्रवेशनार्थकः। अत्र व्याप्त्यर्थक धातुरेवाभीष्टः।

(८) "लिङ्गम्", प्रधानस्य। यथा चैते बुद्ध्यादयः प्रधानस्य लिङ्गं तथोपरिष्टाद् वक्ष्यति (द्र० ११ का०)। प्रधानं तु न प्रधानस्य लिङ्गम्, पुरुषस्य लिङ्गम्भवदपीति भावः।

(९) "सावयवम्" अवयवनम्[1] अवयवः, अवयवानामवयविनां[2] मिथः संश्लेषो मिश्रणं संयोग इति यावत्। (१०) अप्राप्ति पूर्विका प्राप्तिः संयोगः, तेन सह वर्तत इति सावयवम्। तथाहि--पृथिव्यादयः परस्परं संयुज्यन्ते, एवमन्येऽपि। न तु प्रधानस्य बुद्ध्यादिभिः संयोगः, तादात्म्यात्। नापि सत्त्वरजस्तमसां परस्परं संयोगः, अप्राप्तेरभावात्।

(११) "परतन्त्रम्" बुद्ध्यादि। बुद्ध्या स्वकार्येऽहङ्कारे जनयितव्ये प्रकृत्या-

---

है; जैसे 'इस वन में तिलक के वृक्ष हैं' इस वाक्य में उक्त वन और तिलक के वृक्षों में भेद (तिलकों के वन से पृथक् न होने पर भी) स्वीकृत होता है, ऐसा (९ वीं कारिका की व्याख्या में) कहा गया है।

(८) व्यक्त 'लिङ्ग' है अर्थात् प्रधान के अनुमान में हेतु है। ये बुद्धि आदि व्यक्त पदार्थ जिस प्रकार (अव्यक्त) प्रधान की सिद्धि के लिये लिङ्ग (=ज्ञापक चिह्न) बनते हैं, उसे आगे (भेदानां परिमाणात्' इत्यादि १५ वीं कारिका में) कहेंगे। अव्यक्त प्रधान पुरुष की सत्ता के अनुमान में लिंग होने पर भी अपनी सत्ता के अनुमान में लिंग नहीं होता—यह तात्पर्य है।

(९) व्यक्त पदार्थ 'सावयव' अर्थात् अवयवयुक्त है। अवयव' (अव+यु+अप्; यु मिश्रणे) का अर्थ है 'अवयवन' अर्थात् अवयव और अवयवी का परस्पर मिश्रण जिसको 'संयोग' कहा जाता है। (१०) पहले से न प्राप्त हुई वस्तुओं का प्राप्त होना 'संयोग' कहलाता है; ऐसे संयोग के साथ वर्तमान वस्तु सावयव होती है। जिस प्रकार पृथिवी आदि व्यक्त पदार्थ परस्पर संयोग प्राप्त करते हैं, इसी प्रकार अन्य पदार्थ भी एक दूसरे से संयुक्त होते हैं। परन्तु प्रधान का बुद्धि, अहंकार आदि के साथ (उपर्युक्त-लक्षणवाला) संयोग नहीं होता, क्योंकि स्वोपादानभूत प्रकृति के साथ उनका तादात्म्य (=अभेद) रहता है। सत्त्व, रजः और तमः नामक तीन गुणों (अर्थात् अवयवों) का भी परस्पर संयोग नहीं होता है, क्योंकि उनमें अप्राप्ति (=वियोग) नहीं है। (सत्त्व आदि तीन गुणों का परस्पर संयोग नित्य रहता है)।

(११) बुद्धि आदि व्यक्त पदार्थ परतन्त्र (=पराश्रित) हैं। अपने कार्य अहंकार को उत्पन्न करने के लिये बुद्धि को प्रकृति का पूरण (=प्रकृत्यंश का संक्रमण) आवश्यक

---

१. अवयवावयविसंयोगसंयोगि, अथवा अवयवनमवयवः इति पाठः क्वचित्।

२. अवयवावयविनामिति बहुत्र न पठ्यते।

पूरोऽपेक्ष्यते, अन्यथा क्षीणा सती नालमहङ्कारं जनयितुमिति स्थितिः। (१२) एवमहङ्कारादिभिरपि स्वकार्यजनने--इति सर्वं स्वकार्येषु प्रकृत्यापूरमपेक्षते। तेन परां प्रकृतिमपेक्षमाणं कारणमपि स्वकार्यजनने परतन्त्रं व्यक्तम्।

(१३) "विपरीतमव्यक्तम्"—व्यक्तात्। अहेतुमन्नित्यं, व्यापि, निष्क्रियम्; यद्यप्यव्यक्तस्यास्ति परिणामलक्षणा क्रिया तथापि परिस्पन्दो नास्ति। एवमनाश्रितमलिङ्गमनवयवं स्वतन्त्रमव्यक्तम् ॥ १० ॥

होता है, अन्यथा क्षीण होने के कारण वह अहंकार को उत्पन्न नहीं कर सकती, यह शास्त्रीय मर्यादा है। (१२) इसी प्रकार अहंकार भी अपने (इन्द्रियादि) कार्यों को उत्पन्न करने में प्रकृति के पूरण की अपेक्षा रखते हैं। इस प्रकार चूँकि सभी व्यक्तों को अपने अपने कार्यों में प्रकृति के पूरण की आवश्यकता होती है, इसलिये सभी व्यक्त अपने अपने कार्यों को उत्पन्न करने में मूलप्रकृति रूप कारण की अपेक्षा करते हैं, अतः वे परतन्त्र (=अन्यसहायसापेक्ष) हैं।

(१३) अव्यक्त (=प्रधान) व्यक्त से विपरीत है अर्थात् वह कारणरहित, नित्य (=परिणामि-नित्य) व्यापक और निष्क्रिय (=परिस्पन्दहीन) है। यद्यपि अव्यक्त में परिणामलक्षण क्रिया विद्यमान हैं, तथापि उसमें परिस्पन्द रूप क्रिया (=चलन) का अभाव है। अव्यक्त एक (सजातीय-द्वितीय-हीन), अनाश्रित, लिङ्गहीन, अवयवहीन (=संयोगरहित) तथा स्वतन्त्र (=स्वकार्यजनन के लिये किसी की अपेक्षा नहीं करने वाला) है ॥१०॥

दशम कारिका की व्याख्या

इस कारिका[1] पर विचार करने समय यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि सभी २३ व्यक्त पदार्थों पर तथा संस्कार, वृत्ति आदि अतत्त्वभूत पदार्थों पर हेतुमत्व आदि धर्म चरितार्थ होते हैं। उदाहरणार्थ व्यक्त बुद्धि 'अनित्य' है। अतः सभी प्रकार के सोपाधिक पुरुषों (अर्थात् संहत प्राणियों) की बुद्धियाँ अनित्य हैं; प्रजापति ईश्वर की बुद्धि भी अनित्य है। प्रत्येक व्यक्त पदार्थ कार्य है, वह अपने कारण से स्थूल है—कारण से उपयोगी हेतु के व्यापार से निर्गत होता है। कार्य पदार्थ अपने कारण (=उपादान) को व्याप्त नहीं कर सकता; दूसरे शब्दों में कारण की अपेक्षा कार्य अव्यापक है। सांख्यीय दर्शन के अनुसार कार्य

१. इस कारिका के प्रथम चरण की १२ मात्राएँ 'हेतु···व्या' में और १८ मात्राएँ 'पि···ङ्गम्' में पूर्ण होती हैं। इस प्रकार यहाँ यतिभङ्गरूप दोष है। प्रसंगतः ज्ञातव्य है कि इस कारिका के अनुरूप सांख्यसूत्र में अव्यापि पद नहीं है (१।१२४)।

उपादानकारण द्वारा आविष्ट रहता है। वाचस्पति की इस व्याख्या में कोई दोष प्रतीत नहीं होता।

जब व्यक्त के उपादानभूत तीन गुणों में रजः क्रियाशील है (क्रियाशीलं रजः, व्यासभाष्य २।१८) तब व्यक्त अवश्य ही सक्रिय होगा। अतः यहाँ 'व्यक्त सक्रिय है' इस पुनः कथन की क्या आवश्यकता है—यह प्रश्न उठ सकता है। संभवतः वाचस्पति ने इसी दृष्टि से क्रिया का अर्थ परिस्पन्द (प्रवेश-निःसरणादिरूप क्रिया) किया है (अर्थात् प्रत्येक व्यक्त पदार्थ सदैव कुछ-न-कुछ का ग्रहण-त्याग करता रहता है)।

(बुद्धि आदि) कोई भी व्यक्त पदार्थ संख्या में एक नहीं हो सकता--यह 'अनेक' कहने का अभिप्राय है—वाचस्पति का यह मत निर्दोष है। बुद्धि आदि चूँकि अमेय प्रकृति के मेय कार्य हैं, अतः वे संख्या में अनेक होंगे, यह स्वतःसिद्ध है। **इससे यह ध्वनित होता है कि 'समष्टिबुद्धि' रूप कोई पदार्थ सांख्यीय दर्शन में स्वीकृत नहीं होता।** सभी बुद्धियाँ जब अव्यक्त से पृथग्भूत होकर अवस्थित नहीं हैं, तब पृथक् रूप से 'समष्टि बुद्धि' की कल्पना (जो नव्य वेदान्तियों में दृष्ट होती है) व्यर्थ ही है। गौण दृष्टि से इस प्रकार की समष्टि की कल्पना की जा सकती है। पर उसकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है।

वाचस्पति कहते हैं कि यह 'आश्रय-आश्रयि-भाव' की कल्पना गौण है (व्यावहारिक भेदमात्र का आश्रय करके ऐसा कहा गया है, यद्यपि तत्त्वतः यह सत्य नहीं है)। आश्रया-श्रयिभाव को कहने का गूढ़ अभिप्राय है। **प्रत्येक कार्य स्व-कारण में आश्रित रहता है; यही कारण है कि कार्य के गुणों का परिवर्तन योगी इच्छाबल से कर सकते हैं।** जैसे—तन्मात्र रूप भूत-कारण की जय करने पर शब्दादि की प्रकृति का परिवर्तन करने की शक्ति होती है। यदि तन्मात्रों पर भूत आश्रित नहीं रहते, तो ऐसा परिवर्तन नहीं किया जा सकता था। इसी प्रकार अस्मिता-रूप इन्द्रियकारण पर आधिपत्य होने पर इन्द्रियशक्ति में उत्कर्षापकर्ष किये जा सकते हैं। इस आश्रयाश्रयिभाव का अन्य भी गूढ तात्पर्य है, जिसके लिये प्रसंख्यानभाष्य द्रष्टव्य है।

व्यक्त पदार्थ स्वस्वकारणों के 'लिङ्ग' हैं। बुद्धि आदि व्यक्त प्रधान के लिङ्ग हैं—केवल इतना ही नहीं। प्रत्येक व्यक्त पदार्थ ऐसा है, जिसको यथावत् जानने से यह भी जाना जा सकता है कि उसका उपादान किस प्रकार का है। प्रत्येक कार्य से उसके निमित्त की प्रकृति भी अंशतः ज्ञात होती है—यह ज्ञातव्य है।

गुणत्रय की अविषमावस्था-रूप जो प्रधान है वह पुरुष का लिङ्ग है— **वाचस्पति का यह मत अयुक्त है।** यह अवस्था किसी का भी लिङ्ग नहीं हो सकती। यह अव्यक्तावस्था चित्तेन्द्रियगम्य नहीं है; अतः यह यदि किसी का गमकचिह्न होती भी है, तब भी उस लिङ्ग के द्वारा किसी लिङ्गी की अनुमिति होने की संभावना नहीं रहती। वाचस्पति प्रधान को पुरुष का अनुमापक समझते हैं (जो वस्तुतः एक भ्रान्त धारणा है), अतः उनको एक व्यर्थ बात कहने के लिये बाध्य होना पड़ा कि प्रधान प्रधान का लिङ्ग नहीं

होता। कोई पदार्थ स्वयं का लिङ्ग नहीं है—इस कथन की स्वारसिकता क्या है? हमारे मत में ईदृश व्यर्थ कथन की आवश्यकता नहीं है। व्यक्त स्वकारण का चिह्न है; प्रधान किसी का भी गमक चिह्न नहीं है—यह हमारा मत है (प्रधान को जो 'विषय' कहा गया है, उसका यह अर्थ नहीं है कि प्रधान चित्तेन्द्रिय द्वारा संवेद्य पदार्थ है)।

वाचस्पति कहते हैं कि अप्राप्तिपूर्वक प्राप्ति रूप जो संयोग है, वही अवयव है; व्यक्त पदार्थों में ईदृश अवयव हैं (क्योंकि पृथिवी आदि का परस्पर संयोग देखा जाता है), अतः व्यक्त सावयव है। **हमारी दृष्टि में यह वहुत ही स्थूल व्याख्या है।** पाञ्चभौतिक द्रव्य एक है (एक बुद्धि का आलम्वनीभूत है)—ऐसा प्रतीत होने पर भी वह अविभाज्य एक नहीं है, उसके अवयव हैं। जो मत 'परिणामैकत्वात् वस्तुतत्त्वम्' (४।१४) सूत्र में प्रतिष्ठापित है, वही 'सावयव' कहने का अभिप्राय है। प्रधान में ईदृश एकत्वबुद्धि नहीं होती।

वाचस्पति के अनुसार बुद्धि आदि व्यक्तों की परतन्त्रता यही है कि वे जव अपने-अपने कार्यों को उत्पन्न करते हैं; तव उनको अपने अपने कारणों की सहायता अपेक्षित होती है, जो प्रकृत्यापूर (द्र० योगसूत्र ४।२) कहलाता है (आपूर=अनुप्रवेश)। उपादान कारण में सूक्ष्म भाव में अवस्थित कार्य जव स्थूलभाव को प्राप्त करता है (ऐसा होने के लिये उसे कारण से पृथक् होना पड़ता है, पृथक् होने पर भी कारण से वह सर्वथा वियुक्त नहीं होता) तव प्रकृत्यापूर-प्रक्रिया का अवलम्वन करना पड़ता है—हमारी दृष्टि में यह असिद्ध है। **उपादानकारण से कार्य की उत्पत्ति में 'प्रकृत्यापूर' पद्धति की कोई आवश्यकता नहीं है।** प्रकृत्यापूर सिद्धिसंवन्धी प्रक्रियाविशेष है, यह ४।२ सूत्र की भाष्यपातनिका से ही स्पष्ट होता है। भाष्यस्थ 'तत्र' का अर्थ है—'सिद्धौ', अर्थात् 'एक जाति के पदार्थ का जव अन्यजाति में परिणाम होता है, तभी प्रकृत्यापूर का प्रसंग आता है। परिणामविशेष के साथ प्रकृत्यापूर का संवन्ध है, पर परिणाममात्र में इसका संवन्ध नहीं है। मिट्टी से घट वनने में प्रकृत्यापूर-प्रक्रिया का कोई भी संवन्ध नहीं है।

इस विषय में निम्नांकित तथ्य पर ध्यान देना आवश्यक है। करण और शरीर के असंख्य प्रकार हैं जो एक दूसरे से भिन्न गुणकर्मवाले हैं। कोई अपने मनुष्य शरीर को वृक्षशरीर में परिणत करना चाहे या मनुष्यचक्षु को देवचक्षु में परिणत करना चाहे तो यह संभव नहीं कि मनुष्यचक्षु में नाना प्रकार से गुणाधान करते रहने पर (लौकिक प्रयत्नों के द्वारा) मनुष्यचक्षु देवचक्षु में परिणत हो जायेगा। ऐसा होना कथमपि संभव नहीं है—सांख्यीय जातिभेदतत्त्व का यही मुख्य आधार है। पर मनुष्यचक्षु में दैवचक्षु की प्रकृति का आधान करने पर (योगोक्त कौशल द्वारा) मनुष्यचक्षु का दैव परिणाम होता है। यह आधान क्रिया किस प्रकार की होती है—यह दिखाने के लिये तत्काल-सुप्रचलित जल की आपूरणप्र-प्रक्रिया का उल्लेख सूत्रकार ने किया है। तात्पर्य यह कि यहाँ वस्तुतः दैव चक्षु की प्रकृति का योग मनुष्यचक्षु के साथ नहीं किया जाता (चक्षु=चक्षुरूप आहंकारिक पदार्थ; गौणतः चक्षु का शारीर अधिष्ठान भी यथायथरूप से

गृहीत होता है), वल्कि मनुष्य-चक्षु की प्रकृति का रोध (दैव चक्षु को अनुकूलता की दृष्टि में रखकर) किया जाता है। ऐसा करने पर मानव चक्षु स्व-उपादान में लीन होता है और उस उपादन से दैव चक्षु का आविर्भाव होता है (इस दैव चक्षु की वासना पहले से ही मानव कर्माशय में सूक्ष्मरूप से है—यह ज्ञातव्य है)।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जब बुद्धि अहंकार में परिणत होता है, अर्थात् बुद्धि में सूक्ष्मरूपेण स्थित अहंकार तब स्थूल होता है, तब प्रकृत्यापूर-प्रक्रिया की कुछ भी आवश्यकता नहीं होती। हमारी दृष्टि में बुद्धि-आदि व्यक्तों की परतन्त्रता वही है, जो निम्नोक्त व्यासभाष्य में प्रतिपादित हुआ है—तदेतद् दृश्यं···दृश्यत्वेन स्वं भवति दृशिरूपस्य पुरुषस्य स्वामिनः अनुभवकर्मविषयताम् आपन्नमन्यस्वरूपेण प्रतिलब्धात्मकं स्वतन्त्रमपि परार्थत्वात् परतन्त्रम् (२।१७)। 'परार्थत्वहेतु परतन्त्रता' योगसूत्र में भी स्पष्ट शब्द में उक्त हुई है; द्र० तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा (२।२१)।

भौतिक (जो भूत से स्थूल हैं) पदार्थ यद्यपि व्यक्त ही हैं, तथापि कारिका का लक्ष्य महदादि २३ तत्त्व रूप व्यक्त पदार्थ ही हैं। इनमें जो अवान्तर कार्यकारण भाव है वह हेतुमत्ता का उदाहरण है (कारण के प्रसंग में निमित्तकारण भी ग्राह्य है)। करणों की जो अनित्यता है, वह ग्राह्य विषयों की अनित्यता की तुलना में स्थिर है। बाह्य विषयों की व्यापिता और करणों की व्यापिता एकरूप नहीं है; ग्राह्य देशव्यापी है, करण कालव्यापी है। करण और ग्राह्य विषयों के अवयव भी एक प्रकार के नहीं हैं। चूँकि हेतुमत्त्व, व्यापित्व आदि शब्द दोनों—करण एवं विषयों—के धर्म के प्रतिपादन के लिये प्रयुक्त हुये हैं, अतः दोनों क्षेत्रों में इन शब्दों के अर्थ समान होंगे—यह आग्रह नहीं करना चाहिये।[1] कारिकोक्त साधर्म्यों के अतिरिक्त अन्य साधर्म्य हो सकता है या नहीं—प्रसंख्यानभाष्य में इस विषय पर विचार द्रष्टव्य है

व्यक्त गुणवैषम्यात्मक है, अतः उसके कारण गुणवैम्यपरूप नहीं है। ईदृश सत्त्वरजस्तमः का कोई उपादान और हेतु नहीं हो सकते। अविषम सत्त्व-रजस्तमः का जो स्वभाव है वह विषमावस्था में अन्वित रहता है। सत्त्वादिगुणों का गुण-प्रधानभाव असंख्य प्रकार का हो सकता है, पर प्रत्येक प्रकार गुण-स्वभाव का सर्वथा अनुयायी होता है, अतः त्रिगुण नित्य हैं—परिणामि-नित्य हैं। चूँकि गुणत्रय सभी विकारों में अन्वित है अतः अव्यक्त व्यापी है—यह व्याख्या अमौलिक है, क्योंकि परिणामि-नित्यता में ही ईदृश व्यापिता गतार्थ हो जाती है। रजोगुण क्रियाशील है, अतः प्रधान को जब अक्रिय कहा जाता है, तब उस का अर्थ यदि 'पुरुषार्थसाधनरूप क्रिया से शून्य' किया जाये तो वह

---

१. सांख्यकारिका के वाक्य सूत्रशैली में रचित हैं—यह युक्तिदीपिका से भी ज्ञात होता है। सूत्रशैली का यह वैशिष्ट्य है कि सूत्रीय पद विश्वतोमुख होते हैं। एक ही वाक्य में एक शब्द के एकाधिक अर्थों में प्रयोग विश्वतोमुखता का अन्यतम उदाहरण है।

संगत ही है। गमनादिरूप परिस्पन्दात्मिका क्रिया प्रधान में नहीं है, अथवा अप्राप्तिपूर्वक प्राप्तिरूप संयोगानुकूल क्रिया प्रधान में नहीं है—यह व्याख्या स्थूल है।[1]

प्रधान की 'एकता' विशेषतः विचार्य है। अव्यक्तभाव में संख्याबुद्धि होने का प्रश्न ही नहीं उठता, अतः संख्यापरकविचार विकल्पवृत्ति का ही उदाहरण है। व्यक्तभाव में जिस प्रकार की अनेकता का बोध होता है, तादृश अनेकता का बोध अव्यक्त के विषय में नहीं होता—यह 'एक' कहने का एक तात्पर्य है। 'अवैषम्यभाव-प्राप्त गुणत्रय' रूप पदार्थ यदि सामान्य है, विषय है, सभी विकारों में अन्वित है, तो वह एकसंख्यक अवश्य होगा—यह कोई कोई कहते हैं (द्र० भाष्यविवरण २।२२)। प्रतिपुरुष प्रधान पृथक् है—यह भी एक मत था—ऐसी प्रसिद्धि है। इस मत की समीक्षा तथा प्रधान का एकत्वसंबन्धी सूक्ष्म विचार प्रसंख्यानभाष्य में द्रष्टव्य है।

सत्त्वरजस्तमः की अवैषम्यावस्था किसी पर आश्रित नहीं है। यह तभी किसी पर आश्रित होगी यदि इस अवस्था से कोई सूक्ष्मतर पदार्थ हो; चिद्रूप पदार्थ भी अव्यक्तावस्थ त्रिगुण का आश्रय नहीं हो सकता। एक गुणवैषम्यजात भाव पदार्थ अन्य गुणवैषम्यजात भाव पदार्थ द्वारा निमन्त्रित-परिचालित हो सकता है (प्रजापति का अहंकार व्यक्त ब्रह्माण्ड का आश्रय है—यह इसका एक उदाहरण है), पर गुण की अवैषम्य-अवस्था भी किसी के नियन्त्रण में है—यह चिन्ता असंगत है। नियन्त्रण चित्त द्वारा होता है, केवल निर्गुण पदार्थ संकल्प-इच्छादि से शून्य है, अतः निर्गुण ब्रह्म अव्यक्त प्रकृति का न आधार हो सकता है और न नियन्त्रक। कोई सोपाधिक पुरुष ही किसी परिच्छिन्न व्यक्तभाव पर आधिपत्य कर सकता है—यह सांख्यीय दृष्टि है। 'ब्रह्म सर्वाधार है' रूप मत का तात्पर्य है—ब्रह्माण्डाधीश हिरण्यगर्भ का अहंकार ब्रह्माण्ड का मूल उपादान है।

हमारी दृष्टि में लिङ्ग का 'गमक चिह्न' रूप अर्थ अधिक युक्त है। गुणों की अवैषम्यावस्था यदि किसी का लिङ्ग हो तो वह पुरुष (तत्त्व) का ही हो सकता है। पर लिङ्ग होने के लिये उसकी प्रत्यक्षयोग्यता चाहिये; अवैषम्यभाव वैषम्यभाव रूप बुद्धि द्वारा कथमपि संवेद्य नहीं है, अतः प्रधान को किसी के लिङ्ग के रूप में माना नहीं जा सकता। प्रधान जब हेतु (=निमित्त-उपादान) से हीन है, तब उसका लय नहीं होगा—यह तो अर्थात्-प्राप्त है, अतः 'अलिङ्ग' का 'जिसका लय नहीं होता' रूप अर्थ करना व्यर्थ ही है। यही कारण है कि हम लिङ्ग का 'लयशील', या 'कारण में लीन'—ऐसा अर्थ अयुक्त समझते हैं। लिङ्ग शब्द को ईदृश अर्थ का वाचक मानना एक अर्वाचीन कल्पना है।

प्रधान गुणों की अवैषम्यावस्था है; इस अवस्था में व्यक्त परिणाम नहीं होता; अतः 'परिणामैकत्वाद् वस्तुतत्त्वम्' (योगसू० ४।१०) रूप दृष्टि प्रधान में प्रयोज्य ही नहीं

---

१. कारिकोक्त विशेषणों की वही व्याख्या संगत है जिसमें एक विशेषण अन्य विशेषण में गतार्थ नहीं होता। इस कारिका में उक्त सभी शब्दों के विवक्षित तात्पर्य हमें पूर्णतया ज्ञात नहीं हैं।

है। यही कारण है कि प्रधान में 'अवयवसमष्टि स्वरूप एक अवयवी' रूप बुद्धि उत्पन्न ही नहीं होती। किं च अवयव देशव्यापी या कालव्यापी ही होगा; ईदृश अवयव का अवैषम्यावस्था में रहना संभव ही नहीं है। देश-काल व्यक्तभाव के अधीन हैं, अतः अव्यक्त-भाव के साथ उनका कोई संबन्ध नहीं है।

गुणों की अविषमावस्था परतन्त्र नहीं है। यह यदि परतन्त्र हो तो वह 'पर' पुरुष तत्त्व ही हो सकता है; निर्गुण अपरिणामी पुरुष में ईदृश सामर्थ्य की कल्पना नहीं की जा सकती। प्रधान परतन्त्र नहीं है—यह अनुमान से सिद्ध होता है; प्रधान चित्तेन्द्रिय द्वारा असंवेद्य है, अतः प्रधान की स्वतन्त्रता असंवेद्य है[1]। ॥१०॥

---

(१) तदनेन प्रबन्धेन व्यक्ताव्यक्तयोर्वैधर्म्यमुक्तम्। सम्प्रति तयोः साधर्म्यम्, पुरुषाच्च वैधर्म्यमाह—

त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनम्प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥ ११ ॥

---

(१) उपर्युक्त वाक्यसमूह से व्यक्त और अव्यक्त का वैधर्म्य (विरुद्ध धर्म) बतलाकर अब दोनों का परस्पर साधर्म्य (=समान धर्म) और पुरुष से उनका वैधर्म्य (=जो धर्म पुरुष में नहीं हैं) कहते हैं—

व्यक्त (महत्तत्त्व आदि) तथा अव्यक्त (=मूल प्रकृति) दोनों ही त्रिगुणरूप, अविवेकी (अपृथक् भूत या मिलकर कार्य करने वाले), विषय, सर्वसाधारण (अनेक-ग्राह्य), अचेतन (=जड) तथा प्रसवधर्मी (=किसी का उत्पादक, सुतरां परिणामी) हैं। पुरुष इन दोनों से विपरीत भी है एवं उनके सदृश भी है (अनेकत्व रूप व्यक्त धर्म और अहेतुमत्त्व आदि अव्यक्त धर्म पुरुष में है ऐसा होने पर भी व्यक्त-अव्यक्त-साधारण त्रिगुणत्वादि धर्म जो इस कारिका में कहे गये हैं, वे पुरुष में नहीं रहते हैं) ॥ ११ ॥

---

१. कुछ विचारक यह समझते हैं कि अव्यक्त प्रधान का स्वातन्त्र्य एक ऐसा मत है, जिससे असमाधेय समस्याएँ उत्पन्न होती हैं: If the impassive consciousness of Puruṣa and the incessant movement of Prakṛti are regarded independent of each other, the problem of philosophy is insoluble (Radhakrishnan, I. P. II. p. 332). दृश्य (बुद्धि एवं बुद्धिस्थ सभी भाव) की आत्मा पुरुषार्थ है, यह सांख्यानुमोदित है। तथैव चित् से अनधिष्ठित अदृश्य अव्यक्तभाव भी अवश्य युक्तितः स्वीकार्य है—यह सांख्यों का कहना है; प्रसंख्यानभाष्य में यह विषय द्रष्टव्य है।

(२) "त्रिगुणम्" इति। त्रयो गुणाः सुखदुःखमोहा अस्येति त्रिगुणम्। तदनेन सुखादीनामात्मगुणत्वम् पराभिमतमपाकृतम्।

(३) "अविवेकि" इति। यथा प्रधानं न स्वतो विविच्यते, एवम्महदादयोऽपि न प्रधानाद् विविच्यन्ते, तदात्मकत्वात्। अथवा सम्भूयकारित्वमत्राविवेकः। न हि किञ्चिदेकं पर्याप्तं स्वकार्ये, अपितु सम्भूय। तत्र नैकस्मात् कस्यचित् केनचित् सम्भव इति।

(४) ये त्वाहुः—'विज्ञानमेव हर्षविषादमोहशब्दाद्याकारम्, न पुनरितोऽन्यस्तद्धर्मा' इति—तान् प्रत्याह—"विषयः" इति। 'विषयो' ग्राह्यः, विज्ञानाद् बहिरिति यावत्। (५) अतएव "सामान्यम्" साधारणम्" घटादिवत्; अनेकैः पुरुषैर्गृहीतमित्यर्थः। (६) विज्ञानाकारत्वे तु असाधारण्याद् विज्ञानानां वृत्तिरूपाणां तेऽप्यसाधारणाः स्युः। (७) विज्ञानं यथा परेण न गृह्यते परबुद्धेर प्रत्यक्षत्वादित्यभिप्रायः। तथा च नर्तकीभ्रूलताभङ्गे एकस्मिन्

---

(२) सुख, दुःख और मोहरूप तीन गुण जिसमें हों, वह त्रिगुण कहलाता है। इस कथन (अर्थात् सुखादि की गुणात्मकता) से अन्य दार्शनिकों का यह मत कि 'सुख, दुःख आदि आत्मा के गुण हैं' निराकृत हो जाता है। (३) व्यक्त और अव्यक्त 'अविवेकि' ('अविवेकिन्'—नपुंसक, प्रथमैकवचन) हैं अर्थात् जिस प्रकार प्रधान को स्वतः अपने से (=गुणत्रय से) पृथक् नहीं किया जा सकता उसी प्रकार (कार्य और कारण दोनों में एकता होने से) महान् आदि व्यक्त भी प्रधान से पृथक् नहीं किए जा सकते हैं। व्यक्त पदार्थ अकेला कोई कार्य उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होता, किन्तु दूसरों के साथ मिलकर ही कार्योत्पादन में समर्थ होता है। व्यक्त और अव्यक्त में से किसी एक तत्त्व से किसी भी प्रकार किसी कार्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं है।

(४) जो (विज्ञानवादी बौद्ध) यह कहते हैं कि विज्ञान (=चित्तवृत्ति) ही सुख, दुःख तथा मोह रूप शब्दादि के रूप में आकारित होता है, विज्ञान से पृथक् कोई सुखादिधर्मक (या सुखादि-स्वरूप) पदार्थ नहीं है उनको लक्ष्यकर कारिकाकारने "विषय" शब्द कहा है। विषय का अर्थ है—'ग्राह्य' (=इन्द्रियग्राह्य) अर्थात् विज्ञान से पृथक् (अनेक ज्ञाताओं के द्वारा व्यवहरणीय, ज्ञेय)। (५) इसलिये (विषय की विज्ञान से भिन्नता होने के कारण) व्यक्त और अव्यक्त को 'सामान्य' (अर्थात् बहुज्ञातृ-साधारण) कहा गया है अर्थात् वे अनेक पुरुषों द्वारा गृहीत होते हैं। (६) यदि ये (घट आदि व्यक्त पदार्थ) विज्ञान के ही आकार (=परिणाम) होते, तो जिस प्रकार 'विज्ञान' के चित्तवृत्तिरूप होने के कारण एक पुरुष का विज्ञान पुरुषान्तर के द्वारा गृहीत नहीं होता है, उसी प्रकार ये (घट आदि) भी असाधारण (=प्रत्यक्-रूप, स्वमनोग्राह्य) होते। (७) अभिप्राय यह

बहूनां प्रतिसन्धानं युक्तम् । अन्यथा तन्न स्यादिति भावः ।

(८) "अचेतनम्" इति । सर्व एव प्रधान-बुद्धयादयोऽचेतनाः, न तु वैनाशिकवच् चैतन्यं बुद्धेरित्यर्थः । (९) "प्रसवधर्मि" इति । प्रसवरूपो धर्मो यः सोऽस्यास्तीति प्रसवधर्मि । प्रसवधर्मेति वक्तव्ये मत्वर्थीयः प्रसवधर्मस्य नित्ययोगमाख्यातुम् । सरूपविरूपपरिणामाभ्यां न कदाचिदपि वियुज्यत इत्यर्थः ।

(१०) व्यक्तवृत्तमव्यक्तेऽतिदिशति—"तथा प्रधानम्" इति । यथा व्यक्तं

है कि जिस प्रकार दूसरे व्यक्ति की बुद्धि के प्रत्यक्ष न होने के कारण उसका विज्ञान अन्य को अज्ञात या अप्रत्यक्ष रहता है (उसी प्रकार ये घटादि विषय भी विज्ञानरूप होने के कारण अन्य ज्ञाता के द्वारा अज्ञात ही होते हैं) । विषयों को साधारण (=अनेकव्यक्ति द्वारा ग्राह्य) मानने पर ही नर्तकी के एक ही भ्रू भंग (=भौओं के टेढ़ापन) में (एक साथ) अनेक पुरुषों का प्रतिसन्धान (=अभिनिवेशपूर्वक दर्शन) होना संगत होता है; अन्यथा (नर्तकी के कटाक्ष का विज्ञान-मात्र-स्वरूप होने पर) ऐसा (=उसपर सभी का दृष्टिपात) न होना चाहिए ।

(८) प्रधान, बुद्धि आदि सभी पदार्थ अचेतन (=जड़) हैं, न कि वैनाशिक बौद्ध के अनुसार 'बुद्धि का चैतन्य'—ऐसा माना जाता है । (९) 'प्रसवधर्मी (नपुंसकलिङ्ग प्रथमैकवचन में 'प्रसवधर्मि') अर्थात् जिसमें प्रसवरूप धर्म (=परिणत होकर कार्य का उत्पादन) विद्यमान है, वह । यद्यपि 'प्रसवधर्म'[१] (बहुव्रीहिसमास के पक्ष में—प्रसवो धर्मो यस्य तत्)—यह पद ही प्रयुक्त होना चाहिए, तथापि कारिकाकार ने जो इस शब्द को 'प्रसवश्चासौ धर्मश्चेति प्रसवधर्मः' इस कर्मधारयसमास के बाद मत्वर्थीय 'इनि' प्रत्यय के योग से निष्पादित कर प्रयुक्त किया है उसका तात्पर्य यह है कि 'प्रसवरूप धर्म की नित्यता प्रकटित हो' । इस पद से कारिकाकार को यही अर्थ ज्ञापित करना है कि व्यक्त तथा अव्यक्त (प्रधान के) सरूप (=समानरूप) एवं विरूप (=असमानरूप) परिणामों से कभी भी वियुक्त नहीं रहते । (प्रलयकाल में सत्त्व का सत्त्वरूप में रजः का रजः रूपमें और तमः का तमः रूपमें रहना सरूप परिणाम है) ।

(१०) 'तथा प्रधानम्'—इस वाक्य के द्वारा करिकाकार व्यक्त के धर्मों का अव्यक्त में अतिदेश करते हैं; जिस प्रकार व्यक्त इन धर्मोंसे युक्त है, उसी प्रकार प्रधान

---

१. प्रसवधर्मेति वक्तव्ये—'प्रसवधर्म इति' यही पदच्छेद है । 'प्रसवधर्मन्' रूप प्रातिपदिक है, जिसका विशेष्य है—व्यक्त और प्रधान रूप नपुंसकलिङ्गक शब्द । प्रथमा के एकवचन में (नामन् शब्द की तरह) रूप होगा—प्रसवधर्म । हरदत्तशर्मा और पाटकरसंपादित एवं म.म. झाकृत आंग्लानुवाद-युक्त तत्त्वकौमुदी में रोमनलिपि में लिखित प्रसवधर्म शब्द के अन्तिम a अक्षर पर macron है (१९६५ ई०संस्क०) । यह आकारान्त पाठ सदोष है । संभवतः यह मुद्रणप्रमाद है ।

तथाऽव्यक्त मित्यर्थः। (११) ताभ्यां वैधर्म्यं पुरुषस्याह—"तद्विपरीतः पुमान्" इति। (१२) स्यादेतत्—अहेतुमत्वनित्यत्वादि प्रधानसाधर्म्यमस्ति पुरुषस्य, एवमनेकत्वं व्यक्तसाधर्म्यम्, तत्कथमुच्यते "तद्विपरीतः पुमान्" इति ? अत आह—"तथा च" इति। (१३) चकारोऽप्यर्थः; यद्यप्यहेतुमत्त्वादिकं साधर्म्यम्, तथाऽप्यत्रैगुण्यादि वैपरीत्य मस्त्येवेत्यर्थः ॥ ११ ॥

भी है। (११) इन दोनों से पुरुष की भिन्नता कहते हैं—'पुरुष इन दोनों से विपरीत है' (अर्थात् पुरुष गुणहीन, विवेकी, अविषय, असाधारण, चेतन तथा अप्रसवधर्मा है)। (१२) अब यह विचार्य विषय है कि पुरुष में भी हेतुहीनता और नित्यता आदि प्रधान के साधर्म्य हैं और इसी प्रकार अनेकतारूप व्यक्त का साधर्म्य भी पुरुष में विद्यमान है, तब यह कैसे कहा जा सकता है कि पुरुष इन दोनों से विपरीत है ? इसके उत्तर में 'पुरुष उनके सदृश भी है'—ऐसा कारिकाकार ने कहा है। (१३) 'च' कार ('तथा च') का अर्थ इस स्थल में 'अपि' (=भी) है; अभिप्राय यह है कि यद्यपि पुरुष में कारणहीनता आदि प्रधान के समान धर्म हैं, तथापि उसमें निर्गुणत्व आदि विरुद्ध धर्म भी हैं। (त्रिगुण, अविवेक आदि जो व्यक्ताव्यक्तसाधारण हैं, उनका सम्बन्ध पुरुष में नहीं है) ॥११॥

११वीं कारिका की व्याख्या

गुणत्रय की दो अवस्थाएँ हैं=विषम भाव में स्थिति, और अविषमभाव में स्थिति। विषमभाव में त्रिगुण प्रधान-गौण-भाव से रहते हैं। व्यक्तावस्था में ईदृश अन्यथात्व होने पर भी—परस्पर अन्योन्यमिश्रित रहने पर भी—गुणों के प्रकाश-क्रिया-स्थिति-रूप 'धर्म' अविकृत ही रहते हैं। यही कारण है कि व्यक्त मात्र को भी 'त्रिगुण' शब्द से कहना उपपन्न होता है। 'त्रैगुणिक' (=त्रिगुणजात) शब्द का यदि व्यवहार किया जाये तो भी उसका मुख्य तात्पर्य यही है कि ये व्यक्त पदार्थ गुणसन्निवेश-विशेष ही हैं। वैषम्यावस्था में भी गुणों की अपने स्वभाव से विच्युति नहीं होती—यह विशेषतः द्रष्टव्य है।

जब प्रत्येक व्यक्त पदार्थ प्रकाश-क्रिया-स्थिति-गुणक द्रव्यों का वैषम्यरूप है, तब प्रत्येक वस्तु गुणवैषम्य-रूप है—एतादृश बोध जीवों में होना चाहिये। बाह्य-आभ्यन्तर विषयों का जब बोध होता है, तब वे गुणवैषम्यरूप (=गुणों के सन्निवेश-विशेष-मात्र) की तरह क्यों नहीं प्रतीत होते ? वह कौन-सा पदार्थ है जिसके कारण बुद्धिआदि-रूप करण शब्दादि ग्राह्य विषयों को त्रिगुणसन्निवेश-मात्र रूप से नहीं समझ पाता ? जिस हेतु से हमारी चक्षु प्रतिक्षण एक एक स्थान में स्थित गतिशील अङ्गारखण्ड को यथावत् रूप से न देखकर एक अखण्ड अलातचक्र के रूप में देखती है—वही हेतु यहाँ भी प्रयोज्य है।

विषयगत क्रिया जितनी सूक्ष्म (या द्रुत) है, उसकी ग्राहक इन्द्रियशक्ति यदि उतनी सूक्ष्म (या द्रुत) न हो तो वह वैषयिक चाञ्चल्य का एक एक कर पृथक् ग्रहण न करके अनेक चाञ्चल्यों की समष्टि को ही 'एकवत्'—ग्रहण करती है, जिससे अलातचक्रदर्शनवत्-भ्रम उत्पन्न होता है। जीवगत करण जड़ताधिक्य से इतनी आक्रान्त है कि वह गुण-सन्निवेश को सन्निवेश के रूप में ग्रहण न कर 'एक नूतन वस्तु' के रूप में ही ग्रहण करता है। अन्तःकरणगत जड़ता (और विक्षेप) जैसी जैसी अपगत होती जायेगी, पदार्थों के गुण-सन्निवेशात्मकता का ज्ञान भी तदनुसार प्रस्फुट होता जायेगा और अन्त में यह ज्ञात होगा कि सभी व्यक्त पदार्थं गुणों के सन्निवेश-विशेष ही हैं। इस सन्निवेश के कारण त्रिगुण के मूल स्वभाव में कोई परिवर्तन नहीं हो जाता—यह ज्ञातव्य है।

त्रिगुण के विषम और अविषम—दोनों रूप अविवेकी (अविवेकिन्—नपुंसक लिङ्ग) हैं—त्रिगुण परस्पर पृथक् रूप से नहीं रहने वाले हैं। तात्पर्य यह है कि तीन गुण एक साथ ही कार्य कर सकते हैं—परिणत होते हैं; एक गुण का प्रधान भाव और अन्य गुणों का अप्रधान भाव अविनाभावी हैं। कोई गुण पृथक् रूप से परिणत होता है—यह अचिन्त्य है। अविवेकी का संभूयकारितारूप जो अर्थ वाचस्पति ने किया है, वह हमारी दृष्टि में अधिकतर संगत है। तीनों गुण पृथक्-करणीय भी नही हैं—यह भी इसका फलितार्थ है। व्यक्त विषय और करणों में त्रिगुणानुसारी जो मूलधर्म हैं वे भी पृथक्करणयोग्य नहीं हैं—उनकी अवस्थान्तरता ही की जा सकती हैं।

त्रिगुण का विषम भाव विषय है, यह स्पष्ट है, क्योंकि महदादि रूप वैषम्यजात भाव चित्तेन्द्रियवेद्य हैं। गुणत्रय के अविषमभाव को जो विषय कहा गया है, वह 'चित्तेन्द्रियवेद्यता' की दृष्टि से नहीं है, परन्तु योग्यता की दृष्टि से है। कभी भी बुद्धि का विषय जो नहीं हो सकता है ऐसा पुरुष 'अविषय' है; अतः अविषम अवस्था में अविषय होने पर भी विषम अवस्था में जो प्रधान विषय होता है। वे त्रिगुण अविषमावस्था में भी 'विषय'-पद वाच्य हो सकते हैं—'सर्वथा अविषय नहीं है' इस दृष्टि से। दृश्य त्रिगुण 'पररूपेण प्रतिलब्धात्मकम्' (व्यास० २ २।१७) है, अतः विषय है, यह कहना संगत है। अव्यक्त प्रधान को विषय कहने का अन्य गूढ तात्पर्य है जो प्रसंख्यानभाष्य में द्रष्टव्य है।

व्यक्त और अव्यक्त दोनों ही 'विषय' हैं 'सामान्य' हैं—इस मत के प्रसंग में वाचस्पति ने एक प्रासंगिक विषय का अवतारण किया है। उनका कहना है कि व्यक्त और अव्यक्त विषय हैं—सामान्य हैं—यह कथन बौद्ध विज्ञानवाद की दृष्टि के विरुद्ध है, क्योंकि 'विषय' का अर्थ है—'ग्राह्य' अर्थात् विज्ञान रूप मन, या चित्त या चित्तवृत्ति का वहिःस्थ। तथैव व्यक्त-अव्यक्त सामान्य=साधारण=अनेकपुरुषगृहीत हैं—यह कारिका-कथन विज्ञानवाद का विरोधी है, क्योंकि विज्ञान (=चित्तवृत्ति) असाधारण होता है, एक का विज्ञान अन्य के लिये अगृहीत ही होता है।

वाचस्पति का यह पूरा विचार कहाँ तक सांख्यीय है—यह निम्नोक्त विवेचन से स्पष्ट होगा। वाचस्पति के मत में विषय=ग्राह्य वस्तु, जो चित्तवृत्तिरूप विज्ञान से पृथक् है। **सांख्य की दृष्टि में 'विषय' मूलतः भूतादि-अहंकार का ग्राह्यीभूत रूप है और विषय का जो ज्ञान होता है वह भी बुद्धिगत अध्यवसाय नामक धर्म है।** इन्द्रियबाह्य हेतु के विना शब्दादिज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता—यह सांख्य का कहना है। इस प्रकार सांख्यीय दृष्टि बौद्ध विज्ञानवाद के इस अंश की विरोधी है कि विज्ञान स्वयं ही शब्दाद्याकार से परिणत होता है। **किंच बौद्ध दृष्टि में विज्ञान अविश्लेष्य है, जब कि सांख्य में विज्ञान का भी उपादान और हेतु स्वीकार्य होते हैं।**

वाचस्पति ने यह जो कहा कि एक व्यक्ति का चित्तवृत्तिरूप विज्ञान अन्य व्यक्ति द्वारा गृहीत नहीं होता—यह उच्छास्त्र कथन है। **जब सांख्य कहता है कि व्यक्त पदार्थ-मात्र विषय और सामान्य हैं तब व्यक्त चित्त विषय भी है और सामान्य भी है।** चूंकि चित्तवृत्ति का भी संवेदन होता है (मेरी क्रोधवृत्ति है—इस अनुभव में क्रोधवृत्ति संविदित होती है; तुल० सदाज्ञाताश्चित्तवृत्तयः, योगसूत्र ४।१८) अतः वृत्तिरूप व्यक्त पदार्थ विषय अवश्य है। यह तो अनपलाप्य है कि किसी की विज्ञानरूप चित्तवृत्ति या बुद्धिवृत्ति का प्रत्यक्ष अन्य व्यक्ति द्वारा भी होता है। यह प्रत्यक्ष सिद्ध करता है कि विज्ञान सामान्य है। जिस प्रकार एक घट का प्रत्यक्ष दश व्यक्ति कर सकते हैं, उसी प्रकार चैत्र के चित्त और चित्तवृत्ति रूप विज्ञान का प्रत्यक्ष भी मैत्र आदि कर सकते हैं, यदि उनमें परचित्त ज्ञान करने में समर्थ शक्ति हो (द्र० प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्, योगसू० ३।१९)। यह पर-चित्त ज्ञान प्रत्यक्षात्मक ज्ञान है, अनुमिति नहीं—यह ज्ञातव्य है। **एक व्यक्ति के चित्त-वृत्ति रूप विज्ञान का अन्य द्वारा साक्षात्कार तो स्थूल बात है, एक व्यक्ति के चित्तगत संस्कारों का भी अन्य द्वारा प्रत्यक्षज्ञान किया जा सकता है।** चूंकि ईदृशज्ञान योगी को ही होता है, अतः इसका उदाहरण नहीं दिया जा सकता—यह कहना बालोचित होगा, क्योंकि सांख्यकारिका का आलोच्य विषय है—मोक्षदर्शन (द्र० सांख्यं तु मोक्ष-दर्शनम्)। अज्ञों की दृष्टि में विभूति अलौकिक भले ही हो, विभूतिमान् की दृष्टि में वह सर्वथा लौकिक ही है। हम चूंकि विभूति को तथ्य समझते हैं, अतः हम उसको दृष्टान्त के रूप में लेकर 'एक का विज्ञान अन्य के द्वारा साक्षात्कारयोग्य है' ऐसा मान ही सकते हैं।[1]

---

१. बुद्धि आदि व्यक्त पदार्थ सामान्य हैं (अर्थात् एक की बुद्धि अन्य के द्वारा साक्षात् ज्ञेय होती है) —इस पर John Davies कहते हैं—This is not true, as an exposition of Kapla's system, for buddhi is not common to all things (p. 25). हमें यह पता नहीं चला कि Davies महोदय को यह कैसे ज्ञात हो गया कि हमारे द्वारा

'व्यक्त और अव्यक्त अचेतन हैं' इस विषय में कुछ ज्ञातव्य है। गुणत्रय की अवैषम्यावस्था को अचेतन कहा जा सकता है, क्योंकि वह पुरुषसम्बन्धहेतुक कोई परिणामविशेष नहीं है। व्यक्तावस्था पुरुषसम्बन्ध-युक्त है (पुरुष-चैतन्य-युक्त बुद्धि तत्त्व का सर्वविकार-बीज होने के कारण), अतः न केवल अन्तःकरण-बाह्यकरण के साथ चैतन्य का योग है, बल्कि तन्मात्र-भूत भी पूर्णतया चैतन्य-सम्बन्ध-हीन नहीं हैं (तन्मात्र का उपादान अहंकार होने के कारण)। अतएव हमें मानना पड़ता है कि जिस अर्थ में अव्यक्त अचेतन है, उस अर्थ में व्यक्त को अचेतन[1] नहीं कहा जा सकता। व्याख्याकारों ने इस तथ्य पर ध्यान नहीं दिया। सांख्यीय दृष्टि में चेतन=स्वप्रकाश =अन्य द्वारा अप्रकाश्य=अपरिणामी 'ज्ञाता' है।

'तद्विपरीतः पुमान्' का प्रकृत अर्थ यह है—१०वीं कारिका में उक्त सभी व्यक्त धर्मों से पुरुष विपरीत है तथा ११वीं कारिका में उक्त सभी व्यक्त-अव्यक्त धर्मों से भी वह विपरीत है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि पुरुष हेतुमान् नहीं है, अनित्य नहीं हैं, अव्यापी नहीं है, सक्रिय नहीं है, अनेक नहीं है, आश्रित नहीं है; लिङ्ग नहीं है, सावयव नहीं है, परतन्त्र नहीं है। (अव्यक्त भी इसी प्रकार का पदार्थ है)। किंच पुरुष त्रिगुण नहीं है, अविवेकी, विषय, सामान्य अचेतन प्रसवधर्मी नहीं है। (इस प्रकार पुरुष व्यक्त अव्यक्त धर्म के विपरीत है)।

प्रदर्शित मत कपिलसंमत नहीं है। जयरथ ने तन्त्रालोक की टीका में कहा है—असंवेद्य-बुद्धि वाद इति सांख्याभ्युपगमः (तन्त्रालोक ९।२३९ पर)। इस मत का खण्डन भी यहां किया गया है। पर सांख्य एक व्यक्ति की बुद्धि को अपर व्यक्ति की बुद्धि के द्वारा संवेद्य मानता ही है।

१. 'अचेतन' और चेतना शब्द के विषय में कुछ कहना है। चेतन शब्द यदि नित्य पुलिङ्ग हो तो न+चेतनः=अचेतनः ऐसा पुंलिङ्ग ही होगा (न+घटः=अघटः की तरह)। (नञ् समास तत्पुरुष है और तत्पुरुष में 'परवल्लिङ्ग' होता है)। यदि चेतन विशेषण शब्द है तो अचेतन विशेष्यनिघ्न होगा, अतः यहाँ अचेतनम् पद उचित ही है (व्यक्त और अव्यक्त के नपुंसक-लिङ्गक विशेष्यपद होने के कारण) प्रतीत होता है कि चिती धातु (चुरादि) से कर्ता में ल्यु (अन) प्रत्यय कर चेतन शब्द निष्पन्न हुआ है। अतः यह त्रिलिङ्गक है। इस णिजन्त धातु से भाव, अधिकरण आदि अर्थों में युच् प्रत्यय कर चेतना शब्द निष्पन्न होता है (अचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्; का० २०) (चुरादिगणीय चित धातु का अर्थ संचेतन या संवेदन है)। चेतन को ही चैतन्य कहा जाता है (सांख्यीय दृष्टि में); स्वार्थ में ष्यञ् प्रत्यय है (द्र० विश्वरूप=वैश्वरूप्य)। प्रतीत होता है कि पुरुष में धर्मधर्मिभाव की कल्पना करके 'चेतना' को पुरुष का असाधारण धर्म माना गया है। चित् और चेतन पर्यायवाची हैं। चित् द्वारा अधिष्ठित भी चेतन कहलाता है। सांख्य में चेतन और चैतन्य समार्थक हैं, पर अन्यत्र चैतन्य को चेतन का धर्म माना जाता है। ज्ञानवाचक चैतन्य शब्द प्रसिद्ध है। चेतन के ये दो अर्थ विशेषतः ज्ञेय हैं।

'तथा च पुमान्' का प्रकृत तात्पर्य है—१०वीं कारिका में प्रोक्त जो व्यक्त-वैधर्म्य अव्यक्त में हैं, वे पुरुष में भी हैं, अर्थात् अव्यक्त जिस प्रकार हेतुमान् नहीं है, अनित्य नहीं है, अव्यापी नहीं है, सक्रिय नहीं है, अनेक नहीं है, आश्रित नहीं है, लिङ्ग नहीं हैं, पुरुष भी वैसा ही है। 'तथा च पुमान्' कहकर अव्यक्त के साथ पुरुष का जो साधर्म्य दिखाया गया (व्यक्तविपरीत होने के कारण व्यक्तमात्रनियत धर्म पुरुष में नहीं हैं—यह पहले ही सिद्ध है) उसका गूढ अभिप्राय है, जो प्रसंख्यानभाष्य में द्रष्टव्य है।

उपर्युक्त वैधर्म्यों में कुछ विशिष्ट बातें हैं। 'पुरुष अनेक नहीं है', यह कहा गया है। क्या यह कथन 'पुरुषबहुत्ववाद' का विरोधी है?[1] कुछ लोगों को यह कथन भ्रम में डाल देता है कि सांख्य में कभी पुरुषैकत्वदृष्टि भी स्वीकृत हुई थी। यह मत असमीचीन है। लिङ्गसम्बन्धी जो गवेषणा सांख्य में है, तदनुसार पुरुष संख्या में कथमपि एक हो ही नहीं सकता। प्रत्येक लिङ्ग के लिये एक-एक पुरुष नियत होना चाहिये। **यही कारण है कि 'पुरुष अनेक नहीं है' वाक्य में अनेक का अर्थ होगा—अनेक रूपों या विचित्रताओं से शून्य; सदा एक रूप में रहने वाला; सदैव अखण्ड-अपरिणामी 'ज्ञाता' के रूप में ही अवस्थित।** द्र० 'नहि द्रष्टु दृष्टे र्विपरिलेपो विद्यते'। इस 'एक' को हम औपनिषद भाषा के अनुसार 'एकात्मप्रत्ययसार' के अर्थ में ले सकते हैं। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति में आत्मा 'एक' ही है—इस श्रौत वाक्य में एक का 'एकरूप' (=अपरिवर्तित रूप) अर्थ ही लिया जायेगा—इसी अर्थ में पुरुष भी 'एक' है। वस्तुतः असंहतता के कारण पुरुष को 'एक' कहा जाता है; तुल० असंहतस्य एकात्मकस्य ब्रह्मणः (शारीरक १।१।५)। 'एक' शब्द का प्रयोग होने पर ही किसी पदार्थ को एकसंख्यक समझना एक भ्रान्ति है—यह ज्ञातव्य है। ध्यान देना चाहिये कि प्रधान को जब 'एक' कहा जाता है (इस कारिकावाक्य के ही आधार पर) तब एक का उपर्युक्त अर्थ नहीं होता। वहाँ 'एक' का अर्थ है—जिसके अङ्ग अवियोज्य हैं[2] अथवा परिणत होने पर भी जिसका स्वभाव अप्रच्युत रहता है। प्रधान

---

१. 'व्यक्तनियत कोई भी धर्म पुरुष में नहीं है—पर व्यक्त की अनेकता पुरुष में है'—यह वाचस्पति के लिये एक समस्या हो गई है। वाचस्पति को मानना पड़ता है कि 'अनेकत्वरूप व्यक्त साधर्म्य पुरुष में है'। हमारा कहना है कि जब कारिकाकार कहते हैं कि पुरुष व्यक्त धर्मों से विरुद्धधर्मा है तब पुरुष अवश्य ही अनेक नहीं है—एक है। एक=एकसंख्यक ही होगा—ऐसा मानने के लिये वाचस्पति या अन्य कोई हमें न्यायतः बाध्य नहीं कर सकते।

२. प्रधान भी एक है, पुरुष भी एक है—इस वाक्य में 'एक' शब्द का एक ही अर्थ में प्रयोग न होना कोई दोष नहीं है, क्यों कि सूत्रपद्धति में रचित वाक्य में ईदृश व्यवहार का होना पूर्वाचार्य-रीतिसिद्ध है। यही कारण है कि सूत्र को 'विश्वतोमुख' कहा जाता है। (सूत्रपद्धति में रचित वाक्य में वाक्यभेद होने पर भी वह दोषावह नहीं होता—यह विश्वतोमुख का तात्पर्य है—ऐसा पञ्चपादिका-विवरण में कहा गया है)। जहां अर्थभेद करना सर्वथा उचित होता है (शास्त्रीयमतसंगति की दृष्टि से) वहां अर्थभेद की अशस्त्रीयता न हो इसलिये सूत्रपद्धति की विश्वतोमुखता मानी जाती है; किसी अशास्त्रीय चिन्ता को शास्त्रीय बनाने के उद्देश्य से विश्वतोमुखता-न्याय की सहायता नहीं ली जा सकती। 'उभयगतिरिह भवति' आदि परिभाषाएँ भी इस प्रसंग में आलोच्य हैं।

के प्रसंग में 'एक' शब्द का तात्पर्य संख्या में नहीं है। **अवैषम्यावस्थ गुणत्रय के विषय में संख्याश्रित विचार का प्रसंग ही नहीं उठता।** अविषमावस्थ गुण विषय और सामान्य हैं—इस मत के आधार पर ही 'प्रधान की एकता' (संख्या की दृष्टि से) मानी जाती है। ईदृश मत विकल्पवृत्ति का उदाहरण है—यह ज्ञातव्य है। अवैषम्यावस्थ त्रिगुण की 'संख्या' पर विशेष विचार प्रसंख्यानभाष्य में द्रष्टव्य है।

पुरुष 'अव्यापी नहीं है'; पुरुष का यह व्यापित्व अल्पदेशव्यापित्व या सर्वदेशव्यापित्व नहीं है। देश भूततन्मात्र-सापेक्ष हैं। अतः भूत-तन्मात्र-अतीत पुरुष सर्वदेशव्यापी है—ईदृश चिन्ता अलीक है। **पुरुष का सदाज्ञातृत्व ही उसका व्यापित्व है।** पुरुष की व्यापिता चित्तवृत्ति का सदाज्ञातृत्व है—यह व्याख्या हमारी दृष्टि में संगततम व्याख्या है। 'पुरुष सक्रिय नहीं हैं' मत का तात्पर्य है—वह कालातीत है। क्रिया से परिणाम (=अवस्थान्तरता) होता है; जो अक्रिय है, वह परिणामहीन है—अतः कालातीत है। **'पुरुष सर्वकालव्यापी' है—ईदृश चिन्ता विकल्पवृत्ति का उदाहरण है;** हम कालसम्बन्ध का योग न करके कालातीत पुरुष के विषय में कुछ सोच ही नहीं सकते—यह हमारी बुद्धि की दुर्बलता है। ऋतम्भरा प्रज्ञा ईदृश दोष से शून्य है, पर ईदृश प्रज्ञा का विवरण भाषा द्वारा यथार्थ रूप से नहीं दिया जा सकता ॥११॥

---

(१) त्रिगुणमित्युक्तम् (द्र० ११ का०), तत्र के ते त्रयो गुणाः, किं च लक्षणमित्यत आह—

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः ।
अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥१२॥

(२) "गुणाः" इति परार्थाः; (३) सत्त्वं लघु प्रकाशकम्" (कारिका १३) इत्यत्र च सत्त्वादयः क्रमेण निर्देक्ष्यन्ते। तदनागतावेक्षणेन तन्त्र-

---

(१) उपर्युक्त कारिका में 'त्रिगुण' शब्द पठित हुआ है। वे तीन गुण कौन हैं और उनका लक्षण क्या है—इसे कारिकाकार कहते हैं—

(सत्त्व-रजः-तमः नामक) गुण प्रीति (=सुख)-अप्रीति (=दुःख)—विषाद (मोह)—आत्मक (=स्वरूप) हैं; प्रकाश, प्रवृत्ति (=परिणाम) और नियम (=रोधन) इनके अर्थ (=प्रयोजन) हैं; ये गुण एक दूसरे का अभिभव, आश्रय (=सहकारित्व), जनन (=उत्पादन) और मिथुन (=सहचार) करने वाले हैं ॥ १२ ॥

(२) 'गुण' का अर्थ है—परार्थ' (=किसी अन्य के लिये)। (३) ये वक्ष्यमाण तीन गुण 'सत्त्वं लघु प्रकाशकम्' इत्यादि १३वीं कारिका में अपने सत्त्व आदि नामों के साथ

युक्त्या[1] प्रीत्यादीनां यथासंख्यं वेदितव्यम् ।

(४) एतदुक्तं भवति—प्रीतिः सुखम्, प्रीत्यात्मकः सत्त्वगुणः; अप्रीतिर्दुःखम्, अप्रीत्यात्मको रजोगुणः; विषादो मोहः, विषादात्मकस्तमोगुण इत्यर्थः ।

(५) ये तु मन्यन्ते न प्रीतिर्दुःखाभावादतिरिच्यते, एवं दुःखमपि न प्रीत्यभावादन्यदिति, तान् प्रति आत्मग्रहणम् । नेतरेतराभावाः सुखादयः, अपि तु भावाः, आत्मशब्दस्य भाववचनत्वात् । प्रीतिरात्मा भावो येषां ते प्रीत्यात्मानः । एवमन्यत्रापि व्याख्येयम् । (६) भावरूपता चैषामनुभवसिद्धा । परस्पराभावात्मकत्वे तु परस्पराश्रयापत्तेरेकस्याप्यसिद्धेरुभयासिद्धिरिति भावः ।

(७) स्वरूपमेषामुक्त्वा प्रयोजनमाह—"प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः" इति । अत्रापि यथासंख्यमेव । रजः प्रवर्तकत्वात् सर्वत्र लघु सत्त्वं प्रवर्तयेत्, यदि तमसा गुरुणा न नियम्येत । तमोनियतन्तु क्वचिदेव प्रवर्तयतीति भवति तमो नियमार्थम् ।

क्रमशः कहे जायेंगे । प्रीति आदि के साथ इन सत्त्वादि नामों का सम्बन्ध-कथन अनागतावेक्षण—नामक तन्त्रयुक्ति से जानना चाहिए ।

(४) इस विषय में यह कहा जाता है कि 'प्रीति' का अर्थ सुख है, अतः सत्त्वगुण सुखस्वरूप है । 'अप्रीति' का अर्थ दुःख है. अतः रजोगुण दुःख-स्वरूप है । तथैव 'विषाद' का अर्थ मोह है, अतः तमोगुण मोह-स्वरूप होता है ।

(५) जो यह मानते हैं कि प्रीति (=सुख) 'दुःख के अभाव' से पृथक् नहीं है, इसी प्रकार दुःख भी 'सुख के अभाव' से अन्य कोई पृथक् पदार्थ नहीं है, उनके मत का खण्डन करने के लिये ही कारिका में 'आत्मन्' (आत्मकाः) इस शब्द का ग्रहण किया गया है । सुख, दुःख, मोह (=प्रीति, अप्रीति, विषाद) एक दूसरे के अभाव नहीं हैं, अपितु ये भावरूप हैं, क्योंकि 'आत्मा' यह शब्द भाव (=सद्रूप) अर्थ का वाचक होता है । प्रीति= आत्मा स्वरूप है जिसका, वह पदार्थ प्रीत्यात्मक है; इसी प्रकार 'अप्रीत्यात्मक' तथा 'विषादात्मक' शब्दों की भी व्याख्या करनी चाहिए । (६) इन सुख-दुःख-मोहों की भावरूपता (मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ—इस प्रकार की) अनुभव से सिद्ध होती है । यदि ये एक दूसरे के अभाव-रूप होते, तो परस्पर के आश्रित होने के कारण एक की असिद्धि होने पर दोनों की असिद्धि हो जाती—यह तात्पर्य है ।

(७) इन गुणों का स्वरूप बताकर प्रयोजन कहते हैं—प्रकाश, क्रिया तथा नियमन (=रोध) इन के अर्थ हैं । यहाँ भी समासगत तीनों पदों (प्रकाश-

---

१. 'तन्त्रयुक्त्या वा' इति सर्वसंकरणेषु पठ्यते । अस्मन्मते 'अनागतावेक्षणेन तन्त्रयुक्त्या' इत्येव पाठः (वेति न पठ्यते) । अनागतावेक्षणं खलु तन्त्रयुक्तिविशेष इति ज्ञेयम् ।

(८) प्रयोजनमुक्त्वा क्रियामाह–"अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च" इति। वृत्तिः क्रिया, सा च प्रत्येकमभिसम्बध्यते।

(९) "अन्योन्याभिभववृत्तयः"। एषामन्यतमेनार्थवशादुद्भूतेनान्यदभिभूयते। तथाहि—सत्त्वं रजस्तमसी अभिभूय शान्तामात्मनो वृत्तिं प्रतिलभते; एवं रजः सत्त्वतमसी अभिभूय घोराम्; एवं तमः सत्त्वरजसी अभिभूय मूढामिति।

(१०) "अन्योन्याश्रयवृत्तयः"। यद्यप्याधाराधेयभावेन नाश्रयार्थो घटते,

---

प्रवृत्ति-नियम) का अन्वय यथाक्रम (सत्त्व-रजः-तमः के साथ) ही होना चाहिए। 'रजः' प्रवर्तक (=चलस्वभाव) है। अतः यदि वह गुरु 'तमः' से नियन्त्रित न हो, तो लघु सत्त्व को सर्वदा प्रवर्तित (=उद्घाटित) करता रहेगा। तमोगुण से नियमित होने के कारण क्वचित् ही सत्त्व रजः से प्रवर्तित होता है। इस प्रकार 'तमः' नियमन (=गुणद्वय का प्रतिबन्ध) के लिये होता है।

(८) गुणों का प्रयोजन (=अर्थ) बतलाकर अब उनकी क्रिया कहते हैं— 'अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च'। ये गुण परस्पर अभिभव, आश्रय, जनन तथा सहचार करने वाले हैं। कारिकोक्त 'वृत्ति' का अर्थ क्रिया है और समासगत प्रत्येक पद (अभिभव आदि) के साथ इसका अन्वय है।

(९) गुण अन्योऽन्याभिभववृत्ति हैं अर्थात् अर्थवश (=पुरुषार्थहेतुक) प्रकट हुए (=कार्योन्मुख) किसी एक के द्वारा दूसरे गुण अभिभूत हो जाते हैं। जैसे—'सत्त्व' रजः और तमः को अभिभूत करके ही अपनी शान्त वृत्ति (अर्थात् सुखादिरूप) को प्राप्त करता है। इसी प्रकार 'रजः' सत्त्व और तमः को अभिभूत कर (और स्वयं प्रबल होकर) अपनी घोर (=दुःखादिरूप) वृत्ति को एवं 'तमः' सत्त्व और रज को अभिभूत कर अपनी मूढ (=विषादरूप) वृत्ति को प्राप्त करता है।

(१०) ये गुण अन्योन्याश्रयवृत्ति हैं, अर्थात् एक दूसरे के आश्रय बनने वाले हैं। यद्यपि 'आधाराधेय-भाव' रूप आश्रय यहाँ सम्भव नहीं है तथापि जिसकी क्रिया जिस पर अपेक्षित (=अवलम्बित) होती है, अर्थात् जो जिसका सहकारी होता है, वह उसका आश्रय (=आश्रयणस्थान) कहा जाता है। जैसे—सत्त्वगुण रजः और तमः के क्रमशः प्रवर्तन (=उद्घाटत) और नियमन कार्यों का आश्रय करके अपने 'प्रकाश'-रूप कार्य द्वारा उन दोनों का उपकार (=सहायता) करता है। इसी प्रकार रजोगुण सत्त्व और तमः के क्रमशः प्रकाशन और नियमन कार्यों के साहाय्य से होने वाले अपने 'प्रवर्तन' कार्य द्वारा अन्य दोनों (सत्त्व तथा तमः) का उपकार करता है। एवं तमोगुण सत्त्व और रजः के क्रमशः प्रकाशन और प्रवर्तन कार्यों का आश्रय करके अपने 'नियमन' कार्य द्वारा अन्य दोनों (सत्त्व और रजः) का उपकार करता है।

तथापि यदपेक्षया यस्य क्रिया स तस्याश्रयः। तथाहि—सत्त्वं प्रवृत्तिनियमावाश्रित्य रजस्तमसोः प्रकाशेनोपकरोति, रजः प्रकाशनियमावाश्रित्य प्रवृत्त्येतरयोः; तमः प्रकाशप्रवृत्ती आश्रित्य नियमेनेतरयोरिति।

(११) "अन्योन्यजननवृत्तयः"। अन्यतमोऽन्यतमं[1] जनयति। जननं च परिणामः, स च गुणानां सदृशरूपः। अत एव न हेतुमत्त्वम्, तत्त्वान्तरस्य हेतोरसम्भवात्; नाप्यनित्यत्वम्, तत्त्वान्तरे लयाभावात्।

(१२) "अन्योन्यमिथुनवृत्तयः"। अन्योन्यसहचराः, अविनाभाववृत्तय[2] इति यावत्। (१३) चः समुच्चये। (१४) भवति चात्रागमः—

"अन्योन्यमिथुनाः सर्वे सर्वे सर्वत्र गामिनः।
रजसो मिथुनं सत्त्वं सत्त्वस्य मिथुनं रजः॥
तमसश्चापि मिथुने ते सत्त्वरजसी उभे।

---

(११) तीनों गुण अन्योन्यजननवृत्ति हैं—ये एक दूसरे को उत्पन्न करते हैं। यहाँ जनन (=उत्पत्ति) का तात्पर्य 'परिणाम' से है। गुणों का यह परिणाम सदृश (=सरूप) परिणाम है; यही कारण है कि गुण को किसी हेतु से उत्पन्न नहीं माना जाता क्योंकि हेतुभूत कोई अन्य तत्त्व नहीं है (हेतुमत्तारूप व्यक्त का साधर्म्य गुणत्रय रूप अव्यक्त में अतिव्याप्त नहीं होता)। यह सदृश परिणाम अनित्य नहीं है क्योंकि अपने से भिन्न किसी तत्त्व में इसका (सदृश गुण-परिणाम का) लय भी नहीं होता। अतएव प्रधान को हेतुमान् नहीं कहा जा सकता।

(१२) ये परस्पर मिथुन (=नियत सहचररूप से) रहते हैं; अर्थात् एक दूसरे के समव्याप्त रहते हैं (एक दूसरे के अभाव में न रहने वाले होते हैं)। (१३) कारिकागत च-कार समुच्चय अर्थ का द्योतक है।

(१४) इस विषय में आगम (=शास्त्रवचन) है—सभी गुण परस्पर नित्य सहचर हैं, वे सर्वत्र रहते हैं (=सभी कार्यों के कारण रूप से रहते हैं)। रजः का सहचर सत्त्व है। सत्त्व का रजः, सत्त्व और रजः दोनों ही तमः के सहचर हैं; तथैव सत्त्व और रजः इन दोनों का सहचर तमः है। इत गुणों का आदि (=आरम्भ,) उत्पत्ति, संप्रयोग (=परस्पर संयोग) या वियोगों की उपलब्धि नहीं होती॥ १२॥

---

१. अन्यतममपेक्ष्य; अन्यतममाश्रित्य जनयति इति कैश्चित् पठ्यते।
२. अविनाभाववर्त्तिनः इति कैश्चित् पठ्यते।

उभयो: सत्त्वरजसोर्मिथुनं तम उच्यते ।
नैषामादिः सम्प्रयोगो वियोगो वोपलभ्यते"[1] ॥ १२ ॥

१२वीं कारिका की व्याख्या

'गुण' सांख्य का सर्वाधिक गुरुत्वपूर्ण विषय है, जो 'यं सांख्या गुणतत्त्वज्ञाः सांख्यशास्त्रविशारदाः' (अनुशा० १६।४२) आदि वाक्यों से जाना जाता है। सांख्य का नाम ही 'गुणसंख्यान' है (प्रोच्यते गुणसंख्याने—गीता १८।१९; गुणसंख्याने=कापिले शास्त्रे—शंकर)।[2] गुण सांख्य का पारिभाषिक शब्द है। इसका अर्थ है—रज्जु; पुरुष का वन्धन रज्जु।

ये गुण वैशेषिकोक्त गुण नहीं हो सकते; बल्कि गुण वस्तुतःग्राह्य-ग्रहण-ग्रहीतृरूप द्रव्यों का एकमात्र उपादान हैं—सत्त्वादीनि द्रव्याणि न तानि द्रव्याश्रया गुणाः, तेभ्यो व्यतिरिक्तस्य गुणिनोऽभावादिति वेदितव्यम् (भास्वती २।१८)। गुणनामों में रजः (धूलि की तरह स्वक्रिया से पुरुष को मलिन करने वाला) और तमः (अन्धकार की तरह स्वप्रकाश आत्मा को आवृत करने वाला) का सार्थक्य स्पष्ट है। सत्त्वगुण प्रकाशशील एवं स्थिर है, उसी के कारण अन्य सव प्रकाशित, ज्ञात एवं समन्वित हैं। इस दृष्टि से द्रव्यवाचक सत्त्व नाम का सार्थक्य है (सीदन्ति अस्मिन् जातिगुणक्रिया इति सत्त्वम्ः अथवा अस् धातु से भी सत्त्व शब्द वन सकता है)। ये सव शब्द उस समय के हैं, जव शास्त्रीय विचार के अनुरूप पारिभाषिक शब्द बने नहीं थे, अतः लोकप्रसिद्ध स्थूलार्थक शब्दों का व्यवहार करके सूक्ष्म अर्थों का ज्ञापन किया गया है—ऐसा प्रतीत होता है।

---

१. देवीभागवते इमे श्लोकाः पठ्यन्ते इति बहवो व्याख्यातारः। नात्र इमे पठ्यन्ते। एतदर्थकाः केचन श्लोका अत्र (द्र० ३.८ अ०) विद्यन्त एव।

२. कुछ विचारक यह कहना चाहते हैं कि गुणत्रय प्राचीनतम सांख्य में अज्ञात था : "The group [of the three guṇas] was not necessarily known to the earliest Sāṁkhya, seeing that there is no reference to them in the Kaṭha, or other Upaniṣads of about the same date" (E.H. Johnston : Early Sāṁkhya. p. 30). जनस्टन कहना चाहते हैं कि कि कठ या एततकालीन उपनिषदों में गुणत्रय का निर्देश नहीं है। यदि यह मान भी लिया जाये कि गुण का उल्लेख नहीं है, तो भी क्या ऐसा कथन नहीं मिलता जो त्रिगुण पर ही निर्भरशील हैं? गुणत्रय को न मानकर क्या कठोक्त मतों को समझा जा सकता है? आजकल के विचारक जिस रीति से कथित होने पर समझते हैं कि 'विषय का प्रतिपादन हुआ है' उस रीति को प्राचीन आचार्य भी मानते थे क्या? प्रतिपादन की पद्धति समझने के बाद ही प्रतिपादन के आधार पर कुछ निर्णय करना चाहिये।

इस कारिका में गुणत्रय का परिचय उनकी आत्मा, अर्थ और वृत्ति के आधार पर दिया गया है। गुण की वैषम्यावस्था में ही गुण के लक्षण प्रकटित रहते हैं—अवैषम्यावस्था में लक्षण का कोई प्राकट्य ही नहीं है। लक्षण के लिये धर्म और धर्मी का बोध होना चाहिये; अर्थात् 'इसका' 'यह' लक्षण है—ईदृश व्यवहार की योग्यता चाहिये; गुणों की अवैषम्यावस्था में ईदृश व्यवहार की कुछ भी संभावना नहीं है। अतः कारिकोक्त गुणलक्षण प्रधानतः गुणवैषम्यावस्था को ही लक्ष्य करता है—यह ज्ञातव्य है। चूंकि यह सिद्धान्त है कि वैषम्यावस्था में भी गुण अपने मूल स्वभाव से विच्युत नहीं होते—अतः वैषम्यावस्था के 'लक्षण' अवैषम्यावस्था में भी प्रयुक्त होते हैं। यही कारण है कि गुणवैषम्य में अनुभूयमान अविवेकित्व, विषयत्व, सामान्यत्व, अचेतनत्व और प्रसवधर्मित्व धर्म अव्यक्त में भी व्यपदिष्ट होते हैं। ध्यान देना चाहिये कि व्यक्त और अव्यक्त दोनों को ही त्रिगुण (त्रिगुणं···व्यक्तं तथा प्रधानम्; द्र० का० ११) कहा गया है।[1]

कारिकाकार ने सुख-दुःख-मोह को गुणों की आत्मा, प्रकाश-प्रवृत्ति-नियम को गुणों का अर्थ और अभिभव आदि को गुणों की वृत्ति कही है। यहाँ व्यक्तीभूत गुणों का ही परिचय दिया गया है। विकारों के अतिरिक्त गुणों की पृथक् सत्ता अचिन्त्य है। विकारों में अवान्तर भेद हैं। अतः गुण का परिचय विभिन्न रूपों से देना सर्वथा उचित है। विकार विषयरूप है या विषयव्यवहारकारी करणरूप है। एक गुणविकार अन्य गुणविकार को जब ज्ञात होता है, तो वह सुखकर-रूप से, दुःखकर-रूप से और मोहकर-रूप से ही ज्ञात होता है (ज्ञान सुखादि से संप्रयुक्त होकर ही प्रकटित होता है)।

करणरूप गुणविकार सुखी, दुःखी या मूढ होता है। तथैव विषयरूप प्रत्येक गुण-विकार सुखकर, दुःखकर और मोहकर होता है। इस प्रकार सुखित्व-सुखकरत्व, दुःखित्व-दुःखकरत्व, मूढ़त्व-मोहकरत्व को देखकर 'सुख-दुःख-मोह' को गुणत्रय के साथ अन्वित किया जाता है। ज्ञान होने पर सुख-दुःख-मोह का बोध होता है, अतः यह नहीं समझना चाहिये कि ज्ञान की अभिव्यक्ति से पहले भी सुखादि अभिव्यक्त रहते हैं। अतः यह समझना भ्रम ही है कि सुख-दुःख-मोह (जो प्रत्यय हैं) बाह्य-आन्तर-वस्तुओं का उपादान है। सुखादि स्वयं गुणविकार हैं। बाह्य या आन्तर ऐसा कोई बोध नहीं हो सकता जो सुखादि से संप्रयुक्त न हो।

---

१. त्रिगुण=तीन गुणों का समाहार; यह समाहारद्विगु है। व्यक्त भी त्रिगुण का समाहार(=समूह) है, अव्यक्त भी तथैव; व्यक्त में त्रिगुण अतुल्यबल हैं, अव्यक्त में वे तुल्यबल हैं-यही भेद है [यही कारण है कि व्यक्त को त्रैगुणिक (=त्रिगुण-जात) न कहकर त्रिगुण कहा गया है]। उसे त्रैगुणिक भी कहा जा सकता है, पर इससे उपर्युक्त दृष्टि में कोई परिवर्तन नहीं होता। 'त्रयो गुणाः सन्ति अस्य' ऐसा विग्रह करने पर बहुव्रीहि समास होगा और वह अन्यपदार्थप्रधान होगा। यहां कोई अन्य पदार्थ नहीं है। अतः यहां 'अभेद में भेद व्यवहार' मानकर बहुव्रीहि की उपपत्ति करनी होगी।

इसी प्रकार हम देखते हैं कि ग्राह्य विषय (१) प्रकाश्य होते हैं, (२) कार्य या चाल्य होते हैं तथा (३) नियम्य या धार्य होते हैं; और विषय-व्यवहारकारी इन्द्रियाँ (१) प्रकाशन करती हैं, (२) आहरण करती हैं, (३) विधारण=नियमन करती हैं। इस प्रकार विषय-ग्रहण की दृष्टि से दो गुण विकारों का सम्बन्ध 'प्रकाश्य-प्रकाशक' आदि त्रिविध हैं। अतः हम कह सकते हैं कि प्रकाश (ज्ञात होना, तथा ज्ञापित करना), प्रवृत्ति (परिणत होना, परिणामित करना) और नियम (अलक्ष्य रूप से रहकर दोनों पर नियन्त्रित करना) गुणों का अर्थ है—प्रयोजन है। प्रकाश-प्रवृत्ति में जो सीमा या भङ्ग दृष्ट होता है उसका कारण भी यह नियमन-शक्ति है।

अन्योन्याभिभव····वृत्तयश्च—यहाँ गुणों के चार व्यापार अभीष्ट हैं—अभिभव, आश्रय, जनन और मिथुन; ये अन्योन्यसम्बद्ध हैं। ये चार धर्म वैषम्यावस्था में ही अभिव्यक्त रहते हैं। यही कारण है कि अवैषम्यावस्था में कोई परिणाम उत्पन्न नहीं होता। जो भी परिणामी पदार्थ है, उसमें गुणों के ये चार धर्म अवश्य दृष्ट होते हैं। वैषम्य-रूप गुण-प्रधान-भाव जहाँ भी है, वहाँ ये चार धर्म अविनाभावी हैं—यह ज्ञातव्य है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि विषय रूप गुणविकार में अन्योन्याभिभाव्यता आदि हैं, और करणरूप गुणविकार में अन्योन्याभिभवकारित्व आदि हैं। चूंकि विषय और करण—दोनों ही गुण के ही विकार हैं, अतः गुण के लक्षण में 'अन्योन्याभिभव' आदि ही कहना उचित होता है। ये चार वृत्तियाँ (=व्यापार) हैं। त्रिगुण जब प्रकाश करते हैं, परिणाम उत्पन्न करते हैं या विधारण करते हैं तब परस्पर के अभिभव आदि व्यापार के द्वारा ही उपर्युक्त तीन कार्य करते हैं। घटोत्पत्ति रूप फल मे जिस प्रकार चक्र-घूर्णनादि-व्यापार आवश्यक हैं—प्रकाश-प्रवृत्ति-नियम भी उसी प्रकार अन्योन्याभिभव आदि पर आधृत हैं।

चूंकि अभिभव आदि व्यक्तावस्था में ही हैं, अतः हमारी दृष्टि में वृत्ति-शब्द को अभिभव आदि के साथ ही अन्वित करना चाहिये; अन्योन्यवृत्ति भी एक गुणव्यापार है—यह मत असंगत है। यदि अन्योन्यवृत्ति कोई धर्म है भी, तो भी वह इन चारों से अतिरिक्त नहीं है। इस वाक्य की वाचस्पतिकृत व्याख्या को हम संगत समझते हैं कि वृत्ति शब्द अभिभव आदि प्रत्येक से सम्बद्ध है।

(१) "प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्था:" इत्युक्तम्, तत्र के ये इत्थम्भूताः कुतश्चेत्यत आह—

(१) ये गुण प्रकाश, प्रवृत्ति तथा नियम के लिये (प्रकाशादि इनके प्रयोजन हैं) हैं—यह पूर्व कारिका में कहा गया है। परन्तु ईदृश गुणों के नाम क्या हैं एवं किस कारण से वे इस प्रकार के हैं—यह कहते हैं—

सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः ।
गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥ १३॥

(२) "सत्त्वम्" इति । सत्त्वमेव लघु प्रकाशकमिष्टं सांख्याचार्यैः; तत्र कार्योद्गमने हेतुर्धर्मो लाघवं गौरवप्रतिद्वन्द्वि; यतोऽग्नेरूर्ध्वज्वलनं भवति, तदेव लाघवम् । कस्यचित्तिर्यग्गमने हेतुर्भवति, यथा वायोः । (३) एवं करणानां वृत्तिपटुत्वहेतुर्लाघवम्; गुरुत्वे हि मन्दानि स्युरिति सत्त्वस्य प्रकाशकत्वमुक्तम् ।

(४) सत्त्वतमसी स्वयमक्रियतया स्वस्वकार्यप्रवृत्ति प्रत्यवसीदन्ती रजसोपष्टभ्येते, अवसादात् प्रच्याव्य स्वकार्ये उत्साहं प्रयत्नं कार्येते । तदिदमुक्तम्—"उपष्टम्भकं रजः" इति । (५) कस्मादित्यत उक्तम्—"चलम्" इति । तदनेन रजसः प्रवृत्त्यर्थत्वं दर्शितम् ।

सत्त्व ही लघु और प्रकाशक है; रजः ही उपष्टम्भकारी (=उत्तेजक, उद्घाटक) और चल (=क्रियाकारी) है; तमः को ही गुरु और आवरणकारी (=अवरोधक तथा अच्छादक) माना गया है । (परस्पर विरुद्ध) ये तीन गुण (भोगापवर्गरूप) पुरुषार्थ से प्रयोजित होकर पदीप के समान मिलकर कार्य करते हैं ॥ १३ ॥

(२) सांख्याचार्यों द्वारा सत्त्व ही लघु और प्रकाशक (=प्रकाशकारी) माना गया है । इनमें लघुता (=हल्कापन) जो गुरुता (=भारीपन) की विरोधी है, कार्यरूप में परिणत पदार्थ के ऊर्ध्वगमन में कारण होती है (अथवा कार्योद्गमन=शीघ्रता से कार्यकारिता) । लाघव वह है जिसके कारण अग्नि की ज्वालाएँ ऊपर को उठती हैं; यही लाघव किसी-किसी के तिर्यग्गमन (=इधर-उधर दौड़ना=वक्रगति) का कारण बनता है, जैसे वायु का तिर्यग्गमन । (३) इसी प्रकार इन्द्रियों की वृत्तिपटुता (विषयाकार वृत्ति में आशुकारिता) का कारण भी यही लघुता होती है, अन्यथा गुरु होने पर वे इन्द्रियाँ अपने विषय-प्रकाशन-कार्य में मन्द (=आशुसंचार में असमर्थ) ही होंगी । यही 'प्रकाशक' सत्त्व का प्रकाशकत्व है (प्रकाशक=विषय का अवभासक) । (लाघव से प्रकाशकत्व की सिद्धि होती है) ।

(४) सत्त्व और तमः स्वयं क्रियाहीन (=अप्रवृत्तिशील) होने के कारण अपने-अपने कार्य (प्रकाशन एवं नियमन) के उत्पादन में असमर्थ होते हैं पर रजः-गुण द्वारा वे उत्तेजित किए जाते हैं—अर्थात् अवसाद (=प्रवृत्तिजनन में असामर्थ्य) से निवृत्त करके उन दो गुणों को प्रवृत्तिजनन में उद्यत और यत्नवान् किया जाता है । इसी दृष्टि से रजः को उपष्टम्भक (=प्रवर्तक) कहा गया है । (५) रज उपष्टम्भक क्यों है, इसका उत्तर है—चूँकि यह चल (=सक्रिय) है । इस वाक्य से 'रजोगुण का प्रवर्तन रूप स्वभाव' कहा गया हैं ।

(६) रजस्तु चलतया परितस्त्रैगुण्यं चालयत्, गुरुणा वृण्वता[1] च तमसा तत्र तत्र प्रवृत्तिप्रतिबन्धकेन क्वचिदेव प्रवर्त्यते—इति ततस्ततो व्यावर्त्य[2] तमो नियामकमुक्तम्—"गुरु वरणकमेव तमः" इति।

(७) एवकारः प्रत्येकं भिन्नकमः सम्बध्यते— सत्त्वमेव, रज एव, तम एवेति। (८) ननु एते परस्परविरोधशीला गुणाः सुन्दोपसुन्दवत् परस्परं ध्वंसन्त इत्येव युक्तम्, प्रागेव त्वेतेषा मेकक्रियाकर्तृताया इत्यत आह— "प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः" इति। (९) दृष्टमेतत्—यथा वर्त्तितैले[3] अनलविरोधिनी; अथ च मिलिते सहानलेन रूपप्रकाशलक्षणं कार्यं कुरुतः, यथा च वातपित्तश्लेष्माणः परस्पर-विरोधिनः शरीरधारणलक्षण-कार्य-कारिणः एवं सत्त्वरजस्तमांसि मिथोविरुद्धान्यप्यनुवर्त्स्यन्ति च स्वकार्यं करिष्यन्ति च।

---

(६) सदा सक्रिय होने के कारण रजोगुण (सत्त्व-तम और गुणविकाररूप) त्रैगुण्य का सर्वत्र उद्घाटित करनेवाला है। वह रजः गुरु, अवरोधक तथा विभिन्न कार्यों में इन्द्रियादि को प्रवर्तित करने में असमर्थ तमोगुण के द्वारा कुछ ही विषयों में प्रवर्तित होता हैं (तमः से अनावृत विषय में ही प्रवर्तन होता है)। इस प्रकार प्रवृत्ति-उन्मुखता से निवृत्त करने में कारणभूत तमः को 'गुरुवरणकमेव तमः' इस वाक्य के द्वारा 'नियामक' कहा गया है। (७) 'गुरु-वरणकमेव तमः' वाक्य गत 'एव' (=ही) पद भिन्नक्रम (=अयुक्त स्थान में पठित) है (इसका अन्वय 'वरणक' पद के साथ नहीं है); वस्तुतः एवकार गुणवाची प्रत्येक शब्द के साथ अन्वित है (अर्थात् सत्त्व ही लघ्वादि, रजः ही उपष्टम्भकादि ओर तमः ही गुरु आदि—इस प्रकार अर्थ करना होगा)।

(८) त्रिगुण परस्पर विरोधी हैं, अतः किसी एक कार्यद्रव्य को उत्पन्न करने से पहले ही तीनों गुण सुन्दोपसुन्दन्याय से परस्पर के ध्वंसक होंगे (जिससे इनके द्वारा कोई कार्य उत्पन्न नहीं हो सकेगा), इस शंका के उत्तर में कहते हैं—पुरुषार्थ-वशतः ये तीन गुण प्रदीप की तरह कार्य करते हैं' (एक दूसरे का अनुवर्तन करते हैं)। (९) प्रदीप-रूप दृष्टान्त में यह देखा जाता है कि जिस प्रकार वत्ती और तेल अग्नि के विरोधी हैं, फिर भी अग्नि के साथ मिलकर वत्ती और तेल वस्तुओं के रूप का प्रकाशनरूप कार्य करते हैं; अथवा जिस प्रकार परस्परविरोधी (आयुर्वेदप्रसिद्ध) वात, पित्त और कफ शरीर-

---

१. आवृण्वता इति कैश्चित् पठ्यते।

२. व्यावृत्या (=निवर्तनेन) इति केचन व्याख्याकाराः।

३. यथा वर्तितैलेऽनलविरोधिनी…इति पाठः वंशीधरसंमतः, डा० आद्याप्रसादसंमतश्च। यतोहि वर्तितैले इति द्विवचनान्तं पदम्, अतोऽत्र प्रगृह्यसंज्ञया भवितव्यम् 'ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यमि'ति; ततश्चात्र संहिताकार्यं न स्यादित्यभ्युपेयमेव।

(१०) "अर्थतः" इति पुरुषार्थत इति यावत्; यथा वक्ष्यति—
"पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणम्" इति ।। (कारिका ६१)।

(११) अत्र च सुखदुःखमोहाः परस्परविरोधिनः स्वस्वानुरूपाणि सुखदुःख-मोहात्मकान्येव निमित्तानि कल्पयन्ति। तेषां च परस्परमभिभाव्याभिभावक-भावान्नानात्वम्। (१२) तद्यथा एकैव स्त्री रूपयौवनकुलशीलसम्पन्ना स्वामिनं सुखाकरोति, तत् कस्य हेतोः ? स्वामिनं प्रति तस्याः सुखरूपसमुद्भवात्। सैव स्त्री सपत्नीर्दुःखाकरोति, तत् कस्य हेतोः ? ताः प्रति तस्या दुःखरूपसमुद्भवात्। एवं पुरुषान्तरं तामविन्दमानं सैव मोहयति, तत् कस्य हेतोः ? तत् प्रति तस्या मोहरूपसमुद्भवात्। (१३) अनया च स्त्रिया सर्वे भावा व्याख्याताः।

(१४) तत्र यत् सुखहेतुः तत् सुखात्मकं सत्त्वम्, यद् दुःखहेतुस्तद् दुःखात्मकं

धारणरूप कार्य करते हैं, उसी प्रकार सत्त्व, रजः और तमः परस्पर विरोधी होने पर भी परस्पर के अनुवर्ती (=कार्यसहायक) रहते हैं तथा अपना कार्य करते हैं।

(१०) यह कार्यसम्पादन 'अर्थ'=पुरुषार्थ (अर्थात् भोग एवं अपवर्ग) से सिद्ध होता है, जैसा की आगे ३१ वीं कारिका में कारिकाकार कहेंगे—पुरुषार्थं एव…। 'करणों की प्रवृत्ति में पुरुषार्थ ही हेतु हैं, अन्य किसी के द्वारा वे (करण) स्व-कार्य में प्रवर्तित नहीं होते'।

(११) गुणस्वरूप-निरूपण के प्रसंग में यह ज्ञातव्य है कि परस्परविरोधी सुख, दुःख तथा मोह अपने अनुरूप (=स्व-स्व उद्भावना के अनुकूल) सुखदुःखमोहात्मक निमित्तों को सूचित करते हैं। (ये निमित्त भी यथाक्रम सत्त्व रजः और तमः हैं); और इन निमित्तों का अनेकत्व (=पृथक् प्रतीत होना) उनके परस्पर अभिभाव्य (=अभिभव होने की योग्यता से युक्त)-अभिभावक (=अभिभव करने में समर्थ) होने के कारण है। (१२) जैसे रूप, यौवन, कुल और शील से सम्पन्न कोई स्त्री अपने पति को जो सुख देती है, (अनुकूलाचरण द्वारा सुखसंपन्न करती है) उसका कारण है—उस पति के प्रति उस स्त्री का सुखात्मक सत्त्वरूप से ही प्रकट होना। वही स्त्री सपत्नियों को जो दुःख देती है (प्रतिकूला चरण द्वारा दुःखसंपन्न करती है), उसका हेतु है—उनके प्रति उसका दुःखात्मक रजोरूप से ही प्रकट होना। इसी प्रकार न पा सकने वाले परपुरुष को वह स्त्री मूढ कर देती है, क्योंकि उस पुरुष के प्रति उस स्त्री का मोहात्मक तमोरूप ही प्रकट होता है। (१३) इस स्त्रीरूप दृष्टान्त से ही जगत् के अन्य सभी पदार्थों का त्रैगुणिक स्वरूप समझ में आ सकता है।

(१४) उपर्युक्त स्त्रीरूप दृष्टान्त में (अर्थात् प्रत्येक परिणत कार्यद्रव्य में) जो सुखनिमित्त है, वह सुखात्मक सत्त्व (गुण) है; जो दुःखनिमित्त है, वह दुःखात्मक

रजः, :यन्मोहहेतुस्तन्मोहात्मकं तमः। (१५) सुखप्रकाशलाघवानां त्वेकस्मिन् युगपदुद्भूतावविरोधः सह दर्शनात् (१६) तस्मात् सुखदुःखमोहैरिव विरोधिभि[1]रविरोधिभि रेकैकगुणवृत्तिभिः सुखप्रकाशलाघवैर्न निमित्तभेदा उन्नीयन्ते; एवं दुःखोपष्टम्भकत्वप्रवर्तकत्वैः; एवं मोहगुरुत्वावरणैः–इति सिद्धं त्रैगुण्यमिति॥१३॥

रजोगुण है। एवं जो मोह का निमित्त है, वह मोहात्मक तमोगुण है (जो सुखदुःख-मोहजनक होगा वह सुखदुःखमोहात्मक होगा)।

(१५) सुख, प्रकाशन और लघुता—इन तीनों के एक साथ ही एक पदार्थ में (गुणकार्य में) उद्भूत होने में विरोध नहीं होता, क्योंकि उनको एक साथ देखा जाता है; (१६) जिस प्रकार परस्पर विरोधी सुख, दुःख तथा मोह के अनुभवों से सत्त्व, रजः तथा तमः रूप परस्पर भिन्न निमित्तों का अनुमान होता है, उसी प्रकार एक कार्य-द्रव्य में विद्यमान परस्पर अविरोधी सुख, प्रकाश और लाघव धर्मों के निमित्तरूप में भिन्न-भिन्न तीन गुणों का अनुमान नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार दुःख उपष्टम्भकत्व तथा प्रवर्तकत्व से एवं मोह, गुरुत्व तथा नियामकत्व से भी उनके निमित्तभूत भिन्न-भिन्न गुणों का अनुमान नहीं किया जा सकता। इस युक्ति से (जगत्कारण के रूप में) गुणत्रय की सिद्धि होती है॥ १३॥

१३वीं कारिका की व्याख्या

लघु और प्रकाशक सत्त्वगुण, चल और उपष्टम्भक रजोगुण, गुरु और आवरक तमोगुण ग्राह्य और ग्रहण रूप गुणपरिणामभूत पदार्थों में किस रूप से हैं—यह ज्ञातव्य है। गुणत्रय स्वरूपतः असंवेद्य हैं; गुणविकार ही संवेद्य है। गुणविकार दृष्टिविशेष के आधार पर उपाधि कहलाता है। उपाधियुक्त पुरुष सोपाधिक है—जो जीव (या प्राणी) कहलाता है। एक गुणविकार (विषय) को जो अन्य गुणविकार (करण) जानता है, उसका कारण है—पुरुषोपदर्शन। पुरुषाधिष्ठित करण (यह करण उपादानदृष्टि से जड़ है) भूत-भौतिक-तन्मात्र को जानता है तथा स्वगत विकारों को भी जानता है।

ग्राह्य और ग्रहण (करण) रूप भेद का हेतु है—त्रिगुण का परिणामभेद। प्रथम 'व्यवसेय' परिणाम है, द्वितीय 'व्यवसाय' परिणाम है। अतः लघु और प्रकाशक सत्त्व एक ही रूप में इन द्विविध परिणामों में रहता है, यह मत भ्रान्त है; यही दृष्टि चल और उद्घाटक-उत्तेजक (=उपष्टम्भक) रजः में तथा गुरु और आवरणक तमः में भी प्रयोज्य है।

---

१. केचित् 'सुखदुःखमोहैरिव विरोधिभिरेकैकगुणवृत्तिभिः' इति पठन्ति, व्याचक्षते च।

करण में 'लघुता' का अर्थ है—आलस्यहीन भाव, जो कर्म करने में सहायक होता है। तथैव प्रकाश का अर्थ है—बोध करने की योग्यता। करण की 'उपष्टम्भकता' है—विषय को ग्राह्य रूप से व्यवहार की शक्ति तथा उसकी विषयोन्मुखता 'चलता' है। करणों में जो आलस्य भाव है, विषयग्रहण में जो अदक्षता है, वही 'गुरुता' और 'आवरकता' है। विषयप्रकाशन-क्रिया में जो ससीमता देखी जाती है वह भी तमः के कारण ही है।

ग्राह्य विषय में भी ये धर्म द्रष्टव्य हैं। ग्राह्य में जो प्रकाश्यता और लघुभाव हैं वे सत्त्वगुण-संबद्ध हैं। ग्राह्यगत चाञ्चल्य, अवस्थान्तरता, अन्योन्यमिश्रण आदि रजोगुण संबद्ध हैं; काठिन्य आदि धर्म गुरुत्व के ही अनुगत धर्म हैं; तथैव अलक्षित रूप से रहने की जो योग्यता विषय में है—यही उनका आवरण धर्म है।

हमारी उपर्युक्त व्याख्या अत्यन्त संक्षिप्त है। **करण और करणग्राह्य विषय का यह धर्मसादृश्य सांख्यविद्या का एक अनन्यसाधारण 'आविष्कार' है।** एक ही पदार्थ एक प्रकार से परिणत होकर 'विषय' होता है, और अन्य प्रकार से परिणत होकर विषयग्राहक 'करण' होता है। विषय यदि प्रकाश्य है, तो करण होगा प्रकाशनकारी; गुण को न प्रकाश्य माना जा सकता है और न प्रकाशनकृत्; स्वरूपतः गुण उभयसामान्य 'प्रकाश' है—जो सर्वथा अवेद्य है (यह सत्त्वगुण को लक्ष्यकर कहा गया है; अन्य दो गुणों में भी यही दृष्टि प्रयोज्य है)।

सुख-दुःख-मोह रूप त्रिविध वेदना को समझने के लिये यह कारिका सहायक है। जिस कार्य को करने में लघुता का आधिक्य है, उसमें सुख होता है। किसी भी सुखकर ज्ञान या चेष्टा में बोधांश (=प्रकाशभाव) क्रिया और जड़ता की तुलना में अधिक होता है—यह प्रत्यक्षगम्य है। यही कारण है कि जिस क्रिया से सुख का बोध होता है, उसको तीव्र कर देने से पीड़ा होने लगती है (यदि संबन्धित अन्यान्य पदार्थों की शक्ति में तदनुकूल वृद्धि न हो)। मानस पीड़ा भी चिन्ता की अधिकता से होती है।

वाचस्पति और अन्यान्य आचार्यों का यह कहना कि अग्नि का ऊर्ध्वज्वलन सत्त्वधर्मभूत लाघव का उदाहरण है--सर्वथा सत्य नहीं है। ऊर्ध्वरूप दिग्विशेष की ओर अग्निज्वाला का जो जाना है (ऊर्ध्व शब्द से ध्वनित होता है कि 'गमन' में वाचस्पति का तात्पर्य है) वह वायु के ऊर्ध्व चाप (downward pressure) का अभिभवपूर्वक ही संपन्न होता है—जो राजस क्रिया का फल है। गमन रूप क्रिया भी राजस है। इसमें ऊर्ध्वगमन का सीमाकारक हेतु तमोगुण है—यह भी ज्ञातव्य है। **तमः से संबद्ध कारिकोक्त गुरुत्व को जो व्याख्याकार वैशेषिक-संमत गुरुत्व से अभिन्न समझते हैं, वे उभयशास्त्र में अपनी अज्ञता प्रदर्शित करते हैं।** गमनक्रिया यदि ऊर्ध्वदेश-मुखी हो तो उसमें सात्त्विकता अधिक होगी यह चिन्ता बालोचित है; एक की स्थिति में जो 'ऊर्ध्व' प्रतिभात होता है, अन्य अवस्था में स्थित समानचित्तेन्द्रियसंपन्न व्यक्ति को वह 'अधः' प्रतीत होता है—शायद

इस तथ्य से वाचस्पति परिचित नहीं थे।

लघुत्व, प्रकाशकत्व आदि सदैव आपेक्षिक हैं। यह आपेक्षिकता-दृष्टि सर्वत्र प्रयोज्य होती है। पञ्च विषयों में गन्ध तामस है, पर गन्धविशेषों में कोई गन्ध सत्त्वप्रधान होती ही है। उस सत्त्वप्रधान गन्ध के विशेषों में भी सात्त्विक-राजस-तामस भेद होते हैं।

सत्त्व-रजः-तमः में परस्पर विरोध रहने पर भी मुख्य विरोध सत्त्व-तमः का ही है; रजः इन दोनों के संयोजक के रूप में कार्य करता है—यद्यपि उसका अपना स्वभाव इन दोनों से सर्वथा असंकीर्ण है। इस संबन्धवैचित्रता का फल यह है कि व्यवहार-जगत् में सात्त्विक एवं तामस भाव जितने स्पुट रूप से लक्षित होते हैं (किसी एक विषय से संबद्ध), उतने स्फुट रूप से राजस भाव लक्षित नहीं होता। अवस्थात्रय में जाग्रत् (सात्त्विक) और निद्रा (तामस) के स्वरूप में जितना पार्थक्य है तथा जितने स्फुट रूप से यह भेद अवभात होता है, स्वप्नावस्था (राजस) में उतना भेद लक्षित नहीं होता। ज्ञानेन्द्रिय में चक्षुः (राजस) और कर्मेन्द्रियों में पाद (राजस) एवं पञ्च प्राणों में व्यान (राजस) के कर्म कितने स्फुट, तीव्र तथा गतिसंपन्न एवं प्रभावोत्पादक हैं (अन्य सजातीय करणों के कर्मों की तुलना में)—यह सभी को अनुभूत होता ही है।

वाचस्पति सुख-दुःख-मोह को गुणत्रय-स्वरूप ही समझते हैं। अतः 'लाघव-प्रकाश' को भी सत्त्वगुणस्वरूप (तीन पृथक् स्वरूप) क्यों न समझा जाये? तथैव उपष्टम्भक-चलत्व और गुरुत्व-आवरण को भी क्यों न पृथक्-पृथक् गुण स्वरूप समझा जाये—यह प्रश्न वाचस्पति के मत को मानने से उठता है। चूँकि एक ही कार्य में सुख-प्रकाश-लाघव अविरोधी रूप से रहते हैं अतः उनके निमित्त के रूप में तीन पृथक्-पृथक् वस्तु (सुख-प्रकाश-लाघव) को मानना आवश्यक नहीं है—एक ही निमित्त कारण मानना पर्याप्त है—यह उत्तर दिया गया है। इस पर प्रश्न हो सकता है कि यह एक निमित्त सुख ही क्यों होगा? यह प्रकाश या लाघव स्वरूप भी तो हो सकता है। सुख-प्रकाश-लाघव सर्वथा एकरूप नहीं हैं, अतः इन तीनों के अविरोधी रूप से रहने से ,इन तीनों का निमित्त एक सुखरूप सत्त्व ही होगा—यह कैसे सिद्ध होता है? (यह ज्ञातव्य है कि वाचस्पति की दृष्टि में जिस स्त्रीरूप निमित्त से किसी व्यक्ति में सुखवोध होता है, वह इस निमित्त की सुखरूपता के कारण ही है; अस्मदीय दृष्टि ऐसी नहीं है)।

हमारी दृष्टि में सुख, लघुता और प्रकाशन प्रकाशशील सत्त्वगुण के अनुगत विकार-भाव हैं—इनमें सत्त्वगुण का प्राधान्य है; दुःख-उपष्टम्भकता-चलता क्रियाशील रजः के अनुगत भाव हैं; मोह-गुरुता-आवरण स्थितिशील तमः के अनुगत भाव हैं (इनमें अन्य गुणों का अप्राधान्य है)। सुखादिभेद परिणामभेद के सापेक्ष हैं। गुणवैषम्य की दृष्टि से सत्त्व-रजः-तमः गुण यथाक्रम प्रकाश-क्रिया-स्थिति-रूप धर्मों के धर्मी हैं। प्रकाशशील सत्त्व ही परिणाम-भेद से (अन्य गुण की सहायता से) 'सुख-प्रकाशन-प्रकाश्यभाव-लघुता' में परिणत होता है।

क्रियाशील रजः तथा स्थितिशील तमः के परिणामों के लिये भी यही दृष्टि प्रयोज्य है ।

'प्रदीपवत्' शब्द उपमा का प्रतिपादक है—व्याप्तिसंवेदन-स्थानभूत दृष्टान्त नहीं है । यह कहना असंगत है कि चूँकि प्रदीप के तीन अवयव (वर्ति, तैल और आग) मिलकर रूप का प्रकाशन करते हैं, अतः परस्पर विरोधी तीन गुण भी परस्पर मिलकर, परस्पर का अनुवर्तन करके कार्य की सिद्धि करते हैं । त्रिगुण का जो स्वभाव पहले कहा गया है, उससे ही यह सिद्ध है कि ये गुण मिलकर ही रहते हैं । अतः जब यह देखा जाता है कि ये गुण मिलकर 'एक' परिणाम उत्पन्न करते हैं, तब यह अवश्य ही अनुमित होता है कि ये विरोधी त्रिगुण परस्पर का अनुवर्तन अवश्य करते हैं (अन्यथा महदादि परिणामों की अभिव्यक्ति ही नहीं होती) । त्रिगुण परस्पर का अनुवर्तन क्यों करते हैं—ऐसा प्रश्न नहीं हो सकता, क्योंकि ये सदैव इसी रूप में ही उपलब्ध होते हैं (गुणविकार के क्षेत्र में) । 'क्यों होता है'— यह प्रश्न तभी उठता है जब कुछ अन्यथाभाव देखा जाता है, विलक्षणता देखी जाती है ।

गुणों की जो वृत्तियाँ हैं, वे अर्थवशात् होती हैं । अर्थ=भोग और अपवर्ग । तात्पर्य यह कि त्रिगुण परस्परानुवर्तन-पूर्वक जो परिणाम उत्पन्न करते हैं, उनका हेतु या तो भोग है या अपवर्ग । वे भोगापवर्गरूप पुरुषार्थवश अन्योन्यानुवर्तनपूर्वक परिणामोत्पादन करते हैं । गुणवैषम्य के उदाहरण के रूप में जो महदादि हैं, वे अनादि हैं, अतः भोगापवर्ग द्वारा गुणवैषम्य प्रथमतः प्रवर्तित होता है—ईदृश चिन्ता असंगत है । भोगापवर्ग जब तक हैं, तब तक गुणवैषम्य है, और जब भोगापवर्ग नहीं रहते हैं तब गुणवैषम्य भी नहीं रहता—यह जानकर कहा गया है कि 'अर्थवशात् गुणों की वृत्ति होती है' । वस्तुतः **भोगापवर्ग गुण-विकारों के स्थितिहेतु हैं, उत्पत्तिहेतु नहीं**[1] ।

भोगापवर्ग का स्वरूप और गुणवैषम्य (परस्परानुवर्तन पूर्वक-परिणामोत्पादन वैषम्यावस्था में ही होता है) का संबन्ध जानना आवश्यक है । **गुणवैषम्य और महदादिकरण-व्यक्तियाँ अविनाभावी हैं; महदादिकरण अनादि हैं । ऐसा नहीं कि पहले त्रिगुणमात्र समभाव में थे, बाद में उनके साथ भोगापवर्ग का योग हुआ, और वे त्रिगुण भोगापवर्ग के अधीन हो गये ।** (यह मत—जो प्रायः कहा जाता है—बालोचित है) । यह देखा जाता है कि भोगापवर्ग जब तक हैं महदादि-रूप परिणाम चलता रहता है—भोगापवर्ग में यादृश उत्कर्षापकर्ष होते हैं, महदादि का परिणाम-प्रवाह तदुपयोगी या तदनुकूल हो जाता है

---

१. साधारणतया हेतु का अर्थ 'उत्पत्ति का हेतु' ऐसा ही समझा जाता है । सांख्ययोग में अनादि पदार्थों में कार्य-कारण-भाव स्वीकृत होता है । पदार्थों के अनादि होने के कारण हेतु या कारण उत्पादक नहीं हो सकता । व्यासभाष्य में जो उत्पत्तिकारण, स्थिति-कारण, अभिव्यक्तिकारण, विकारकारण, प्रत्ययकारण, आप्तिकारण, वियोगकारण, अन्यत्वकारण, और धृतिकारण की चर्चा वह इस प्रसंग में स्मरणीय है (२।२८) ।

तथा भोगापवर्ग की समाप्ति होने पर महदादि का परिणामक्रम भी समाप्त हो जाता है। इन तथ्यों के कारण ही माना जाता है कि भोग-अपवर्ग-वश त्रिगुण का प्रवर्तन होता है।

कुछ व्याख्याकार इस भोग-अपवर्ग-रूप अर्थ को न्याय-वैशेषिकसंमत अदृष्ट समझते हैं। यह दृष्टि असंगत है। न्याय-वैशेषिक में अदृष्टसंबन्धी विचारों को देखने से ही दोनों का भेद ज्ञात होगा। जिन दो शास्त्रों की मूल दृष्टियाँ परस्पर अत्यन्त पृथक् हैं, उनके मूलभूत मतों में ईदृश साम्य दिखाना अनुचित है। न्याय-वैशेषिक के आचार्य यदि भोगापवर्ग-शब्दों का प्रयोग करते हैं तो वे सांख्योगीय अर्थों में उनका प्रयोग नहीं करते हैं—यह ज्ञातव्य है ॥१३॥

---

(१) स्यादेतत्—अनुभूयमानेषु पृथिव्यादिष्वनुभवसिद्धा भवन्त्वविवेकित्वादयः। (२) ये तु नः सत्त्वादयो नानुभवपथमधिरोहन्ति, तेषां कुतस्त्यमविवेकित्वं विषयत्वमचेतनत्वं प्रसवधर्मित्वं च ? इत्यत आह—

अविवेक्यादेः सिद्धिस्त्रैगुण्यात्तद्विपर्ययेऽभावात्[1] ।
कारणगुणात्मकत्वात्कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्धम् ॥१४॥

---

(१) अनुभूयमान (=प्रत्यक्षगम्य) पृथ्वी आदि स्थूल पदार्थों में अविवेकित्व आदि धर्मों की सत्ता अनुभवसिद्ध है, (२) पर प्रत्यक्ष न होने वाले सत्त्व-रजः-तमः (अर्थात् अव्यक्त प्रधान) में अविवेकित्व, विषयत्व, सामान्यत्व, अचेतनत्व, प्रसवधर्म (परिणामित्व) आदि धर्मों की सत्ता कैसे मानी जा सकती है ? इसके उत्तर में कारिकाकार कहते हैं:—

(त्रिगुणरूप अव्यक्त प्रधान में) अविवेकित्व आदि धर्मों की सत्ता सिद्ध होती है, क्योंकि ये सत्त्वादि गुण सुख-दुःख-मोहात्मक हैं; किंच अविवेकित्व आदि धर्म जहाँ नहीं हैं वहाँ (अर्थात् पुरुष में) तीनों गुणों का अभाव दृष्ट होता है। (व्यक्त महदादि) कार्यों के कारणगुणस्वभावक होने के हेतु अव्यक्त प्रकृति की सत्ता भी सिद्ध होती हैं ॥ १४ ॥

(३) कारिकागत 'अविवेकि (अविवेकिन्—नपुंसक लिङ्ग का प्रथमान्तरूप) पद का अर्थ है 'अविवेकित्व'। यह भावप्रधान निर्देश है, क्योंकि अविवेकित्वरूप धर्म के लिये 'अविवेकी' रूप धर्म का वाचक शब्द प्रयुक्त हुआ है। ऐसा उदाहरण 'द्व्येकयोः' इस पाणिनिप्रयुक्त शब्द में भी है, जहाँ द्वि और एक का अर्थ क्रमशः द्वित्व और एकत्व है। यदि ऐसा न माना जाए, तो 'द्वि' तथा 'एक' शब्दों के अर्थ में बहुत्व (अर्थात्त्रित्व) आने से ''द्व्येकेषु'' ऐसा बहुवचनान्त प्रयोग ही होगा।

---

१. तद्विपर्ययाभावाद् इति केचन पठन्ति।

(३) "अविवेक्यादेः" इति। अविवेकित्वमविवेकि—यथा 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' (अष्टा० १।४।२२) इत्यत्र द्वित्वैकत्वयोरिति; अन्यथा द्व्येकेष्विति स्यात्। (४) कुतः पुनरविवेकित्वादेः सिद्धिरित्यत आह—"त्रैगुण्यात्" इति। यद्यत् सुखदुःखमोहात्मकं तत्तदविवेकित्वादियोगि यथेदमनुभूयमानं व्यक्तम्—इति स्फुटत्वादन्वयो नोक्तः[1]।

(५) व्यतिरेकमाह—"तद्विपर्ययेऽभावात्" इति। अविवेक्यादिविपर्यये पुरुषे त्रैगुण्याभावात्। (६) अथवा व्यक्ताव्यक्ते पक्षीकृत्याऽन्वयाभावेनावीत एव हेतुस्त्रैगुण्यादिति वक्तव्यः।

(७) स्यादेतत्—अव्यक्तसिद्धौ सत्यां तस्याविवेकित्वादयो धर्माः सिध्यन्ति। अव्यक्तमेव त्वद्यापि न सिध्यति, तत्कथमविवेकित्वादिसिद्धिरित्यत आह—

---

(४) सत्त्व आदि रूप इन्द्रियातीत पदार्थों में) अविवेकित्व आदि धर्मों की सिद्धि किस हेतु से होती है, इसके उत्तर में कारिकाकार कहते हैं—'त्रैगुण्यात्' = सुखदुःखमोहात्मक होने से। 'जो जो पदार्थ सुखदुःखमोहात्मक होते हैं वे सब अविवेकित्वादि से विशिष्ट होते हैं, जैसे अनुभवगोचर (अर्थात् गुणा-विकारभूत) व्यक्त पदार्थ (व्यक्तपदार्थ अविवेकित्व आदि से युक्त देखा जाता है)। स्पष्ट होने के कारण कारिका में अन्वयव्याप्तिमूलक (अन्वयव्याप्ति = सव्यापक साध्यसामानाधिकरण्य) अनुमान का दृष्टान्त दिया नहीं गया है। (अनुभूयमान व्यक्त पदार्थ दृष्टान्त है)।

(५) व्यतिरेक व्याप्ति-(जहाँ साध्य नहीं है, वहाँ साधन नहीं रहता है—यह नियम) मूलक अनुमान का दृष्टान्त कहते हैं—'उनके अभाव में अभाव होने से'। अर्थात् जहाँ अविवेकित्व आदि धर्मों का अभाव होगा, वहाँ त्रैगुण (सुखदुःखमोहात्मकत्व) का भी अभाव हो जाएगा, जैसे 'पुरुष'। (६) अथवा यह कहना चाहिए कि व्यक्त तथा अव्यक्त व्याप्ति के अभाव हो जाने से "त्रैगुण्यात्" पद के द्वारा अवीतहेतु (केवलव्यतिरेकी, व्यतिरेक-व्याप्ति) ही दिया गया है। दोनों को पक्ष मानने पर (उदाहरण के अभाव के कारण) अन्वय (अव्यक्त और व्यक्त अविवेकित्वादि-विशिष्ट हैं—सुखदुःखमोहात्मक होने के कारण, जो जो अविवेकित्वादि-विशिष्ट-विशिष्ट नहीं है, वह वह सुखदुःख मोहात्मक नहीं है, जैसे पुरुषतत्व—(इस अवीत अनुमान में साध्य के अभाव से हेतु का अभाव ही लक्षित होता है)।

(७) अव्यक्त के सिद्ध होने पर ही उसके अविवेकित्व आदि धर्म सिद्ध हो सकते है परन्तु अभी तक तो अव्यक्त ही सिद्ध नहीं हुआं, अतः उसमें अविवेकित्व आदि धर्म

---

१. अन्वयेनोक्तम् इति पाठापेक्षया अन्वयो नोक्त इति साधुतरः पाठः।

"कारणगुणात्मकत्वात्" इति। (८) अयमभिसन्धिः—कार्यं हि कारणगुणात्मकं दृष्टम्, यथा तन्त्वादिगुणात्मकं पटादि। (९) तथा महदादिलक्षणेनापि कार्येण सुखदुःखमोहरूपेण स्वकारणगत-सुखदुःखमोहात्मना भवितव्यम्। तथा च तत्कारणं सुखदुःखमोहात्मकं प्रधानमव्यक्तं सिद्धं भवति ॥१४॥

कैसे सिद्ध हो सकते हैं? इसके उत्तर में कारिकाकार कहते हैं—कार्य के अपने उपादान-कारण के गुणों से विशिष्ट होने से अव्यक्त भी सिद्ध होता है। (८) अभिप्राय यह है कि कार्य अपने उपादानकारण गुणात्मक देखा जाता है (कार्य का गुण कारण के गुण से आता है), जैसे पट आदि कार्य स्वकारणभूत तन्तु आदि के गुणों से युक्त होते हैं। (९) उसी प्रकार सुखदुःखमोहात्मक महत्तत्त्व आदि कार्यों का ऐसा उपादानकारण रहना आवश्यक है, जो सुखदुःख-मोहात्मक है। जो कारण तादृश सुखादि-आत्मक हैं, वही प्रधान या अव्यक्त है—यह सिद्ध होता है ॥ १४ ॥

१४वीं कारिका की व्याख्या

साम्यावस्थ प्रधान और महदादि विकार अविवेकी, विषय, सामान्य, अचेतन और प्रसवधर्मी क्यों हैं (जैसा कि ११वीं का० में कहा गया है)—इसका हेतु इस कारिका में दिया गया है—यह वाचस्पति का कहना है। हमारे अनुसार महदादि-व्यक्तों में ही अविवेकित्व आदि धर्मों की सिद्धि करना इस कारिका का लक्ष्य है। इसका हेतु है—त्रैगुण्य। चूँकि १२-१३ कारिकाओं में गुण का स्वरूप व्याख्यात हुआ है और यह दिखाया गया है कि सभी व्यक्त पदार्थ गुणसन्निवेशमात्र हैं, अतः गुणसन्निवेशरूप त्रैगुण्य को हेतु के रूप में उपन्यस्त किया जा सकता है। महदादि-पदार्थों का जो असम्यक् और संकीर्ण बोध जीव में है, उनको ही महदादि मान कर अनुमान से उनके अविवेकित्व आदि धर्म यहाँ युक्तितः सिद्ध किये जा रहे हैं। हेतु है—उनका त्रिगुणसन्नि वेशरूप होना।[1]

त्रैगुण्य रूप हेतु से जब व्यक्त पदार्थों में अविवेकित्व आदि धर्म सिद्ध हो जाते हैं, तब यह प्रश्न उठता है कि ये महदादि तो कार्य हैं (महदादि तच्च कार्यम्, ८ का०), अतः इनका कोई उपादानकारण अवश्य होगा। महदादि सभी कार्यों में अविवेकित्वादि धर्म रहने से उनके

---

१. महत् यतः सदैव पुरुषसंयुक्त है, अतः वह व्यवहारतः अचेतन नहीं हो सकता। इससे यह सिद्ध होता है कि कारिका में महदादि का विवरण उपादान-दृष्टि से किया गया है। अन्तर्दृष्टि-संपन्न पाठक को लक्ष्य करना चाहिये कि विवेकी, अविषय, असामान्य, चेतन और अप्रसवधर्मा पुरुष के साथ संयुक्त होने के कारण महदादि में भी ये धर्म अस्फुट-रूपेण विद्यमान हैं। जो पदार्थ पुरुष का जितना सन्निहित हैं, उसमें उपर्युक्त धर्म उतने ही स्फुट हैं।

कारण में भी ये धर्म सिद्ध होते हैं—अर्थात् महदादि का उपादान भी अविवेकादि-गुणों के गुणी हैं—यह सिद्ध होता है। हमारी दृष्टि में 'कारण···सिद्धम्' वाक्य का तात्पर्य यह है—महदादि कार्यों (व्यक्तों) के स्वकारण-गुणात्मक होने का कारण उनका शास्त्रप्रसिद्ध अव्यक्त नामक जो कारण है, वह भी अविवेकादि-धर्मवान् सिद्ध होता है। 'अव्यक्तमपि सिद्धम्' का इतना ही अर्थ नहीं है कि 'अव्यक्त की सत्ता सिद्ध होती हे'; अव्यक्तसत्ता की सिद्धि के लिये जो हेतु हैं, वे वाद में कहे जायेंगे (१५-१६ कारिकाओं में)। 'कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्य' रूप सामान्य कथन से अव्यक्त रूप कारण की सिद्धि नहीं होती—यह तो नितरां स्पष्ट है। अतः इसका यही अर्थ होना संगत है कि 'अव्यक्त रूप शास्त्रप्रसिद्ध कारण अविवेकित्वादि धर्मों से युक्त है।

प्रचलित व्याख्यानों में यह कहा जाता है कि व्यक्त पदार्थ में त्रिगुणत्व, अविवेकित्व आदि धर्म हैं, यह सिद्ध ही है। यह कथन चिन्त्य है। 'महत्' एक व्यक्त पदार्थ है; महत् में अविवेकित्व आदि हैं—क्या यह स्वानुभवगम्य है ? महत् का प्रत्यक्ष तो सास्मित-संप्रज्ञात समाधि में होता है। महत् त्रिगुणविकार है, अतः उसमें अविवेकित्व आदि धर्म है—यह अनुमानसिद्ध है—यह कहना भी संगत नहीं है। त्रिगुण-विकार के रूप में महत् का अनुभव क्या अस्मदादि व्यक्ति करते हैं ? त्रिगुण तो पूर्णतया अनुपलम्य हैं। अतीन्द्रिय विषय पक्ष नहीं होता। महत् के अस्तित्व का साक्षात् ज्ञान अस्मदादि को नहीं है। अयोगी व्यक्ति महत् को अत्यन्त संकीर्ण रूप से जानते हैं—यह जानना वहुत कुछ सदोष है। हमने पहले ही महत् के साक्षात्कारादि विषयों में स्वमत को कह दिया है।

यह भी विचार्य है कि यदि 'कार्यस्य कारणगुणात्मकत्वात्' हेतु से यहाँ अव्यक्त की सिद्धि की जा रही है, तो पुनः १५-१६ कारिकाओं में अव्यक्तसिद्धि के लिये क्यों अनुमान किया गया है (पाँच हेतुओं से)? वाचस्पति कहते हैं कि कार्य चूँकि सुख-दुःख-मोहरूप है, अतः उनका कारण (अनुमेय) भी सुख-दुःख-मोहात्मक होगा (हम कार्य महदादि को सुख-दुःख-मोह-रूप नहीं मानते)। यह मानकर कि कारण सुख-दुःख-मोहरूप होगा—यह प्रश्न उठता है कि उस कारण को 'अव्यक्त' नाम से क्यों कहा गया ? जब सुख-दुःख-मोहरूप कार्य 'व्यक्त' कहलाता है, तब सुख-दुःख-मोहरूप कारण क्यों 'अव्यक्त' कहलाता है—इसका कोई हेतु वाचस्पति ने नहीं कहा। अव्यक्त अवश्य ही अन्वर्थसंज्ञा है, अतः इसकी अन्वर्थता को प्रकटित करना टीकाकार का एक आवश्यक कार्य है। हमारी दृष्टि में महदादि-रूप व्यक्त पदार्थ प्रकाश-क्रिया-स्थिति की वैषम्यावस्थारूप हैं; एक वैषम्यावस्थ त्रिगुण अन्य वैषम्यावस्था त्रिगुण के द्वारा ज्ञात होता है (पुरुष की हेतुता से व्यक्तता होती है)—अतः यह अवस्था व्यक्त कहलाता है। गुणों की जो अवैषम्यावस्था है, वह वैषम्यावस्थ त्रिगुण रूप उपाधि द्वारा साक्षात् विज्ञेय नहीं होता। किंच यह अवैषम्यावस्था धर्मधर्मिदृष्टि से अथवा किसी भी वैशिष्ट्य को लेकर अथवा देश-कालादिसबन्ध के अनुसार व्याख्यात नहीं हो

सकती; अतः यह अवस्था 'अव्यक्त' कहलाती है ।

प्रधान के अहेतुमत्त्व, नित्यत्व, व्यापित्व आदि धर्मों को छोड़कर अविवेकित्व आदि पांच ही धर्मों के विषय में क्यों कारिकाकार ने इस कारिका में विचार किया—यह प्रश्न हो सकता है । इस विषय में हमारी दृष्टि यह है—व्यक्त पदार्थों के कार्य होने के कारण कार्य के साथ अविनाभावी-संबन्ध-युक्त सभी धर्मों की असत्ता अव्यक्तरूप कारण में स्वभावतः सिद्ध होती है, अतः हेतुमत्त्व, अनित्यत्व आदि धर्मों (१०म कारिकोक्त) की सिद्धि के लिये कोई युक्ति देना कारिकाकार ने आवश्यक नहीं समझा ।

सांख्यीय सिद्धान्त के अनुसार उपादानहीन, अनुत्पन्न पदार्थ होने कारण पुरुष और अव्यक्त (=गुणसाम्यावस्था) में कुछ साधर्म्य भी होते हैं—अहेतुमत्त्व, नित्यत्व, व्यापित्व आदि । अब प्रश्न यह है कि जब प्रधान और पुरुष दोनों में ही अहेतुमत्त्व आदि कई धर्म समान हैं, तब क्या कारण है कि गुणत्रय रूप प्रधान अविवेकी, विषय, सामान्य, अचेतन और प्रसवधर्मी है, पर पुरुष (तत्त्व) अविवेकी आदि नहीं है ?

हम समझते हैं कि इस प्रश्न के समाधान के लिए ही यह कारिका है । कारिका का आशय यह है कि गुणत्रय में ही अविवेकित्व (=संभूयकारित्व) आदि पाँच धर्म हो सकते हैं, क्योंकि ये धर्म त्रिगुणस्वभावाधीन (=त्रिगुणत्वव्याप्य) धर्म हैं । चूँकि अत्रिगुण पुरुष (तत्त्व) में अविवेकित्व आदि धर्म नहीं हैं, अतः यह जाना जाता है कि ये त्रिगुण-नियत धर्म गुणवैषम्य रूप बुद्धयादि में भी होंगे, क्योंकि वैषम्यावस्था में गुण स्वस्वरूप से अणुमात्र भी विच्युत नहीं होते । अविवेकित्व आदि धर्मों के साथ उपादानहीनता या कार्यधर्म-रूपता का नियत सम्बन्ध नहीं है । यही कारण है कि ये धर्म कार्यरूप व्यक्त या व्यक्तकारण अव्यक्त—दोनों में विद्यमान हैं ।

हमारी दृष्टि में 'तद्विपर्ययेऽभावात्' पाठ संगततर है, क्योंकि इस पाठ से यह भाव स्पष्ट हो जाता है कि 'तद्विपर्यय' का उपन्यास दृष्टान्त रूप से किया गया है । तद्= त्रिगुण । कारिका में यादृश अनुमान प्रयोग किया गया है (वाचस्पति के अनुसार) वह यह है—(१) सत्त्व आदि अविवेकित्व आदि धर्मों से युक्त हैं; (२) त्रिगुणत्वहेतु; (३) जो-जो त्रिगुणात्मक है, वह वह अविवेकित्वादि-धर्मवान् है, यथा अनुभूयमान घटादि ।

यह तृतीय वाक्य—जो उदाहरण कहलाता है—कारिका में उपन्यस्त नहीं हुआ है; अनुभूयमान घटादि रूप दृष्टान्त से ज्ञात होता है कि 'त्रिगुणत्वात्' यह हेतु अन्वयी है । इस प्रकार के किसी अन्वयी दृष्टान्त देने के स्थान पर कारिकाकार ने एक ऐसा दृष्टान्त दिया है, जो इस हेतु को 'व्यतिरेकी' के रूप में सिद्ध करता है । यथा—जो-जो अविवेकित्वादि धर्मों से युक्त नहीं है, वह वह त्रिगुण नहीं होता, जैसे त्रिगुणविरोधी आत्मा । तद्= अविवेकित्वादि; उनका विपर्यय=अभाव है जिसमें वह पुरुष या आत्मा; इस आत्मा में

त्रिगुण का अभाव दृष्ट है, अतः आत्मा रूप दृष्टान्त वैधर्म्यदृष्टान्त हुआ, जिससे हेतु का व्यतिरेकित्व सिद्ध हुआ।

ध्यान देना चाहिये कि कारिका में तद्विपर्ययेऽभावात् (या तद्विपर्ययाभावात्) पद देखने में हेतु की तरह लगता है, पर वह उदाहरण का प्रदर्शक है। (दृष्टान्तप्रतिपादक वाक्य को उदाहरण कहा जाता है; उदाहरण शब्द दृष्टान्त के लिये बहुलतया प्रयुक्त होता है; न्यायसूत्र में दृष्टान्त और उदाहरण का जो भेद दिखाया गया है, वह साभिप्राय है—यह नैयायिक जानते ही हैं)।

वाचस्पति त्रिगुण को सुख-दुःख-मोहरूप समझते हैं। सुखादि संवेद्य भाव पदार्थ हैं, अतः त्रिगुणात्मक घटादि दृष्टान्त हो ही सकते हैं। पर व्यतिरेकी दृष्टान्त[1] के रूप में आत्मा का उपन्यास करना समीचीन प्रतीत नहीं होता, क्योंकि त्रिगुणातीत निर्गुण आत्मा सर्वथा अतीन्द्रिय है। शास्त्रोपदेश के आधार पर यदि आत्मा का दृष्टान्त स्वीकार्य हो तो उसके ही आधार पर सत्त्वादि में अविवेकित्वादि धर्म भी स्वीकार्य होंगे। आत्मा को दृष्टान्त रूप में जो समझ सकते हैं—उनके लिये यह अनुमान कार्यकर है—ऐसा भी कहा जा सकता है।

अविवेकित्व–विषयत्व–सामान्यत्व–अचेतनत्व–प्रसवधर्मिता–ये पाँच त्रिगुण के साथ अविनाभावी हैं, क्योंकि त्रिगुण कोई अखण्ड पदार्थ नहीं हैं। त्रिगुण तीन गुणों का समाहार ही हैं, अतः हम कह सकते हैं कि एकाधिक-भाव से युक्त पदार्थ ही अविवेकी, विषय, सामान्य, अचेतन, और प्रसवधर्मी होता है तथा जिसमें एकाधिक भाव नहीं होंगे (त्रिगुण में तीन भाव हैं), वह पदार्थ अवश्य ही विवेकी, अविषय, असामान्य, चेतन तथा अप्रसवधर्मा होगा ॥१४॥

(१) स्यादेतत्—'व्यक्ताद्व्यक्तमुत्पद्यते' इति कणभक्षाक्षचरणतनयाः[2]। (२) परमाणवो हि व्यक्ताः, तैर्द्व्यणुकादिक्रमेण पृथिव्यादिलक्षणं कार्यं व्यक्तमारभ्यते। (३) पृथिव्यादिषु च कारणगुणक्रमेण रूपाद्युत्पत्तिः। (४) तस्मात् व्यक्ताद् व्यक्तस्य तद्गुणस्य चोत्पत्तेः कृतम दृष्टचरेणाव्यक्तेनेत्यत आह—

(१) परन्तु कणाद और गौतम के शिष्यों का मत है कि व्यक्त से ही व्यक्त पदार्थ की उत्पत्ति होती है। (२) परमाणु व्यक्त पदार्थ हैं। उनमें द्व्यणुक आदि के क्रम से पृथ्वी आदि रूप व्यक्त कार्य उत्पन्न होते हैं और (३) पृथ्वी आदि में कारणगुणों के क्रम से ही रूप आदि की भी उत्पत्ति होती है। (४) इसलिये व्यक्त से ही व्यक्त तथा उसके

१. त्रैगुण्यरूप हेतु अवीत (व्यतिरेकी) है—इसको दिखाने के लिये दृष्टान्त है 'तद्विपर्ययाभाव'। 'तद्विपर्ययाभाव' के तात्पर्य को प्रायः लोग ठीक से नहीं समझते। "व्यक्त और अव्यक्त अविवेकिता आदि धर्मों से रहित नहीं हैं, क्योंकि उनमें तीनों गुणों के अभाव का अभाव है" (डा० व्रजमोहन, पृ० ७१)। यह कथन सदोष है।

२. चरणनयाः इति केचन पठन्ति।

भेदानां परिमाणात् समन्वयाच् छक्तितः प्रवृत्तेश्च ।
कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूप्यस्य ॥१५॥
कारणमस्त्यव्यक्तम् प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च ।
परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् ॥१६॥

(५) "भेदानाम्" इति । भेदानां विशेषाणां महदादीनां भूतान्तानां कार्याणां कारणं मूलकारणमस्त्यव्यक्तम् । कुतः ? "कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूप्यस्य" । कारणे सत् कार्यमिति स्थितम् । (६) तथा च यथा कूर्मशरीरे सन्त्येवाङ्गानि निःसरन्ति विभज्यन्ते—'इदं कूर्मशरीरम्, एतान्येतस्याङ्गानि' इति; एवं निविशमानानि तस्मिन्नव्यक्ती भवन्ति; एवं कारणान्मृत्पिण्डाद्धेमपिण्डाद्वा कार्याणि घटमुकुटादीनि सन्त्येवाविर्भवन्ति विभज्यन्ते ।

गुणों की उत्पत्ति संगत होने से अदृष्टचर (=सांख्यशास्त्र से पहले जो अज्ञात था अर्थात् सांख्यमात्रस्वीकृत) अव्यक्त को क्यों माना जाये ? इसके उत्तर में कारिकाकार कहते हैं—

महदादि कार्यों का अव्यक्तरूप उपादानकारण है, जो (१) भेदों (अर्थात् कार्यभूत महान् आदि) के परिमित होने से, (२) समन्वय से, (३) कारण की शक्ति से कार्य की प्रवृत्ति (=उत्पत्ति) होने से, (४) कारण से कार्य के विभाग से तथा (५) वैश्वरूप्य (=नानारूप कार्यों) का स्वकारण में अविभाग होने से सिद्ध होता है । यह अव्यक्त अपने गुणत्रयात्मक स्वरूप से (=सदृश-परिणाम से) एवं समुदय से (=एक दूसरे के साथ प्रधान-अप्रधान-भाव से मिलकर) जल के विविध परिणामों की तरह एकैकगुणालम्बनहेतुक विशेष के अनुसार (=किसी एक गुण के प्रधान होने पर उसका आश्रयकर अप्रधान गुणों का परिणाम होना रूप नियम के अनुसार) परिणत होता हुआ प्रवृत्त होता है ॥ १५–१६ ॥

(५) महत्तत्व से लेकर भूतपर्यन्त भेदों (=विशेषों=कार्यों) का कारण अर्थात् मूल उपादान कारण अव्यक्त है । क्यों ? कारण-कार्य के विभाग से एवं विश्वरूप (=कार्यों) के अविभाग से—अर्थात् (सृष्टिक्रम में) कारण से ही कार्य के आविर्भूत होने तथा (संहारक्रम में) कारण में तिरोभूत होने के कारण । पहले यह सिद्ध किया गया है कि कार्य व्यक्त होने के पूर्व अपने उपादान कारण में विद्यमान रहता है ।

(६) ईदृश सिद्धान्त के अनुसार जिस प्रकार कूर्मशरीर में विद्यमान अङ्गों के वाहर निकलने पर 'यह कूर्म का शरीर है और ये इसके अङ्ग हैं', इस प्रकार की पृथक् प्रतीति होती है तथा उनके कूर्ममें प्रविष्ट होने पर फिर अव्यक्त (अर्थात् पृथक् रूपेण अदृष्ट) हो जाते हैं, उसी प्रकार मृत्पिण्ड या सुवर्ण-पिण्ड रूप उपादानकारण में विद्यमान घट, मुकुट आदि कार्य उनसे आविर्भूत (=प्रकट) होने पर पृथक प्रतीत होते हैं । (सन्ति, निःसरन्ति—ये दो शत्रन्त पद सत्, निःसरत् के प्रथमाबहुवचन के रूप हैं) । (७) इसी रूप से

(७) सन्त्येव च पृथिव्यादीनि कारणात्तन्मात्रादाविर्भवन्ति विभज्यन्ते, सन्त्येव च तन्मात्राण्यहङ्कारात् कारणात्, सन्नेवाहङ्कारः कारणान्महतः, सन्नेव च महान् परमाव्यक्ताद् इति। (८) सोऽयं कारणात् परमाव्यक्तात् साक्षात् पारम्पर्येणान्वितस्य विश्वस्य विभागः।

(९) प्रतिसर्गे तु मृत्पिण्डं सुवर्णपिण्डं वा घटमुकुटादयो विशन्तोऽव्यक्ती भवन्ति। तत्कारणरूपमेवानभिव्यक्तं कार्यमपेक्ष्याव्यक्तं भवति। (१०) एवं पृथिव्यादयस्तन्मात्राणि विशन्तः स्वापेक्षया तन्मात्राण्यव्यक्तयन्ति; एवं तन्मात्राण्यहङ्कारं विशन्त्यहङ्कारमव्यक्तयन्ति; एवमहङ्कारो महान्तमाविशन् महान्तमव्यक्तयति। महान्प्रकृतिं कारणं विशन् प्रकृतिमव्यक्तयति। (११) प्रकृतेस्तु न क्वचिन्निवेश इति सा सर्वकार्याणामव्यक्तमेव। (१२) सोऽयमविभागः प्रकृतौ वैश्वरूप्यस्य नानारूपस्य कार्यस्य; स्वार्थिकः ष्यञ्। तस्मात् कारणे कार्यस्य सत एव विभागाविभागाभ्यामव्यक्तं कारणमस्तीति।

सत् (=विद्यमान) पृथिवी आदि कार्य स्वकारण तन्मात्र से प्रकट होने पर पृथक् प्रतीत होते हैं, एवं सत् (=कारण में अव्यक्त रूप से विद्यमान) तन्मात्र स्वकारण अहंकार से, सत् अहंकार स्वकारण महत्तत्व से तथा सत् महत्ततत्व परम अव्यक्त से आविर्भूत होने पर पृथक् प्रतीत होते हैं (ये विभक्त हैं—ऐसा व्यवहार होता है)। (८) परम अव्यक्त (जिससे और कोई सूक्ष्मतर उपादान नहीं है) रूप कारण से साक्षात् एवं परम्परया सम्बद्ध समस्त कार्यों का यही विभाग हैं।

(९) पर प्रलयदशा में घट, मुकुट आदि मृत्पिण्ड या सुवर्णपिण्ड में मिलकर अव्यक्त (=तिरोहित) हो जाते हैं और इस अनभिव्यक्त कार्य की अपेक्षा से ही उनके कारण (मृत्पिण्ड आदि) अव्यक्त हो जाते हैं। (१०) इसी प्रकार (प्रलयकाल में) तन्मात्र में लीन होने वाले पृथिवी आदि 'भूत' अपनी अपेक्षा से तन्मात्र को अव्यक्त बना देते है (कार्यरूप से तन्मात्रों का ग्रहण नहीं होता; तन्मात्र भूत की अपेक्षा से अव्यक्त है पर अहंकार की अपेक्षा से व्यक्त है)। इसीप्रकार अहंकार में लीन होने वाले तन्मात्र अहंकार को अपनी अपेक्षा से अव्यक्त करती हैं। एवं महत्तत्व में लीन होनेवाला अहंकार अपनी अपेक्षा से उसको अव्यक्त करता है। और अपने कारण प्रकृति में लीन होने वाला महत्तत्व प्रकृति को (अपनी अनभिव्यक्ति के कारण) अव्यक्त बना देता है।

(११) प्रकृति का अन्य किसी में लय (=कारण के साथ एकीभूत होना) होता ही नहीं, इसीलिये वह सभी कार्यो का मूलभूत अव्यक्तकारण ही है (प्रकृति किसी की अपेक्षा से अव्यक्त नहीं है, बल्कि उसमें अव्यक्तता की परा काष्ठा है)। (१२) यही विश्वरूप अर्थात् अनेकरूप कार्यों का प्रकृति में अविभाग (=लय) है। 'विश्वरूप' शब्द

(१३) इतश्चाव्यक्तमस्तीत्यत आह—"शक्तितः प्रवृत्तेश्च" इति। कारण-शक्तितः कार्यं प्रवर्तत इति सिद्धम्। अशक्तात् कारणात् कार्यस्यानुत्पत्तेः। (१४) शक्तिश्च कारणगता न कार्यस्याव्यक्तत्वादन्या। न हि सत्कार्यपक्षे कार्यस्याव्यक्तताया अन्यस्यां शक्तौ प्रमाणमस्ति। (१५) अयमेव हि सिकताभ्यस्तिलानां तैलोपादानानां भेदो यदेतेष्वेव तैलमस्त्यनागतावस्थं न सिकतास्विति।

(१६) स्यादेतत्—शक्तितः प्रवृत्तिः, कारणकार्यविभागाविभागौ च महत एव परमाव्यक्तत्वं साधयिष्यत इति कृतं ततः परेणाव्यक्तेनेत्यत आह—"परिमाणात्" इति। परिमितत्वात्, अव्यापित्वादिति यावत्। (१७) विवादाध्यासिता महदादिभेदा अव्यक्तकारणवन्तः परिमितत्वात्, घटादिवत्। घटादयो हि परिमिता मृदाद्यव्यक्तकारणका दृष्टाः। (१८) उक्तमेतद्—कार्यस्याव्यक्तावस्था

से स्वार्थ में ष्यञ् प्रत्यय कर 'वैश्वरूप्य' शब्द निष्पन्न होता है (विश्वरूप =नानारूप= विचित्र कार्यवर्ग)। इस प्रकार उपादानकारण में विद्यमान कार्य के आविर्भाव तथा उपादानकारण में उसके तिरोभाव या लय से 'अव्यक्त' प्रकृति रूप कारण सिद्ध होता है।

(१३) एक अन्य हेतु से भी (महत्तत्व आदि कार्यों का) अव्यक्त रूप मूल कारण सिद्ध होता है, जैसा कि कारिकाकार कहते हैं—कारण की शक्ति से कार्य के उत्पन्न होने के कारण भी 'अव्यक्त' रूस उपादानकारण सिद्ध होता है। कारण की शक्ति से कार्य उत्पन्न होता है, यह सिद्ध ही है, क्योंकि अशक्त (=कार्यजनन में असमर्थ) कारण से कार्य की उत्पत्ति कभी नहीं होती। (१४) और कारण में स्थित शक्ति 'कार्य के अव्यक्त रूप से रहने' के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, क्योंकि सत्कार्यवादपक्ष में कार्य की अव्यक्तता से भिन्न किसी अन्य कारणशक्ति को मानने में कोई प्रमाण नहीं है। (१५) तैल के उपादानभूत तिलों का बालुका से यही विशेष (=भेद) है कि इन्हीं (तिलों) में अनागतावस्थ तैल है, बालुका में नहीं।

(१६) उपर्युक्त मत के सत्य होने पर भी प्रश्न हो सकता है कि 'कारण-शक्ति से कार्य के उत्पन्न होने' तथा 'कारण से कार्य के आविर्भाव' एवं 'कारण में कार्य के तिरोभाव' होने के कारण जो परम अव्यक्तता सिद्ध होती है, वह महत्-तत्त्व में भी मानी जा सकती है। फिर भी महत्-तत्त्व से पर प्रकृति नामक अव्यक्त को मानने से क्या लाभ? इसके समाधान में कारिकाकार (अन्य हेतु) कहते हैं :—महत् आदि कार्यों के परिमित या अव्यापी (कारणद्वारा व्याप्त) होने के कारण। (१७) सकारण है या निष्कारण—इस प्रकार मतभेद से ग्रस्त महत्-आदि कार्यों का अव्यक्त (=प्रकृति) रूप कारण अवश्य होगा—परिमित होने के कारण, जैसे घट आदि परिमित पदार्थों के उनकी अपेक्षा अव्यक्त मृत्पिण्ड आदि कारण देखे जाते हैं। (१८) 'कार्य की अव्यक्तावस्था ही कारण है', यह

कारणमेवेति (द्र० ९ वाक्यम्), यन्महतः कारणं तत् परमाव्यक्तम्, ततः परतराव्यक्तकल्पनायां प्रमाणाभावात् ।

. (१९) इतश्च विवादाध्यासिता भेदा अव्यक्तकारणवन्तः—"समन्वयात्"; भिन्नानां समानरूपता समन्वयः । सुखदुःखमोहसमन्विता हि बुद्ध्यादयोऽध्यवसायादिलक्षणाः प्रतीयन्ते । (२०) यानि च यद्रूपसमनुगतानि तानि तत्स्वभावाव्यक्तकारणकानि यथा मृद्धेमपिण्डसमनुगता घटमुकुटादयो मृद्धेमपिण्डाव्यक्तकारणका इति कारणमस्त्यव्यक्तं भेदानामिति सिद्धम् ।

(२१) अव्यक्तं साधयित्वा अस्य प्रवृत्तिप्रकारमाह—"प्रवर्तते त्रिगुणतः" इति । प्रतिसर्गावस्थायां सत्त्वं रजस्तमश्च सदृशपरिणामानि भवन्ति । (२२) परिणामस्वभावा हि गुणा नापरिणमय्य[1] क्षणमप्यवतिष्ठन्ते । (२३) तस्मात् सत्त्वं सत्त्वरूपतया, रजो रजोरूपतया, तमस्तमोरूपतया प्रतिसर्गावस्थायामपि प्रवर्तते । तदिदमुक्तम्—"त्रिगुणतः" इति ।

पहले ही कहा गया है । जो महत्-तत्त्व का उपादानकारण है, वह परम अव्यक्त है, क्योंकि उससे भी पर अव्यक्त की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है ।

(१९) 'महदादि सकारण हैं या निष्कारण हैं'—इस प्रकार के मतभेद से युक्त महत्-तत्त्व आदि कार्यों का 'अव्यक्त' कारण है, इसमें 'समन्वय' भी एक हेतु है । 'समन्वय' का अर्थ है—विभिन्न पदार्थों में अनुगत समानभाव । अध्यवसायादि-लक्षणक बुद्धि तथा अन्यान्य पदार्थ सुखदुःखमोहरूप धर्मोंसे अन्वित प्रतीत होते हैं । (२०) जो वस्तुएँ जिसके सदृश धर्म-विशिष्ट होती हैं, वे तत्स्वभावभूत अव्यक्तकारणक होते हैं, जैसे मिट्टी और सोने के पिण्ड में समवेत घट-मुकुट आदिके 'कारण' उनकी (=घट-मुकुटादि की) अपेक्षा सूक्ष्मतर अव्यक्त रूप मिट्टी और सोने के पिण्ड होते हैं । अतएव यह सिद्ध है कि समस्त भेदों (=कार्यों) का 'अव्यक्त' ही कारण होता है ।

(२१) अव्यक्त की सत्ता सिद्ध करके उसकी प्रवृत्ति (=कार्य या परिणाम) का प्रकार कहते हैं—'प्रवर्तते त्रिगुणतः' अर्थात् (सृष्टिरूप परिणाम से पहले) प्रलयकाल में सत्त्व, रजः तथा तमः गुणों का सदृश (अर्थात् स्वकीय रूप) परिणाम होता है, (२२) क्योंकि स्वभावतः परिणामी गुणत्रय परिणत हुए बिना क्षणमात्र भी नहीं रह सकते । (२३) इसलिये प्रलय-अवस्था में भी सत्त्व सत्त्वरूप से, रजः रजोरूप से और तमः तमोरूप से प्रवृत्त रहते (=परिणत होते रहते) हैं । इस सदृश-परिणाम के लिये कारिकाकार ने 'त्रिगुणतः' (अर्थात् अव्यक्त प्रधान गुणसाम्यावस्था में भी परिणत होता हुआ रहता है) ऐसा कहा है ।

---

१. स्वार्थिकणिजन्ताल् ल्यपि इदं रूपम् । अन्ये अपरिणम्य इति पठन्ति ।

(२४) प्रवृत्त्यन्तरमाह—"समुदयाच्च" इति। समेत्य उदयः समुदयः समवायः। स च गुणानां न गुणप्रधानभावमन्तरेण सम्भवति, न च गुणप्रधानभावो वैषम्यं विना; न च वैषम्यमुपमर्द्योपमर्दकभावादृते, इति महदादिभावेन प्रवृत्तिर्द्वितीया।

(२६) स्यादेतत्—कथमेकरूपाणां गुणानामनेकरूपा प्रवृत्तिरित्यत आह—"परिणामतः सलिलवत्" इति। यथा हि वारिदविमुक्तमुदकमेकरसमपि तत्तद्भूविकारानासाद्य नारिकेल-ताल–ताली-बिल्व–चिरबिल्व–तिन्दुकामलकप्राचीनामलक-कपित्थ-फलरसतया परिणमन्मधुराम्ललवणतिक्तकषायकटुतया विकल्पते[1], एवमेकैकगुणसमुद्भवात् प्रधानगुणमाश्रित्य अप्रधानगुणाः[2] परिणामभेदान्

---

(२४) अव्यक्त प्रधान के अन्य प्रकार का कार्य (अर्थात् सृष्टिरूप) कहते हैं—यह अव्यक्त तीनों गुणों के मिश्रित रूप से भी कार्य करता है (महदादि रूप कार्यों को उत्पन्न करता है)। 'समुदयः' की व्युत्पत्ति है—'समेत्य उदयः'=समवाय (=कार्यजनन में उन्मुखीभाव या कार्यार्थ परस्पर सम्मिश्रित रूप से आविर्भाव)। (२५) गुणों का यह परिणामविशेष-रूप 'समवाय' उनके गुण-प्रधानभाव (अर्थात् किसी के प्राधान्य और किसी अप्राधान्य भाव) के बिना संभव नहीं है; एवं यह 'गुण-प्रधान-भाव' गुण के वैषम्य के विना संभव नहीं है; और यह वैषम्य (=न्यूनाधिकभाव) भी अभिभाव्याभिभावक-भाव के बिना असम्भव है। इस प्रकार 'समुदाय' रूप प्रवृत्ति के कारण महद् आदि रूप से होने वाला परिणाम दूसरे प्रकार का कहलाता है। (प्रथम प्रकार का परिणाम है—प्रलयकाल में त्रिगुणरूपेण सदृश परिणाम; द्वितीय प्रकार का परिणाम है—सृष्टिकाल में महत्-तत्त्वादिरूप विसदृश परिणाम)।

(२६) परन्तु (अव्यक्तावस्था में) सदृशपरिणामयुक्त एकरूप गुणों के (सृष्टिकाल में) अनेक प्रकार के परिणाम (=कार्य) कैसे होते हैं—इसके उत्तर में कारिकाकार कहते हैं—जल की तरह परिणाम होने के कारण (सलिलस्य इव परिमाणात्—यह अर्थ है)। जिस प्रकार मेघ से विच्युत जल एकरस (=एकरूप) होने पर भी पृथ्वी के विकारों को प्राप्त कर नरियल, ताल बिल्व, चिरबिल्व (=करंज), तिन्दुक (=केंद का फल) आमलक (=आँवला), प्राचीनामलक (=पानी आँवला), कैंथ के रस में परिणत होने पर मीठा खट्टा, नमकीन, तिक्त, कसैला तथा कड़ुवा हो जाता है, उसी रूप से एक एक गुण के प्राधान्येन आविर्भाव होने से उस प्रधान गुण का आश्रय लेकर अप्रधान गुण अनेक

---

१. विकल्प्यते इति पाठो व्याख्यायते केनचिद् टीकाकृता (=विभिन्नत्वेन अनुमीयते इति)।
२. एकैकगुणसमुद्भवात् प्रधानगुणाः परिणामभेदान् इति क्वचित् पठ्यते। परिणामभेदाद् इति क्वचित् पठ्यते।

प्रवर्त्तयन्ति। (२७) तदिदमुक्तम्—"प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात्"। एकैकगुणाश्रयेण यो विशेषस्तस्मादित्यर्थः ॥ १५-१६ ॥

परिणामों को उत्पन्न करते हैं; (२७) इसीको लक्ष्य कर कारिकाकार ने कहा है—"एक एक गुण के आश्रय से जो विशेष उत्पन्न होता है, उसके कारण" (एकैकगुणस्वरूप सहकारी के तारतम्य के कारण) अव्यक्त विविध परिणामों को प्राप्त होता है) ॥१५-१६॥

१५-१६वीं कारिकाओं की व्याख्या

इन दो कारिकाओं से जिस मूलकारण रूप अव्यक्त की सिद्धि की गई है, उसके विषय में कुछ कहना आवश्यक है। 'अव्यक्त' इस अन्वर्थ संज्ञा के प्रयोग का प्रथम अभिप्राय यह है कि यह कारण गुणवैषम्यरूप नहीं है। गुणवैषम्यभूत पदार्थ को अव्यक्त कहने का कोई स्वारस्य नहीं है। यह अव्यक्त अवश्य ही महदादि का लयस्थान है। महदादि-रूप भेद अपने व्यक्तित्व के साथ वैषम्यावस्था में रह सकते हैं। अवैषम्यावस्था में भेदों का व्यक्तित्व नष्ट हो जाता है। ग्राह्य-ग्रहण-ग्रहीता-रूप त्रिविध अनात्म-वस्तु का समन्वय प्रकाश-क्रिया-स्थिति की समता में ही हो सकता है। ये प्रकाश-क्रिया-स्थिति-भाव समभाव में जब रहेंगे तब उस भाव को अव्यक्त कहना ही होगा। यह समभाव सर्वविध चित्त-इन्द्रियों द्वारा असंवेद्य है।[1]

'प्रवर्तते…समुदयाच्च' वाक्य की व्याख्या में वाचस्पति ने जो द्विविध 'परिणाम' की बात कही है, हमारी दृष्टि में वह असंगत है। कहा गया है कि प्रलय में गुणसाम्य होता है और साम्यावस्था में सत्त्व सत्त्वरूप में, रजः रजः रूप में, तमः तमः रूप में परिणत होता रहता है (प्रवर्तते)। **हम यथास्थान यह दिखायेंगे कि प्रलयावस्था गुणसाम्यावस्था नहीं है** (प्रलय = भूतादि-अहंकार के ग्राह्यीभूत होकर तन्मात्रादि में परिणत होने की प्रागवस्था; तन्मात्रादि के व्यक्त न होने पर भी अहंकार व्यक्त रहता ही है; अतः प्रलय में गुणसाम्य की बात करना अज्ञता ही है)। यह मानकर कि गुणसाम्यरूप एक अवस्था है, यह देखना है कि क्या इस अवस्था में वाचस्पति-संमत 'सदृश परिणाम' की संभावना है? **जहाँ गुण-प्रधान-भाव नहीं है, वहाँ वास्तव परिणाम की कल्पना (रजः रहने पर भी) सांख्यीय दृष्टि से की ही नहीं जा सकती। तीनों** गुण तुल्यबल होकर अवस्थित हैं—यही कहा जा सकता है। इस अवस्था में 'सत्त्वं

---

१. गुणसाम्यरूप अव्यक्त भी किसी से उत्पन्न हुआ है—ऐसा मानने वाले आचार्य भी हैं। ये लोग समझ ही नहीं पाते कि प्रकाश-क्रिया-स्थिति-मात्र का कोई उपादान कैसे हो सकता है? सांख्य का कहना है कि अपरिच्छिन्न प्रकाश का कोई उपादान संभव नहीं है, यद्यपि परिच्छिन्न प्रकाश का उपादान होना संभव है। क्रिया और स्थिति के लिये भी यही बात है।

सत्त्वरूपतया प्रवर्तते' ऐसा नहीं कहा जा सकता—'प्रवर्तते' के स्थान पर 'अस्ति' कहना होगा। 'सत्त्वं सत्त्वरूपेण अस्ति' यह तो साम्य-वैषम्य-रूप दोनों अवस्थाओं में कहा जा सकता है। क्योंकि त्रिगुण अपने मूल स्वभाव से कभी भी विच्युत नहीं होते। अतः वाचस्पति का यह व्याख्यान असंगत है। गुणप्रवृत्ति या गुणपरिणाम गुणवैषम्य के विना अचिन्त्य है। हमारी दृष्टि में उपर्युक्त कारिकावाक्य का अर्थ है—गुणवैषम्य त्रिगुण रूप ही है; पर परिणाम होने पर वह परिणाम 'तीन' है, ऐसा बोध नहीं होता; प्रत्युत वह 'एक' है—ऐसा बोध होता है; इसका हेतु है—परिणामैकत्व, जैसा कि ४।१४ योगसूत्र में कहा गया है। 'त्रिगुणतः समुदयाच्च' में जो 'च' है, वह परिणाम के द्वैविध्य को नहीं कहता, प्रत्युत यह कहता है कि असंभिन्नशक्ति-प्रविभाग-रूप तीन गुण एकीभूत होकर ही विषमावस्थ होते हैं।

भेदों का परिमित होना, समन्वित होना आदि युक्तियों के प्रयोग से 'अव्यक्त' की जो सिद्धि होती है, वह अव्यक्त के आसन्न कार्य से संवन्धित होने से ही संभव होती है। घटरूप कार्यों के परिमितत्व से अव्यक्त की सिद्धि नहीं होती। अतः 'महदादिभेदाः अव्यक्तकारणवन्तः परिमितत्वात्'—ऐसा कथन ठीक नहीं है; केवल 'महत्-समूह' ही इन हेतुओं से अव्यक्तकारणक सिद्ध होते हैं। अनेक महत्तत्त्वों के परिमितत्व को देखकर ही अव्यक्त का अनुमान किया जाता है। महत्तत्वों के 'परिमित होने' की युक्ति का तात्पर्य है—महत्-गत परिच्छिन्न प्रकाश-क्रिया-स्थितिस्वभाव को देखकर अपरिच्छिन्न प्रकाशादि का अनुमान करना। महत्-गत परिछिन्नता सूक्ष्मतम परिच्छिन्नता है। जिस प्रकार अहंकार-रूप भेद से महत्-रूप जो कारण अनुमित होता है, वह परिच्छिन्न ही है, महत्-रूप भेदों का अनुमित कारण उस प्रकार परिच्छिन्न नहीं हो सकता। महत् ही गुणवैषम्य का प्रथम परिणाम है, यह भी इससे ज्ञात होता है। **महत्-गत गुणवैषम्य को सम करने के लिये ही सूक्ष्मतम योगाभ्यास किया जाता है।**

सभी महत्-तत्वों में प्रकाश-क्रिया-स्थिति-शीलता का वैषम्य देखा जाता है, अतः प्रकाशादिशील कोई पदार्थ ही महत् का उपादान है, यह निश्चित होता है। प्रकाश-क्रिया-स्थितिरूप कारण होने पर भी यह कारण अव्यक्त क्यों होगा—यह प्रश्न हो सकता है। यहाँ भी यह जानना चाहिये कि **महतों में प्रकाश-क्रिया-स्थितियों का जो वैषम्य है, वह सूक्ष्मतम है;** अतः महतों का जो उपादान है, उसमें प्रकाश-क्रिया-स्थितिशील त्रिगुण तुल्यबल में ही रहेंगे। यहाँ यह स्मरणीय है कि वैषम्यावस्था ही चित्तेन्द्रिय द्वारा साक्षात् ज्ञेय है। चूँकि वैषम्यावस्था में ही गुणप्रधान-भाव है, अतः यह अनुमित होता है कि अवैषम्यावस्था[1]

---

१. हमने वार-वार अवैषम्यावस्था शब्द का प्रयोग किया है। चूँकि महत्तत्त्वगत गुणवैषम्य का भङ्ग होने पर महत् की अभिव्यक्ति नहीं रहती, और कहना पड़ता है कि महत् अव्यक्त हो गया, अतः अव्यक्तावस्था के लिये 'अवैषम्यावस्था' कहना उचित ही होता है। किसी भी गुण का समुदाचार नहीं रहता—यह देखकर अनुमित होता है कि तीनों गुण तुल्यबल हैं। यह तुल्यबलता ही साम्यावास्था है। साम्यावस्था सर्वथा असंवेद्य है।

में गुणप्रधान-भाव नहीं रहता; इसमें प्रकाश-क्रिया-स्थितियाँ तुल्यबल में ही रहती हैं।

विश्वरूप का जो अविभाग है, वह भी सापेक्ष है। विश्वरूप का तात्त्विक अविभाग उसके उपादान भूतादि-अहंकार में होता है, भूतादि अहंकार का अविभाग महत् में और महत् का अविभाग गुणों की अवैषम्यावस्था में। विश्वरूप का साक्षात् अविभाग अव्यक्त में नहीं होता—यह ज्ञातव्य है। इस कारिका की अन्यान्य युक्तियों पर भी यही दृष्टि प्रयोज्य है।

यह बात स्पष्टतया जान लेनी चाहिये कि यद्यपि कारिका में इस साम्यावस्था का शब्दत: उल्लेख (सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था—ऐसा कहकर) नहीं है, पर इन दो कारिकाओं में अर्थत: असन्दिग्ध रूप से इस अवस्था का प्रतिपादन है—साम्यावस्था के लिये ही अव्यक्त संज्ञा का व्यवहार किया गया है। एक ही संज्ञी के लिये एकाधिक संज्ञाओं का व्यवहार विशेष-अभिप्राय-मूलक ही होता है—यह ज्ञातव्य है। अवैषम्यावस्थ (या साम्यावस्थ) त्रिगुण किसी देशकालविशेष में हैं—ऐसी धारणा सर्वथा अलीक है; देश और काल का कोई संबन्ध इस अवस्था में नहीं है।

प्रकृति (विशेषत: अव्यक्तावस्थ गुणत्रय) की सत्ता के विरोध में बौद्ध विद्वानों ने अनेक युक्तियाँ दी हैं, द्र० तत्त्वसंग्रह, प्रकृतिपरीक्षा, बोधिचर्यावतार, परि० ९ की पञ्जिकाटीका आदि। इन युक्तियों की समीक्षा के लिये प्रसंख्यानभाष्य द्रष्टव्य है। एक उदाहरण देकर इन युक्तियों की श्लथता दिखायी जा रही है। कहा गया है—एकस्य त्रिस्वभावत्वमयुक्तं तेन नास्ति तत् (बोधिचर्यावतार ९।१२५); अर्थात् "प्रकृति एक है, पर इसके प्रकाश-क्रिया-स्थिति-रूप तीन स्वभाव कहे गये हैं; चूँकि एक के तीन स्वभाव नहीं हो सकते इसलिये प्रकृति नहीं है"। क्या इस वाक्य में किसी हेतु की गन्ध भी है? स्वभाव=यावद्वस्तुस्थायी धर्म, यह बौद्ध भी मानते ही हैं; अत: एक वस्तु के तीन स्वभाव क्यों नहीं हो सकते? तब तो कोई यह भी कह सकता है कि शिला नामक कोई परिमाणवान् पदार्थ नहीं हो सकता, क्योंकि एक शिला में तीन स्वभाव (अर्थात् परिमाण-धर्म) होते हैं—लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई, जो (धर्म) अवियोज्य हैं।

अव्यक्त गुणत्रय की अवैषम्यावस्था है, अत: जिस पद्धति से सभी अनात्म-पदार्थों के उपादान के रूप में गुणत्रय का अवधारण किया गया है, उसका स्वरूप जानना आवश्यक है। अत्यन्त संक्षेप में यह पद्धति दिखाई जा रही है। सांख्यानुसार अनात्मपदार्थ द्विविध हैं—अव्यक्त और व्यक्त। व्यक्त पदार्थ त्रिविध हैं—ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य। ग्राह्य त्रिविध हैं—भौतिक, भूत तथा तन्मात्र; ग्रहण त्रिविध है—ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय तथा प्राण; ग्रहीता त्रिविध हैं—मन, अहंकार और बुद्धि। यह देखा गया कि त्रिविध ग्राह्य पदार्थों में प्रकाश्य, कार्य और धार्य रूप त्रिविध धर्म हैं; इसी प्रकार यह देखा गया कि त्रिविध ग्रहण में प्रकाशन, आहरण और विधारण रूप तीन व्यापार हैं; इसी प्रकार यह देखा गया कि त्रिविध ग्रहीता में प्रकाशकत्व, कारकत्व तथा विधारकत्व रूप तीन धर्म हैं। (सांख्यीय दृष्टि के अनुसार धर्म-

धर्मि-भाव समझना चाहिये)। जिनमें जो भाव सामान्य है, वह उनका उपादान है—इस नियम के अनुसार प्रकाश्य, प्रकाशन और प्रकाशक का सामान्य भाव 'प्रकाशशीलता' निश्चित होती है; तथैव कार्य, करण, और कारक का सामान्य भाव 'क्रियाशीलता' निश्चित होती है; तथैव धार्य-धारण-धारक का सामान्य भाव 'स्थितिशीलता' निश्चित होती है—**इस प्रकार प्रकाशशील, क्रियाशील और स्थितिशील रूप तीन मूल उपादान द्रव्य (गुण) प्राप्त होते हैं।**

प्रत्येक व्यक्त पदार्थ में इन तीनों का वैषम्य देखा जाता है, जो नाना प्रकार का है। अतः अनुमान होता है कि ऐसी भी स्थिति संभव है जिसमें ये तीन द्रव्य अ-विषम स्थिति में होंगे। इस अविषम स्थिति में तीनों तुल्यबल रहते हैं। अवैषम्यावस्था और वैषम्यावस्था गुणों की ही दो अवस्थाएँ हैं। प्रथम अवस्था में ये तीन विरुद्ध पदार्थ इस रूप से रहते हैं कि उनसे कोई परिणाम व्यक्त नहीं होता; द्वितीय अवस्था में निरन्तर विसदृश परिणाम होते रहते हैं। इस गुण-प्रधानभाव के कारण ही महदादि पदार्थ व्यक्तित्व लाभ करते हैं। **व्यक्त अवस्था में हमें किसी का प्रकाश, क्रिया और स्थिति (अर्थात् प्रकाशशील सत्त्व, क्रियाशील रजः, स्थितिशील तमः)—ऐसा कहना पड़ता है, पर अव्यक्तावस्था में यह धर्म-धर्मि-भेद नहीं रहता और हमें कहना पड़ता है—प्रकाश, क्रिया और स्थिति ही मूल द्रव्य हैं।**[1]

प्रचलित व्याख्यान के अनुसार सुख-दुःख-मोह को सत्त्वादि-त्रिगुण का यथाक्रम स्वरूप समझा जाता है और यह माना जाता है कि कोई स्त्री चूँकि सुखादिस्वरूप है, अतः वह विभिन्न पुरुषों में सुखादिबोध उत्पन्न करती है—जो सुखादिबोध का निमित्त है, वह सुखादिरूप है। हमारी दृष्टि में सुख-दुःख-मोह बुद्धि के ही एकजातीय विकार हैं, जो विषयव्यवहारजात बोध के सहभावी हैं। विषयव्यवहार को छोड़कर बुद्धि यदि स्व-स्थित हो जाये तो सुखादि का बोध नहीं होगा। कोई गुणविकार सुखादि का हेतु होता है तथा वह सुखी आदि भी होता है, अतः गुणविकार को सुख से वियुक्त नहीं किया जा सकता; इसी दृष्टि से ही गुण को सुख-दुःख-मोहधर्मक (=प्रीति-अप्रीतिविषादात्मक) कहा गया है। सुखादि अन्तर्बाह्य विषयों के उपादान हैं—यह कथन असंगत है; सुखादि प्रत्ययान्तर्गत हैं—इतरेतराश्रयेणोपार्जित-सुख-दुःख-मोहप्रत्ययाः (व्यासभाष्य २।१५)। सुख-दुःख-मोह गुणवृत्तियाँ हैं, यह अत्रत्य भाष्य के 'वृत्त्यतिशय' शब्द द्वारा उक्त हुआ है।

---

१. इस प्रघट्टक में हमने सांख्यीय दृष्टिकोण को ही कहा है; इसका विशदीकरण प्रसंख्यानभाष्य में द्रष्टव्य है। गुणत्रय के विषय में प्रचलित अनेक मत कितने विपर्यस्त हैं, यह इस प्रतिपादन से ज्ञात होगा। गुणत्रय के अंग्रेजी प्रतिशब्दों में ग्रन्थकारों की अज्ञता भली-भाँति प्रकटित होती है। इनके सर्वोत्तम प्रतिशब्द होंगे sentient principle (सत्त्व), mutative principle (रजः) और static principle (तमः)।

त्रिगुण सुख-दुःख-मोहरूप हैं—इसे सांख्यमत मानकर वाचस्पति ने (द्र० भामती २।२।१) इस मत का खण्डन किया है। ईदृश खण्डन अद्वैतवेदान्त के कई ग्रन्थों में मिलता है। चूँकि उपर्युक्त मत सांख्यीय ही नहीं है, अतः इस खण्डन के विषय में हमें कुछ कहना नहीं है ॥१५-१६॥

(१) ये तु तौष्टिका अव्यक्तं वा महान्तं वाऽहङ्कारं वा इन्द्रियाणि वा भूतानि वाऽत्मानमभिमन्यमानास्तान्येवोपासते, तान् प्रत्याह—

संघातपरार्थत्वात्[1] त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात् ।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात्कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥१७॥

(२) "संघातपरार्थत्वात्" इति। पुरुषोऽस्ति, अव्यक्तादेर्व्यतिरिक्तः। कुतः, "संघातपरार्थत्वात्" इति। अव्यक्तमहदहङ्कारादयः परार्थाः, संघातत्वात्, शयनासनादिवत्; (३) सुखदुःखमोहात्मकतयाऽव्यक्तादयः सर्वे संघाताः।

(४) स्यादेतत्—शयनासनादयः संघाताः संहतशरीराद्यर्था दृष्टाः, न

(१) परन्तु जो तौष्टिक (५० वीं कारिकोक्त तुष्टि से युक्त; द्र० व्याख्या) अव्यक्त महान्, अहंकार, इन्द्रिय अथवा भूतों को ही आत्मा मानते हुए इन्हीं की उपासना करते हैं, उनको लक्ष्य कर (उनके मतों का खण्डन करने के लिये) कारिकाकार कहते हैं—

संघातों (=मिलित पदार्थों) के दूसरों के लिये होने के कारण, त्रिगुण आदि से विरुद्ध होने के कारण, सभी त्रिगुणात्मक उपाधियों के लिये अधिष्ठाता की सत्ता अपरिहार्य होने के कारण, भोग्य पदार्थ के लिये भोक्ता की अनिवार्यता के कारण एवं कैवल्य के लिये प्रवृत्ति होने के कारण (प्रकृति आदि से सर्वथा पृथक्) पुरुष की सत्ता सिद्ध होती है ॥ १७ ॥

(२) अव्यक्त, महान् आदि से पृथक् पुरुष की सत्ता है, क्योंकि सभी संघात (मिलकर कार्य करनेवाले एकाधिक अवयवों से युक्त वस्तु) किसी दूसरे के लिये ही होते हैं। अव्यक्त, महान् और अहंकार आदि संहत होने के कारण दूसरे के लिये हैं, जैसे शयन (=बिस्तर), आसन आदि किसी पृथक् प्राणी के लिये होते हैं। (३) अव्यक्त आदि सुखदुःखमोहस्वरूप होने के कारण संघात हैं।

(४) पूर्वोक्त दृष्टान्त में शंका हो सकती है कि शयन-आसन आदि संघात संहत शरीर आदि के लिये ही देखे जाते हैं, अव्यक्त-व्यक्त से पृथक् आत्मा (=पुरुष) के लिये नहीं। इसलिये ये (अव्यक्त, बुद्धि आदि संघात) अपने से भिन्न किसी संहत पदार्थ का ही अनुमान कराते हैं, असंहत आत्मा (=पुरुष) का नहीं। इस शङ्का के उत्तर में कहते

१. संहतपरार्थत्वात् इति केचन पठन्ति। पाठेऽस्मिन् मात्राभङ्गो भवतीति ज्ञेयम्।

त्वात्मानमव्यक्ताद्यतिरिक्तं प्रति परार्थाः । तस्मात् संघातान्तरमेव परं गमयेयुः, न त्वसंहतात्मानम् इत्यत आह—"त्रिगुणादिविपर्ययात्" इति । (५) अयमभिप्रायः—संघातान्तरार्थत्वे हि तस्यापि संघातत्वात् तेनापि संघातान्तरार्थेन भवितव्यम्; एवं तेन तेनेत्यनवस्था स्यात् । (६) न च व्यवस्थायां सत्यामनवस्था युक्ता; कल्पनागौरवप्रसङ्गात् । न च प्रमाणवलेन कल्पनागौरवमपि मृष्यते—इति युक्तम्, संहतत्वस्य पारार्थ्यमात्रेणान्वयात् । (७) दृष्टान्तदृष्टसर्वधर्मानुरोधेन त्वनुमानमिच्छतः सर्वानुमानोच्छेदप्रसङ्ग इत्युपपादितं न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीकायाम् (४।१।२१) अस्माभिः ।

(८) तस्मादनवस्थाभियाऽस्यासंहतत्वमिच्छताऽत्रिगुणत्वम् अविवेकित्वम् अविषयत्वम् असामान्यत्वं चेतनत्वम् अप्रसवधर्मित्वञ्चाभ्युपेयम् । (९) त्रिगुणत्वादयो हि धर्माः संहतत्वेन व्याप्ताः । तत्संहतत्वमस्मिन् परे व्यावर्त्यमानं

हैं —"त्रिगुण आदि से विपरीत होने के कारण असंहत अन्य (अर्थात् पुरुष) की सत्ता सिद्ध होती है" ।

(५) इस युक्ति का अभिप्राय यह है कि अव्यक्त आदि संघातों को (नियमतः) दूसरे संघात के लिये मान लेने पर इस दूसरे संघात को किसी तीसरे संघात के लिये मानता पड़ेगा । इसी प्रकार इस तृतीय संघात को भी किसी अन्य संघात के लिये मानने पर 'अनवस्था'–रूप दोष प्रसक्त होगा (अर्थात् परार्थता की विश्रान्ति नहीं होगी); (६) और किसी प्रकार से व्यवस्था के सम्भव होने पर 'अनवस्था'रूप अव्यवस्था मानना उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर 'गौरव'–दोष आता है । यह कहना कि प्रमाण-प्राप्त अनवस्था में उत्पन्न होने वाला 'कल्पना–गौरव' दोष क्षम्य होता है, संगत नहीं है, क्योंकि संहत-परार्थत्वरूप युक्ति में संहतत्व धर्म का अन्वय (=व्याप्ति) केवल परार्थत्व के साथ है (अर्थात् इस संहतत्व हेतु से 'पर' की सत्ता का ही अनुमान होता है, वह 'पर' संहत भी होगा–यह निश्चय नहीं होता है) । (७) दृष्टान्त में दृष्ट होने वाले सभी धर्म दार्ष्टान्तिक (जिसके लिये दृष्टान्त है, वह विषय) में रहते हैं–ऐसा मानने से तो सभी प्रकार के अनुमानों का उच्छेद ही हो जायेगा । इस रहस्य को हमने न्यायवार्त्तिक-तात्पर्यटीका (४ । १ । २१) में विस्तार के साथ उपपादित किया है ।

(८) इस प्रकार 'अनवस्था'–रूप दोष के भय से त्रिगुणातीत 'पर' (अर्थात् पुरुष) को असंहत (=संघात में भिन्न) मानने पर उसे त्रिगुणशून्य, विवेकी, अविषय, असामान्य, चेतन एवं अपरिणामी भी मानना पड़ेगा, (९) क्योंकि त्रिगुणत्व आदि धर्म संहतत्व से व्याप्त हैं (अर्थात् जो जो त्रिगुण, अविवेकी आदि हैं, वे सब 'संहत' अवश्य होंगे) । पुरुष में अप्रयोज्य यह संहतत्वधर्म उसमें त्रिगुणत्व आदि का भी अभाव सिद्ध करता है

त्रैगुण्यादि व्यावर्तयति ब्राह्मणत्वमिव व्यावर्त्यमानं कठत्वादिकम्। (१०) तस्मादाचार्येण 'त्रिगुणादिविपर्ययात्' इति वदताऽसंहतः परो विवक्षितः, स चात्मेति सिद्धम्।

(११) इतश्च परः पुरुषोऽस्ति—"अधिष्ठानात्"। त्रिगुणात्मकानामधिष्ठीयमानत्वात्। यद्यत्सुखदुःखमोहात्मकं तत्सर्वं परेणाधिष्ठीयमानं दृष्टम्—यथा रथादिर्यन्त्रादिभिः। (१२) सुखदुःखमोहात्मकं चेदं बुद्धयादि; तस्मादेतदपि परेणाधिष्ठातव्यम्। स च पर स्त्रैगुण्यादन्य आत्मेति।

(१३) इतश्चास्ति पुरुषः—"भोक्तृभावात्"। भोक्तृभावेन भोग्ये सुखदुःखे उपलक्षयति। (१४) भोग्ये हि सुखदुःखे अनुकूलप्रतिकूलवेदनीये प्रत्यात्ममनुभूयेते। तेनानयोरनुकूलनीयेन प्रतिकूलनीयेन च केनचिदप्यन्येन भवितव्यम्। (१५) न चात्रानुकूलनीयाः प्रतिकूलनीया वा बुद्धयादयः, तेषां सुखदुःख-

---

(क्योंकि जो संघात नहीं होगा, वह त्रिगुण, अविवेकी आदि भी नहीं होगा); जैसे किसी पुरुष में 'ब्राह्मणत्व' की व्यावृत्ति (=निषेध) करने पर 'कठत्व' का भी अभाव निश्चित हो जाता है ('कठ' ब्राह्मणों का ही एक अवान्तर भेद है; जो ब्राह्मण न होगा, वह सुतरां कठ नहीं हो सकता है, व्यापक के न रहने से व्याप्य भी नहीं रहता—इस नियम से)। (१०) इसीलिये आचार्य (ईश्वरकृष्ण) के 'त्रिगुणादिविपर्ययात्' कहने का तात्पर्य यही है कि त्रिगुणादि से भिन्न कोई असंहत पदार्थ है और यही आत्मा (=पुरुष) है।

(११) 'अधिष्ठान' रूप हेतु से भी अर्थात् त्रिगुणात्मक सभी पदार्थों (बुद्धयादिरूप उपाधियों) के किसी अन्य के द्वारा अधिष्ठित (=अधिकारपूर्वक अवस्थित) होने के कारण भी अव्यक्त-व्यक्त से भिन्न पुरुष की सत्ता सिद्ध होती है। जो कुछ भी सुख-दुःख-मोहात्मक हैं, वे सब किसी अन्य के द्वारा अधिष्ठित होते हुए ही देखे जाते हैं; जैसे सारथि (=यन्ता) आदि के द्वारा अधिष्ठित रथ आदि। (१२) चूँकि ये बुद्धि, अहंकार आदि भी सुखदुःख-मोहात्मक हैं; इसलिये इन सबों को भी किसी 'पर' (बुद्धि आदि से विलक्षण) से अधिष्ठित होना चाहिए और वह 'पर' त्रिगुणात्मक सभी वस्तुओं से पृथक् पुरुष ही है।

(१३) भोक्तृभाव (=भोक्तृत्व)-रूप हेतु से भी अव्यक्तादि से पृथक् पुरुष की सत्ता सिद्ध होती है। 'भोक्तृभाव'—ऐसा कहने के कारण सुख और दुःख भोग्य (=अनुभव के विषय) हैं—यह सूचित होता है। (१४) भोगे जाने वाले सुख और दुःख प्रत्येक जीव के द्वारा अनुकूल तथा प्रतिकूल रूप से अनुभव किए जाते हैं। इसलिये इनके द्वारा 'अनुकूलनीय (सुखज्ञान द्वारा सुखी होनेवाला) तथा 'प्रतिकूलनीय (दुःखज्ञान द्वारा दुःखी होनेवाला) कोई और होगा।

(१५) बुद्धि आदि के सुखदुःख-स्वरूप होने के कारण वे स्वयं सुख-दुःख के द्वारा सुखी तथा दुःखी किए जाने वाले भी नहीं हो सकते, क्योंकि ऐसा मानने से बुद्धयादि

मोहाद्यात्मकत्वेन स्वात्मनि वृत्तिविरोधात्। (१६) तस्माद् योऽसुखाद्यात्मा सोऽनुकूलनीयः प्रतिकूलनीयो वा, स चात्मेति।

(१७) अन्ये[1] त्वाहुः—भोग्या दृश्या बुद्ध्यादयः। न च द्रष्टारमन्तरेण दृश्यता युक्ता तेषाम्। तस्मादस्ति द्रष्टा दृश्यबुद्ध्याद्यतिरिक्तः, स चात्मेति। (१८) भोक्तृभावाद् द्रष्टृभावात्, दृश्येन द्रष्टुरनुमानादित्यर्थः। (१९) दृश्यत्वं च बुद्ध्यादीनां सुखाद्यात्मकतया पृथिव्यादिवदनुमितम्।

(२०) इतश्चास्ति पुरुष इत्याह—"कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च" इति। शास्त्राणां महर्षीणां च दिव्यलोचनानाम्। (२१) कैवल्यमात्यन्तिकदुःखत्रयप्रशमलक्षणं न बुद्ध्यादीनां सम्भवति। ते हि दुःखाद्यात्मकाः कथं स्वभावाद्वियोजयितुं शक्यन्ते। (२२) तदतिरिक्तस्य त्वतदात्मन स्ततो वियोगः शक्यसम्पादः, तस्मात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेरागमानां महर्षीणां चास्ति बुद्ध्यादिव्यतिरिक्त आत्मेति सिद्धम् ॥१७॥

के स्वरूप में वृत्तिविरोध होगा (त्रिगुणात्मक होने के कारण बुद्धि आदि सुखादिरूप हैं, अतः वे स्वयं ही अनुकूल-प्रतिकूल नहीं हो सकते)। (१६) इसीलिये जो स्वयं सुख-दुःखादि-रूप नहीं है, वही अनुकूलनीय या प्रतिकूलनीय (अनुकूल-प्रतिकूल-वेदना से सुखी या दुःखी होने वाला) होता है और वह पुरुष ही है।

(१७) दूसरे (व्याख्याकार) कहते हैं कि बुद्धयादि भोग्य अर्थात् दृश्य हैं और किसी 'द्रष्टा' के विना इनका दृश्य होना सम्भव नहीं है; इसलिये दृश्य बुद्धयादि वस्तुओं से पृथक् कोई द्रष्टा अवश्य है, जो पुरुष ही है। (१८) इस व्याख्या के अनुसार 'भोक्तृभावात्' का अर्थ है—द्रष्टृभावात् अर्थात् 'दृश्य से द्रष्टा की सत्ता का अनुमान होने के कारण' (पुरुष की सिद्धि होती है)। (१९) बुद्धि आदि का दृश्यत्व अनुमान से सिद्ध होता है। यथा—बुद्धि आदि दृश्य पदार्थ हैं, सुखाद्यात्मक होनें के कारण, पृथिवी आदि की तरह (सुखाद्यात्मक होने के कारण जिस प्रकार पृथिवी आदि दृश्य हैं, उसी प्रकार बुद्धयादि भी दृश्य हैं)।

(२०) 'कैवल्य के लिये प्रवृत्ति होने से भी' पुरुष की पृथक् सत्ता सिद्ध होती है। शास्त्र में कैवल्य का प्रतिपादन है तथा दिव्यदृष्टिसंपन्न महर्षियों की उसमें प्रवृत्ति देखी जाती है। (२१) 'कैवल्य' का लक्षण है—त्रिविध दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति। यह कैवल्य बुद्धि आदि का नहीं हो सकता है, क्योंकि बुद्धि आदि तो दुःखादिरूप ही हैं, अतः ये अपने स्वरूप से वियुक्त कैसे किए जा सकते हैं ? (२२) किन्तु बुद्धि आदि से विलक्षण

१. अत्रान्यपदेन को व्याख्याकारो लक्षित इति न निश्चप्रचं विज्ञायते।

किसी तत्त्व को—जिसका स्वरूप दुःख आदि नहीं हैं—दुःखत्रय से पृथक् किया जा सकता है। इसलिये आगम (=शास्त्र, आप्तोपदेश) एवं महर्षियों की प्रवृत्ति 'कैवल्य' के लिये होने के कारण यह सिद्ध होता है कि बुद्धि आदि से भिन्न कोई आत्मा (=पुरुषतत्त्व) है ॥१७॥

१७वीं कारिका की व्याख्या

निर्गुण अपरिणामी कूटस्थ पुरुष की सत्ता के निश्चय के लिये जिन युक्तियों का उपन्यास इस कारिका में किया गया है, उनका विवक्षित तात्पर्य बहुत कुछ अज्ञात हो गया है। इन युक्तियों का जो प्रचलित व्याख्यान है, उससे उपर्युक्त पुरुष की सिद्धि (=निश्चय) होती है, ऐसा कोई विचारवान् पुरुष नहीं समझते हैं। हम अभी तक इन युक्तियों का पूरा तात्पर्य नहीं समझ सके हैं, तथापि हम जितना समझ सके हैं, उसका संक्षेपतः विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है। इन युक्तियों पर अधिक विचार के लिये प्रसंख्यानभाष्य द्रष्टव्य है।

वाचस्पति कहना चाहते हैं कि कारिकोक्त युक्तियाँ प्रधानतः तौष्टिकों को लक्ष्य कर कहा गया है। ५०वीं कारिकोक्त तुष्टि जिसमें है, वह तौष्टिक है। वाचस्पति ने चार आध्यात्मिक तुष्टियों की जो व्याख्या की है उससे यह कथमपि ज्ञात नहीं होता कि आत्मा के रूप में अनात्मा की उपासना करने वाले तौष्टिक हैं। तथैव पाँच बाह्य तुष्टियों की जो व्याख्या वाचस्पति ने की है, उससे भी यह नहीं ज्ञात होता कि ये तौष्टिक पूर्वोक्त प्रकार के उपासक हैं। यह आश्चर्य है कि तौष्टिक-स्वरूप पर विस्तृत विचार करने वाले व्याख्याकार भी इस असंगति को नहीं देख पाये। इस विषय में कृष्णनाथ न्यायपञ्चानन कृत व्याख्या उपादेय प्रतीत होती है।[1] असंभव नहीं कि यहाँ मूल पाठ भ्रष्ट हो गया हो। तौष्टिक को Materialist कहना (डा० झा का अनुवाद) संगत नहीं है। कारिकोक्त तुष्टि उच्चकोटि के योगाभ्यास के विपथगामी होने पर होती है, इससे Materialism का निकट संबन्ध नहीं है।

कारिका में जो 'पुरुषोऽस्ति' वाक्य है, उसका स्वारस्य ज्ञातव्य है। इस वाक्य से पहले पुरुष (तत्त्व) के विषय में इतनी बातें कही गई हैं—पुरुष-(=ज्ञ) संबन्धी विवेकज्ञान दुःख के एकान्त-अत्यन्त निरोध का उपाय है (का० १), पुरुष न किसी का उपादान है और न किसी उपादान का कार्य है (का० ३), पुरुष में व्यक्त के हेतुमत्त्व आदि धर्म नहीं हैं तथा अहेतुमत्त्व आदि धर्म पुरुष में तथा अव्यक्त में हैं; किंच अव्यक्त एवं व्यक्त के

१. वेदोऽखिलो···इति मनुना वैकल्पिकार्थप्रवृत्ति-प्रमाणतया या आत्मतुष्टि रभिहिता तया तुष्ट्या चरन्ति आत्मोपासनामाचरन्ति ये ते तौष्टिकाः, अनात्मवेदिभिः पुरुषैः। श्रुतियुक्त्यनुभवाभासवशेन आत्मत्वेन उपदिष्टेषु अव्यक्तादि-नाना-पदार्थेषु मध्ये यत्रात्मतुष्टिस्तमेव आत्मानमभि मन्य ये आत्मोपासनां कुर्वन्ति त एव तौष्टिका इति तात्पर्यम् (आवरणवारिणी)।

त्रिगुणत्व, अविवेकित्व आदि सामान्य धर्म पुरुष में नहीं हैं (का० १०-११)। जिस पुरुषतत्त्व के विषय में इतनी बातें कही गई हैं, वही निर्गुण आत्मा है अर्थात् व्यक्त-अव्यक्त-भिन्न वस्तुविशेष (आत्मा) के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये कारिका की युक्तियाँ हैं।

ये सब हेतु 'सामान्यतोदृष्ट अनुमान' में आते हैं, अतः गुणत्रय या गुणत्रय के सन्निवेशरूप बुद्धि-आदि से पृथक् कोई पदार्थ है—इतना ही इन अनुमानों से सिद्ध होता है। वैचित्र्यहीन कूटस्थ अपरिणामी पदार्थ के विषय में कुछ भी विशेष ज्ञान अनुमान-साध्य नहीं है—दृश्यधर्मविलक्षणता-मात्र अनुमानगम्य है। साक्षित्व आदि पुरुषधर्म वस्तुतः धर्म नहीं हैं। दृश्यसंपर्कनिबन्धन ये धर्म कहलाते हैं; वस्तुतः निर्गुण के धर्म नहीं होते।

व्यक्त-अव्यक्त से पृथक् पदार्थविशेष की सत्ता के निश्चय के लिये जो युक्तियाँ यहाँ दी गई हैं, वे केवल उनके लिये ही मुख्यतः कार्यकर हैं जो महदादि रूप व्यक्त पदार्थों का स्फुट अनुभव कर सकते हैं; तथा जिनमें अव्यक्त-स्वरूप का स्फुट ज्ञान (आनुमानिक) है। देहात्मबुद्धियुक्त लोगों की दृष्टि में ये युक्तियाँ दृश्यविलक्षण आत्मतत्त्व की साधक के रूप में प्रतीत नहीं होतीं—ऐसे लोगों में ये युक्तियाँ केवल इतना ही सिद्ध करती हैं कि अन्नजलादिपरिणाम-भूत सप्तधातुमय देहमात्र को मानने से मनोजगत् की सभी घटनाओं की सुसंगत व्याख्या नहीं की जा सकती; 'अन्नादिपरिणाम से पृथक् अर्थात् मस्तिष्क से पृथक् किसी पदार्थ को मानना आवश्यक है—केवल इतना ही इन युक्तियों से सिद्ध होता है। कुछ लोगों के लिये ये युक्तियाँ यह भी सिद्ध करती हैं कि इन्द्रियव्यापारों से ही व्यावहारिक ज्ञातृत्वभाव की सम्यक् व्याख्या नहीं हो सकती। ध्यान देना चाहिये कि इन युक्तियों का तात्पर्य है—'महत् और अव्यक्त से पृथक् वस्तु की सत्ता का प्रमाणीकरण'। महत् में या अव्यक्त में जिसको आत्मबुद्धि है, उसका भ्रम इन युक्तियों से अपाकृत हो सकता है। इन युक्तियों की जो परम्परागत सूक्ष्म व्याख्या है, वह ऐसी है कि ईदृश भ्रान्त लोगों की भ्रान्ति उससे दूर हो जाती है।

'संघातपरार्थत्वयुक्ति' का तात्पर्य अस्मद्दृष्टि में यह है—यह देखा जाता है कि अवयव-समूहरूप जो अवयवी है, वह (समूह) जब कोई फल उत्पन्न करता है तो उस फल का स्वामित्व (या भोक्तृत्व) उन अवयवों का नहीं होता, प्रत्युत समूहातिरिक्त किसी का होता है। गृहावयसमूह-रूप फल गृह का फल है—निवास करना; गृह के अवयव निवास नहीं करते। तथैव 'शयन करना' रूप बहु-अवयव-समूह रूप शय्या के द्वारा निष्पन्न होता है; स्वयं शय्या अपने पर शयन नहीं करती। चूँकि 'फल' सभी अवयवों द्वारा निष्पन्न होता है अतः किसी एक पर उस फल का स्वामित्व नहीं रहता। चूंकि फल प्रत्येक अवयव पर नहीं रहता, अतः अवयव-समूह-रूप अवयवी पर भी वह नहीं रहता। [फलनिष्पादक समूह 'संघात' है; अवयवों का पुञ्जमात्र समूह तो हो सकता है, पर 'संघात' नहीं कहलाता —यह भेद विवेच्य है]।

महदादिरूप करणसमष्टि के द्वारा भोग और अपवर्ग रूप दो ज्ञान निष्पन्न होते हैं। इस ज्ञानद्वय का स्वामी प्रत्येक करण या करण-समष्टि नहीं हो सकती, बल्कि करणातिरिक्त कोई वस्तु हो सकती है—यह सांख्यीय दृष्टि है। [संघातपरार्थत्वयुक्ति शंकरादि-आचार्यों के द्वारा भी प्रयुक्त हुई है—यह ज्ञातव्य है]। ध्यान देना चाहिये कि महदादिकरण चेतनयुक्त ही हैं। अतः महदादि से अतिरिक्त कोई 'फलस्वामी' है–ऐसा कहने पर वह स्वामी महदादिसंयुक्त चेतन से पृथक् कोई अन्य चेतन होगा—यह शङ्का हो सकती है। इसका समाधान यह है कि महदादिकरणों की परार्थता से 'लिङ्ग' रूप 'अकरण-कर्ता' (अर्थात् जीव के शुद्ध रूप) का अनुमान होता है—पुरुषरूप चिद्रूप पदार्थ का नहीं। यह लिङ्ग (=पुरुषाकारा बुद्धि) ही भोग और अपवर्ग रूप ज्ञान का वास्तव स्वामी है। यह 'पुरुषाकारा बुद्धि' स्व-गत संहतता को देखकर अपरिणामी पुरुष की सत्ता का निश्चय करती है। यह समझना असंगत है कि संघातपरार्थत्व-युक्ति से पुरुषसत्ता साक्षात् अनुमित होती है (अयोगियों की दृष्टि से)।

'परार्थ' का 'पर के लिये है' ऐसा अनुवाद किया जाता है; प्रायः इस 'लिये' का तात्पर्य यह समझा जाता है कि 'पुरुष को उपकृत करने के उद्देश्य से महदादि कार्य करते हैं'। ऐसा सोचना पूर्णतः भ्रान्त है। विचारवान् प्राणी का क्षेत्र तथा जड पदार्थों का क्षेत्र—उभयत्र संघातपरार्थत्व युक्ति लगती है। सैन्यों द्वारा निष्पन्न जयरूप फल का स्वामी सैन्यातिरिक्त (अर्थात् राजा) है। यदि ईदृश कोई स्वामी न रहे तो एकाधिक अवयव समञ्जस रूप से स्व-व्यापारों द्वारा कोई फल निष्पन्न नहीं कर सकते। संहत पदार्थ के साथ स्वामित्व का यह अच्छेद्य संबन्ध योगदर्शनानुमोदित हैं; जो पुरुष के लिये प्रयुक्त 'स्वामी' 'प्रभु' आदि शब्दों से ज्ञात होता है।

'महदादि-संघात परार्थ है' ऐसा टीकाकार जब कहते हैं, तब उनके कथन की शैली से प्रतीत होता है कि स्वबाह्य किसी महदादिसंघात को लक्ष्यकर वे ऐसा कह रहे हैं। यह मनोभाव असंगत है। महदादि=महदादिकरणसमष्टि है (स्थूल-सूक्ष्म-शरीर का संबन्ध इसमें नहीं है)। यह करणसमष्टि ही अनुमाता जीव की अङ्गभूत है, अतः कहना होगा कि महत् या लिङ्ग अपने को पक्ष बनाकर स्वयं की परार्थता सिद्ध कर रहा है। जीव ही स्वगत विभिन्न संघातों को परार्थ समझता है और अन्त में 'पुरुषाकारा बुद्धि' रूप स्वयं को संहत देखकर स्वयं की परार्थता अनुमान करता हैं। लिङ्ग-रूप पुरुषाकारा बुद्धि किस रूप से इस अनुमान का प्रयोग करता है, यह अस्मदादि द्वारा पूर्णतः समझ में नहीं आ सकता। शरीर से जिनका आत्मबोध हट गया है एवं अशरीर पदार्थों में आत्मबोध प्रतिष्ठित हुआ है—उनको जड़ से पृथक् आत्मा का अस्तित्व समझाने के लिये ये युक्तियाँ हैं। अस्मदादि को इन युक्तियों से सर्वथा जड़विलक्षण पदार्थ का निश्चय नहीं हो सकता।

व्यक्त-अव्यक्त से पृथक् पुरुष है—इसकी द्वितीय युक्ति है—त्रिगुणादिविपर्यय। वाचस्पति के अनुसार इसकी व्याख्या यह है—चूंकि आत्मा त्रिगुणविरुद्ध है अतः वह

अव्यक्तादि से पृथक् है। आत्मा त्रिगुणविरुद्ध है, यह कैसे जाना गया? चूँकि आत्मा असंहत है, अतः आत्मा अत्रिगुण है। अव्यक्त-महदादि संहत पदार्थ हैं, और संघात परार्थ होता है, अतः अव्यक्तादि से 'पर' कोई पदार्थ है—यह सिद्ध होता है। अव्यक्तादि से पर जो है वह असंहत है—यह कैसे जाना जाता है? यदि वह पर असंहत न हो तो वह भी संहत होगा और वह परार्थ भी होगा। इस प्रकार परार्थत्व-युक्ति से यह भी सिद्ध होता है कि वह 'पर' ऐसा है जो असंहत ही है। असंहत होने के कारण आत्मा अत्रिगुण है। जो अत्रिगुण होगा, वह त्रिगुण से विरुद्ध ही होगा। 'त्रिगुणादि'=त्रिगुण, अविवेकी आदि (द्र० ११ का०)।[1]

हमारी दृष्टि में अधिष्ठान-युक्ति का तात्पर्य यह है—अधिष्ठान=अवयवों का ऐसा सज्जीकरण या व्यूहन है, जिसके फलस्वरूप व्यूहित अवयवों के द्वारा समञ्जस रूप से कोई कार्य सिद्ध होता हो। इसे हम नियन्त्रणविशेष भी कह सकते हैं। इस युक्ति का प्रयोग स्थूल से सूक्ष्म वस्तु की ओर क्रमशः करना पड़ता है।

कोषों का सज्जीकरण इस युक्ति का स्थूलस्तरीय उदाहरण है। Embryo cell की karyokinesis प्रक्रिया में हम देखते हैं कि उत्पद्यमान कोष इस रूप से सज्जित होते हैं कि बाद में वे इन्द्रियव्यापार के यन्त्रों के रूप में निष्पन्न हो जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कोष-नियन्त्रक कोई एक 'सज्ञान शक्ति' (अर्थात् शक्तिमान् वस्तु) है, जिसके कारण ईदृश सज्जीकरण होता है (यह सज्जीकरणमात्र नहीं बल्कि फलार्थ-सज्जीकरण है)। यह शक्ति 'बीजजीव' है। इसी प्रकार एकादश इन्द्रियों के व्यूह (=सज्जीकरण) से अहंकार का अनुमान होता है; अहंकारगत अवयवों के सज्जीकरण से बुद्धि का अनुमान होता है; बुद्धि के अवयव-व्यापारों से पुरुषाकारा बुद्धि का अनुमान होता है। पुरुषाकारा बुद्धि स्वयं स्वगत विचारविशेष से पौरुष सत्ता का अवधारण करती है। पुरुषाकारा बुद्धि क्रियाशील पदार्थ है। अतः कारिकोक्त नियम्य-नियामक-भाव-रूप युक्ति से इसकी ही सिद्धि होती है। पुरुषरूप निष्क्रिय पदार्थ की सिद्धि नियम्य-नियामक-भाव-रूप युक्ति के आधार पर अस्मदादि द्वारा नहीं हो सकती।

वाचस्पति के अनुसार भोक्तृभाव-युक्ति इस प्रकार है—जो भोग्य होता है, वह स्वभिन्न किसी के द्वारा अनुभवनीय भी होता है; बुद्धि आदि चूँकि सुखादि-स्वरूप हैं, अतः वे भोग्य हैं। भोग्य होने के कारण वे किसी भोक्ता के द्वारा अनुभवनीय हैं। यह भोक्ता बुद्धि आदि से पृथक् होगा। चूँकि स्वयं स्वयं का विषय नहीं होता, अतः बुद्धि आदि अपने को ही अनुकूलनीय (=सुखी) या प्रतिकूलनीय (=दुःखी) नहीं कर सकते। वाचस्पति ने इस युक्ति की जो द्वितीय व्याख्या की है, वह अधिकतर संगत जान पड़ती है।

---

१. इस युक्ति की एक सूक्ष्म व्याख्या है, जिसके लिए प्रसंख्यानभाष्य द्रष्टव्य है। 'त्रिगुण-विपर्ययात्' कहना ही पर्याप्त है—अतः त्रिगुणादि क्यों कहा गया है—इस पर किसी व्याख्याकार ने कुछ नहीं कहा; यह हेतु भी भाष्य में व्याख्यात हुआ है।

इस युक्ति की हमारी व्याख्या यह है—भोग=विषयज्ञान। भोक्ता=सुख-दुःख-रूप विषयज्ञान का ज्ञाता। ईदृश ज्ञातृत्व से त्रिगुणविलक्षण वस्तु का निश्चय होता है। किस रूप से यह अनुमान होता है—यह 'प्रतिबोधविदितम्' (केन २।४) वाक्य की व्याख्या में शंकराचार्य ने कहा है। 'पुरुष बुद्धि का प्रतिसंवेदी है'; यह प्रतिसंवेदनभाव ही भोक्तृत्व है; भोगरूप क्रिया द्वारा विकृत होना सांख्यीय भोक्तृत्व नहीं है। प्रकाश-क्रिया-स्थिति-धर्मक पदार्थ से विपरीत कोई वस्तु है—इतना ही इस युक्ति से सिद्ध होता है।

हमारी दृष्टि में 'कैवल्यार्थ प्रवृत्ति' हेतु का तात्पर्य यह है—बुद्धि की यह स्वस्थ प्रवृत्ति होती है कि 'मैं अपने आप को रुद्ध करूँ'। यह प्रवृत्ति सिद्ध करती है कि बुद्धि से विलक्षण कोई पदार्थ है। साधारणदशा में बुद्धि (=मैं ज्ञाता हूँ-भाव) का जो अनुभव होता है वह इतना संकीर्ण है कि इस अवस्था में कैवल्यार्थ-प्रवृत्ति की हेतुता समझी ही नहीं जा सकती।

'महाधियाम् आगमानां च कैवल्यार्थं प्रवृत्तेः' यह जो वाचस्पति ने कहा है, वह हमारा अनुमत है। पर 'शास्त्र में इस प्रवृत्ति का उल्लेख है, इसलिये दृश्यविलक्षण पुरुष है' यह व्याख्या शास्त्र में जो अविश्वासी हैं, उन पर प्रवृत्त नहीं होती। इस पद्धति से अस्तित्वनिश्चय करना यहाँ का अनुमान नहीं है, अतः 'आगम' का उल्लेख करना स्थूल व्याख्या है। महाधियों में जो कैवल्यार्थ प्रवृत्ति होती है, उसका प्रकृत रूप हमने ऊपर कहा है। विवेकख्याति (यह भी चित्तवृत्तिविशेष है) को भी रुद्ध करने की इच्छा जब होती है, तब यह समझना चाहिये कि **चित्त को यह ज्ञात हो गया है कि अपरिणामी पुरुष रूप चित्तातिरिक्त कोई पदार्थ है। इसलिये चित्त उसको लक्ष्यकर अपने आप को चिरकाल के लिये निवृत्त, रुद्ध करना चाहता है।** चूँकि ऐसी घटना घटती है, अतः इसे युक्ति के रूप में दिया गया है। यह युक्ति भी सबके लिये कार्यकर नहीं है॥ १७॥

---

(१) तदेवं पुरुषास्तित्वं प्रतिपाद्य, स किं सर्वशरीरेष्वेकः किमनेकः प्रतिक्षेत्रमिति संशये, तस्य प्रतिक्षेत्रमनेकत्वमुपपादयति—

जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव॥१८॥

---

(१) इस प्रकार पुरुष की (अव्यक्तादि से पृथक्) सत्ता का प्रतिपादन करके 'वह पुरुष सभी शरीरों में एक है या प्रत्येक क्षेत्र (अन्तःकरण या शरीर) में भिन्न-भिन्न है'—ऐसा सन्देह होने पर 'पुरुष प्रत्येक क्षेत्र में पृथक् है'—यह मानकर पुरुष की बहु-संख्यकता का उपपादन करते हैं—

जन्म, मरण तथा करणों (इन्द्रियों, मन, बुद्धि, अहंकार) की व्यवस्था के कारण, एक साथ सबकी प्रवृत्ति न होने के कारण तथा प्राणियों में सात्त्विकादि के भेद के कारण पुरुष की बहुता सिद्ध होती है॥१८॥

(२) "जन्मे" ति। पुरुषबहुत्वं सिद्धम्। कस्मात्? "जन्ममरण-करणानां प्रतिनियमात्"। निकायविशिष्टाभिरपूर्वाभिर्देहेन्द्रियमनोऽहङ्कारबुद्धि-वेदनाभिः पुरुषस्याभिसम्बन्धो जन्म, न तु पुरुषस्य परिणामः, तस्यापरिणा-मित्वात्। (३) तेषामेव च देहादीनामुपात्तानां परित्यागो मरणम्, नत्वात्मनो विनाशः, तस्य कूटस्थनित्यत्वात्। (४) करणानि बुद्ध्यादीनि त्रयोदश। तेषां जन्म-मरण-करणानां प्रतिनियमो व्यवस्था। सा खल्वियं सर्वशरीरेष्वेकस्मिन् पुरुषे नोपपद्यते। तदा खल्वेकस्मिन् पुरुषे जायमाने सर्वे जायेरन्, म्रियमाणे च म्रियेरन्, अन्धादौ चैकस्मिन् सर्व एवान्धादयः, विचित्ते चैकस्मिन् सर्वे एव विचित्ताः स्युरित्यव्यवस्था स्यात्।

(५) प्रतिक्षेत्रं पुरुषभेदे भवति व्यवस्था। न च 'एकस्यापि पुरुषस्य देहोपाधानभेदाद्व्यवस्था' इति युक्तम्, पाणिस्तनाद्युपाधिभेदेनापि जन्ममरणादि-व्यवस्थाप्रसङ्गात्। न हि पाणौ वृक्णे, जाते वा स्तनादौ महत्यवयवे युवतिर्मृता

---

(२) 'पुरुष की बहुसंख्यकता सिद्ध होती है', क्यों? 'जन्म-मरण और (त्रयोदश) करणों की व्यवस्था के कारण'। अपूर्व (=अभिनव) शरीर, इन्द्रिय, मन, अहंकार, बुद्धि एवं वेदना (सुख-दुःख) के संघातों (अर्थात् मिलितरूप) के साथ पुरुष का सम्बन्ध ही 'जन्म' है, न कि पुरुष का (जन्मरूप) परिणाम सम्भव है, क्योंकि वह तो अपरिणामी (सत्त्वादि-गुणहीन) है। (३) उन पूर्वगृहीत शरीर आदि के मिलित रूप का परित्याग (=सम्बन्ध-विच्छेद) ही 'मरण' है, न कि आत्मा (=पुरुष) का विनाश मरण है क्योंकि वह कूटस्थ-नित्य है। (४) बुद्धि आदि (बुद्धि, अहंकार, मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ) करण हैं। उन जन्म-मरण तथा करणों (=इन्द्रियों) का 'प्रतिनियम' अर्थात् उनकी व्यवस्था। सभी शरीरों में एक ही पुरुष के होने पर यह व्यवस्था संगत नहीं होती, क्योंकि तब तो एक पुरुष के जात (=देहेन्द्रियादिसंबन्ध युक्त) होने पर सभी उत्पन्न होंगे और एक पुरुष के मरने पर सभी मर जायेंगे, एक के अन्धे होने पर सभी अन्धे और एक के विक्षिप्तचित्त होने पर सभी विक्षिप्त हो जायेंगे और इस प्रकार अव्यवस्था ही होगी।

(५) यदि प्रत्येक शरीर में पृथक् या विभिन्न पुरुष है, ऐसा मान लिया जाये तो व्यवस्था रहेगी। यह कहना ठीक न होगा कि एक पुरुष के होने पर भी शरीर रूप उपाधि के भेद से व्यवस्था हो सकेगी (अर्थात् उपर्युक्त वैचित्र्य विभिन्न उपाधियों से ही संबद्ध होंगे), क्योंकि ऐसा होने पर तो हाथ, स्तन आदि उपाधियों के भेद से भी जन्मादि-व्यवस्था होने लगेगी (अर्थात् हस्तादिभेदों से भी पृथक्-पृथक् उपाधियों की कल्पना होगी), परन्तु हाथ के टूट जाने पर अथवा स्तनादि के अंशों के उत्पन्न होने पर कोई युवती मृत या उत्पन्न नहीं हो जाती।

जाता वा भवति।

(६) इतश्च प्रतिक्षेत्रं पुरुषभेद इत्याह—"अयुगपत्प्रवृत्तेश्च" इति। प्रवृत्तिः प्रयत्नलक्षणा यद्यप्यन्तःकरणवर्तिनो, तथापि पुरुषे उपचर्यते। (७) तथा च तस्मिन्नेकत्र शरीरे प्रयतमाने स एव सर्वशरीरेष्वेक इति सर्वत्र प्रयतेत, ततश्च सर्वाण्येव शरीराणि युगपच्चालयेत्, नानात्वे तु नायं दोष इति।

(८) इतश्च पुरुषभेद इत्याह—"त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव" इति। एवकारो भिन्नक्रमः, 'सिद्धम्' इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः; सिद्धमेव नासिद्धम्। (९) त्रयो गुणा स्त्रैगुण्यम्, तस्य विपर्ययोऽन्यथात्वम्। (१०) केचित्खलु सत्त्वनिकायाः सत्त्व-बहुलाः; यथोर्ध्वस्रोतसः; केचिद्रजोबहुलाः, यथा मनुष्याः ; केचित्तमोबहुलाः, यथा तिर्यग्योनयः। (११) सोऽयमीदृशस्त्रैगुण्यविपर्ययोऽन्यथाभावस्तेषु तेषु सत्त्वनिकायेषु न भवेद् यद्येकः पुरुषः स्यात्, पुरुषभेदे त्वयमदोष इति ॥१८॥

---

(६) अयुगपत्-प्रवृत्ति अर्थात् 'एक साथ प्रवृत्त न होने' के कारण भी प्रत्येक क्षेत्र (=सान्तःकरण शरीर) में पुरुष की भिन्नता सिद्ध होती है। यद्यपि प्रयत्नस्वरूप प्रवृत्ति अन्तःकरण में ही होती है (प्रवृत्ति अन्तःकरण का धर्म है) तथापि आत्मा में उसका उपचार होता है। (७) इस प्रकार (पुरुषैकत्ववाद में) पुरुष के किसी एक शरीर में प्रयत्नशील होने पर सब शरीरों में उसी एक पुरुष के रहने के कारण, सर्वत्र उसका प्रयत्न होगा और उसे सभी शरीरों को एक साथ चालित करना चाहिए। परन्तु अनेक पुरुष मानने पर यह दोष नहीं होता।

(८) 'त्रैगुण्यविपर्यय' त्रिगुण के वैपरीत्य के कारण भी पुरुषों की बहुता सिद्ध होती है। कारिकागत 'एव' पद भिन्नक्रम से पठित हुआ है; इसे 'सिद्धम्' के बाद आना चाहिए, जिससे अर्थ होगा कि पुरुष का भेद सिद्ध ही है, असिद्ध नहीं। (९) 'त्रैगुण्य' का अर्थ है—'तीन गुण'; उनका 'विपर्यय'=अन्यथाभाव—वैचित्र्य। (१०) कुछ प्राणी सत्त्वबहुल होते हैं, जैसे ऊर्ध्वस्रोताः (देवजातिविशेष या योगिविशेष); कुछ रजःप्राय होते हैं, जैसे मनुष्य; कुछ तमःप्राय होते हैं, जैसे तिर्यग्योनि (पशु-पक्षी)। (११) इस प्रकार का त्रिगुणभेद उन-उन प्राणियों में न होता, यदि पुरुष एक ही होता। पुरुषबहुत्व होने पर यह आक्षेप नहीं होता है ॥१८॥

१८वीं कारिका की व्याख्या

कारिकोक्त हेतुओं का प्रकृत स्वरूप बहुत कुछ अज्ञात हो गया है—ऐसा प्रतीत होता है। शरीर आदि के जन्म से जन्मातीत पुरुष का बहुत्व सिद्ध नहीं हो सकता—यह अनेक

आलोचक कहते हैं[1], जो संगत प्रतीत होता है। कोई-कोई यह भी कहते हैं कि इन युक्तियों से आत्मा की बहुसंख्यकता नहीं, बल्कि जीव की बहुसंख्यकता सिद्ध होती है। एक पुरुष से ही जगत्-जन्म आदि की व्याख्या (अविद्या या माया का नानात्व मानकर) हो सकती है, यह भी कोई-कोई कहते हैं। अपरिणामी कूटस्थ कोई तत्त्व संख्या में बहु नहीं हो सकता—ऐसा भी कोई-कोई कहते हैं।[2] इन युक्तियों की जो व्याख्या वाचस्पति ने की है, वह पुरुषबहुत्व की सिद्ध करने मे कथमपि समर्थ नहीं है। इस व्याख्या को प्रामाणिक मानने के लिये हम युक्तितः बाध्य नहीं हैं।

हमारी दृष्टि में 'पुरुषबहुत्व' का अर्थ है—जिस चेतनसंयोग से अचेतन लिङ्ग 'चेतनावद् इव' होता है (द्र०का०२०), वह चेतन प्रत्येक-लिङ्गनियत है, अर्थात् एकाधिक लिङ्ग एक चेतन के संयोग से 'चेतनायुक्त' नहीं होते। यदि एक चेतन एक लिङ्ग को चेतनायुक्त कर सकता है, तो वह एकाधिक लिङ्ग को चेतनायुक्त क्यों नहीं कर सकता —यह प्रश्न हो सकता है। कारिकाकार ने युक्तियों से यह समझाया है कि एक चेतन के द्वारा एकाधिक लिङ्गों को चेतनायुक्त करना संभव नहीं है। चेतनसंबन्धहीन लिङ्ग अवस्थित नहीं है, तथा 'चेतन' लिङ्ग अनादिकाल से है—इन दो तथ्यों को मानकर कारिकोक्त युक्तियों का तात्पर्य समझना चाहिये।

---

1. The Sāṁkhya arguments for the existence of puruṣa turn out to be proofs for the existence of empirical individuals and not transcendental subjects (I. P. II. p. 321). But these arguments can only show that there are many empirical souls and, not that pure self which is many (T. M. P. Mahadevan, Outlines of Hinduism, p. 123).

2. Plurality would involve limitations, and an absolute immortal eternal and unconditioned puruṣa cannot be more than one. If the being of puruṣa were necessary for the play of prakṛti one puruṣa will do (I. P. Vol II, pp. 322). Max Muller कृत S.S.I.P. में यह दृष्टि प्रपञ्चित हुई है—If the puruṣa was meant as absolute, as eternal, as immortal, and unconditioned, it ought to have been clear to Kapila that the plurality of such a puruṣa would involve its being limited, determined or conditioned and would render the character of it self-contradictory···because if the puruṣas were supposed to be many, they would not be puruṣas, and being puruṣa they would by necessity cease to be many. (p. 375).

हमारे अनुसार कारिका में पाँच युक्तियाँ हैं—(१) जन्मप्रतिनियम, (२) मरणप्रतिनियम, (३) करणप्रतिनियम, (४) युगपत् प्रवृत्ति का अभाव तथा (५) त्रैगुण्यविपर्यय।[1]

पहले ५वीं युक्ति को लें। लिङ्गरूप त्रैगुण्यविपर्यय अनेक हैं, अतः पुरुष अनेक हैं। यदि पुरुष एक है तो अनेक लिङ्ग आविर्भूत ही कैसे हुये—यह प्रश्न इस युक्ति के मूल में है। किंच लिङ्ग शुद्धावस्था में पुरुषाकारा बुद्धि है। इस अवस्था में पुरुषसंबन्धी चरम प्रज्ञा होती है। इस प्रज्ञा के उदयकाल में यह ज्ञान नहीं होता कि मेरा प्रकाशक पुरुष अन्य लिङ्ग का भी प्रकाशक है। सर्वलिङ्गप्रकाशक चेतन पुरुष एक-संख्यक है—ईदृश उपलब्धि नहीं होती है। एक लिङ्ग अन्य लिङ्ग को साक्षात् जान सकता है, क्योंकि लिङ्ग व्यक्त होने के कारण 'सामान्य' है, 'विषय' है। यदि बहु-लिङ्गों का प्रकाशक पुरुष एक ही होता तो वैसा ज्ञान भी होता; चूँकि वैसा ज्ञान नहीं होता, अतः पुरुष बहुसंख्यक हैं।

४थी युक्ति कहती है कि यदि सर्वलिङ्ग-प्रकाशक चेतन पुरुष एकसंख्यक होता तो एककाल में ही प्रवृत्ति (=परिणाम) सभी लिङ्गों की होती। जिस काल में एक लिङ्ग में अत्यन्त निवृत्ति रूप परिणाम हो रहा है, उस काल में अन्य लिङ्ग में तादृश-परिणाम नहीं होता—यह देखा जाता है। सभी लिङ्गों की व्यक्तता एक चेतनरूप प्रकाशक का संयोग-निर्भर यदि है, तो एक लिङ्ग के अव्यक्त होने पर यह अनुमित होगा कि उस संयोग का अभाव हो गया है। ऐसी स्थिति में संयोगजन्य अभिव्यक्त अन्य लिङ्ग भी अव्यक्त होंगे। इस प्रकार लिङ्गों के अव्यक्तता-रूप प्रतिलोम परिणाम का अयौगपद्य सिद्ध करता है कि चेतन-संयुक्तता लिङ्ग-नियत है; इससे चेतन की बहुता अनुमित होती है। यदि वैसा न माना जाये तो चेतन को स्वगत-भेदवान् मानना होगा, जो सांख्यीय दृष्टि में असिद्ध है। पुरुष स्वगतभेदवान् तभी होगा जब वह कभी प्रकाशक और कभी अप्रकाशक होगा; पर ऐसा भेद अचिन्त्य है। [हमारी दृष्टि में प्रवृत्ति (=परिणाम) का एक लक्ष्य आत्यन्तिक निवृत्ति-रूप परिणाम है; अन्य प्रकार के परिणाम में भी यह युक्ति यथायथ रूप से घट सकती है यह ज्ञातव्य है]।

१-३ युक्तियाँ हैं—जन्म, मरण और करण का प्रतिनियम। हमारी दृष्टि में जन्मप्रतिनियम=जातिरूप विपाक का प्रतिनियम; मरणप्रतिनियम=आयुरूप विपाक का प्रतिनियम; करणप्रतिनियम=भोगरूप विपाक का प्रतिनियम। लिङ्ग का जो जीवन है, वह जाति-आयु-भोग से अवच्छिन्न है। अतः हम कह सकते हैं कि लिङ्ग की अभिव्यक्ति का निमित्त जो चेतनसंयोग है, वह यदि सभी लिङ्गों में समान है तो जाति-आयु-भोग की व्यक्तता सभी लिङ्गों में सर्वथा समान क्यों नहीं है? यदि चेतन पुरुष से पृथक् लिङ्ग की सत्ता

---

१. इन युक्तियों के विवक्षित तात्पर्य और विशद व्याख्या के लिये प्रसंख्यानभाष्य द्रष्टव्य है।

रहती तो कहा जा सकता था कि लिङ्गगत संस्कारादि के भेद के कारण जात्यादि में भेद होते हैं (अनेक लिङ्गों के एक पुरुष द्वारा प्रकाशित होने पर भी); पर लिङ्ग को जब पुरुषहेतुक, पुरुषपरतन्त्र माना जाता है और 'तदर्थ एव दृश्यस्य आत्मा' (योगसूत्र २।२१) स्वीकृत होता है तब लिङ्ग-पुरुष-संयोग में भिन्नता के बिना जात्यादि के भेद की व्यक्तता उपपन्न नहीं होती है। पुरुष के बहुत्व के बिना संयोग की भिन्नता कल्पित नहीं हो सकती—इस प्रकार बहुत्व सिद्ध होता है।

पुरुष यदि बहु हैं तो ससीम होंगे—यह आलोचकगण कहते हैं। आलोचकों को जानना चाहिये कि 'बहु होने पर ससीम या परिच्छिन्न होना' रूप जो नियम उन्होंने निश्चित किया है, वह देशाश्रित पदार्थों को देखकर ही किया गया है। कूटस्थ पुरुष देशाश्रित पदार्थ नहीं है, अतः उस पर यह नियम प्रवर्तित नहीं होता।

आत्मा की एक-संख्यकता को प्रमाणित करने के लिये अद्वैतवादी का एकमात्र सहाय है—'आकाश' दृष्टान्त। पर यह आकाश यदि शब्दगुणक बाह्य द्रव्य है तो इससे आत्मैकत्व सिद्ध नहीं होता, क्योंकि यह आकाश उपाधि द्वारा वस्तुतः परिच्छिन्न होता है—यह आकाश निर्लिप्त, निर्भेद नहीं है। यदि आकाश का अर्थ 'शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धहीन बाह्य देश' है तो यह देश अलीक है—ईदृश बाह्यदेश संभव नहीं है। अतः इसको दृष्टान्त के रूप में उपन्यस्त नहीं किया जा सकता। यदि कल्पना के बल पर आकाश की उपमा दी भी जाये तो उससे कुछ भी प्रमाणित नहीं होता—यह ज्ञातव्य है। आत्मा को आकाशवत् कहने की ध्वनि है—आत्मा को निर्लिप्त कहना। यद्यपि यह 'उपमा' काल्पनिक पदार्थ पर आधृत है पर ईदृश व्यवहार प्रसिद्ध है।

यह ज्ञातव्य है कि 'सदेव सोम्य···'आदि वचनों के साथ या 'एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा' आदि वचनों के साथ पुरुषसंख्या का कोई दूर संबन्ध भी नहीं है। सदेव सोम्य··· वाक्य का विषय है—प्रत्येक ब्रह्माण्ड की सृष्टि की प्रागवस्था। यहाँ सृष्टिकर्ता प्रजापति के रुद्धान्तः करण को 'सत्' 'एक' कहा गया है। असंख्य ब्रह्माण्ड के ऐसे असंख्य 'सत्' 'एक' 'अद्वितीय' प्रजापति हैं। जिस प्रकार बहु शरीर में विद्यमान बहु मन को हम प्रत्येक शरीर की दृष्टि में 'सत्' 'एक' 'अद्वितीय' कह ही सकते हैं, उस प्रकार ब्रह्माण्ड-सम्पर्कित प्रजापति को भी एक आदि कहा जा सकता है। 'एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा' जातीय वाक्य प्रजापति को लक्ष्य करते हैं, जिनका आत्मभाव (अर्थात् अहंकार) तन्मात्र-भूत रूप से ग्राह्मीभूत होता है। उनके वैराज अभिमान से भावित होकर सभी प्राणी (=भूत) जागरित होकर पुरुषार्थाचरण करते हैं—अतः उनके मन के साथ सभी प्राणियों के मनों का सूक्ष्मतम संयोग (संबन्ध) है, इस दृष्टि से भी वे सभी भूतों के अन्तरात्मा कहे जा सकते हैं ॥१८॥

(१) एवं पुरुषबहुत्वं प्रसाध्य विवेकज्ञानोपयोगितया तस्य धर्मानाह—

तस्माच्च विपर्यासात्सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य ।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥ १९ ॥

(२) "तस्माच्च" इति । 'च'–शब्दः पुरुषस्य बहुत्वेन सह धर्मान्तराणि समुच्चिनोति । (३) 'विपर्यासादस्मात्' इत्युक्ते त्रैगुण्यविपर्ययादित्यनन्तरोक्तं (द्र० १८ का०) सम्बध्येत; अतस्तन्निरासाय 'तस्मात्' इत्युक्तम् । (४) अनन्तरोक्तं हि सन्निधानादिदमो विषयः विप्रकृष्टं[1] च तद इति विप्रकृष्टं त्रिगुणमविवेकीत्यादि (का० ११) सम्बध्यते ।

(५) तस्मात् त्रिगुणादेर्यो विपर्यासः स पुरुषस्यात्रिगुणत्वं विवेकित्वम् अविषयत्वम् असाधारणत्वं चेतनत्वम् अप्रसवधर्मित्वञ्च ।

---

(१) इस प्रकार पुरुष की अनेकता सिद्ध करके विवेकज्ञान के लिये उपयोगी होने के कारण उसके (=पुरुष के) धर्मों का प्रतिपादन कारिकाकार करते हैं—

('त्रिगुणमविवेकि' इत्यादि एकादश कारिका में कथित) त्रिगुणादि के विपर्यास (=विपरीतता) के कारण तथा पुरुष के बहुत्व के कारण पुरुष का साक्षित्व (=दर्शितविषयत्व), कैवल्य, मध्यस्थभाव (औदासीन्य), द्रष्टृत्व और अकर्तृभाव सिद्ध होते हैं ॥ १९ ॥

(२) कारिका के आरम्भ में आये हुये 'तस्माच्च' वाक्यगत 'च'–पद पुरुष के 'बहुत्व' धर्म के साथ उसके अन्य धर्मों का समुच्चय करता है । (३) 'तस्माच्च विपर्यासात्' के स्थान में यदि 'विपर्यासादस्मात्' (=इस विपर्यास से) कहा जाता, तो इससे ठीक पूर्व १८वीं कारिका में पठित 'त्रैगुण्यविपर्ययात्' पद का परामर्श ही होता; ऐसा न हो इसलिये 'तस्मात्' (तद् का पञ्चम्येकवचन) पद का प्रयोग किया गया है; (४) क्योंकि ठीक पूर्व कहा गया अर्थ सन्निहितार्थ-परामर्शक होने के कारण 'इदम्' ('अस्मात्' पद 'इदम्' शब्दके पञ्चम्येकवचन का रूप है) का विषय होता है, और दूरस्थ अर्थ 'तद्'[2] शब्द का विषय होता है । इसलिये 'तस्मात्' पद से दूरस्थ 'त्रिगुणमविवेकि' इत्यादि कारिका (११वीं) ही (अर्थात् कारिकोक्त त्रिगुणादिधर्म) उपस्थित होती है । (५) अर्थात्

---

१. विप्रकृष्टश्चेति कैश्चित् पठ्यते ।

२. यहाँ प्रातिपदिक का रूप दिखाना अभीष्ट है, अतः तद् (दकारान्त) ही कहना चाहिये । कुछ संपादक 'तत्' ऐसा लिखते हैं, जो असंगत है ।

(६) तत्र चेतनत्वेनाविषयत्वेन च साक्षित्वद्रष्टृत्वे दर्शिते। चेतनो हि द्रष्टा भवति, नाचेतनः; साक्षी च दर्शितविषयो भवति, यस्मै प्रदर्श्यते विषयः स साक्षी। (७) यथा हि लोकेऽर्थिप्रत्यर्थिनौ विवादविषयं साक्षिणे दर्शयतः, एवं प्रकृतिरपि स्वचरितं विषयं पुरुषाय दर्शयतीति पुरुषः साक्षी। (८) न चाचेतनो विषयो वा शक्यो विषयं दर्शयितुम्, इति चैतन्यादविषयत्वाच्च भवति साक्षी। अत एव द्राष्टाऽपि भवति।

(९) अत्रैगुण्याच्चास्य कैवल्यम्। आत्यन्तिको दुःखत्रयाभावः कैवल्यम्। तच्च तस्य स्वाभाविकादेवात्रैगुण्यात् सुख-दुःख-मोह-रहितत्वात्सिद्धम्। (१०) अत एवात्रैगुण्यान्माध्यस्थ्यम्। सुखी हि सुखेन तृप्यन् दुःखी हि दुःखं द्विषन् न मध्यस्थो भवति। तदुभयरहितस्तु मध्यस्थ इत्युदासीन इति चाख्यायते। (११) विवेकित्वाद् अप्रसवधर्मित्वाच्चाकर्तेति सिद्धम् ॥१९॥

उन 'त्रिगुण' आदि पूर्वोक्त धर्मों की जो विपरीतता है, वह पुरुष का अत्रिगुणत्व, विवेकित्व अविषयत्व, असाधारणत्व, चेतनत्व और अपरिणामित्व धर्म है।

(६) इनमें में 'चेतनत्व' और 'अविषयत्व' धर्मों से पुरुष के साक्षित्व और द्रष्टृत्व सूचित होते हैं, क्योंकि चेतन ही द्रष्टा होता है, अचेतन नहीं, और साक्षी वह है जो दर्शितविषय (जिसे विषय दिखाया गया हो) है। जिसको विषय दिखाया जाता है, वह साक्षी है। (७) जिस प्रकार लोक में वादी और प्रतिवादी विवाद का विषय साक्षी को दिखाते हैं, उसी प्रकार प्रकृति (अर्थात् बुद्धि) भी अपने द्वारा निर्मित किये गये कार्यों को पुरुष को दिखाती हैं, अतः पुरुष 'साक्षी' है। (८) अचेतन या स्वयं विषय बनने वाले को विषय दिखाया नहीं जा सकता। इसलिये चैतन्य (=चिद्रूप) तथा अविषय होने के कारण पुरुष 'साक्षी' होता है। इन्हीं कारणों से पुरुष द्रष्टा भी होता है।

(९) पुरुष के त्रिगुणहीन होने के कारण (सुखादिशून्यता हेतु) उसका कैवल्य सूचित होता है। त्रिविध दुःख की आत्यन्तिक (=पुनरुत्पत्तिहीन) निवृत्ति ही कैवल्य है। और यह केवलीभाव पुरुष के स्वभावसिद्ध 'अत्रैगुण्य' अर्थात् सुख, दुःख और मोह से रहित होने से सिद्ध है।

(१०) इसी 'अत्रिगुणत्व के कारण ही पुरुष की 'मध्यस्थता' (किसी ओर आसक्त न होना) भी सिद्ध है। देखा जाता है कि सुख से तृप्त होने वाला सुखी तथा दुःख से द्विष्ट होने वाला दुःखी व्यक्ति 'मध्यस्थ' (=अपक्षपाती) नहीं होता। सुख-दुःख से रहित रहने वाला मध्यस्थ या उदासीन कहलाता है। (११) 'विवेकी' (=असम्भूयकारी)

और अपरिणामी होने से पुरुष अकर्त्ता (=क्रिया का अनिष्पादक) भी है—यह सिद्ध होता है ॥१९॥

१९वीं कारिका की व्याख्या

वाचस्पति के अनुसार कारिका का तात्पर्य यह है—"११वीं कारिका में कहा गया है कि व्यक्त और अव्यक्त दोनों त्रिगुण, अविवेकी, विषय, सामान्य अचेतन और प्रसवधर्मी हैं तथा पुरुष इन दोनों से विपरीत है। व्यक्त और अव्यक्त से पुरुष का यह जो वैपरीत्य है, इससे पुरुष के कुछ धर्म (पुरुष वस्तुतः किसी धर्म का धर्मी नहीं है) सिद्ध होते हैं, जो साक्षित्व आदि हैं। कारिकोक्त विपर्यास १८ तम कारिकोक्त 'त्रैगुण्यविपर्यास' नहीं है, क्योंकि 'तस्मात्' (तद् शब्द) पद के कारण असन्निहित का ही परामर्श होता है"।

यद्यपि सामान्यतया इस मत में कोई दोष प्रतीत नहीं होता, तथापि हमारे मत में 'तस्मात् विपर्यासात्' से १८ तम कारिकोक्त त्रैगुण्यविपर्यास का परामर्श करने पर कोई दोष नहीं होता। 'तद्' इस सर्वनाम से सन्निहित का ग्रहण बहुत्र पाणिनिपूत्र में दृष्ट होता है (द्र० ताभ्यामन्यत्रोणादयः ३।४।७४; तस्माच्छसो नः···६।१।१०३; तान्येकवचनद्विवचन···१।४।१०२), अतः 'तस्मात्' से अव्यवहितपूर्व कारिकागत त्रैगुण्यविपर्यय का ग्रहण नहीं हो सकता—यह कहना साहसमात्र है।

'त्रैगुण्यविपर्यय' का तात्पर्य है—व्यक्त-अव्यक्तरूप त्रिगुण में नियत धर्मों का विपर्यय। ये धर्म पाँच हैं—अविवेकित्व, विषय, सामान्य, अचेतनत्व और अप्रसवधर्मित्व। इस प्रकार फलतः कोई भेद नहीं होता। 'त्रिगुण का विपर्यास' पुरुष का अत्रिगुणत्व है—ऐसा वाचस्पति कहते हैं— ईदृश कथन का स्वारस्य क्या है?

विवेकित्व आदि धर्मों के साथ साक्षित्व आदि धर्मों का संबन्ध वाचस्पति ने जिस प्रकार दिखाया है, वह हमारी दृष्टि में सर्वथा संगत नहीं है। वाचस्पति के अनुसार धर्मों का निर्धारण इस प्रकार है—

पुरुषधर्म	विपर्यास
साक्षित्व—	चेतनत्व, अविषयत्व
कैवल्य—	अत्रैगुण्य
माध्यस्थ्य—	अत्रैगुण्य
द्रष्टृत्व—	अविषयत्व, चेतनत्व
अकर्तृभाव—	विवेकित्व, अप्रसवधर्मित्व

सामान्य रूप विपर्यास से कौन-सा पुरुषधर्म सिद्ध होगा—यह वाचस्पति ने नहीं कहा। विषय ही सामान्य है, ऐसा मानकर इस असंगति का समाधान करना अनुचित होगा, क्योंकि कारिकाकार इन दोनों को समान नहीं समझते। दूसरी बात यह है कि पुरुष

के एक एक धर्म की सिद्धि में कहीं कहीं एक से अधिक विपर्यास का संबन्ध माना गया है, जो हम संगत नहीं समझते। हम यह भी समझते हैं कि 'त्रिगुण-विपर्यास' को पुरुषधर्म-विशेष की सिद्धि में हेतु के रूप में यहाँ नहीं लिया जा सकता। त्रिगुण के अतिरिक्त अन्य जो पाँच भाव ११वीं कारिका में कथित हुये हैं, उन का विपर्यास ही यहाँ ग्राह्य होगा—यह हमारा मत है।

हम समझते हैं कि साक्षित्व आदि स्वभावों (=धर्मों) का अवधारण इस रूप से किया गया है—अविवेकी न होना ही पुरुष का साक्षित्व है; विषय न होना ही पुरुष का केवलीभाव रूप कैवल्य है; सामान्य न होना ही माध्यस्थ्य (=असंगता) है; अचेतन न होना ही द्रष्टृत्व (=भोक्तृत्व) है और प्रसवधर्मी न होना ही अकर्तृभाव है।

पुरुष (तत्त्व) के जो साक्षित्व, कैवल्य, माध्यस्थ्य, द्रष्टृत्व और अकर्तृभाव रूप धर्म (वस्तुतः धर्म नहीं) कहे गये हैं, उनका स्वरूप विशेष रूप से ज्ञातव्य है। इन शब्दों का सांख्यीय व्याख्यान हमें पूर्णतः प्राप्त नहीं है, अतः वाक्यान्तरों की सहायता से साक्षित्व आदि का स्वरूप निर्धारणीय है।

त्रैगुणिक प्रसवधर्म पुरुष में नहीं है—इससे सिद्ध होता है कि पुरुष में परिणाम नहीं है। परिणामहीन पदार्थ सक्रिय नहीं हो सकता अतः पुरुष किसी का संयोजन-वियोजन-संहनन आदि कर नहीं सकता; इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि पुरुष अकर्ता= अप्रतिसंक्रम है। अकर्ता को passive कहना सर्वथा असंगत है।

सत्त्व-रजः-तमः अपने आपको जान नहीं सकते (ज्ञान को सत्त्वगुण का विकार कहा जाता है, पर पुरुषोपदर्शन के विना ज्ञान की अभिव्यक्ति नहीं होती) ; पुरुष इससे विरुद्ध है, अतः पुरुष-ज्ञातृत्व अनापेक्षिक है—बुद्धिगत ज्ञातृत्व सापेक्ष, परिणामी तथा अभिभाव्य है। यही स्वप्रकाश भाव है, जो द्रष्टृत्व भी कहलाता है।

पुरुष सामान्य का विरुद्ध भावपदार्थ है—इसीलिये वह मध्यस्थ है। प्रत्येक व्यक्ति में निजत्व का जो बोध है, वह यदि परिपूर्णता को प्राप्त हो तो जो रूप होता है, वही यह मध्यस्थता है। इसी दृष्टि से पुरुष को प्रत्यगात्मा कहा जाता है। रागद्वेष से चञ्चल न होना माध्यस्थ्य-भाव है—यह वाचस्पति कहते हैं। यह स्थूल व्याख्या है। त्र्यङ्ग अन्तःकरण से संपृक्त रहने पर भी पुरुष असंग है—इस भाव का प्रकटीकरण माध्यस्थ्य शब्द द्वारा भलीभाँति होता है।

पुरुष का विषय-विरुद्ध स्वरूप ही उसका कैवल्यधर्म है; ध्यान देना चाहिये कि पुरुष को 'विषयी' कहने की अपेक्षा 'अविषय' कहना अधिकतर संगत है; विषयी में विषय-सम्पृक्तता का बोध होता है—जो पुरुष में स्वरूपतः नहीं है। किंच विषय स्वगतभेदवान् अवश्य होता है (तन्मात्र भी अपने कारण की दृष्टि से स्वगतभेदवान् है, सर्वथा स्वगतभेदहीन नहीं है); विषय के ज्ञायमान—अज्ञायमान अंश होते हैं (आपेक्षिक दृष्टि से), पर पुरुष में कोई स्वगतभेद

नहीं है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कैवल्य का तात्पर्य पुरुष की अखण्डता में है।

अविवेक (=अपार्थक्य) का विरुद्ध भाव पुरुष में है, अतः पुरुष सर्वथा पृथक् रूप से ही अवस्थित है। यह संगहीनता ही साक्षित्व का हेतु है।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि पुरुष स्वरूपतः (१) अपरिणामी, (२) स्वप्रकाश, (३) निजबोधमात्र (=प्रत्यक्), (४) अखण्ड और (५) असंग है। यह पुरुष निर्गुण ब्रह्म या निर्गुण आत्मा भी कहलाता है। अविवेकित्व आदि के विपर्यास के साथ पुरुष-धर्मों का जो संबन्ध हमने दिखाया है, उससे युक्तिदीपिका का मत कहीं-कहीं पृथक् है। इस विषय पर पूर्ण विचार के लिये प्रसंख्यानभाष्य द्रष्टव्य है ॥१९॥

(१) स्यादेतत्—प्रमाणेन कर्तव्यमर्थमवगम्य 'चेतनोऽहं चिकीर्षन् करोमि' इति कृतिचैतन्ययोः सामानाधिकरण्यमनुभवसिद्धम्; तदेतस्मिन्मते नावकल्पते, चेतनस्याकर्तृत्वात्, कर्तुश्चाचैतन्यात्, इत्यत आह—

तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम् ।
गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः ॥ २० ॥

(२) "तस्मात्"इति। यतश्चैतन्यकर्तृत्वे भिन्नाधिकरणे युक्तितः सिद्धे, तस्माद् भ्रान्तिरियमित्यर्थः। (३) लिङ्गम् महदादिसूक्ष्मपर्यन्तं वक्ष्यति

---

(१) पूर्वोक्त विचार संगत है; अब विचारणीय है कि प्रमाण के द्वारा संपादनीय अर्थ का ज्ञान करके कोई चेतन 'मैं कर्म करने की इच्छा करके कर्म करता हूँ'—ऐसा सोचता है। ऐसी स्थिति में कृति (=प्रयत्न) और चैतन्य (=ज्ञातृत्व) का सामानाधिकरण्य (=एकत्रावस्थिति) अनुभवसिद्ध होता है; पर यह तथ्य चेतन (=पुरुष) को 'अकर्त्ता' तथा कर्त्री (अर्थात् प्रकृति) को 'अचेतन' मानने के कारण सांख्यमत से सिद्ध नहीं होता हैं। इसके उत्तर में कारिकाकार कहते हैं—

अतः (अर्थात् चैतन्य और कर्तृत्व की पृथक् अवस्थिति युक्तिसिद्ध होने के कारण) पुरुष के संयोग (=सन्निधान-विशेष) से अचेतन 'लिङ्ग' (बुद्धि-आदि-सूक्ष्मभूतपर्यन्त त्रैगुणिक समुदाय) चेतनायुक्त की तरह प्रतीत होता है; और उसी प्रकार गुणों (=त्रैगुणिक महत्-तत्त्वादि) के वस्तुतः कर्ता होने पर भी उदासीन (=क्रियारूप विकार से अतीत) पुरुष कर्ता—सा (कृतिमान्-सदृश) प्रतीत होता है ॥२०॥

(२) चूंकि युक्ति से सिद्ध होता है कि चैतन्य और कर्तृत्व विभिन्न आश्रयों में स्थित हैं (चैतन्य पुरुष में और कर्तृत्व अन्तःकरण में हैं) इसलिये चैतन्य और कर्तृत्व के एक में होने का यह अनुभव भ्रम है। (३) बुद्धितत्व से लेकर सूक्ष्मभूत (=तन्मात्रों) तक का

(का० ४०) । (४) भ्रान्तिबीजं तत्संयोगः तत्सन्निधानम् । अतिरोहितार्थमन्यत् ॥२०॥

समुदाय लिङ्ग है, इसे आगे (४०वीं कारिका में) कहेंगे । (४) अचेतन में चेतन ज्ञान रूप भ्रम का मूल कारण बुद्धि और पुरुष का संयोग (=सन्निधान) है । कारिका की अन्य बातें स्पष्टार्थक हैं ।। २० ।

२०वीं कारिका की व्याख्या

सांख्यकारिका की अत्यन्त गूढार्थक कारिकाओं में यह अन्यतम है तथा इसमें प्रतिपादित मत सांख्यीय विश्लेषण की सूक्ष्मता का प्रदर्शक है । खेद है कि वाचस्पति ने इस कारिका की गूढार्थता को नहीं देखा और अत्यन्त साधारण रूप से इस कारिका की व्याख्या ३।४ छोटे वाक्यों में कर दी । अचेतन लिङ्ग चेतन-संयोग से चेतनायुक्त-सा होता है—यह ज्ञान जिसमें जितना स्फुट होता जायेगा, वह सांख्यीय तत्त्वदर्शन को उतनी ही अधिक मात्रा में समझ सकेगा—यह हमारा मत है । इस कारिका के अर्थ के विषय में हमारा मत वाचस्पति से अत्यन्त पृथक् है और हम इस विषय में वाचस्पति को भ्रान्त ही समझते हैं ।

इस कारिका में प्रथम विचार्य है—'तस्मात्' पद । 'तस्मात्' को उपपन्न करने के लिये वाचस्पति ने एक पूर्वपक्ष की कल्पना की है; उनके अनुसार जिसका उत्तर 'तत् संयोगात्···' वाक्य से दिया गया है (भ्रमात्मक ज्ञानविशेष क्यों होता है, इसका उत्तर यह कहकर दिया गया है कि संयोगविशेष भ्रान्ति का हेतु है) । हमारी दृष्टि में इस कारिका से पहले अचेतन और चेतन के विषय में जो भी कुछ कहा गया है, वह सब 'तस्मात्' पद का लक्ष्य है । तस्मात्=जो कुछ इससे पहले कहा गया है उससे 'इदं सिद्धं भवति' (यह वाक्य ऊहनीय है) यह सिद्ध होता है कि यह जो लिङ्ग[1] नामक पदार्थ है वह 'उपादानतः' अचेतन है, पर चेतन के योग से चेतनयुक्त-सा होता है । चेतनावत् में अस्त्यर्थ में मतुप्-प्रत्यय है, वति-प्रत्यय नहीं है । लिङ्ग वस्तुतः चेतनायुक्त नहीं होता, दुग्धजल की तरह

---

१. ध्यान देना चाहिये कि किसी भी पूर्व कारिका में इस लिङ्ग का उल्लेख नहीं है । यह लिङ्ग महदादिक्रम-प्रतिपादक कारिका (२२) में भी उक्त नहीं हुआ है, अतः सामान्य परिचय के विना एक पदार्थ का विवरण कैसे किया जा रहा है—यह प्रश्न हो सकता है । चूँकि सांख्यकारिका किसी बृहद् शास्त्र का संक्षेप है और चूँकि यह पदार्थ संप्रदाय में अत्यन्त प्रसिद्ध है, अतः यह दोष वस्तुतः दोष नहीं है ।

इसमें विकारी मिश्रण नहीं हो जाता। इस तथ्य को दिखाने के लिये 'इव' कहा गया है (वति-प्रत्यय होने पर इव प्रत्यय की आवश्यकता नहीं रहती)[1]।

व्याख्याकारों ने (इस कारिका की व्याख्या में) 'ऐसा प्रतीत या प्रतिभात होता है'—यह कहा है। पर किसी ने यह नहीं कहा कि यह प्रतीति किसको होती है। लिङ्ग अचेतन है पर चेतनयोग से चेतन-सा प्रतीत होता है—यह किसका अनुभव है—यह अवश्य ही स्पष्टीकरणीय है। टीकाकारगण लिङ्ग को 'महदादिसूक्ष्मपर्यन्तसमष्टिभूत पदार्थ' समझते हैं। क्या यह पदार्थ स्वयं ही समझता है कि 'मैं अचेतन हूं, पर चेतनयोग से चेतन-सा हुआ हूं' या एक लिङ्ग किसी अन्य लिङ्ग के विषय में यह सोचता है कि 'वह दूसरा लिङ्ग अचेतन होता हुआ भी चेतनयोग से चेतन-सा है'? यह प्रतीति किसकी है—यह प्रश्न सर्वथा स्वाभाविक है; अतः प्रतीति के कर्ता-रूप में किसी का निर्देश करना टीकाकारों का अवश्य कर्तव्य था। 'प्रमाता को प्रतीत होता है' कहने का अर्थ होगा लिङ्ग को स्वयं ही अपने विषय में यह बोध होता है कि 'मैं अचेतन हूं पर चेतन योग से चेतन-सा हूं;' अवश्य ही प्रमाता महदादि-सूक्ष्मपर्यन्त समष्टि से विलक्षण कोई पदार्थ नहीं हो सकता; निर्गुण पुरुष को यह प्रतीति होती है—यह भी कहा नहीं जा सकता। हमारी व्याख्या में इस प्रश्न का समीचीन उत्तर है।

इस कारिका के तात्पर्य-निर्धारण के लिये कुछ विचार्य प्रश्न हैं। क्या महदादि-सूक्ष्म-पर्यन्तरूप लिङ्ग (जैसा कि वाचस्पति कहते हैं) अचेतन होकर वस्तुतः विद्यमान रहता है और बाद में वह पुरुषसंयोग से चेतन-सा होता है? क्या 'महदादि-सूक्ष्म-पर्यन्त' रूप किसी अचेतन पदार्थ की सत्ता संभव है? अर्थात् क्या महत्-अहंकार-मन-इन्द्रिय-सूक्ष्म (=तन्मात्र) रूप पदार्थों की समष्टि-भूत किसी वस्तु के होने की संभावना है? दूसरे शब्दों में, क्या इन पदार्थों का संयुक्तरूप हो सकता है?

प्रथम प्रश्न पर विचार करने पर पता चलता है कि महत्-नामक पदार्थ तो पुरुष-संयोग-हेतुक है। यतः महत् तो स्वयं ही चेतन-अचेतन-मिलन का फल है (अहंकार-मन भी महत् के ही स्थूल रूप हैं—परिणाम हैं) अतः जिसमें महत् का योग होगा वह अचेतन कैसे होगा? यदि पुरुष-प्रकृति-संयोग-हेतुक महत् अचेतन है तो महदादि-समष्टि

---

१. डा० व्रजमोहन 'चेतनावत् चेतनमिव प्रतिभाति इति शेषः' कहते हैं (पृ० ९०)। यदि चेतनावत्=चेतनमिव हो तो कारिकागत 'इव' ही व्याख्याकार का 'इव' है, अतः चेतनावत् को ही व्याख्याकार चेतनम् कह रहे हैं—यह मानना होगा। क्या सांख्यीय दृष्टि से चेतनावत् को चेतनम् कहा जा सकता है? कारिका में 'चेतनः पुरुषः' है (५५ का०)। डा० व्रजमोहन की व्याख्या से सहसा यह स्पष्ट नहीं होता कि वे चेतनावत् को मतुप्प्रत्ययान्त समझते हैं या वति-प्रत्ययान्त। उनकी वाक्यरचना को ध्यान से देखने पर ज्ञात होता है कि वे इसको वतिप्रत्ययान्त ही समझते हैं—जो एक भ्रान्त धारणा है।

रूप लिङ्ग चेतन पुरुष के योग से चेतन-सा कैसे हो जायेगा ? व्याख्याकारों ने इतनी स्थूल असंगति को नहीं देखा—यह आश्चर्य की बात है ! महत् से युक्त कोई पदार्थ अचेतन यदि होगा (पुरुष का योग रहने पर भी) तब महदादि-सूक्ष्म-पर्यन्त वस्तु भी अचेतन ही रहेगी । इस असंगति के कारण ही हम वाचस्पति की व्याख्या को उच्छास्त्र समझते हैं । हमारे अनुसार 'लिङ्ग' स्वरूपतः महदादिसूक्ष्मपर्यन्त नहीं है ।

अब द्वितीय प्रश्न को लें । चूँकि महत् से अहंकार और अहंकार से ११ इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं (ये १२ पदार्थ महत् के ही परिणाम या स्थूलरूप हैं) अतः महत्-अहंकार-इन्द्रियों की समष्टि-भूत कोई वस्तु तो हो सकती है; पर सूक्ष्म (=तन्मात्र; वाचस्पति के अनुसार) के साथ महत्-अहंकार-इन्द्रिय-समष्टि के स्वतः योग होने का प्रसंग ही क्या है ? ये तन्मात्र स्वयं ही कैसे अपने से असंबद्ध महदादि (=महत्-अहंकार-इन्द्रिय) के साथ संयुक्त हुये और सब मिलकर कैसे लिङ्‌रूप एक अवयवी बना—इसका कोई हेतु टीकाकार नहीं देते । दो पदार्थों के रहने मात्र से उन दोनों का एक निश्चित रूप अवश्य बनता है—यह तो कोई नियम नहीं है । हमें महत्-अहंकार-इन्द्रिय का स्वतः समष्टिभूत रूप तो समझ में आता है, पर महत्-अहंकार-इन्द्रिय-तन्मात्रों की समष्टि समझ में नहीं आती, जब तक न यह दिखाया जाये की ऐसी समष्टि स्वभावतः बन सकती है । यह दूसरी असंगति है जिसके कारण हम वाचस्पति की व्याख्या को असंगत ही समझते हैं ।

हमारी दृष्टि में यह लिङ्ग (स्वरूपतः) केवल महत् नहीं है, और न महदादि-सूक्ष्म पर्यन्त कोई सहजात समष्टि है । यह लिङ्ग महत् आदि की तरह कोई 'तत्त्व' नहीं है--यह विशेषतः ज्ञातव्य है । महत् आदि इस लिङ्ग के करण हैं । यह लिङ्ग है जीवभाव का शुद्धतम रूप; पुरुषाकारा बुद्धि—'मैं अपने को जानता हूँ' यह इसका रूप हैं । यह सूक्ष्मतम चिज्जडग्रन्थि है; यह महदादि-करणों का प्रयोक्ता है—पर महदादि-करणों से पृथक् नहीं है, यद्यपि महत् से सूक्ष्म है । इसका ही बन्धन होता है, इसकी ही मुक्ति होती है । व्यवहारतः हम इसे महत् रूप करण का ही कर्तृरूप कहते हैं, क्योंकि पुरुषतत्त्व कर्ता नहीं हो सकता; महत् करण है—यह प्रसिद्ध ही है । अतः महत् रूप सर्वशीर्षभूत करण और पुरुषतत्त्व के बीच में यह लिङ्ग है । यह उपादानदृष्टि से अवश्य ही त्रिगुण है, पर सदैव पौरुषचैतन्य से युक्त रहने के कारण यह 'पुरुषाकारा' है ।

यह पुरुषाकारा बुद्धि (जो उपादानदृष्टि से महत् की ही प्रयोक्त्रीरूप है) सदैव ज्ञातृत्व से युक्त है, पर यह ज्ञातृत्व वस्तुतः स्वप्रकाश नहीं है । इसका ज्ञातृत्व सापेक्ष है; ससीम है, सभङ्ग है । सांख्य का कहना है कि पुरुषाकारा बुद्धि में यह जो सापेक्ष ज्ञातृत्व दृष्ट होता है; इसके मूल में हैं—अनापेक्षिक ज्ञाता (पुरुष) और अनापेक्षिक ज्ञेय (अर्थात् प्रकृति) । परस्पर विरुद्ध सापेक्ष भाव के अवश्य ही दो परस्पर निरपेक्ष (=अनापेक्षिक) मूल हेतु होंगे । इस प्रकार पूर्णज्ञाता-रूप पुरुष और पूर्ण ज्ञेय-रूप प्रकृति—ये दो मूल

(पुरुषाकारा बुद्धि के) सिद्ध होते हैं। यह तार्किक विश्लेषणमात्र है। **ईदृश दो पदार्थ—मूल द्रष्टा और मूल दृश्य—किसी देश और काल में पृथक् रूप से अवस्थित हैं —ऐसा सोचना असंगत है, क्योंकि देश-काल व्यक्तभाव-संबद्ध ही हैं।**

लिङ्ग को जो अचेतन कहा गया है, वह उपादान दृष्टि से ही है (अर्थात् इसके गुणत्रय रूप उपादान के कारण ही ऐसा कहा गया); वस्तुस्थिति में यह नित्य ही परिणामी ज्ञाता है; और इसमें सदैव 'मैं अपने को जानता हूँ'—ईदृश ज्ञान प्रवाह के रूप में विद्यमान है। लिङ्ग को अचेतन कहना वस्तुतः सत्य नहीं है। पुरुषसंयोग-हीन लिङ्ग वाङ्मात्र है।

यह पुरुषसंयोग किसी काल में नहीं हुआ है क्योंकि काल व्यक्त बुद्धि के साथ ही अविनाभावी रूप से संबद्ध है; यह बुद्धिसंयोग-हेतुक है, अतः इस संयोग के साथ काल का कोई प्रसंग ही नहीं है। **लिङ्ग अनादि है, संयोग भी अनादि है। सृष्टि काल में, ब्रह्माण्ड के अवस्थितिकाल में, प्रलयावस्था में लिङ्ग के साथ पुरुष का योग समान रूप से ही रहता है। प्रलयकाल में लिङ्ग अव्यक्त नहीं होता।** (प्रलयकाल वस्तुतः अव्यक्तावस्था भी नहीं है, जैसा कि आगे प्रमाणित किया जायेगा)।

ध्यान देना चाहिये कि पुरुषाकारा बुद्धि को जो लिङ्ग नाम दिया गया है, वह सहेतुक है। लिङ्ग का विश्लेषण करने पर जाना जाता है कि इसके मूल में पुरुष और प्रकृति हैं। पुम्-प्रकृति का चिह्न होने के कारण ही यह पदार्थ लिङ्ग-पदवाच्य है। लिङ्ग में जब तक गुणवैषम्य विद्यमान रहेगा तब तक यह स्थूल-स्थूलतर परिणामों में परिणत होता रहेगा। यह भोगप्रधान वृत्ति (अर्थात् प्रवृत्ति) है। पुरुष को लक्ष्यकर स्वनिरोध करने की प्रवृत्ति जब लिङ्ग में होती है, तब यह अपवर्ग का मार्ग (अर्थात् निवृत्ति) कहलाती है। **स्वगत गुणवैषम्य का भङ्ग होने पर लिङ्ग अव्यक्त हो जाता है—यही मोक्ष है (लिङ्ग की दृष्टि में) या कैवल्य है (पुरुष की दृष्टि में)** । लिङ्ग के अव्यक्त होने या न होने से पुरुषतत्त्व को कुछ भी हानि-लाभ नहीं हैं। अव्यक्तावस्थाप्राप्ति होने पर लिङ्ग दुःखोत्पादक क्रिया का अतीत हो जाता है, क्योंकि गुणवैषम्यात्मक दुःखोत्पादक क्रिया किसी गुणवैषम्यहीन पदार्थ को सक्रिय कर दुःखित नहीं कर सकती।

उपर्युक्त विवरण के बाद उन प्रश्नों का समाधान स्वतः हो जाता है जिनका उल्लेख हमने व्याख्या के आरम्भ में किया हैं। यह स्पष्ट हो जाता है कि लिङ्ग स्वभावतः तन्मात्र से युक्त नहीं होता। पुरुषाकारा बुद्धि का 'करण' है महत्; महत् का स्थूल रूप हैं अहंकार और अहंकार के स्थूलरूप हैं—मन तथा इन्द्रियाँ। (महदादि की सामान्यवृत्ति प्राणरूप इन्द्रिय है जो महदादि के ही स्थूलरूप हैं)। **बाह्य विषय (तन्मात्र) से इस महदादि का कोई नियत संबन्ध नहीं है।** तन्मात्र (ब्रह्माण्ड का उपादानभूत) भूतादिनामक अहंकार विशेष का परिणाम है। यह उपादानभूत भूतादि जीवमात्र का न होकर सृष्टि करने में समर्थ जीवविशेष (प्रजापति नामक ईश्वर) का है। प्रजापति के सृष्टिसंकल्प के

द्वारा उनका भूतादि ग्राह्यीभूत होकर विषय में परिणत होता है; यह विषय पूर्वोक्त महदादि रूप लिङ्ग का ग्राह्यविषय है; महदादिगत प्राणरूप विधारण शक्ति इस विषय को शरीररूप से व्यूहित कर लेती है; यही कारण है कि ब्रह्माण्ड की अभिव्यक्ति होने पर लिङ्ग भूतादिजात विशेष द्वारा निर्मित सूक्ष्म शरीर से युक्त होकर ही रहता है। इस तन्मात्रसंबन्ध के कारण ही लिङ्ग को 'महदादिसूक्ष्म-पर्यन्तम्' (का ४०) कहा गया है, यद्यपि 'सूक्ष्म' रूप तन्मात्र वस्तुतः लिङ्गसामान्य का अङ्गभूत नहीं है। **हमारी दृष्टि में 'महदादि-सूक्ष्मपर्यन्त लिङ्ग' इस वाक्य में सूक्ष्म का अर्थ वस्तुतः तन्मात्र नहीं है, बल्कि सूक्ष्मशरीर है, जो विशेष द्वारा निर्मित है।** (करणसमष्टि रूप लिङ्ग का योग इस विशेष-निर्मित शरीर से ही होता है, जैसाकि यथास्थान दिखाया जायेगा)। लिङ्ग की अव्यक्तावस्था या प्रतिप्रसव होने पर महत्-अहंकार-मन-इन्द्रिय रूप समष्टि का ही प्रतिप्रसव होता है, लिङ्गसंयुक्त स्थूल-सूक्ष्म शरीरों का प्रतिप्रसव नहीं होता—यह ज्ञातव्य है।

कारिका के उत्तरार्ध में जो कहा गया है ('यद्यपि गुण ही कर्ता है, तथापि पूर्वोक्त संयोग के कारण उदासीन पुरुष कर्ता की तरह हो जाता है अर्थात् कर्ता की तरह प्रतीत होता है') वह लिङ्ग के व्यक्त रहने के विषय में हेतु को कहता है। जब तक लिङ्ग में अपना कूटस्थ निर्विकार अपरिणामी स्वप्रकाश मूल की ख्याति सम्यक् विकशित नहीं होती, तब तक लिङ्ग में यह भ्रान्ति रहती है कि 'मैं ही चिद्रूप पुरुष हूँ'। इस भ्रान्ति के कारण ही अत्यन्त निरोध के लिये लिङ्ग की प्रवृत्ति नहीं होती। निर्विकार पुरुष की सत्ता का प्रस्फुट ज्ञान होने पर लिङ्ग को स्व-स्वरूप का ज्ञान हो जाता है और वह अपना अत्यन्तरोध करने का प्रयत्न करता है। पुरुषसंबन्धी अज्ञान जब तक रहेगा, तब तक लिङ्ग अत्यन्तनिरोध करने का संकल्प नहीं कर सकता; फलतः बुद्धि-अहंकार आदि के रूप में लिङ्ग स्थूल-स्थूलतर भाव को प्राप्त करता रहता है।

कर्तृत्व और परिणामशीलत्व अविनाभावी हैं, अतः अपरिणामी पुरुष अकर्ता ही है। 'पुरुषाकारा बुद्धि' रूप लिङ्ग में पुरुष का लिङ्गभूत जो ज्ञातृत्व देखा जाता है (इस ज्ञातृत्व को कोई कोई ग्रहीतृत्व भी कहते हैं) वह त्रिगुण के प्रभाव से आवरण-चाञ्चल्यादि से युक्त हो जाता है। लिङ्गगत चैतन्य की इस विरूपता के कारण ही कहा जाता है कि उदासीन (=त्रैगुणिक चाञ्चल्य के अतीत) पुरुष मानो कर्ता (=परिणामी, क्रियावान् आदि) हो गया है। ध्यान देना चाहिये कि पुरुष (तत्त्व) सदैव अप्रच्युतस्वभाव है, अतः त्रैगुणिक लिङ्ग में चैतन्य की कूटस्थता, अपरिणामिता आदि 'धर्मों' की ईषत् विरूपता दृष्ट होने पर भी अनुमान से जाना जाता है कि वस्तुतः पुरुष स्वीय अविकारी स्वरूप में ही है।

इस कारिका में चेतन-अचेतन-चेतना का प्रसंग आया है, अतः सांख्यीय दर्शन के अनुसार इनका स्पष्टीकरण करना आवश्यक है। अधिकांश आधुनिक विद्वान् तथा

संस्कृत टीकाकार चेतन आदि शब्दों के विवक्षित अर्थ (मोक्ष दर्शन के क्षेत्र में) को समझने में असमर्थ रहे हैं, जैसा कि प्रस्तुत विवेचन से स्पष्ट होगा।

सांख्यीय दृष्टि में चेतन=स्वप्रकाश पुरुष है, जो धर्मधर्मिदृष्टि के अतीत, निर्गुण अपरिणामी है। जड=चित् (पुरुष)-संबन्धहीन गुणत्रय है (ध्यान देना चाहिए कि ईदृश गुणत्रय किसी देश या काल में अवस्थित नहीं है)। 'जड' (अचेतन) रूप से जिसको हम समझते हैं वह वस्तुतः चित्-जड-संयोगजात है; शुद्ध जड़ नहीं है। भौतिक विषय तन्मात्रमूलक हैं, तन्मात्र अहंकारमूलक, अहंकार बुद्धिमूलक है; बुद्धि की व्यक्तता चेतन-पुरुषोपदर्शन-सापेक्ष है। यह जानकर जड-चेतनविवेक करना चाहिये।

यह ज्ञातव्य है कि चेतन का अर्थ चिद्रूप भी होता है, चिदधिष्ठित जड़ (अर्थात् अन्तःकरण) भी होता है। जब बुद्धि को जड़, अचेतन कहा जाता है, तब उसके उपादान (अर्थात् त्रिगुण) की दृष्टि से ऐसा कहा जाता है, यद्यपि सदैव बुद्धि चित्-संयुक्त ही है। शरीर भी शुद्ध जड़ नहीं है; एक ओर वह अन्तःकरण द्वारा नियन्त्रित है—अन्तःकरण शरीर में पूर्णतः व्याप्त है; दूसरी ओर शरीर का मूल उपादान प्रजापति का ग्राह्यीभूत अहंकार है।

'मैं अपने को जानता हूँ' यह लिङ्ग का स्वरूप है। एक ही पदार्थ (अर्थात् 'मैं'; मैं का एकत्व सर्वानुभवसिद्ध है) अपने को जानता है—यह व्यवहार जगत् में नहीं है। व्यावहारिक जगत् में सदैव ज्ञाता ज्ञेय से पृथक् है—ऐसा अबाधित अनुभव होता है। 'मैं' (सभी करणशक्तियों का नियन्ता-प्रयोक्तारूपी 'मैं') में यह विलक्षणता देखी जाती है। **उपर्युक्त बोध के लिये मानना पड़ता है कि 'मैं' में दो विरुद्ध पदार्थों का समावेश है।** एक—ज्ञातृत्व का अनापेक्षिक रूप; दूसरा—ज्ञेयत्व का अनापेक्षिक रूप। ये दो इस शास्त्र में यथाक्रम पुरुष और प्रकृति (=अव्यक्त) पद से अभिहित होते हैं। **मैं अपने को जानता हूँ—यह स्वज्ञान द्रष्टा का लिङ्ग है—यह द्रष्टा का स्वरूप नहीं है। पुरुष का जो स्वप्रकाशकत्व है,** उसका 'मैं अपने को जानता हूँ' इस प्रकार विवरण देना विकल्पवृत्ति का उदाहरण है, क्योंकि वहाँ 'जो मैं है' वही 'अपना' है। लिङ्गगत 'मैं अपने को जानता हूँ' में ये दो भाव पृथक् हैं—पूर्वक्षणिक 'मैं' परक्षणिक 'मैं' को जानता है। त्रिगुणजात करण और कर्ता में यह स्वबोध पूर्ण स्वप्रकाश द्रष्टा के संबन्ध के कारण ही होता है। देशकालातीत पुरुष का संबन्ध 'मैं' के साथ रहने के कारण ही यह विचार उठता है कि 'द्रष्टा हृदय में है' 'द्रष्टा सर्वकाल में है' इत्यादि।

चित्-जड-संघातरूप लिङ्ग (जीव का मूल रूप जो बाह्य-आन्तर करणों का प्रयोक्ता है) का प्रकृत स्वरूप अस्मादृश व्यक्तियों की दृष्टि में कुछ अस्पष्ट है—यह स्वीकार्य ही है। यह निर्धारणीय है कि (१) क्या जीव प्रकृति-पुरुष का समाहारमात्र है, अर्थात् प्राकृत उपाधि से आवृत पुरुष है (दोनों का एक पुञ्जमात्र है), अथवा (२) क्या जीव प्रकृति-पुरुष-संयोगजन्य एक नूतन पदार्थ है (नैयायिकों के अवयवी की तरह)?

दोनों पक्षों में कई समस्याएँ आती हैं, जिनका समाधान करना अस्मादृश व्यक्तियों के लिये अत्यन्त कठिन है। जीव को न चित्-स्वरूप कहा जा सकता है और न अचित्-स्वरूप; यह चित्-जड़ का एक पुञ्ज है—ऐसा मानने में भी न्यायदोष होता है। यही कारण है कि हम जीव या लिङ्ग को 'महदादि-करणों का प्रयोक्ता' मानते हैं। पर यह प्रयोक्ता महदादि से पृथक् कोई पदार्थ है—ऐसा नहीं है। जीव स्वयं प्रयोक्ता भी है, और उसका ही एक अंश महत् रूप करण भी है। यह जीव न स्वप्रकाश ही है और न परप्रकाश्य ही है—जीव अपने आप को जानता है पर यह जानना भी प्रवाहरूप है—यह स्वप्रकाश की तरह अपरिणामी ज्ञाता नहीं है। इसमें स्वसंवेदन है। यह 'मैं अपने को जानता हूं' रूप है—अपना ही एक रूप अपने ही एक अन्य रूप को जानता है। इस जीव रूप प्रयोक्ता के जो करण हैं वे इससे अवियोज्य हैं। वस्तुतः जीव का मूल स्वरूप एक समस्या (paradox) है—कम से कम अस्मदादि की दृष्टि में।[1] जीव या लिङ्ग को 'तत्त्व' नहीं माना गया है—यह इस प्रसंग में स्मरणीय है। महत् एक तत्त्व है, यद्यपि यह पुरुषाधिष्ठित प्रधानविकार है; पर जीव या लिङ्ग कोई तत्त्व नहीं है।

इस प्रसंग में युक्तिदीपिका का वह वाक्य विचार्य है, जिसमें कहा गया है कि महत् से पूर्व भी अनिर्देश्यस्वरूप कोई पदार्थ उत्पन्न होता है—'केचिदाहुः प्रधानादनिर्देश्य-स्वरूपं तत्त्वान्तरमुत्पद्यते ततो महानिति' (२२ का०)। यह वाक्य जीव को लक्ष्य करता है—ऐसा हमें सहसा प्रतीत होता है। इस जीव के साथ महत् (जीव का करण होने पर भी) का निकटतम सादृश्य है। जीव या लिङ्ग का मूल स्वरूप है—'मैं अपने को जानता हूँ' और महत् का स्वरूप है—'मैं विषय को जानता हूँ' (स्वरूपतः करण होने पर भी महत् में भी कर्तृभाव अनुविद्ध रहता है)। यही कारण है कि महत् को भी कभी कभी 'जीव' कहा गया है। महत् का स्थूलभाव अहंकार है, अतः अहंकार भी कभी कभी जीव-पदवाच्य होता है। लिङ्ग के सभी गुणकर्म महत् और अहंकार में भी गौणदृष्टि से प्रयोज्य होते हैं—जो सर्वथा असंगत नहीं है।[2] ध्यान देना चाहिये कि युक्तिदीपिका के

---

१. जीवस्वरूप की अस्पष्टता को शङ्कराचार्य के वाक्य से भी जाना जाता है—'आभास एष जीवः परस्यात्मनः···न स एव साक्षात् नापि वस्त्वन्तरम्' (शारीरक २।३।५०)। चिदचिद्-मिश्रण का अनुरूप मिश्रण व्यवहार जगत् में दृष्ट नहीं होता। ऐसा होना संभव भी नहीं है, क्योंकि सभी व्यक्त भाव इस मिश्रण के फलस्वरूप हैं।

२. जीवस्वरूप की इस अस्पष्टता के कारण ही जीव के विषय में दो परस्पर विरुद्ध धारणाएँ प्रचलित हुई हैं। एक धारणा वह है जिसमें जीवस्वरूप में विनाशभाव का प्राधान्य है—अभाव का प्राधान्य है। इस प्रकार की धारणा बौद्ध विद्वानों द्वारा विशेषतः पल्लवित हुई है। दूसरी धारणा वह है जो जीव को 'परिमित चित्खण्ड' के रूप में (ऐसे असंख्य परस्पर पृथक् चित्खण्ड हैं) स्वीकार करती है। वैष्णव आदि संप्रदायों में यह धारणा विभिन्न रूपों में पाई जाती है।

उपर्युक्त वाक्य में 'तत्वान्तर' शब्द प्रयुक्त हुआ है। हमारी दृष्टि में 'ततुत्व' शब्द का अर्थ वह नहीं है, जिस अर्थ में महदादि ततुत्व होते हैं।

लिङ्ग में ही अपने को प्रवृत्त करने की और निवृत्त करने की दो शक्तियाँ स्वभावतः हैं। (यथाक्रम प्रकृति और पुरुष रूप दो अत्यन्त विरुद्ध पदार्थों का संहत रूप होने के कारण)। हृत्पिण्ड जिस प्रकार (आहार्य की सहायता से) अपने को जीवित रख सकता है और (आहारादि छोड़कर) अपने जो मृत कर सकता है (शारीरविद्या की दृष्टि से), उसी प्रकार लिङ्ग भी स्वीय अविवेक के द्वारा चालित होकर भोगमार्ग में चल सकता है और अपने को व्यक्त रख सकता है तथा स्वीय विवेक द्वारा चालित होकर अपवर्ग मार्ग में चल सकता है और अपने को अव्यक्त रूप में परिणत कर सकता है।

कारिका में इस लिङ्ग के विषय में और भी कई ज्ञातव्य बाते कही गई हैं, यथा—लिङ्ग यद्यपि करणों की समष्टिमात्र है (मूल में पुरुष द्वारा उपदृष्ट; अतः लिङ्ग को 'व्यावहारिक आत्मा' कहना संगत ही है) तथापि वह सदैव सूक्ष्म शरीर से युक्त रहता है। यह सूक्ष्मशरीर विशेषनिर्मित है। अनादिकाल से शरीरधारण-संस्कार-युक्त यह लिङ्ग ब्रह्माण्ड के व्यक्त होने पर बाह्य विषयों को शरीररूप से व्यूहित करलेता है। (ऐसा करना स्वाभाविक नियम के अनुसार ही है) और संस्कारानुसार भोग या अपवर्ग के मार्ग में चलता रहता है। लिङ्ग का कर्मजीवन मूलतः धर्म-अधर्म, ज्ञान-अज्ञान, वैराग्य-अवैराग्य तथा ईश्वरता-अनीश्वरता रूप आठ भावों द्वारा नियन्त्रित होता रहता है और इन आठों के बलाबल के अनुसार कर्मफलों को प्राप्त करता रहता है।

जीव-विषयकसांख्य मत अन्य दर्शनों के मतों से बहुत कुछ विलक्षण हैं। सांख्य-मत इस विषय में ये हैं—

(१) कोई भी जीव किसी अधिक विकसित जीव का अंश है—यह सांख्य नहीं मानता।

(२) जीव स्वगत बुद्धिरूपों का विकाश कर अपने को धर्मप्रधान, ज्ञानप्रधान, वैराग्यप्रधान और ईश्वरताप्रधान बना सकता है। ईश्वरताप्रधान जीव विभिन्न प्रकार के ईश्वर हो सकते हैं; वैराग्यादि के विषय में भी यही दृष्टि प्रयोज्य है।

(३) जीव किसी भी प्रकार के ईश्वर का स्वरूपतः दास या नित्यदास है—यह सांख्य नहीं मानता।

(४) कोई जीव (=चिदचित्-संघात) अन्य जीवों का नित्य नियन्त्रक-पालक है—यह सांख्य नहीं मानता। तथैव नित्य ही सभी जीवों पर स्वेच्छया 'अनुग्रह-निग्रह' करने वाला कोई एक जीव है—यह सांख्य नहीं मानता।

(५) कोई एक जीव ईश्वरता से युक्त होकर चिरकाल से सृष्टि-संहार करता आ रहा है—यह सांख्य नहीं मानता। सृष्टि-संहार रूप क्रिया विक्षेपान्तर्गत है।

(६) कोई सर्वज्ञ-सर्वशक्ति प्राणी स्वच्छेया अल्पज्ञ-अल्पशक्ति होकर जीव का रूप लेता है—यह सांख्य नहीं मानता।

(७) जीव किसी के द्वारा प्रथमतः सृष्ट होता है—यह सांख्य नहीं मानता। अलक्ष्य अवस्था में स्थित किसी जीव को प्रक्रिया-विशेष के बल पर लक्ष्यीभूत किया जा सकता है—यह दूसरी बात है।

(८) जीव का कर्मसंस्कार उसका अपना है। जीव स्वयं ही स्वयं को भोग या अपवर्ग के मार्ग में प्रवृत्त करता है; जीवान्तर के उपदेश आदि इस प्रवृत्ति में सर्वथा गौण हेतु ही हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि जीव की मुक्ति भी स्वचेष्टासाध्य ही है—अन्य से प्राप्त ज्ञान गौण सहायक मात्र है; पूर्णतः स्वचेष्टा के बिना मुक्ति की कुछ भी संभावना नहीं है।

कारिकोक्त संयोग के स्वरूप के विषय में यह ज्ञातव्य है कि 'संयोग' उपमा की भाषा है, और वस्तुतः संयोग (=अप्राप्तिपूर्विका प्राप्ति) नहीं है, पर संयोग के साथ कुछ सादृश्य के कारण संयोग शब्द का व्यवहार पूर्वाचार्यों ने किया है। संयोग होने पर 'व्यवधान' प्रतीत नहीं होता—इस 'व्यवधानाभाव-प्रतीति' रूप सादृश्य के कारण चित्-अचित्-संबन्ध को 'संयोग' शब्द से कहा गया है। संयोग जिस प्रकार संयोगियों के कर्म की आपेक्षा करता है—ईदृश कोई कर्म यहाँ नहीं है। संयोग कभी कभी संयोगियों से पृथक् किसी प्रयोजक के कर्म से होता है। ईदृश कोई प्रयोजक भी नहीं है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि इस संयोग का सदृश कोई संयोग व्यक्त पदार्थों में नहीं है। व्यक्त पदार्थ संयोग का फल है। संयोग के स्थान पर 'सन्निधानविशेष' कहना अधिकतर युक्त है। चिदचित्-संयोग को मानने के लिये हम तर्कतः बाध्य होते हैं।

इस प्रसंग में यह अवश्य ही स्मरण रखने की बात है कि इस संयोग के 'पूर्व' की स्थिति को लेकर (अर्थात् केवल पुरुष और केवल गुणत्रय को लेकर) यदि कोई प्रश्न करना हो तो देश (कहाँ है) और काल (किसके पहले या बाद है) को लेकर प्रश्न नहीं करना चाहिये। परिमाण और संख्यासंबन्धी प्रश्न करने के समय यह जानना चाहिये कि इनका निर्धारण प्रत्यक्ष से नहीं होता और अनुमान के बल पर निर्धारण करने के समय विकल्पवृत्ति का अनुप्रवेश कुछ न कुछ हो जाता है ॥२०॥

(१) 'तत्संयोगात्' इत्युक्तम् (द्र० २० का०); न च भिन्नयोः संयोगोऽपेक्षां विना, न चेयमुपकार्योपकारकभावं विनेत्यपेक्षाहेतुमुपकारमाह—

---

(१) दोनों के संयोग से (उपर्युक्त भ्रमात्मक अनुभव) होता है—ऐसा कहा गया है। परन्तु दो अत्यन्त भिन्न वस्तुओं (अर्थात् प्रधान और पुरुष) का संयोग अपेक्षा (=आकाङ्क्षा) के बिना नहीं होता; और यह अपेक्षा भी उपकार्य (=जो उपकृत होता है)

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य ।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥ २१ ॥

(२) "पुरुषस्य" इति। प्रधानस्येति कर्मणि षष्ठी। (३) प्रधानस्य सर्वकारणस्य यद्दर्शनं पुरुषेण, तदर्थम् । तदनेन भोग्यता प्रधानस्य दर्शिता। ततश्च भोग्यं प्रधानं भोक्तारमन्तरेण न सम्भवतीति युक्तास्य भोक्त्रपेक्षा । (४) पुरुषस्यापेक्षां दर्शयति—"पुरुषस्य कैवल्यार्थम्" इति। तथाहि प्रधानेन संभिन्नः पुरुषस्तद्गतं दुःखत्रयं स्वात्मन्यभिमन्यमानः कैवल्यं प्रार्थयते। (५) तच्च सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिनिबन्धनम् । न च सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिः प्रधानमन्तरेणेति कैवल्यार्थं पुरुषः प्रधानमपेक्षते ।

(६) अनादित्वाच्च संयोगपरम्पराया भोगाय संयुक्तोऽपि कैवल्याय पुनः

और उपकारक भाव के विना नहीं होती। इसलिये अपेक्षा के हेतुभूत 'उपकार' के विषय में कारिकाकार कह रहे हैं—

पुरुष के द्वारा प्रधान (प्रकृति) के दर्शन (=भोग) के लिये तथा पुरुष के कैवल्य के लिये पुरुष और प्रकृति का संयोग होता है, जिससे सृष्टि होती है। यह संयोग पङ्गु और अन्ध के संयोग के सदृश (परस्परापेक्षामुलक) है। ॥२१॥

(२) कारिकागत 'प्रधानस्य' पद में कर्म में षष्ठी है, जिससे अर्थ होगा—'सब के मूल कारण (=प्रधान=प्रकृति) का पुरुष के द्वारा दर्शन (=अनुभव) होने के लिये'। (३) इससे (पुरुषकर्तृक प्रधानदर्शन से) प्रकृति की योग्यता सूचित होती है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि प्रधान की यह योग्यता भोक्ता (=पुरुष) के अभाव में सम्भव नहीं हैं; अतः इसको भोक्ता की अपेक्षा है।

(४) अब पुरुष की प्रधान-विषयक अपेक्षा कहते हैं—पुरुष के कैवल्य के लिये (प्रकृति अपेक्षित है)। आशय यह है कि प्रकृति के साथ अपृथक् रूप से संयुक्त पुरुष उसके त्रिविध-दुःख-रूप परिणाम को अपने में स्थित समझता हुआ कैवल्य की इच्छा करता है। (५) यह कैवल्य बुद्धि-पुरुष के पार्थक्यज्ञान रूप निमित्त से होता है। यह सत्त्व-पुरुष-विवेकज्ञान प्रकृति के विना नहीं हो सकता (क्योंकि ज्ञान बुद्धि का परिणाम है और बुद्धि प्रकृतिजात है)। इसलिये कैवल्य के लिये पुरुष को प्रधान की अपेक्षा रहती है।

(६) यह संगत ही है कि संयोग-परम्परा (=उत्तरोत्तर सर्गों में संयोग-प्रवाह) के अनादि होने के कारण भोग के लिये संयुक्त हुआ पुरुष कैवल्य के लिये पुनः संयोग

---

१. सर्वप्रकारस्येति केचन पठन्ति ।

संयुज्यत इति युक्तम्। (७) ननु भवत्वनयोः संयोगः, महदादिसर्गस्तु कुत[1] इत्यत आह—"तत्कृतः सर्गः" इति। संयोगो हि न महदादिसर्ग मन्तरेण भोगाय कैवल्याय च पर्याप्त इति संयोग एव भोगापवर्गार्थं सर्गं करोतीत्यर्थः ॥२१॥

प्राप्त करता है (संयोग यद्यपि भोगहेतु है, पर कभी कभी वह कैवल्य का हेतु भी होता है; कभी कभी का 'किसी जन्म में'—यह अर्थ भी हो सकता है। भोग और अपवर्ग के लिये संयोग भिन्न-भिन्न है—यह भी कोई कोई कहते हैं)। (७) प्रकृति और पुरुष का संयोग मानने पर भी यह प्रश्न उठता है कि महान्, अहंकार आदि विकारों की उत्पत्ति किससे होती है? इसके उत्तर में कारिकाकार कहते हैं—"महान् आदि की सृष्टि उसी संयोग से होती है"। तात्पर्य यह है कि महान्, अहंकार आदि के उत्पन्न किये विना प्रकृति और पुरुष का संयोग भोग और कैवल्य के सम्पादन में समर्थ ही नहीं होता, इसलिये संयोग ही भोग और अपवर्ग के लिये सृष्टि करता है ॥२१॥

२१वीं कारिका की व्याख्या

सांख्यीय दर्शन के सर्वशीर्षभूत मतों में अन्यतम मत इस कारिका का प्रतिपाद्य विषय है। हमें अत्यन्त खेद है कि यह कारिका वाचस्पति आदि व्याख्याकारों द्वारा असंगत रूप से व्याख्यात हुई है, जिसके कारण सांख्यदर्शन के विषय में कई भ्रान्त धारणाएँ उत्पन्न हो गई हैं। सांख्यज्ञान के प्रति कई उपहासपरक वाक्य इस कारिका की भ्रान्तिपूर्ण व्याख्या के कारण ही कहे गये हैं—यह जानना चाहिये।

वाचस्पति के अनुसार कारिका का तात्पर्य यह है—"कैवल्य की प्राप्ति के उद्देश्य से पुरुष (तत्त्व) प्रधान की अपेक्षा करता है। कैवल्य सत्त्व-पुरुषान्यताख्याति-निबन्धन है जो प्रधान के बिना संभव नहीं (सत्त्वगुण प्रधान का एक अङ्ग है)। इस प्रकार प्रकृति की अपेक्षा पुरुष के लिये होती है। सुखदुःख-रूप जो भोग है, वह प्रकृति का ही है, पर भोग निरर्थक होता है यदि भोक्ता न रहे। अतः भोग्य प्रकृति के लिये पुरुष को भी अपेक्षा रहती है। इस परस्पर-अपेक्षा-रूप हेतु के रहने के कारण ही प्रकृति और

---

१. केचित् संपादकाः 'कुतस्त्यः' इति पठन्ति। अव्ययात् त्यप् इति त्यपः प्रवृत्तिर्नात्र भवितुमर्हति, परिगणितेष्वेवाव्ययेषु त्यपः प्रवृत्तेः।

पुरुष का सम्बन्ध होता है।[१] इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि संयोग भोगार्थ भी है, कैवल्यार्थ भी है। यह संयोग अनादि है। जब तक यह संयोग भोगार्थ रहता है, तब तक पुरुष का संसार-संबन्ध रहता है—संसरण चलता रहता है। क्वचित् किसी जन्म में संयोग कैवल्यार्थ भी होता है अर्थात् किसी जन्म में भोगलिप्सा के शान्त होने पर प्राकृत श्रवण-मननादि-क्रिया द्वारा विवेकज्ञान उत्पन्न होता है, जिससे कैवल्य होता है।"

वाचस्पति का यह व्याख्यान सर्वथा अन्याय्य है। त्रिगुण, पुरुष, बन्धन, विवेक आदि के विषय में जो सांख्यीय मत हैं, उन मतों की दृष्टि में यह व्याख्यान अत्यन्त असमञ्जस है। पहले ही ज्ञातव्य है कि **अपरिणामी कूटस्थ नित्य शुद्ध मुक्त पुरुष (जो इच्छा-संकल्पादि से शून्य है) के विषय में यह सोचना असंगत है कि उसको कैवल्यप्राप्ति की इच्छा होती है यदर्थ विवेकख्याति का साधन अवश्यकरणीय होता है** और जिसके लिये प्रकृति की सहायता लेनी पड़ती है? यह पुरुष जीव (=सोपाधिक पुरुष) नहीं है, बल्कि पुरुष रूप निष्क्रिय, निर्गुण तत्त्व है—यह भूलना नहीं चाहिये। वाचस्पति की व्याख्या यह सिद्ध करती है कि वे सांख्यीयतत्त्वज्ञान में अज्ञ ही थे।

तथैव 'सत्त्वरजस्तमः की अवैषम्यावस्था' रूप पदार्थ (=प्रकृति) के विषय में यह सोचना कि उसमें चिन्तन करने की शक्ति है, वह पुरुष की अपेक्षा करती है यह सोचकर कि पुरुष के विना उसकी योग्यता व्यर्थ है—एक अप्रमाणित प्रतिज्ञा है। **सत्त्वरजस्तमोमात्र की अवस्थाविशेष स्वयं भोग्य बनने के लिये पुरुष को चाहती है—यह कैसे जाना गया?** क्या किसी भी प्रकार के अनुभव से या सत्त्वादि के लक्षण से यह बात सिद्ध होती है? इच्छा करना, संकल्प करना आदि त्रैगुणिक हैं='संयोगज' हैं—अतः ये संयोग के हेतु नहीं हो सकते। यह तो ठीक है कि भोग्यता का आश्रय बनने की इच्छा यदि प्रकृति में हो तो भोक्तृत्व के आश्रय के रूप में पुरुष को अपनाना पड़ेगा; पर बात यह है कि न तो ऐसी

---

१. पुरुषस्य विकारावस्थापन्नप्रधान-प्रदर्शनरूप-भोगार्थं तस्य कैवल्यार्थं च प्रधान-पुरुषयोर्जड-चेतनयोः क्रियाज्ञानशक्तियुक्तयोरुभयोरप्येकफल-संपादनार्थं प्रवृत्तयोः पङ्ग्वन्धयोरिव संयोगः तत्कृतश्च महदादिसर्ग इत्येतदर्थपरत्वेनास्य वचनस्य तत्त्वकौमुद्यां व्याख्यातत्वाच्च। (कल्पतरुपरिमल १।१।५)। शिवार्कमणिदीपिका में यही अर्थ माना गया है—"पुरुषस्य भोगापवर्गौ प्रधानस्य प्रयोजनम् इति सांख्याः। यदाहुः—पुरुषस्य दर्शनार्थम्···इति। प्रधानकर्मकं सविकारप्रधानविषयं पुरुषस्य यद् दर्शनं भोगरूपं तदर्थं पुरुषस्य कैवल्यार्थं च परस्परापेक्षयोः प्रधानपुरुषयोः पङ्ग्वन्धवत् संयोगः तत्कृतो महदादिसर्ग इत्यर्थः" (२।२।९)। Puruṣa allies itself with prakṛti in order that the nature of the latter may be revealed to itself and that it may attain freedom from association with prakṛti (I.P.II, p. 235).

इच्छा प्रकृति-मात्र में संभव है और न पुरुष रूप अपरिणामी पदार्थ ईदृश भोगरूप अन्तः-करण विकार के भोक्तृत्व (यह भोक्तृत्व भी लौकिक भोक्तृत्व के अनुरूप त्रैगुणिक है—यह पूर्वापर देखने से स्पष्टतया ज्ञात होता है) का वास्तव आश्रय हो सकता है ।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि **त्रिगुणावस्थाविशेष रूप प्रकृति और अपरिणामी नित्य शुद्ध मुक्त पुरुष में परस्पर अपेक्षा का कोई प्रसंग ही नहीं है,** अतः वाचस्पति की व्याख्या की प्रामाणिकता सन्दिग्ध ही है ।[१]

इस प्रसंग में हमारी दृष्टि यह है—अहंभाव का मानस विश्लेषण करके यह देखा जाता है कि वह द्रष्टा और दृश्यरूप दो परस्पर विरोधी भावों का संघातरूप है । इस मिलन के फल तथा स्वरूप के प्रतिपादन के लिये यह कारिका है । ध्यान देना चाहिये कि किसी जीव से सम्वन्धित यह संयोग अन्य किसी जीव की इच्छा से नहीं घटता । इच्छा स्वयं संयोगज है, अतः संयोगज इच्छा संयोग का मूल हेतु नहीं हो सकती । किसी भी प्रकार के ईश्वर के द्वारा भी जीवगत द्रष्टा-दृश्य-संयोग को निष्पन्न नहीं किया जा सकता, क्योंकि ईश्वर भी ईदृश संयोग का ही फलभूत है । **यह संयोग निरुद्देश्य है**—किसी फल की प्राप्ति को लक्ष्य कर यह संयोग संघटित नहीं होता । उद्देश्य न रहने पर भी संयोग जव तक रहता हैं तव तक उससे कुछ फल तो होता ही है । लिङ्ग की व्यक्तता का हेतुभूत यह संयोग जव तक रहेगा तव तक दर्शन (भोग और अपवर्ग रूप ज्ञानद्वय; भोग=विषयज्ञान जिसमें ज्ञाता की पृथक्त्वख्याति नहीं रहती; अपवर्ग=द्रष्टा पृथक् है—ईदृश अवधारण) चलता रहेगा —भोग के लिये या अपवर्ग के लिये प्रवृत्ति (जीव में) होती रहेगी—इस तथ्य के प्रतिपादन के लिये कहा गया है कि यह संयोग 'दर्शनार्थं भवति'=दर्शनं यथा स्यात् तथा भवति । **संयोग भी अनादि है, बुद्धिस्थ भोगापवर्ग भी अनादि हैं, बुद्धि भी अनादि है, अतः संयोग दर्शन का उत्पत्तिहेतु नहीं है, स्थितिहेतु है ।**

किंच इस संयोग की जो पूर्ण समाप्ति है, यही कैवल्य हैं (संयोग की समाप्ति=वृत्तिसारूप्य का अन्त; वृत्तिसारूप्य का अभाव ही द्रष्टा का स्वरूपावस्थान है—यह ज्ञातव्य है) । संयोग की समाप्ति और कैवल्य में कालव्यवधान नहीं है—अतः वहिर्दृष्टि

---

१. ईदृश व्याख्या के कारण ही कहा जाता है कि पुरुष को भोग या अपवर्ग देने के उद्देश्य से प्रधान सृष्टि करता है या पुरुष के साथ संयुक्त होता है—पुरुषार्थं प्रयोजनमुररीकृत्य प्रधानं प्रवर्तते (प्रश्न ६।४ शांकरभाष्य); पुरुषस्य चेतनस्य भोगापवर्गरूपमर्थं प्रयोजन-मुद्दिश्य प्रवर्तते (शंकरानन्द) । पुरुष-प्रकृति-संयोगज अन्तःकरण के लिये 'उररीकृत्य प्रवर्तते' 'उद्दिश्य प्रवर्तते' कहा जा सकता है. पर केवल पुरुष या केवल प्रकृति के लिये ऐसा नहीं कहा जा सकता ।। 'विना सर्गेण वन्धो हि पुरुषस्य न युज्यते । सर्गस्तस्यैव मोचार्थं महो सांख्यस्य सूक्तता ।' आदि उपहासगर्भ वाक्य वस्तुतः अज्ञतामूलक हैं ।

से यह कहा ही जा सकता है कि यह संयोग 'कैवल्यार्थं भवति'—कैवल्यं यथा स्यात् तथा भवति। संयोगनाश और कैवल्य एक ही हैं, पर व्यवहारतः यह कहा जा सकता है कि संयोग नष्ट होने पर कैवल्य होता है। अतः गौण दृष्टि से कैवल्य को संयोग का फल कहा जा सकता है[1]।

'कैवल्यार्थं संयोगः (भवति)' का यह अर्थ यदि क्लिष्ट प्रतीत हो तो कारिका का व्याख्यान्तर भी किया जा सकता है, जो सांख्यीय तत्त्वदर्शन का सर्वथा अनुसरणकारी है। इस व्याख्या के अनुसार दर्शनार्थम्=अपवर्गार्थम् है अर्थात् जब तक संयोग चलता रहेगा तब तक भोग या अपवर्ग की सिद्धि होती रहेगी—कभी मुख्यतया भोग और कभी मुख्यतया अपवर्ग। अपवर्ग रूप ज्ञान के सम्यक् पूर्ण होने पर बुद्धि की अत्यन्त निवृत्ति हो जाती है।

हमारी व्याख्या में पुरुषतत्त्व और प्रकृतितत्त्व में परस्पर अपेक्षा की कोई बात नहीं है। हमारे अनुसार—'यथा दर्शनार्थं तथा कैवल्यर्थं पुरुषस्य प्रधानस्य च उभयोः संयोगः अस्ति अथवा दृश्यते। स च संयोगः पङ्ग्वन्धयोः संयोग इव भवति'। यह संयोग न प्रधानकर्तृक है, न पुरुषकर्तृक है (क्योंकि ऐसा होने के लिये संकल्प, इच्छा, सामर्थ्य आदि चाहिये, जो न त्रिगुणमात्र में हैं, न निर्गुणपुरुष में हैं)। कोई किसी के साथ संयुक्त हुआ है —यह दृष्टि इस संयोग के विषय में प्रयोज्य नहीं है। अहम्-भाव में जो संयुक्तभाव दृष्ट होता है, उस के अनुयोगी और प्रतियोगी का अवधारण नहीं हो सकता (अवधारणकारी बुद्धि के इस संयोग के कार्य होने के कारण)। इसी अभिप्राय में 'उभयोः संयोगः (अस्ति)' कहा गया है। यह संयोग अनादि है, अतः 'अप्राप्तिपूर्वक प्राप्ति' का कोई प्रसंग ही नहीं है। यह संयोग बाह्य वस्तुओं का संयोगरूप या आन्तरभावों का संयोगरूप नहीं है। इस संयोग का सदृश कोई अन्य संयोग नहीं है। साधारणतया 'संयोग' का जैसा स्वरूप समझा जाता है, यह संयोग वैसा नहीं है, जैसा कि आगे कहा गया है।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि 'संयोगः दर्शनार्थं भवति कैवल्यार्थं च'। यह संयोग मूलतः है—चिद्रूप पुरुष के साथ अचित् प्रधान का; यह अनुभववेद्य नहीं है, आनुमानिक ही है, क्योंकि अनुभव रूप बुद्धिवृत्ति इस संयोग का फल है। तर्कतः हम प्रधान-पुरुष-संयोग को मानने के लिये बाध्य हो जाते हैं—इतनी ही बात है। इस तर्क पर विशेष विचार के लिये प्रसंख्यानभाष्य द्रष्टव्य है।

चूँकि पुरुष एवं प्रधान स्वप्रतिष्ठ हैं, स्वतन्त्र हैं—अतः वे संयुक्त नहीं हो सकते हैं,

---

१. युक्तिदी० में पुरुषस्य दर्शनार्थः कैवल्यार्थः तथा प्रधानस्य···संयोगः···पाठ है। दर्शनार्थः—दर्शनम् अर्थः प्रयोजनं (=फलं) यस्य। कैवल्यार्थः—कैवल्यम् अर्थः प्रयोजनं (=फलं) यस्य। दर्शन और कैवल्य किस रूप से 'फल' होते हैं—यह यथास्थान दिखाया गया है।

यह आपत्ति आजकल प्रायः लोग करते हैं[1] । ये लोग समझते हैं कि असंयुक्त अवस्था के बाद किसी काल में यह संयोग हुआ है । चूँकि असंयुक्त अवस्था के वाद संयुक्त अवस्था (पुम्-प्रकृति की) होती है—यह सांख्य नहीं कहता, अतः उपर्युक्त आक्षेप सांख्य पर प्रवृत्त नहीं होता । पङ्गु-अन्ध-उपमा की ध्वनि समझने से ईदृश आक्षेप उत्पन्न ही नहीं होता, अतः इस उपमा पर विचार किया जा रहा है ।

पङ्गु-अन्ध-संयोग रूप उपमा के विषय में वाचस्पति आदि का मत संगत नहीं है—यह हमारा कहना है, क्योंकि इस उपमा का जो तात्पर्य दिखाया गया है उससे पुरुष तत्त्व के अपरिणामित्व, कूटस्थत्व आदि धर्मों का सामञ्जस्य नष्ट हो जाता है ।

हमारी दृष्टि में पङ्गु-अन्ध-उपमा की ध्वनि परस्पर-अपेक्षा में नहीं है । 'प्रकृति-पुरुष का जो संयोग बुद्धितत्त्व में ('ज्ञाताहम्' में) देखा जाता है वह संयोग इच्छासंकल्पादि-पूर्वक, ज्ञानपूर्वक, चेष्टापूर्वक निष्पाद्य नहीं हुआ है'—यह इस उपमा की ध्वनि है । यदि कहीं पङ्गु-अन्ध संयुक्त देखे जाएँ तो यह नहीं समझना चाहिये कि (१) चलनशक्ति-हीन पङ्गु गमन करता हुआ अन्ध के पास पहुँचा है; तथैव (२) दृष्टिशक्तिहीन अन्ध पङ्गु को देखे विना पङ्गु के पास पहुँचा है; ये दो स्व-स्वप्रयत्नपूर्वक चलकर एकत्र स्थित हुये हैं—ऐसा नहीं हो सकता—यह निश्चित है ।

अहंभाव के शुद्ध जड रूप प्रकृति और शुद्ध चिद्रूप (=चेतन) रूप जो दो मूल हैं, उनका संयोग परस्पर चेष्टादिकृत नहीं है—इतना ही इस उपमा की ध्वनि है । यह संयोग ईश्वरादि किसी सोपाधिक पुरुष द्वारा भी निष्पादनयोग्य नहीं है, क्योंकि सोपाधिक पुरुष भी संयोग का ही फल है । पङ्गु-अन्ध उपमा है, अतः इसका अभीष्ट एकदेशमात्र ग्राह्य है । यह पुम्प्रकृति-संयोग में दृष्टान्त नहीं है क्योंकि इस पङ्गु-अन्ध-संयोग से कोई व्याप्ति नहीं बनती । पुम्प्रकृति-संयोग की सिद्धि के लिये पृथक् प्रमाण है—जो संप्रदाय से ज्ञातव्य है । यदि कोई इस उपमा का खण्डन कर दें तो उससे सांख्य का कुछ बिगड़ता नहीं है । अपनी दृष्टि के अनुसार इस उपमा की व्याख्या करके २।२।७ शारीरक भाष्य में शंकराचार्य ने 'पुरुष द्वारा प्रकृति का प्रवर्तन' रूप सांख्यीय मत का खण्डन करने की जो चेष्टा की है, हमारी दृष्टि में वह चेष्टा उपहासास्पद है । यह उपमामात्र है; यही कारण है कि महाभारत आदि में सांख्यमत के प्रसंग में इस उपमा का उल्लेख करना आवश्यक नहीं समझा गया ।

---

1. If Prakṛti and Puruṣa are absolute and independent they can never come into contact...(C.S.I.P., p.615). If puruṣa is self and prakṛti selfless, then they are, by definition, reciprocally exclusive, and there can be no communion between them (I.P. vol. II, p. 306).

यह संयोग अनादि है और किसी ईश्वर के द्वारा कृत नहीं है—यह मत साधारणतया लोगों को 'अस्वाभाविक' मालूम पड़ता है। सांख्यकारिका के सूक्ष्म मनन से संयोग संबन्धी अनेक सूक्ष्म बातें स्पष्टीकृत हो जाती हैं, जो शब्दतः अनुक्त हैं[1] ॥२१॥

---

(१) सर्गक्रममाह—

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कार स्तस्माद् गणश्च षोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥ २२ ॥

(२) "प्रकृतेः" इति। प्रकृतिरव्यक्तम्। महदहङ्कारौ वक्ष्यमाणलक्षणौ। (३) एकादशेन्द्रियाणि वक्ष्यमाणानि,तन्मात्राणि च पञ्च; सोऽयं षोडशसंख्यापरिमितो गणः षोडशकः। तस्मादपि षोडशकादपकृष्टेभ्यः पञ्चभ्यस्तन्मात्रेभ्यः पञ्च भूतान्याकाशादीनि।

(४) तत्र शब्दतन्मात्रादाकाशं शब्दगुणम्; शब्दतन्मात्रसहितात् स्पर्शतन्मात्राद् वायुः शब्दस्पर्शगुणः, शब्दस्पर्शतन्मात्रसहिताद् रूपतन्मात्रात्तेजः शब्दस्पर्शरूपगुणम्; शब्दस्पर्शरूपतन्मात्रसहिताद् रूपतन्मात्रादापः शब्दस्पर्शरूप-

---

(१) अब कारिकाकार सृष्टिक्रम कहते हैं :—

(मूल) प्रकृति से महान् (महत्तत्व=बुद्धि-तत्व) और महान् से अहंकार उत्पन्न होता है; अहंकार से पाँच तन्मात्र तथा एकादश इन्द्रियाँ—इन सोलह तत्वों का समूह उत्पन्न होता है। इन सोलहों के समूह के अन्तर्भूत पाँच तन्मात्रों से पाँच भूत (आकाश आदि) उत्पन्न होते हैं ॥ २२ ॥

(२) प्रकृति 'अव्यक्त' है (२, १० आदि कारिकोक्त)। महान् और अहंकार के लक्षण आगे (२३ और २४ कारिकाओं में) कहे जायेंगे। (३) एकादश इन्द्रियाँ एवं पांच तन्मात्र आगे कहे जायेंगे (द्र० २६ एवं २७ कारिकाओं)। यह सोलह-संख्यायुक्त गण 'षोडशक' है। इस सोलह के समुदाय से पृथक्कृत जो पाँच तन्मात्र हैं; उनसे आकाश आदि भूत उत्पन्न होते हैं।

(४) (भूतसृष्टि में) शब्द-तन्मात्र से शब्दगुणक आकाश उत्पन्न होता है; शब्द-तन्मात्र से युक्त स्पर्शतन्मात्र से शब्द-स्पर्शगुणों वाला वायु उत्पन्न होता है; शब्द

---

1. John Davies कहते हैं—We are not told how this proximity was caused, by which soul acted upon nature, and nature brought soul into bondage by connecting it with matter (p, 23 f. n. 31). M. Hirianna कृत E. I. P, p. 115-116 भी द्र०।

रसगुणाः; शब्दस्पर्शरूपरसतन्मात्रसहिताद् गन्धतन्मात्राच्छब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणा पृथ्वी जायत इत्यर्थः ॥२२॥

और स्पर्शतन्मात्राओं से युक्त रूपतन्मात्र से शब्द-स्पर्श-रूपगुणों वाला तेजः उत्पन्न होता है; शब्द-स्पर्श-रूपतन्मात्रों से युक्त रसतन्मात्र से अप्‌भूत की उत्पत्ति होती है, जो शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गुणयुक्त है; शब्द आदि तन्मात्रों से युक्त गन्धतन्मात्र से शब्द, स्पर्श, रूप रस और गन्ध गुणों वाली पृथिवी उत्पन्न होती है ॥ २२ ॥

२२वीं कारिका की व्याख्या

इस कारिका में जो पदार्थ प्रतिपादित हुये हैं, वे 'तत्त्व' कहलाते हैं। सभी अनात्म-पदार्थ इन से ही निर्मित हुये हैं। यह उपादानदृष्टि है। निमित्त दृष्टि से अविकारी पुरुष महत् (बुद्धि) की अभिव्यक्ति का मूल निमित्त है। इस पुरुष के साथ अनात्मपदार्थों के योग से संहत पदार्थ होते हैं। **सांख्य में ईदृश संहत पदार्थों को तत्त्व नहीं माना गया; पर ये सांख्यानुमोदित प्रमेय ही हैं।** इस कारिका में यह बात विशेषतः लक्षणीय है कि बुद्धि (जो अहंकारादि का उपादान है) को यद्यपि प्रकृतिजात ही कहा गया है तथापि व्यवहारतः बुद्धि केवल जड़ नहीं है, क्योंकि उसके साथ पुरुषरूप स्वप्रकाश पदार्थ का सदैव संयोग है। यह सोचना नितान्त असंगत है कि जड प्रकृति का कार्य होने के कारण बुद्धि जड़ है। बुद्धि जड़ है—यह तार्किक विश्लेषणमात्र है, वस्तुस्थिति नहीं; **बुद्धि सदैव पुरुषप्रकाश से प्रकाशित है।** इसी तथ्य को प्रकटित करने के लिये ही बुद्धि के लिये 'महदात्मा' शब्द प्रयुक्त होता है।

'सोपाधिक पुरुष' चूंकि कोई तत्त्व नहीं है, संहत पदार्थ है, अतः इस कारिका में किसी भी प्रकार के सोपाधिक पुरुषों का उल्लेख नहीं किया गया है। भूततन्मात्राभिमानी देव, ब्रह्माण्ड-सृष्टिकर्ता प्रजापति, अनादिमुक्तचित्तव्यपदिष्ट ईश्वर—सभी सोपाधिक पुरुष हैं; इनमें स्वबुद्धिगत ऐश्वर्यरूप धर्म का यथायथ विकाश है। **ईश्वरादि पदार्थों में तत्त्वों का कीदृश संयोग है**—यह सांख्यकारिका के अन्तरङ्ग अध्ययन से जाना जाता है। कारिका की प्रचलित टीकायें इस विषय में सहायक नहीं हैं (युक्तिदीपिका अत्यल्पमात्रा में सहायक है)।

इस सर्गक्रम में कई ज्ञातव्य बातें हैं जिन पर संक्षेप से कुछ कहा जा रहा है। **'प्रकृति से महान् के आविर्भाव' का यह अर्थ नहीं कि अव्यक्तीभूत गुणत्रय किसी कालविशेष में पुरुष से युक्त होकर महत् में परिणत होता है। यह भ्रान्त धारणा जब तक रहेगी तब तक सांख्य समझ में नहीं आयेगा।** देश और काल की सत्ता व्यक्त भाव से ही **संबद्ध है,**

अव्यक्तभाव से नहीं। अतः किसी काल में गुणत्रय के साथ पुरुष संयुक्त हुआ है—यह प्रकृत बात नहीं है। वस्तुतः 'अव्यक्त और पुरुष का पृथक् रूप से अवस्थान है' यह कहना भी विकल्पवृत्ति (१।६ योगसूत्रोक्त) का उदाहरण है—क्योंकि 'पृथक् स्थिति' देशाश्रयी और कालाश्रयी चिन्ता पर निर्भर है, जो देशकालातीत निरवयव प्रधान और चिद्रूप अपरिणामी पुरुष के प्रति प्रयोज्य नहीं है।

'महत् की अभिव्यक्ति में पुरुष का संयोग अपरिहार्य है' इसका तात्पर्य भी पूर्वोक्त रीति से ज्ञातव्य है। किसी काल में पुरुष के साथ योग होने के कारण गुणसाम्य से महत् का आविर्भाव हुआ—यह सोचना निर्मूल है। ज्ञेय-ज्ञातृ-भाव (जो जीव में है) की उपपत्ति केवल त्रिगुण से करना संभव नहीं है, अतः किसी स्वप्रकाश पदार्थ के साथ उनका 'संयोग' मानना अर्थात्सिद्ध होता है।[1]

'महत् आदि गुणवैषम्य रूप हैं', इसका कुछ स्पष्टीकरण आवश्यक है। वैषम्य का अर्थ है—तीन गुणों में प्रकर्ष-अप्रकर्ष का होना। इस दृष्टि से कहा जाता है कि महत् में सत्त्व का प्रकर्ष है, अहंकार में रजः का प्रकर्ष है। यह मत यथार्थ है, यह इन के लक्षणों को देखने से भी ज्ञात होता है। चूँकि महत् सत्त्व-प्रधान है, अतः शब्दादिविषय महत् में ही प्रकाशित होते हैं—यह कहा जाता है। जो वैषयिक चाञ्चल्य महत् में ज्ञानरूप से प्रकटित होता है, वह महत् में रजःप्रधान अभिमान द्वारा उपढौकित होता है—यह भी सहजतया समझ में आ सकता है।

प्रश्न है तमः प्रधान अंश का। जब सत्त्वप्रधान बुद्धि है, रजः प्रधान अहंकार है, तब तमःप्रधान भी कोई अन्तःकरणांश होगा। व्याख्याकारों ने इस अत्यन्त आवश्यक विषय पर ध्यान ही नहीं दिया। हम ऐसा समझना उचित समझते हैं कि तमःप्रधान अंश का (उसके सर्वथा अलक्ष्य रूप के कारण) पृथक् रूप से प्रतिपादन करना व्यर्थ समझा गया और संकल्पक मन में उसका अन्तर्भाव कर लिया गया। संकल्पन (मन का) स्मृति, संस्कार आदि से संयुक्त है—यह पूर्वोक्त तृतीय अंश भी तमःप्रधान होने के कारण मुख्यतया संस्काराधार ही है, अतः यह अनुमित होता है कि संकल्पक मन में इस तामस अंश का अन्तर्भाव कर लिया गया। हमारा यह भी अनुमान है कि यह तामस अंश (तृतीय अन्तः करण) कभी 'हृदयनाम' से अभिहित होता था।

महत् आदि के विषय में कई दुःसमाधेय प्रश्न हैं यथा—(१) महत् प्रकृति का कार्यरूप है, अतः परिच्छिन्न है। इसपरिच्छिन्नता का यथार्थ स्वरूपसमझना बहुत ही कठिन है क्योंकि

---

१. 'प्रकृति से महत् की अभिव्यक्ति' को यथार्थतः समझने पर यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि John Davies का यह कहना कि 'intellect is a mere form of matter, यही कपिल का मत है' सर्वथा उच्छास्त्र कल्पना है।

देश को लेकर यह परिच्छेद नहीं किया जा सकता; महत् काल द्वारा परिच्छिन्न है—इस मत का स्पष्टीकरण प्रचलित ग्रन्थों में नहीं मिलता। (२) प्रकृति जब अमेय है, अनन्त है, असीम है, तब उसके खण्ड वस्तुगत्या मेय-सान्त-समीम नहीं हो सकते। अव्यक्त प्रकृति और उसके कार्यभूत महत्-व्यक्तियों में अंश-अंशि-भाव की कल्पना करना अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है। (३) महत् में परिमित सत्त्व, परिमित रजः और परिमितः तमः है, ऐसा हम कहते हैं; पर यह कहना सदोष प्रतीत होता है। बुद्धिगत गुणवैषम्य (गुणवैषम्यरूप बुद्धि) का साम्य बुद्धि की आत्यन्तिक निवृत्ति में होती है—यह कहा जाता है। इससे यह जाना जाता है कि बुद्धि में प्रत्येक गुण समपरिमाण में ही है, क्योंकि यदि ऐसी बात नहीं है तो बुद्धिगत गुणवैषम्य का भङ्ग कैसे होता है? गुणों के समपरिमाण में रहने पर भी कोई अभिभूत है, कोई अनभिभूत है—यह भेद कैसे संभव है? इन समस्याओं के समाधानार्थ प्रसंख्यानभाष्य द्रष्टव्य है।

महदादि का उत्पत्तिक्रम किस पद्धति से निर्धारित हुआ है—यह प्रश्न हो सकता है। यह शास्त्रैकगम्य है—ऐसा भिक्षु आदि व्याख्याकार कण्ठतः कहते हैं। शास्त्रकारों ने किस रूप से इस क्रम को जाना—यह प्रश्न भी उठ सकता है। उत्तर यह है कि प्रतिलोमक्रम से रोध करने के समय जिसमें जिसका रोध होना देखा गया, वह उसका उपादान है—ऐसा निश्चित किया गया। इस प्रणाली से इन्द्रिय का उपादान अहंकार और अहंकार का उपादान बुद्धि निश्चित होता है। बुद्धिगत वैषम्य नष्ट (अवस्थान्तर को प्राप्त) हुआ—इस अनुभव के बलपर यह कहा जाता है कि बुद्धि का उपादान गुणसाम्यरूप प्रकृति है। यहाँ गुणवैषम्याभाव को ही गुणसाम्य कहा गया है। गुणसाम्यावस्था संवेद्य नहीं है। मन का अहंकार में लय होना जिस प्रकार ज्ञात होता है, उस प्रकार बुद्धि का लय ज्ञात नहीं होता; 'बुद्धिगत गुणवैषम्य नष्ट हुआ' इस अनुभव से बुद्धि का उपादान गुणसाम्यावस्था है—यह अनुमित होता है। 'गुणसाम्यावस्थारूप प्रधान अनुमानमात्रगम्य है'—यह जो प्रसिद्धि दार्शनिक समाज में चिरकाल से रही है—उसका यही तात्पर्य है। भूतों का तन्मात्र में लय होना साधक जीव का स्वगत व्यापार नहीं है; यह ब्रह्माण्डलय-संबन्धी विषय है; ब्रह्माण्ड का मूल-उपादानभूत भूतादि-नामक अहंकार जिनका है-वे जब अपने अहंकार का निरोध करेंगे तभी भूत तन्मात्रों में और तन्मात्र भूतादिनामक अहंकार में लीन होगा—ग्राह्य-विषय-संबन्धी इस तथ्य को देखकर ही भूत-तन्मात्र-भूतादि-अहंकार-रूप सर्गक्रम निर्धारित हुआ है। तन्मात्ररूप में परिणत होने वाला भूतादि-अहंकार किसका है—यह यथास्थान व्याख्यात होगा। तन्मात्र से भूतसृष्टि के विषय में हमारा जो विशेष वक्तव्य है, वह ३८वीं कारिका में तथा अन्यत्र द्रष्टव्य है ॥२२॥

(१) अव्यक्तं सामान्यतो लक्षितम्—"तद्विपरीतमव्यक्तम्" (कारिका १०) इत्यनेन; विशेषतश्च—"सत्त्वं लघु प्रकाशकम्" (कारिका १३) इत्यनेन। व्यक्तमपि सामान्यतो लक्षितम्—"हेतुमत्" (कारिका ११) इत्यादिना। सम्प्रति विवेकज्ञानोपयोगितया व्यक्तविशेषं बुद्धिं लक्षयति—

अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम् ।
सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम् ॥ २३ ॥

(२) "अध्यवसायः" इति। "अध्यवसायो बुद्धिः" क्रिया-क्रियावतोरभेदविवक्षया। सर्वो व्यवहर्ताऽऽलोच्य मत्वाऽहमत्राधिकृत इत्यभिमत्य कर्त्तव्यमेतन्मयेत्यध्यवस्यति; ततश्च प्रवर्तत इति लोकसिद्धम्। (३) तत्र योऽयं कर्तव्यमिति विनिश्चयश्चितिसन्निधानादापन्नचैतन्याया बुद्धेः सोऽध्यवसायः, बुद्धेरसाधारणो व्यापारः, तदभेदा बुद्धिः। स च बुद्धेर्लक्षणं समानासमानजातीयव्यवच्छेदकत्वात्।

---

(१) "विपरीतमव्क्तम्" (का० १०) इस वाक्य से सामान्यरूपेण तथा "सत्त्वं लघु प्रकाशकम्" (का० १३) इत्यादि वाक्य से विशेषरूपेण (अव्यक्तावयवरूप गुणों के उल्लेख के द्वारा) अव्यक्त का लक्षण किया जा चुका है। व्यक्त का भी सामान्य लक्षण 'हेतुमदनित्यमव्यापि' (का० १०) इत्यादि वाक्य द्वारा किया गया है। अब विवेकज्ञान में उपयोगी होने से (बुद्धि से पृथक् कर पुरुष को जानने के लिये) व्यक्त के एक विशेष (=भेद) रूप 'बुद्धि' का लक्षण कारिकाकार प्रस्तुत कर रहे हैं—

अध्यवसाय (=विनिश्चय; अर्थात् निश्चय करने वाला तत्त्व) बुद्धि है। धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य इसके सात्विक रूप हैं। इन चारों के विपरीत (अर्थात् अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य) तामस रूप हैं॥ २३ ॥

(२) (यद्यपि 'अध्यवसाय' बुद्धि की क्रिया होने से उसका धर्म है, तथापि) क्रिया और क्रियावान् में अभेद मानकर 'अध्यवसाय' को ही बुद्धि कहा गया है। प्रत्येक व्यवहारकारी जीव पहले विषयों का आलोचन (इन्द्रियद्वारा शब्दादि विषयों का ज्ञान) करता है इसके बाद मन से मनन (=विचार) कर फिर 'मैं इसमें अधिकृत (=प्रवृत्त) हुँ' ऐसा अभिमान करके 'यह मुझे करना चाहिए'—ऐसा निश्चय करता है। और उसके बाद प्रवृत्त होता है—यह लोकप्रसिद्ध तथ्य है। (३) इनमें 'यह मुझे करना है'—इस प्रकार का जो बुद्धि का 'निश्चय' है, उसे बुद्धि चेतन पुरुष के सान्निध्य से चैतन्यवती होकर करती है; यही निश्चय 'अध्यवसाय है। यह बुद्धि का असाधारण (=अन्यविलक्षण) व्यापार (=कार्य) है।

(४) तदेवं बुद्धिं लक्षयित्वा विवेकज्ञानोपयोगिनस्तस्या धर्मान् सात्त्विक-तामसानाह—"धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम् । सात्त्विकमेतद्रूपम्, तामसमस्माद् विपर्यस्तम्" इति । (५) धर्मोऽभ्युदयनिःश्रेयसहेतुः; तत्र यागदानाद्यनुष्ठानजनितो धर्मोऽभ्युदयहेतुः, अष्टाङ्गयोगानुष्ठानजनितश्च निःश्रेयसहेतुः । (६) सत्त्वपुरुषा-न्यताख्यातिर्ज्ञानम् ।

(७) विरागो वैराग्यं रागाभावः । तस्य—यतमानसंज्ञा, व्यतिरेकसंज्ञा एकेन्द्रियसंज्ञा, वशीकारसंज्ञा—इति चतस्रः संज्ञाः । (८) रागादयः कषायाश्चित्त-वर्तिनः, तैरिन्द्रियाणि यथास्वं विषयेषु प्रवर्त्यन्ते; तन्माऽत्र प्रवर्तिषत विषयेष्विन्द्रियाणीति तत्परिपाचनायारम्भः प्रयत्नो यतमानसंज्ञा । (९) परिपाचने चानुष्ठीयमाने केचित्कषायाः पक्वाः, पक्ष्यन्ते च केचित् । तत्रैवं पूर्वापरीभावे सति पक्ष्यमाणेभ्यः पक्वानां व्यतिरेकेणावधारणं व्यतिरेकसंज्ञा ।

यहाँ (क्रिया-क्रियावान् में अभेद मानकर) इस कार्य से बुद्धि को अभिन्न कही गई है; यही बुद्धि का लक्षण भी है, क्योंकि यह बुद्धि को सजातीय (अहंकार आदि) और विजातीय (घट, पट आदि) से पृथक् करता है ।

(४) इस प्रकार बुद्धि का लक्षण करके अब विवेकज्ञान में उपयोगी उसके सात्विक और तामस धर्मों को कहते हैं—धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य बुद्धि के सात्विक रूप हैं; तथा इनके विपरीत (अधर्मादि) इसके तामस रूप हैं । (५) 'धर्म वह है जो अभ्युदय (इह-परलोक में सुखप्राप्ति) तथा निःश्रेयस (=अपवर्ग, मोक्ष) का कारण बनता है । इनमें यज्ञ, दान आदि (सकाम कर्म) के सम्पादन से उत्पन्न धर्म लौकिक सुख का हेतु बनता है और अष्टाङ्ग योग (यम-नियम-आसन-प्राणायास-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधि) के साधन से उत्पन्न धर्म निःश्रेयस का हेतु होता है । (६) सत्व (=बुद्धि) तथा पुरुष के विवेक का साक्षात्कार ही 'ज्ञान' है ।

(७) राग (=आसक्ति) का अभाव 'विराग' (वैराग्य) है । उसकी यतमानसंज्ञा, व्यतिरेकसंज्ञा, एकेन्द्रियसंज्ञा तथा वशीकारसंज्ञा-ये चार संज्ञाएँ हैं । (८) राग आदि चित्तस्थित कषाय अर्थात् मल हैं । ये इन्द्रियों को अपने अपने विषयों की ओर प्रवर्तित कराते रहते हैं । इन विषयों में ये इन्द्रियाँ प्रवृत्त न हों, इसके लिये मलों का परिपाक (=फलजनक शक्ति का नाश) अपेक्षित है । एतदर्थ किया गया जो आरम्भ अर्थात् प्रयत्न है, वह 'यतमानसंज्ञा' है ।

(९) इन मलों के उपशम के लिये प्रयत्न करने पर कुछ मल पक्व (=शान्त) हो जाते हैं, कुछ शान्त होने को रह जाते हैं । इस प्रकार इनके उपशम में पौर्वापर्य उपस्थित होने पर भविष्यत् में उपशान्त होने के लिये अवशिष्ट मलों से पूर्वप्रशान्त हुए मलों का पृथक् कर अवधारण करना 'व्यतिरेकसंज्ञा' है ।

(१०) इन्द्रियप्रवृत्त्यसमर्थतया पक्वानामौत्सुक्यमात्रेण मनसि व्यवस्थापनमेकेन्द्रियसंज्ञा। (११) औत्सुक्यमात्रस्यापि निवृत्तिरुपस्थितेष्वपि दृष्टानुश्रविकविषयेषु या संज्ञात्रयात् पराचीना सा वशीकारसंज्ञा। (१२) यामत्रभगवान् पतञ्जलिर्वर्णयाञ्चकार—"दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्" इति (योगसू० १। १५)। सोऽयं बुद्धिधर्मो विराग इति।

(१३) ऐश्वर्यमपि बुद्धिधर्मो यतोऽणिमादिप्रादुर्भावः। (१४) अत्राणिमा अणुभावो यतः शिलामपि प्रविशति। लघिमा–लघुभावः, यतः सूर्यमरीचीनालम्ब्य सूर्यलोकं याति[1]। महिमा महतो भावः, यतो महान् भवति। प्राप्तिः—यतोऽङ्गुल्यग्रेण स्पृशति चन्द्रमसम्। प्राकाम्यम्—इच्छानभिघातः, यतो भूमावुन्मज्जति निमज्जति च यथोदके। वशित्वम्–यतो भूतभौतिकं वशीभवत्यवश्यम्। ईशित्वम्—भूतभौतिकानां प्रभवव्यूहव्ययानाम् ईष्टे। यत्रकामवसायित्वम्[2]—सत्यसङ्कल्पता, येन यथास्य सङ्कल्पो भवति भूतेषु तथैव भूतानि भवन्ति।

---

(१०) इन्द्रियों की (विषयों में) प्रवृत्ति में असमर्थता होने के कारण पक्व (अर्थात् उपशान्त) किन्तु औत्सुक्यमात्र के रूप में मलों का मन में ही नियत रखना 'एकेन्द्रियसंज्ञा' (एकेन्द्रिय=चित्तरूप एक इन्द्रिय) है। (११) दृष्ट (अन्नादि) और आनुश्रविक (वेदोक्त स्वर्गादि) विषयों के उपस्थित होने पर भी उत्सुकता का लेशमात्र न होना 'वशीकारसंज्ञा' है जो तीनों संज्ञाओं के पश्चात् होने वाली हैं; (१२) जिस अवस्था का वर्णन पूज्य पतञ्जलि ने इस प्रकार किया है :—दृष्ट (=लौकिक) तथा आनुश्रविक (=वेदोक्त) विषयों के सम्बन्ध में वितृष्ण अर्थात् औत्सुक्यहीन (=साधक) का जो वशीकार-संज्ञा (संज्ञा=बोध) है, वह वैराग्य है (दृष्टादि-विषय मेरे वश में हैं, ऐसा बोध या विषयग्राहक इन्द्रियों के वश्यभाव का बोध ही वशीकार-संज्ञा है; १। १५ योगसूत्र)। बुद्धि का धर्म-भूत यह वैराग्य है।

(१३) ऐश्वर्य भी बुद्धि का धर्म है; इससे अणिमा आदि की उत्पत्ति होती है। (१४) इनमें 'अणिमा' अणुभाव (=अवयव का संकोचन) है, जिससे (योगी) शिला में भी प्रविष्ट हो जाता है। 'लघिमा' लघुता या हल्कापन है, जिससे (योगी) सूर्य की रश्मियों का अवलम्बन कर सूर्यलोक में पहुँच जाता है। 'महिमा' महत्त्व को कहते हैं, जिससे

---

१. गरिमा गुरुभावो यतो गुरुर्भवति' इत्यधिकं क्वचित् पठ्यते सोऽपपाठः। न खलु गरिमेति काचिद् विभूतिः प्रसिद्धासु अष्टसिद्धिषु पठ्यते।

२. यच्च कामावसायित्वं सा सत्यसंकल्पता—इति बहुषु संस्करणेषु पठ्यते सोऽपपाठः। यत्रकामावसायित्वमित्येमेकव पद मैश्वर्यविशेषस्य नाम।

(१५) अन्येषां मनुष्याणां निश्चयाः निश्चेतव्यमनुविधीयन्ते, योगिनस्तु निश्चेतव्याः पदार्थाः निश्चयम्—इति चत्वारः सात्त्विका बुद्धिधर्माः ।

(१६) तामसास्तु तद्विपरीता बुद्धिधर्माः । अधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्याभिधानाश्चत्वार इत्यर्थः ॥ २३ ॥

(योगी) महान् (=विशालपरिमाणयुक्त) हो जाता है । 'प्राप्ति' वह है जिससे (योगी दूरस्थित रह कर भी) अङ्गुलि के अग्रभाग से चन्द्रमा को छू लेता है । 'प्राकाम्य' इच्छा की अप्रतिहतता है, जिससे (योगी) भूमि से ऊपर निकल कर फिर उसी में उसी प्रकार प्रविष्ट हो जाता है जिस प्रकार जल में उन्मज्जन-निमज्जन किया जा सकता है । 'वशित्व' वह सिद्धि है, जिससे अन्यों के अवशीभूत 'भूत' (क्षिति आदि) तथा (उनसे उत्पन्न हुए) 'भौतिक' (घट, पट आदि) सभी पदार्थ (योगी के) वशीभूत हो जाते हैं । 'ईशित्व' वह है जिससे (योगी) सभी भूतों तथा भौतिक पदार्थों के प्रभव (=उत्पत्ति), व्यूह (=आकृति-विन्यास) और व्यय (=नाश) करने में समर्थ होता है । 'यत्रकामावसायिता'=सत्य-संकल्पता, जिससे भूतों में इस (योगी) का जैसा संकल्प होता है, वे भूत उसी प्रकार के हो जाते हैं ।

(१५) इतर जनों के निश्चय निश्चित किये जाने वाले विषय का अनुसरण करते हैं, परन्तु योगी के निश्चय का अनुसरण निश्चित किये जाने वाले पदार्थ ही करते हैं । ये चार सात्त्विक बुद्धिधर्म हैं ।

(१६) बुद्धि के तामस धर्म इनसे विपरीत हैं अर्थात् अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य—ये चार तामस रूप हैं ॥ २३ ॥

२३वीं कारिका की व्याख्या

कारिका में 'बुद्धि' शब्द का यह प्रथम प्रयोग है । व्याख्याकारों के अनुसार बुद्धि=महत्-तत्त्व है । यह लक्षणीय है कि परवर्ती कारिकाओं में बुद्धि शब्द एकाधिकवार प्रयुक्त हुआ है (द्र०का० ३५-३७) । अनेक परिभाषिक शब्दों या संज्ञाओं का एक संज्ञी (अर्थ) में प्रयोग या एकाधिक संज्ञियों के लिये एक ही संज्ञा का प्रयोग प्रायः सभी शास्त्रों में दृष्ट होता है, जिसका हेतु है—शास्त्र का बहुसंप्रदाय में विभक्त होना तथा पूर्वाचार्यों द्वारा विभिन्नार्थों में नियत रूप से प्रयुक्त शब्दों का परवर्ती आचार्यों द्वारा अनियतरूप से प्रयुक्त होना । कभी कभी संज्ञाभेद का गूढ अभिप्राय भी होता है । हमारी दृष्टि में यहाँ

बुद्धि शब्द का व्यवहार साभिप्राय है। हमने महत् के जिन दो रूपों की चर्चा पहले की है (कर्तृरूप और करणरूप) इनमें करणरूप महत् ही यहाँ विवक्षित है। करणरूप महत् का व्यापार है—अध्यवसाय। अध्यवसायकृत् को बुद्धि शब्द से अभिहितकरने की एक प्राचीन परिपाटि है, जो 'बुद्धिरध्यवसायेन ज्ञानेन च महांस्तथा' (अश्वमेध ४३।३४) वाक्य में जाना जाता है। इस ज्ञान का संवन्ध जीव या लिङ्ग के शुद्ध रूप से है, जो 'मैं अपने को जानता हूँ' रूप है; 'मैं विषय को जानता हूं'—यह अध्यवसाय-वृत्तिक बुद्धि है। अध्यवसाय और महत् के इस भेद को मानकर सर्वत्र शब्दप्रयोग नहीं किया गया है—यह ज्ञातव्य है[1]।

अध्यवसाय अधिकृत विषय का अवसाय है। वैषयिक चाञ्चल्य का ज्ञानरूप में प्रकाशित होना ही उस चाञ्चल्य का अन्तिम रूप है; बुद्धि में यह चाञ्चल्य समाप्त हो जाता है। इस चाञ्चल्यहेतुक ज्ञान का कोई प्रभाव पुरुष (तत्त्व) पर नहीं पड़ता। यह अध्यवसाय लोकसिद्ध 'निश्चय' मात्र नहीं है। स्थिर बुद्धि से विचारने से ज्ञात होगा कि जो मन संशय करता है (यथा—स्थाणुः अयं न वा), वही निश्चय भी कर सकता है (अयं स्थाणुरेव); निश्चय के लिये मन से सूक्ष्मस्तरीय अस्मीतिमात्र-लक्षणक महदात्मा रूप बुद्धि की कोई आवश्यकता नहीं है। इस 'अध्यवसाय' के लिये निश्चय शब्द का प्रयोग यदि प्राचीन ग्रन्थ में है तो उसका भी अर्थं 'अधिकृत का अवसाय' है।

बुद्धि के पूर्वोक्त लक्षण से यह निश्चित हो जाता है कि विषय की अभिव्यक्ति होने के वाद अध्यवसाय की अभिव्यक्ति होती है; विषयसंपर्कशून्य होने पर बुद्धि 'पुरुषाकारा बुद्धि' हो जाती है, यदि उसमें मोहप्रधान निद्रावस्था का उदय न हो। यह अच्छी तरह जानना चाहिये कि बुद्धि में विषयज्ञातृत्व प्रधान है; यह बुद्धिस्थ विषय वैषयिक-क्रिया-जनित आभिमानिक चाञ्चल्यमात्र है। इसी दृष्टि से ही कहा जाता है कि वैषयिक क्रिया इन्द्रियवाहित होकर जहाँ ज्ञानरूप से प्रकाशित होती है वह बुद्धि है, (आन्तर विषय मन द्वारा वाहित होकर बुद्धि में प्रकाशित होते हैं)। यह 'विषयप्रकाशन' निर्विशेष विषय-प्रकाश है। बुद्धि में 'मैं विषय का ज्ञाता हूँ' यही वृत्ति उठती रहती है—अप्रकाश का प्रकाशनमात्र होता रहता है।

अध्यवसायादि को स्वरूप के यथार्थतः जानने का उपाय योगशास्त्र में कहा गया हैं। वह उपाय यह है—वैषयिक क्रिया द्वारा इन्द्रियों का उपरञ्जन होने पर जैसे ही वह चाञ्चल्य मन द्वारा गृहीत होता हैं; वैसे ही प्रत्याहार के बल पर इन्द्रियों को रुद्ध कर

---

१. हम समझते हैं कि इस कारिका के प्रथम चरण का मूल पाठ—'अध्यवसाया बुद्धिः' रहा होगा; अधि+अव+षो+ण प्रत्यय कर्ता में (अष्टा० ३।१।१४१)+टाप् 'अध्यवसाय करने वाली' (विशेष विचार प्रसंख्यानभाष्य में द्रष्टव्य है)।

देना चाहिये । तदनन्तर जैसे ही अहङ्कार द्वारा वह चाञ्चल्य आत्मीकृत होता है (अभिमान की सहायता से) तत्काल ही मन को प्रत्याहार द्वारा रुद्ध कर देना चाहिये । अब अभिमान-चाञ्चल्य जैसे ही बुद्धि द्वारा गृहीत होता है, तत्काल ही अहंकार को रुद्ध कर देना चाहिये । इस प्रकार इस स्थिति में केवल 'अध्यवसाय' रूप व्यापार रहता है, जिसका विषय है—अभिमानगत चाञ्चल्य । इस स्थिति में अध्यवसाय का जो स्वरूप प्रतिभात होगा **वही प्रकृत अध्यवसाय है** । बहिर्मुख वृत्ति से यह स्वरूप कथमपि विज्ञेय नहीं होता; निश्चय आदि शब्दों की सहायता से जो समझा जाता है वह बहुलांशेन विकृत अध्यवसाय है, पर विकृत होने पर भी उसमें कुछ तथ्यांश रहता ही है ।

बुद्धि के जो सात्त्विक और तामस रूप कहे गये हैं—आधुनिक भाषा में वह 'व्यक्तित्व का विश्लेषण' है । चूँकि 'अहम्' के मूल में गुणत्रय और चित् हैं, अतः अहम् के सत्त्व-अभिमुख, रजः-अभिमुख, तमः-अभिमुख एवं पुरुषाभिमुख—ये चार रूप होते हैं । सत्त्वाभिमुखी रूप धर्म से, रजः-अभिमुखी रूप विराग से, तमः-अभिमुखी रूप ऐश्वर्य से तथा पुरुषाभिमुखी रूप ज्ञान से संबद्ध हैं । ये चार रूप एक दूसरे से सर्वथा संबन्धहीन नहीं हैं । पूर्वोक्त अभिमुख होना या तो उपयोगी शक्ति के द्वारा सफल होती रहती है या शक्ति की अल्पता के कारण असफलता ही प्राप्त करती रहती है । धर्म आदि के जो असफल रूप हैं वे या तो अपने अभीष्ट अर्थ को निष्पन्न नहीं कर पाते या कभी कभी विपरीत फल उत्पन्न करते हैं । इन चारों के विरोधी यथाक्रम अधर्म, अवैराग्य, अनैश्वर्य तथा अज्ञान कहलाते हैं । यह ज्ञातव्य है कि ये अनुगत-विषय-सम्पर्क पर निर्भरशील हैं । विषयसंम्पर्कशून्य होने पर धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य आदि की कोई सत्ता नहीं रहती । विवेकख्यातिरूप सूक्ष्मतम ज्ञान में भी विषय विद्यमान रहता है; उसमें वैषयिक चाञ्चल्य चरमतम सूक्ष्मता में रहता है ।

यह निश्चित है कि अध्यवसायवान् **'अहम्' बोध कभी भी इन आठ रूपों से अननुविद्ध होकर नहीं रहता** । दूसरी बात यह कि प्रत्येक विभाग के अन्तर्गत एक वस्तु की क्रिया-सिद्धि उस विभाग के अन्तर्गत अन्य तीनों की यथोचित सहायता के ऊपर निर्भरशील है । धर्माचरण को यदि सुदृढ़ बनाना है, तो उचित मात्रा में उसके साथ ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य चाहिये । इस प्रकार विराग को अभग्न रखने के लिये या उसमें वृद्धि के लिये धर्म, ज्ञान और ऐश्वर्य का यथोचित सहयोग चाहिये । चूँकि चार तामस रूप चार सात्त्विक रूप के विरुद्ध हैं (सत्त्व और तमः का यादृश विरोध होता है, तादृश विरोध यहाँ ग्राह्य है), अतः विरुद्ध विभाग का अभिभव भी धर्मादि की सिद्धि के लिये अपरिहार्य है । इन दो विभागों के अन्तर्गत आठों पदार्थों के बलाबल को जानने से सफलता और असफलता का (अर्थात् कार्य में सिद्धि और असिद्धि का) रहस्य ज्ञात हो जाता है, जिसका

फल यह होता है कि इस रहस्य का वेत्ता अपने कर्मकी सिद्धि और असिद्धि पर अपने को विक्षिप्त नहीं करता। इस कर्मविज्ञान का अन्य एक अंश प्रत्ययसर्ग में व्याख्यात होगा।

कारिका में जो ऐश्वर्य शब्द है, वह सभी प्रकार की सिद्धियों को लक्ष्य करता है, अणिमा आदि आठ सिद्धियों को ही नहीं। जितने प्रकार के ईश्वर हो सकते हैं, उन सबों में ऐश्वर्य का प्राधान्य है तथा धर्मादि ऐश्वर्यानुकूल होकर विद्यमान रहते हैं। यहाँ अन्य सिद्धियों के विषय में कुछ न कह कर वाचस्पति-उक्त अष्टसिद्धि पर कुछ बात कही जा रही है।

कुछ संपादक अणिमा, लघिमा, महिमा के बाद गरिमा रूप सिद्धि का पाठ करते हैं।[1] गरिमा रूप विभूति का स्वीकार पातञ्जल योग तथा अन्यान्य प्राचीन योगशास्त्रों में नहीं है। चूंकि अणिमा और महिमा है, अतः लघिमा के साथ गरिमा का पाठ होना चाहिये[2]—यह कहा जाता है, जो एक भ्रान्त दृष्टि है। वस्तुतः अणिमा और महिमा एकजातीय नहीं हैं। यही कारण है कि लघिमा का उल्लेख होने पर भी गरिमा का उल्लेख करना न्यायतः प्राप्त नहीं होता। जो गरिमा का पाठ करते हैं, वे यत्रकामावसायित्व का पाठ नहीं करते (अष्टसंख्या को यथावत् रखने के लिये), अथवा यत्रकामावसायित्व का पाठ यदि करते हैं तो ईशित्व और वशित्व को पर्यायवाची समझते हैं अथवा अन्य किसी रूप से इन सिद्धियों को गिनते हैं। ये सब दृष्टियाँ असंगत हैं।[3]

अणिमा का अर्थ है—अणुभाव। यही कारण है कि सिद्धिविशेषवाचक के रूप में अणिमा का प्रयोग 'कारणे कार्योपचारात्' न्याय के अनुसार है (द्र० सां० का० २३ की जयमङ्गला)। महिमा आदि पर भी यह दृष्टि प्रयोज्य है।

'यत्रकामावसायित्व' एक शब्द है। जो 'यत्र' को सिद्धि नाम के अन्तर्गत नहीं समझते हैं, वे भ्रान्त हैं[4] ॥२३॥

---

(१) अहङ्कारस्य लक्षणमाह—

---

(१) अब कारिकाकार अहङ्कार का लक्षण कहते हैं :—

---

१. योगसूत्र ३।४५ की व्याख्या में नागोजी आदि टीकाकारों ने भी गरिमा का उल्लेख किया है।

२. सुरेश्वरकृत मानसोल्लास (दक्षिणामूर्तिस्तोत्रटीका) में गरिमा का परिचय दिया गया है (१०।१२)।

३. इस विषय के विशद परिज्ञान लिये मेरा 'Is it justified to read garima in the list of the eight siddhis' लेख द्रष्टव्य है।

४. इस विषय के विशद परिचय के लिये मेरा 'A note on yatrakāmavasāyitva लेख द्रष्टव्य है (J. yoga Institute, XVIII. 4).

अभिमानोऽहङ्कारस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्त्तते सर्गः ।
एकादशकश्च गणस्तान्मात्रः[1] पञ्चकश्चैव ॥२४॥

(२) "अभिमानः" इति । अभिमानोऽहङ्कारः, यत् खल्वालोचितं मतं च तत्र 'अहमधिकृतः', 'शक्तः खल्वहमत्र' 'मदर्था एवामी विषयाः' 'मत्तो नान्योऽत्राधिकृतः कश्चिदस्ति' 'अतोऽहमस्मि' इति योऽभिमानः[2] सोऽसाधारणव्यापारत्वादहङ्कारः । (३) तमुपजीव्य हि बुद्धिरध्यवस्यति 'कर्तव्यमेतन्मया' इति निश्चयं करोति ।

(४) तस्य कार्यभेदमाह—'तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः" इति । प्रकारद्वयमाह—"एकादशकश्च गणः" इन्द्रियाख्यः, तान्मात्रः पञ्चकश्च[3] । (५) एवं द्विविध एव सर्गोऽहङ्कारात्, न त्वन्य इति 'एव'-कारेणावधारयति ॥ २४ ॥

अभिमान को 'अहङ्कार' कहते हैं (अभिमान अहङ्कार का कार्य है) । उससे दो प्रकार के ही कार्य उत्पन्न होते हैं; प्रथम–ग्यारह इन्द्रियों का समुदाय और द्वितीय–पाँच तन्मात्र ॥२४॥

(२) 'अहङ्कार' अभिमान को कहते हैं । 'यह जो इन्द्रियों से गृहीत और मन से विचारित विषय है, इसमें मैं अधिकृत हूँ, मैं इसे करने में समर्थ हूँ, ये विषय मेरे लिये ही हैं, मेरे अतिरिक्त अन्य कोई इसमें अधिकृत नहीं है, अतः मैं ही प्रवृत्त (या शक्त) हूँ'—इस प्रकार का जो अभिमान है, वह 'अहङ्कार' का असाधारण कार्य होने के कारण 'अहङ्कार' है । (यहाँ भी क्रिया-क्रियावान् की अभेदविवक्षा है) । (३) इसी का आश्रय करके बुद्धि 'यह मुझे करना है'—ऐसा अध्यवसाय (=निश्चय) करती है ।

(४) अब अहंकार के कार्य के भेद कहते हैं—'उससे दो प्रकार के सर्ग (=कार्य) उत्पन्न होते हैं ।' दोनों प्रकार को कहते हैं—'ग्यारह का समूह' जो इन्द्रिय कहलाता है, और 'पाँच तन्मात्रों का समूह' । (५) अहङ्कार से दो ही प्रकार के कार्य होते हैं; उनके अतिरिक्त अन्य कार्य नहीं है—यह कारिकाकार ने (कारिका के अन्तिम पद) 'एव' (=ही) के द्वारा निश्चित रूप से कहा है ॥ २४ ॥

२४वीं कारिका की व्याख्या

हमारे अनुसार कारिका के उत्तरार्ध का पाठ है—**एकादशकश्च गणः तान्मात्रः पञ्चकश्चैव** । एक एकादशक (एकादशसंख्यक अवयव जिसमें हैं वह) गण है, और एक पञ्चक

१. 'तन्मात्रपञ्चकश्चैव' इति पाठे छन्दोभङ्गो जायते । 'तन्मात्रः पञ्चकश्चैव' इति केचन पठन्ति । पाठविचारो व्याख्यायां द्रष्टव्यः ।

२. असाधारणव्यापारोऽहंकारस्येति केचन पठन्ति ।

३. तन्मात्रापञ्चकश्चेति बहुत्रोपलभ्यमानः पाठः प्रामादिकः ।

गण है जो तन्मात्रसंवन्धी हैं—यह अर्थ है । तन्मात्र+अण्=तान्मात्रः । 'तान्मात्रः' पाठ युक्तिदीपिका-सम्मत है; यद्यपि संपादकीय अनवधान से 'तन्मात्रः' पाठ ही मुद्रित हुआ है। अच् प्रत्यय करने की अपेक्षा अण् प्रत्यय करना संगततर है। अष्टाध्यायी के अर्शस् आदि गण में (५।२।१२७) तन्मात्र शब्द नहीं है। प्रयोग मिलने पर ही 'आकृतिगण' की कल्पना की जाती है; 'तन्मात्रः' रूप शिष्ट प्रयोग का अस्तित्व ही जब सन्दिग्ध है तव अच् प्रत्यय की कल्पना करना असंगत चिन्ता है। युक्तिदीपिका का 'ऐन्द्रिय एकदशकस्तान्मात्रः पञ्चकश्चैव' पाठ सर्वथा संगत है। 'तान्मात्रः' के साथ 'ऐन्द्रिय' का पाठ होना सर्वथा स्वाभाविक है; इस पाठ के मौलिक होने में पूर्ण संभावना है।[1]

अहंकार 'अहम्' (ज्ञाताहम् रूप बुद्धि) का विकारशील रूप है—स्थूल है। अनात्म-विषय के संपर्क की गाढता के कारण 'अहम्' विकृत होकर अहंकार-रूप का परिग्रह करता है ('अहम्' का अस्तित्व रहता ही है)। अमुक का ज्ञाता हूँ, अमुक विषय मेरा इष्ट या अनिष्ट है...इस प्रकार का जो विशेष व्यापार होता है—वह अहंकार का है। अहंकार का रोध वुद्धितत्त्व में किया जाता है—इस दृष्टि से अहंकार बुद्धि का कार्य है, अतः वुद्धि से स्थूल है। बुद्धितत्त्व में विषय का निर्विशेष प्रकाशमात्र होता है। महत् में वैषयिक चाञ्चल्य परम सूक्ष्म अवस्था में है, अतः कभी कभी 'अहम्' न कहकर 'अस्मि' शब्द से भी महत् का उल्लेख किया जाता है; जव वुद्धि अस्मिपदवाच्य होती है, तव अहङ्कार अस्मिता शब्द से अभिहित होता है; वह अस्मितामात्र शब्द से भी अभिहित होता है। ईदृश संज्ञाभेद प्रायेण साभिप्राय होता है—यह ज्ञातव्य है।

महत् का स्थूलरूप या संकुचितरूप अहंकार है—इस मत में यह जिज्ञासा होती है कि यह रूपान्तर किस हेतु से होता है। हमारी दृष्टि में महत् में लीन अहंकार का आत्मलाभ वैषयिक संस्कारों की अभिव्यक्ति के कारण होता है। महत् में यह संस्कार उठता क्यों है? संकार के उद्बोधन के लिये कोई उद्बोधक चाहिये। हमारी दृष्टि में यह उद्बोधक है वह प्राजापत्य सृष्टिसंकल्प जो स्वकीय भूतादि अहंकार को विषय के

---

१. हमारी दृष्टि में 'अभिमानोऽहंकारः' के स्थान पर 'अभिमन्ताऽहंकारः' (=अहंकार अभिमान करने वाला है) या इस प्रकार का कोई पाठ मूल पाठ था, जिसमें प्रथमान्त विशेषण का प्रयोग करके अहंकार का परिचय दिया गया था। चुरादिगण में स्तम्भ (=गर्व) का वाचक एक मन धातु है, उससे भी कर्ता में 'अभिमानः' पद सिद्ध हो सकता है। अभिमानं करोति=अभिमानयति; अभिमानयतीति अभिमानः—इस प्रकार से भी कर्तृवाची 'अभिमानः' पद निष्पन्न हो सकता है (अभिमानि+अच् कर्तरि; पचादि)। आगामी (२७ का०) कारिका में प्रथमान्त 'मनः' का परिचय प्रथमान्त 'संकल्पकम्' पद से दिया गया है, अतः इसकी पूर्ण-संभावना है कि प्रथमान्त अहंकार और बुद्धि का परिचय शब्द भी प्रथमान्त पदों से ही दिया गया हो। अभेदविवक्षा के वल पर परिचय देने का कोई प्रयोजन ज्ञात नहीं होता, अतः हमने उपर्युक्त प्रकार से कल्पना की है।

रूप में परिणामित करता है। प्रजापति के सृष्टिसंकल्प द्वारा भूतादि-अहंकार के अभिव्यक्त होने पर जैव बुद्धि में लीन रूप में स्थित विषयव्यवहार-संस्कार अभिव्यक्त हो जाता है, जो बुद्धि को संकुचित और निम्नाभिमुख करता है। यही कारण है कि अहम्-रूप बुद्धि में अहंकार-रूप स्थूलभाव प्रकट होता है।

वाचस्पति ने अभिमान का जो रूप दिखाया है, वह अभिमान का स्थूलरूप है। यह ज्ञातव्य है कि अहंकार में क्रियाशीलता अधिक है। यह रजःप्रधान अन्तःकरण है। अनात्मवस्तु को स्वात्मीकृत करने की शक्ति इस अहंकार में है। अहंता और ममता अहंकार-प्रतिष्ठ ही हैं। अभिमान के कारण बुद्धि संकुचित हो जाती है। बुद्धि की अपेक्षा अहंकार की स्थूलता को देखकर ही बुद्धि को अहंकार का कारण कहा जाता है। बुद्धि-अहंकार-मन-इन्द्रियों की अभिव्यक्ति में कालक्रम का भेद अवधारणीय नहीं है। एक की अपेक्षा अन्य की सूक्ष्मता देखकर कार्यकारण-भाव की कल्पना की गई है।

इस विकारशील 'अहम्' के दो परिणाम होते हैं—एक इन्द्रियरूप तथा दूसरा तन्मात्र-रूप। वाचस्पति ने इस तथ्य का कुछ भी स्पष्टीकरण नहीं किया, अतः इस तथ्य पर कुछ कहना आवश्यक है। मूलीभूत वाह्यविषय की प्रथम अभिव्यक्ति होने पर उसके द्वारा जिस प्रकार बुद्धि का परिवर्तन होकर अहंकार का प्रकटीकरण होता है, उसी प्रकार अहंकार भी विषय-संपर्क से दश इन्द्रियों तथा एक मन में परिणत हो जाता है (ये ११ पदार्थ अहंकार रूप धर्मी के परिणाम हैं)। मूल बाह्य विषय (इसका स्वरूप यसास्थान द्र०) जब अधिक स्थूल होता है (अर्थात् क्रमशः जब उसके धर्म विविक्त होते रहते हैं) तब उसका यथावत् व्यवहार करने के लिये अहंकार के उपयोगी परिणाम विविक्त होकर प्रकटित हो जाते हैं। यह प्रत्येक परिणाम एक एक प्रकार का 'व्यूह' रूप है; यही इन्द्रिय है। [इस समय वाह्य विषय स्थूल एवं स्फुट रूप में प्रकटित हो जाता है। यहाँ जो कालभेद दिखाया जा रहा है, वह भौतिकविषय-संवन्ध-निरूपणीय कालभेद नहीं है—यह ज्ञातव्य हैं]। वाह्य विषय में प्रकाश्य धर्म हैं (धर्म से धर्मी भी ग्राह्य हैं), अतः उनके ग्रहणार्थ ज्ञानेन्द्रियाँ प्रकटित होती हैं; तथैव वाह्य विषय में कार्य धर्म हैं, उनका व्यवहार करने के लिये कर्मेन्द्रियाँ प्रकटित होती हैं। ज्ञानेन्द्रिय का व्यापार वाह्यविषय-प्रकाशन है; कर्मेन्द्रिय का व्यापार वाह्यविषय का स्वेच्छया चालन है।

ज्ञानेन्द्रिय की अपेक्षा कर्मेन्द्रिय में रजः अधिक है; यही कारण है कि ज्ञानेन्द्रियों के विषयप्रकाशन रूप स्वव्यापार में स्वेछापूर्वक प्रयत्न अत्यल्प ही करना पड़ता है। कर्मेन्द्रिय के व्यापार तो इच्छापूर्वक प्रयत्न करने पर ही निष्पन्न होते हैं। प्राणियों की शरीरप्रकृति के अनुसार इन इन्द्रियों के प्रातिस्विक व्यापारों में नाना प्रकार के स्वगत भेद होते हैं।

'एकादशक गण' का उल्लेख करके कारिकाकार ने मन और इन्द्रिय को एकजातीय ही माना है। मन की जो इन्द्रियरूपता है वह वस्तुतः इन्द्रियाधीशता है—यह ज्ञातव्य

है। ज्ञानेन्द्रिय जिस प्रकार बाह्य विषय का प्रकाशन करती है, कर्मेन्द्रिय जिस प्रकार बाह्य विषय का चालन करती है, मन भी उसी प्रकार इन्द्रियों के बाह्य-विषय-व्यवहार में प्रधान परिचालक है। 'बाह्यविषय के साथ इस प्रत्यक्ष संबन्ध' के कारण ही मन इन्द्रिय कहलाता है। मन इन्द्रियनिरपेक्ष होकर बाह्यविषयों पर आधिपत्य नहीं कर सकता है। किंच बाह्यविषय के प्रकाशन-चालन में बाह्य इन्द्रियाँ जिस प्रकार साक्षात् साधन हैं, आन्तर विषय के व्यवहार में मन भी उसी प्रकार साक्षात् साधन है। यह साक्षात् साधन होना इन्द्रिय के साथ मन का साधर्म्य है। इन्द्रिय शारीर-अधिष्ठान-निरपेक्ष आहंकारिक पदार्थ है।

'अहंकार से पाँच तन्मात्रों की सृष्टि होती है'—यह यहाँ कहा गया है। यह एक ऐसा विषय है जिसका कुछ भी स्पष्टीकरण प्रचलित टीकाओं में नहीं मिलता; युक्तिदीपिका में भी नहीं; आधुनिक व्याख्याकार तो इस विषय में सर्वथा मौन हैं। यह जानना चाहिये कि **'तन्मात्र अहंकार का कार्य है' इसको समझे बिना बाह्यान्तः-करण एवं बाह्य विषयों पर सांख्यीय दृष्टि के अनुसार कुछ भी नहीं कहा जा सकता—प्रत्यक्ष प्रमाण की व्याख्या भी नहीं की जा सकती।** उपर्युक्त विषयों की जो व्याख्या तन्मात्रोत्पत्ति-तत्त्व को न जानकर टीकाकारों ने की है, वह बहुत कुछ असांख्यीय ही है ॥२४॥

(१) स्यादेतत्—अहङ्कारादेकरूपात्कथं जडप्रकाशकौ गणौ विलक्षणौ भवत इत्यत आह—

सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात् ।
भूतादेस्तान्मात्रः[२] स तामसस्तैजसादुभयम् ॥ २५ ॥

(२) "सात्त्विकः" इति। प्रकाशलाघवाभ्यामेकादशक इन्द्रियगणः

---

(१) द्विविध कार्य मानने पर भी प्रश्न उठता है कि एकरूप अहंकार से जड़ (अवभास्य; यहाँ तन्मात्र) और प्रकाशक (अवभासक; यहाँ इन्द्रियाँ) रूप दो विलक्षण गण कैसे उत्पन्न होते हैं? इसके उत्तर में कारिकाकार कहते हैं—

'वैकृत'-नामक अहंकार से ग्यारह इन्द्रियों का सात्त्विक गण उत्पन्न होता है। भूतादिसंज्ञक तामस अहंकार से तामस तान्मात्र (=तन्मात्र-संबन्धी) गण उत्पन्न होता है। तैजसनामक राजस अहंकार इन दोनों गणों की उत्पत्ति में सहायक है ॥ २५ ॥

(२) प्रकाश तथा लाघव गुणों से युक्त होने के कारण ग्यारह इन्द्रियों का समूह सात्त्विक है; यह 'वैकृत' नामक सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न होता है। 'भूतादि' नामक

---

२. 'तन्मात्रः' इति बहुषु संस्करणेषु पठ्यते। व्याख्यायां पाठसमीक्षा विस्तरेण कृता।

सात्त्विको वैकृतात्सात्त्विकादहङ्कारात्प्रवर्तते। भूतादेस्त्वहङ्कारात्तामसात्तान्मात्रो[1] गणः प्रवर्तते। कस्मात् ? यतः 'स तामसः'। एतदुक्तम्भवति—यद्यप्येकोऽहङ्कारस्तथापि गुणभेदोद्भवाभिभवाभ्यां भिन्नं कार्यं करोतीति।

(३) ननु यदि सत्त्वतमोभ्यामेव सर्वं कार्यं जन्यते, तदा कृतमकिञ्चित्करेण रजसेत्यत आह—"तैजसादुभयम्" इति। तैजसाद्राजसादुभयं गणद्वयं भवति। (४) यद्यपि रजसो न कार्यान्तिरमस्ति तथापि सत्त्वतमसी स्वयमक्रिये समर्थे अपि न स्वस्वकार्यं कुरुतः, रजस्तु चलतया ते यदा चालयति तदा स्व-स्व-कार्यं कुरुत इति। (५) तदुभयस्मिन्नपि कार्ये सत्त्वतमसोः क्रियोत्पादनद्वारेणास्ति रजसः कारणत्वमिति न व्यर्थं रज इति॥ २५॥

तामस अहङ्कार से पञ्च तन्मात्रों का गण उत्पन्न होता है। यह क्यों ? क्यों कि तन्मात्रों का यह गण तामस है। इस विषय में युक्ति यह है कि यद्यपि अहङ्कार एक ही है, तथापि वह गुण-विशेष के आविर्भाव और तिरोभाव (=गुणों के न्यूनाधिक्य) से भिन्न-भिन्न कार्य उत्पन्न करता है।

(३) प्रश्न होता है कि यदि सत्त्व और तमः गुणों से ही सभी कार्य उत्पन्न होते हैं, तो कोई कर्म न करने वाले रजः का क्या प्रयोजन है ? इसके उत्तर में कहते हैं—"तैजस अर्थात् राजस अहङ्कार (की सहायता) से दोनों प्रकार के कार्य उत्पन्न होते हैं"। (४) यद्यपि रजोगुण का अपना कोई कार्य नहीं है, तथापि सत्त्व और तमः स्वतः अक्रिय (=चलस्वभावहीन) होने के कारण समर्थ होने पर भी अपना-अपना कार्य नहीं कर पाते हैं। परन्तु चलन-शील होने के कारण रजः जब उन्हें प्रवर्त्तित करता है, तब वे अपना कार्य करते हैं। (५) इस प्रकार सत्त्व और तमः को अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त कराने के कारण इन्द्रियों तथा तन्मात्रों की उत्पत्ति में रजः कारण होता है, अतः वह अप्रयोजन नहीं है॥ २५॥

२५वीं कारिका की व्याख्या

हमारी दृष्टि में कारिका के उत्तरार्ध का पाठ है—भूतादेस्तान्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम्। इस पाठ में मात्राओं की संख्या ठीक हो जाती है। तान्मात्रः=तन्मात्र-संबन्धी (गण); तन्मात्र+अण्। एक सात्त्विक गण है ११ अवयवयुक्त (एकादशक) तथा दूसरा तामस गण है जो तन्मात्रों से संबन्धित है। 'तैजसादुभयम्' वाक्य में 'उभयम्' नपुंसकलिङ्गक है, अतः वाचस्पति को 'गणद्वयम्' कहना पड़ा। ध्यान देना चाहिये

---

१. तन्मात्रो गण इति प्रायेण पठ्यते; अपपाठोऽयम्।

कि पूर्वश्लोक में कोई ऐसा नपुंसकलिङ्गक शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है जिसके साथ 'उभयम्' को संबन्वित किया जा सके।[1]

अहंकार में विकारभाव प्रस्फुटित है, अतः इससे त्रिगुणानुसारी कार्य विविक्तरूप से होंगे—यह निश्चित है। सांख्याचार्यों का कहना है कि अहंकार का जो सत्त्वप्रधान अंश है (वैकृतनामक) वह दस इन्द्रियों का तथा एक मनरूप इन्द्रियाधीश का उपादान है। यह ११ पदार्थ 'व्यूह' विशेष हैं; अतः वाह्य और आभ्यन्तर विषय को वाहित करने में समर्थ हैं। ये ११ पदार्थ सात्त्विक अहङ्कार के ही कार्य क्यों हैं, इसके लिये योगशास्त्र में कहा गया है कि इन्द्रिय-मन को उनके व्यापार से निवृत्त करने पर जब वे अन्तर्मुख हो जाते हैं तब सुखमय बोध का प्रवाह उद्गत हो जाता है। यह सुखमयबोध सिद्ध करता है कि कोई सत्त्वबहुल पदार्थ ही इन्द्रिय-मन का उपादान है। इन्द्रिय-व्यापारों के साथ अहङ्कार का अच्छेद्य संवन्ध है; इन्द्रियव्यापारों में परिवर्तन के साथ साथ अहङ्कार में तदनुरूप परिवर्तन लक्षित होता है; किंच अहङ्कार को रुद्ध करने पर इन्द्रियाँ पूर्णतः रुद्ध हो जाती हैं—इत्यादि हेतुओं से जाना जाता है कि इन्द्रियाँ अहङ्कार की विकारभूत हैं।

कुछ व्याख्याकार स्थूल दृष्टि से यह कहते हैं कि इन्द्रियों के प्रकाशनव्यापार से सिद्ध होता है कि इन्द्रियाँ वैकृत अहङ्कार से उत्पन्न हुई हैं। कर्मेन्द्रियाँ प्रकाशन नहीं करतीं, अतः वे वैकृत से उत्पन्न नहीं हो सकतीं—इस आपत्ति के समाधान के लिये कोई कोई कहते हैं कि तैजस अहङ्कार से द्विविध इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। इनके अनुसार मन ही सात्त्विक अहङ्कार से उत्पन्न होता है—'सात्त्विमेककादशकं प्रवर्तते…' रूप से वे इस कारिका का पाठ करते हैं (एकादशकम् = मनः)। इस विषय पर विशद विचार के लिये प्रसंख्यानभाष्य द्रष्टव्य है।

तन्मात्र (शब्दमात्र, स्पर्शमात्र आदि) भूतादिनामक तामस अहङ्कार का विकार है—इस विषय में मुख्य प्रश्न यह है कि क्या मनुष्य-पश्वादि सभी जीवों में जो भूतादि है, उससे तन्मात्र (और तन्मात्र से भूत) उत्पन्न होता है। यदि ऐसी बात है तो प्रत्येक जीव के भूतादि से जात तन्मात्र-भूतों का परिचय क्या है? क्या प्रत्येक जीव के भूतादि से जात तन्मात्र-भूतों से उसका शरीर वनता है? विचारने से पता चलता है कि प्रत्येक प्राणी के भूतादि-अहङ्कार से तन्मात्र-भूत नहीं बनते। इस ब्रह्माण्ड का उपादानरूप जो भूत-तन्मात्र हैं, वे जिस भूतादि के कार्य हैं, वह भूतादि हम असिद्ध जीवों का नहीं है, बल्कि यह वह भूतादि है, जो सभी असिद्ध प्राणियों की इन्द्रियों को चञ्चल करने में—उपरंजित करने में—समर्थ है तथा जो भूतादि स्वीय अहंकार रूप को छोड़कर प्राणियों

---

१. कहीं ऐसा तो नहीं कि मूलपाठ 'तैजसादुभकौ; था (उभ+स्वार्थिक अकच् प्रत्यय)?

की इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य होने की योग्यता से संपन्न है। सभी प्राणी अवश होकर इस ग्राह्यीभूत भूतादि को विषय के रूप में व्यवहार करने के लिये बाध्य हो जाते हैं—यह द्रष्टव्य है।

सांख्यीय दृष्टि में ब्रह्माण्डमूल जो भूतादि है वह ऐसे किसी जीव का है जिसमें ईश्वरता (=ऐश्वर्यरूपबुद्धि धर्म) का ऐसा विकाश हो चुका है कि उनके ईश्वरता-युक्त अहङ्कार का यह ग्राह्यीभूत रूप सभी प्राणियों की इन्द्रियों को बलात् उपरक्त कर सकता है। किंच इस उपरंजन से अपने को कोई प्राणी किसी भी लौकिकबल से हटा नहीं सकता। योगज सामर्थ्य से ही कोई प्राणी अपने को वैषयिक क्रियाओं के प्रभाव से अप्रभावित रख सकता है। यह ईश्वरतायुक्त जीव ब्रह्माण्डाधीश प्रजापति है जो हिरण्यगर्भ आदि नामों से प्राचीन आचार्यों द्वारा अभिहित हुआ है। ईदृश प्रजापति[1] असंख्य हैं—असंख्य ब्रह्माण्ड भी हैं, जो परस्पर असंबद्ध हैं एवं अव्यक्त द्वारा अन्तरित हैं।

इस प्रजापति की बुद्धि में त्रिगुण-स्वभावानुसार सृष्टिसंकल्प उठता है (प्रत्येक प्राणी में जिस हेतु से संकल्प उठता है, वह हेतु यहाँ भी यथायथरूपेण प्रयोज्य है)। इस संकल्प के कारण उनके सर्वभावाधिष्ठातृत्व-संस्कार-युक्त अहङ्कार का तामस भूतादि-अंश प्राणी-ग्राह्य स्वरूप में परिणत होता है और विषय के रूप में अभिव्यक्त होता है। इस ग्राह्यीभूत भूतादि का आविर्भाव होने पर प्राक्तन प्रलयावस्था में सुप्तवत् स्थित जीवों के अन्तःकरण वैषयिक क्रिया द्वारा अभिहन्यमान होकर जागरित हो जाते हैं और वे जीव इस ग्राह्यीभूत भूतादि को स्व-स्व-मन-इन्द्रियों की प्रकृति के अनुसार प्रकाश्य-कार्य-धार्य-विषय के रूप में ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय,—प्राणों के द्वारा व्यवहार करते हुये स्व-स्व संस्कारानुसार पुरुषार्थाचरण करते रहते हैं।

प्रजापति का सृष्टिसंकल्प संस्कार जब क्षीण हो जाता है (संकल्प त्रैगुणिक है, अतः वह क्षयप्राप्त अवश्य होगा; संकल्प का उदय होना भी त्रैगुणिक स्वभाव के अनुसार है) तब अहङ्कार-प्रतिष्ठ ग्राह्यीभूत विषय (अर्थात् यह व्यक्त ब्रह्माण्ड) स्वकारण में लीन हो जाता है और तब विषय के अभाव में जीवों के मन-इन्द्रियाँ रुद्धप्राय हो जाती हैं—यही प्रलयावस्था है। सृष्टिकाल की पूर्ण अवधि (ब्रह्माण्ड का स्थितिकाल) प्रजापति की एक चित्तवृत्ति का काल है (अस्मदीय चित्त की स्थूलता के कारण यह काल

---

१. 'प्रजापति' का उल्लेख जब सांख्यकारिका में नहीं है, तब पूर्वोक्त मत कारिकानुसारी मत नहीं है—ऐसा प्रचलित शिक्षापद्धति से शिक्षित लोग कहते हैं। उनको चाहिए कि वे पहले पदार्थप्रतिपादन-पद्धति के प्राचीन नियमों और शैलियों का अच्छा ज्ञान प्राप्त करें और तब देखें कि 'तन्मात्रोपादानभूत भूतादि-अहंकार ईदृश सोपाधिक पुरुष का है', यह मत कारिकानुसारी हो सकता है या नहीं। जो भी कुछ यहाँ लिखा गया है, उनमें से एक भी मत त्रिगुण, द्रष्टा, सत्कार्यवाद का विरोधी नहीं है।

कोटि-कोटि वर्ष का है—ऐसा प्रतीत होती है); प्रलय में कालमापक कोई वस्तु न रहने से उस काल का परिमाण अवाच्य है; पर काल का संवन्ध यदि जोड़ना हो तो **प्रलय को हम 'क्षणमात्रव्यापी' ही कह सकते हैं।** इस विषय पर और अधिक विचार हम यहाँ नहीं करना चाहते हैं—क्योंकि एतत्संवन्धी अन्यान्य विषयों का स्पष्टीकरण स्वतन्त्र-ग्रन्थ-साध्य है; देशवोध, कालवोध, ग्राह्यज्ञान आदि को लेकर इस विषय में अनेक समस्याएँ खड़ी होती हैं, पर वे सब पूर्णतः समाहित होने योग्य हैं।

इस प्रसंग में यह ज्ञातव्य है कि भूतादि रूप अहङ्कार (अभिमानगुणक द्रव्य) ग्राह्यी-भूत होकर अन्य असिद्ध प्राणियों का जो विषय वनता है, उस विषयीभवनरूप परिणाम का हेतु है—'प्रजापति के अहङ्कार की संकल्पशक्ति'। अर्थात् प्रजापति के अन्तःकरण का एक भाग विषयों का उपादान है और अन्य भाग निमित्त है। **इस प्रकार प्रजापति विषयों का अभिन्न-निमित्तोपादान सिद्ध होते हैं। पर यह चरम विश्लेषण नहीं है। चरम विश्लेषण में प्रजापति के अहङ्कार का उपादान उनकी बुद्धि है, बुद्धि का उपादान गुणों की अविषमावस्था है, जो किसी भी जीव का उपाधिभूत नहीं है। प्रजापति रूप सृष्टिकर्ता एक अखण्ड असंहत वस्तुभूत नहीं है–वह प्रकृति-पुरुष-समाहार है, यह ज्ञातव्य है।** प्रजापति की दृष्टि से यह सृष्टि चित्तविक्षेपरूप है और जव तक हमारा चित्त विक्षेप-संस्कार से युक्त रहेगा, तव तक हम भी इस सृष्टि-विक्षेप से विक्षिप्त होते रहेंगे।

कारिका के मत से यह स्पष्ट ही निर्गलित होता है कि वाह्य विषय और इसके ग्राहक (प्रकाशक और चालक) इन्द्रियाँ एककारणक हैं। चूँकि भूतादि भी अहङ्कार-मूलक है और इन्द्रियाँ भी अहङ्कारमूलक हैं, अतः दोनों में सजातीयता है, सादृश्य है; यही कारण है कि ग्राह्य विषय इन्द्रिय द्वारा गृहीत होते हैं। यदि इन्द्रिय और विषय मूलतः विजातीय होते तो इन्द्रियों द्वारा विषयों का प्रकाशन और चालन नहीं होता—यह ज्ञातव्य है। जिस प्रकार एक मन अन्य मन को प्रभावित-अनुरंजित-आकृष्ट कर सकता है, उस प्रकार विषय भी इन्द्रियों को उपरंजित कर सकता है। अहङ्कार का जो 'विषय'-भाव है, वही ग्राह्य होता है इसमें गुरुत्व और आवरणभाव का प्राधान्य है, अतः विषय के मूलभूत 'भूतादि' को तामस माना गया है। मन, इन्द्रिय, विषय और इन्द्रियाधिष्ठात्री देवताओं की उत्पत्ति को लेकर कुछ मतभेद इतिहास-पुराणादि में हैं—जिन पर विचार प्रसंख्यानभाष्य में द्रष्टव्य है।

ग्राह्यीभूत भूतादि अहङ्कार से बुद्धि आदि का सम्पर्क होता है—इस पर कुछ विशेष वक्तव्य है। किसी को यह भ्रम नहीं होना चाहिये कि भूतादि का यह ग्राह्यीभूत रूप किसी देश में था और करणवर्ग के साथ उसका सन्निधान होने पर करणवर्ग पर उसका प्रभाव पड़ा। **ग्राह्यीभूत भूतादि से पहले 'देश' नाम का कोई पदार्थ है ही नहीं।** चूँकि विषय-संवन्धी चिन्ता के साथ देश की कल्पना प्राणी में संस्कारवश उठती है, अतः वह

ग्राह्यीभूत भूतादि के विषय में देश-संबन्ध का अवलम्बनपूर्वक ही सोचता रहता है; यह सोचना विकल्पवृत्ति का उदाहरण हैं (द्र० योगसूत्र १।९)। जब तक किसी प्राणी में विकल्पवृत्ति का संस्कार रहेगा तब तक वह आधार के रूप में देश की कल्पना न कर सोच ही नहीं सकता। सांख्य का कहना है कि भूतादि-अहङ्कार का यह ग्राह्यीभूत रूप देशव्यापी परिमाण (दैर्घ्य, विस्तार आदि) से युक्त नहीं है अर्थात् इसका कोई देश या स्थान आधार के रूप में नहीं है। ऐसा क्यों है—इसकी उपपत्ति हम यथास्थान करेंगे। ग्राह्यीभूत होने का अर्थ है—इस रूप से परिणत होना जिससे कि अन्य जीवों की चित्तेन्द्रिय द्वारा वह संवेद्य हो सके (प्रजापति अपने ऐश्वर्यसंस्कार से युक्त संकल्प के द्वारा स्वगत भूतादि-अहंकार को पूर्वोक्त रूप से परिणामित कर सकते हैं)[1]।

यद्यपि इस ग्राह्यीभूत भूतादि में कोई देशव्याप्ति नहीं है, पर जब यह चित्तेन्द्रिय द्वारा विषय रूप से गृहीत हो जाता है (और प्रकाश्य-कार्य-धार्य विषय के रूप में प्राणी इसका व्यवहार करने लगता है) तब देश-बोध उत्पन्न होता है। यह सहेतुक है। चित्तेन्द्रिय की ग्रहणयोग्यता उतनी सूक्ष्म नहीं है, जितनी सूक्ष्म है ग्राह्यीभूत भूतादि का परिणाम। ग्राह्यीभूत भूतादि के परिणाम को एक एक कर ग्रहण न कर सकने की अशक्ति के कारण तथा क्रियाओं के समूह का ग्रहण करने के कारण प्राणी में 'विस्तार' का सूक्ष्मतम बोध उत्पन्न होता है। यह सूक्ष्मबोध जाड्यधर्म-बहुलतायुक्त शारीरिक प्रकृति आदि कई कारणों से विकशित होता रहता है। बाह्य-विस्तार-बोध पर प्राण की हेतुता प्रधान है। प्रस्तुत ग्रन्थ में देशबोध पर इससे अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है।[2]

---

१. 'आन्तर पदार्थ की ग्राह्यीभूतता' जिस हेतु से होती है उसके विरुद्ध हेतु से ग्राह्य विषय भी अहंकार में लीन हो सकते हैं। प्रजापति द्वारा अहंकार का उपसंहरण करने पर विषय स्व-स्व कारण में लीन हो जाते हैं। प्राजापत्य ऐश संकल्प के अतिरिक्त अन्य किसी हेतु से ईदृश प्रतिलोमपरिणाम नहीं हो सकता। यान्त्रिक प्रयोग के द्वारा बाह्य द्रव्यों को मानस द्रव्य में परिणत नहीं किया जा सकता—यन्त्र के उपादानों की सदैव पञ्चभूतमयता के कारण ही ऐसा होना संभव नहीं है। चूँकि आजकल कुछ लोग यह प्रचार कर रहे हैं कि यान्त्रिक पद्धति से बाह्यद्रव्य को मानस पदार्थ में परिणत किया जा सकता है; अतः हमें उपर्युक्त बात (यहाँ अप्रयोजनीय होने पर भी) कहनी पड़ी।

२. एक एक क्रिया से जो अणुज्ञान होता है, यदि उसे पृथक् कर जाना जाये तो विस्तार का ज्ञान नहीं होगा—कालक्रम से ज्ञान होता रहेगा। बाह्य ज्ञान के पूर्व पूर्व संस्कार के साथ पर पर ज्ञान का अपृथक् रूप से संयोग होने पर बाह्य विस्तार का बोध होता है; तथैव प्रत्येक मनोभाव क्षणस्थायी है, अतएव उन में कालव्याप्ति नहीं है। पर वर्तमान मनोभाव को अतीत मनोभाव के साथ मिला कर तथा अनागत मनोभाव के साथ उसका काल्पनिक योग कर हम समझते हैं कि मन की वृत्ति एतावत्कालव्यापी है। वृत्ति में व्यापिता का बोध होना और कालव्याप्ति होना एक ही बात है।

अहङ्कार को तन्मात्ररूप ग्राह्यविषय का जो उपादान माना गया है उसमें निम्नोक्त अनुमान है—वैषयिक क्रिया शब्दस्पर्शादिज्ञान के रूप में बुद्धि में पहुँच कर परिणत होती है; इससे सिद्ध होता है कि शब्दस्पर्शादि बुद्धि के चाञ्चल्यहेतुक परिणाम हैं; पर यह चाञ्चल्य जिसका है, उस पदार्थ में शब्दस्पर्शादि गुण नहीं हैं। कोई पदार्थ शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धहीन हो और क्रियाशील भी हो तो वह बाह्य पदार्थ (दैशिक अवयव से युक्त) नहीं हो सकता। अतएव यह अबाह्य पदार्थ 'आन्तर' होगा—मनोवृत्तिजातीय होगा क्योंकि मन या मनोवृत्ति ही एक ऐसा पदार्थ है जो—शब्दादिगुणहीन होकर क्रियाशील है। आन्तर और बाह्य के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार के पदार्थ को जब हम जानते नहीं हैं, तब जो पदार्थ बाह्य नहीं होगा, वह आन्तर होगा—इसे मानने के अतिरिक्त और गति ही क्या है? इस बात को अच्छी तरह से जानना चाहिये कि शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध बोध के साथ देश (=स्थान) का बोध अविनाभावी है। जहाँ इन पाँच धर्मों का बोध नहीं है, वह देश-नामक कोई पदार्थ नहीं है—दिक् भी नहीं है। देशव्यापिताशून्य इस भूतादि द्रव्य में क्रियाशीलता है—इतना ही निश्चित है। हम अपनी स्थिति के अनुसार यदि सोचें तो हमको यह कहना होगा कि देशव्याप्ति-शून्य अथच क्रियाशील कोई पदार्थ यदि होगा तो वह मनोवृत्तिजातीय पदार्थ ही होगा। क्योंकि मनोवृत्ति ही ऐसा पदार्थ है जो देशव्याप्ति-शून्य होकर भी क्रियाशील है। इस अनुमान से हम निश्चय करते हैं कि भूतादि नामक द्रव्य मनोजातीय है।

विकारी अहम् (=अहङ्कार) शब्दादि तन्मात्रों का उपादान है—इसको बहिर्मुख वृत्ति से जानने का कोई साधन नहीं है। पूर्वोक्त मत के निर्धारण के लिये प्रथम परीक्षण है—तन्मात्र का साक्षात्कार करना। तन्मात्र के साक्षात्कारकाल में यह जाना जाता है कि बाह्य-क्रिया-हेतुक जो ज्ञान है वह इन्द्रियस्थित अस्मिता का चाञ्चल्य (=विकार) मात्र है। अस्मिता को रुद्ध करने पर बाह्यज्ञान रुद्ध हो जाता है और अस्मिता सक्रिय रहने पर बाह्यज्ञान चित्त में उदित होता है—यह यौगिक कौशल के माध्यम से जो अनुभव कर सकता है, वही जान सकता है कि बाह्य क्रिया से इन्द्रियस्थ अस्मिता का जो चाञ्चल्य होता है, वही चाञ्चल्य शब्दादिरूप में परिणत होता है। शब्दादि-बोध की अहङ्कारोपादानकता इस प्रत्यक्ष (experiment)से सिद्ध होती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि सांख्यीयदृष्टि में यह ब्रह्माण्डरूप विषय वस्तुतः दो प्रकार के मनों के संघर्ष का फलस्वरूप है। एक है—प्रजापति का शक्तिशाली मन तथा दूसरा है—असिद्ध जीवों का अल्पशक्तियुक्त मन। हमारे मनों में जिसप्रकार शब्दादि-ग्रहण-योग्यता है, भूतादिरूप पदार्थ में भी तथैव शब्दादिबोधोत्पादन-योग्यता है। यह सांख्यीय दर्शन ही ईषत् विकृत रूप में बौद्धों द्वारा चिन्तित होकर विज्ञानवाद का प्रवर्तन किया है—यह ज्ञातव्य है।

ध्यान देना चाहिये कि अहङ्कार से मन-इन्द्रियों की उत्पत्ति प्रत्येक जीव में होती है, पर अहङ्कार (के तामस भाग) से तन्मात्र की उत्पत्ति प्रत्येक जीव में नहीं होती। तन्मात्र का उपादानभूत भूतादि प्रजापति में या अन्य ऐश्वर्यशाली देवों में स्थित है, विशिष्ट ऐश्वर्यहीन अस्मदीय अहङ्कार में नहीं। अस्मदीय अन्तःकरण का भूतादिरूप परिणाम अव्यपदेश्य रूप में है और जब हम विशिष्ट ऐश्वर्यसंपन्न होंगे तभी वह व्यक्त होगा। प्रत्येक जीव स्वगत ऐश्वर्यधर्म का विकाश करके ब्रह्माण्डस्रष्टा हो सकता है—यह सांख्य का मत है। कैवल्यापेक्षया सृष्टिकर्तृत्व की अत्यन्त हेयता है। सगुणात्मवादी संप्रदायों में सृष्टिसामर्थ्य का स्थान जितना उच्च है, वह निर्गुणात्मवादी सांख्य में नहीं है—यह ज्ञातव्य है।

चूंकि सोपाधिक प्रत्येक पुरुष का अहङ्कार सजातीय है, अतः कारिकाकार ने पृथक्‌रूप से यह कहना आवश्यक नहीं समझा कि कीदृश सोपाधिक पुरुष का भूतादिरूप तामस अहङ्कार ग्राह्यीभूत होकर तन्मात्र का उपादान बनता है।[1] प्रत्येक जीव सोपाधिक पुरुष है; सगुण ब्रह्मरूप प्रजापति भी सोपाधिक पुरुष है; दोनों में जो भेद है वह बुद्धिगत धर्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य के उत्कर्षापकर्ष के कारण ही है ॥२५॥

(१) सात्त्विकमेकादशकमाख्यातुं बाह्येन्द्रियदशकं तावदाह—

बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि ।
वाक्पाणिपादपायूपस्थान् कर्मेन्द्रियाण्याहुः ॥ २६ ॥

(२) "बुद्धीन्द्रियाणि" इति । सात्त्विकाहङ्कारोपादानकत्वमिन्द्रियत्वम् । तच्च द्विविधम्—बुद्धीन्द्रियं कर्मेन्द्रियं च । (३) उभयमप्येतदिन्द्रस्यात्मनश्चिह्नत्वा-

(१) सात्विक ग्यारह इन्द्रियों के गण का वर्णन करने के लिये कारिकाकार पहले बाह्य दस इन्द्रियों का वर्णन करते हैं :—

चक्षु, कर्ण, घ्राण, रसन तथा त्वक् नामक पाँच बुद्धीन्द्रियाँ (बुद्धि=ज्ञान की साधक इन्द्रियाँ) और वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ नामक पाँच कर्मेन्द्रियाँ कही गई हैं [इनके व्यापार २८वीं का० में उक्त हुये हैं] ॥ २६ ॥

(२) जिनकी उत्पत्ति सात्विक अहङ्कार रूप उपादान से होती हो, वह 'इन्द्रिय' है। वह दो प्रकार की है—ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय। (३) ये दोनों ही प्रकार की

१. पूर्वाचार्योंकी पदार्थप्रतिपादनपद्धति को जो जानते हैं, उनको यह अनुक्ति सर्वथा स्वाभाविक प्रतीत होगी। अन्य शास्त्र में भी यही शैली दृष्ट होती है। न्यायसूत्र में आत्मा का उल्लेख है। ईश्वर चूँकि आत्मा-विशेष हैं, आत्मकल्प है, अतः ईश्वर का प्रमेय रूप से पृथक् उल्लेख करना गोतम ने आवश्यक नहीं समझा।

दिन्द्रियमुच्यते। तानि च स्वसंज्ञाभिश्चक्षुरादिभिरुक्तानि। (४) तत्र [1]रूपग्रहण-लिङ्गं चक्षुः, शब्दग्रहणलिङ्गं श्रोत्रम्, गन्धग्रहणलिङ्गं घ्राणम्, रसग्रहणलिङ्गं रसनम्, स्पर्शग्रहणलिङ्गं त्वक्—इति ज्ञानेन्द्रियाणां संज्ञाः[2]। (५) एवं वागा-दीनां कार्यं वक्ष्यति (कारिका २८) ॥२६॥

इन्द्रियाँ 'इन्द्र' अर्थात् आत्मा के चिह्न (=अनुमापक) होने के कारण 'ज्ञानेन्द्रिय' कहलाती हैं। ये इन्द्रियाँ चक्षु आदि अपने-अपने नामों द्वारा कही गई हैं।

(४) उनमें रूप के ग्रहण (=उपलब्धि) का करण रूप इन्द्रिय 'चक्षु' कहलाती है; उसी प्रकार 'शब्दोपलब्धि' का करण 'कर्ण', 'गन्धोपलब्धि' का करण 'घ्राण', 'रसोप-लब्धि' का करण 'रसन' (जिह्वा) तथा 'स्पर्शोपलब्धि' का करण 'त्वक्' है। ('रूपग्रहण अनुमापक है जिसका' वह रूपग्रहणलिङ्ग--इस प्रकार से भी व्याख्या की जा सकती है)[1]। (५) इस प्रकार वाक् आदि कर्मेन्द्रियों के कार्य आगे (२८वीं कारिका में) कहेंगे ॥२६॥

२६वीं कारिका की व्याख्या

इन्द्रियों का जो परिचय वाचस्पति ने दिया है उससे इन्द्रियसंबन्धी सांख्यीय मत की गम्भीरता अंशतः भी प्रतीत नहीं होती, अतः यह विषय विवृत हो रहा है। 'रूपग्रहण चक्षु का लिङ्ग है' यह मत सांख्यीय दृष्टि से संगत है।

इन्द्रियाँ शारीरयन्त्ररूप नही हैं। प्रत्येक इन्द्रिय अहङ्कार की ही एक एक व्यूह रूप (कार्यविशेष की सिद्धि के लिये सन्निवेश-विशेष) है जो बाह्यविषय-निबन्धन उद्भूत होती है—यह सांख्यीय दृष्टि है। **चित्तरोध से इन्द्रियरोध होता है और इन्द्रियाँ विषयसम्पर्क से विच्युत होकर चित्तसदृश हो जाती हैं—इस तथ्य से इन्द्रियों का स्वरूप भलीभाँति विज्ञात होता है।**

यह भूलना नहीं चाहिये कि ये इन्द्रियाँ सर्वप्राणीसाधारण हैं। देवजाति, तिर्यक्जाति और मनुष्यजाति में ये ११ इन्द्रियाँ स्फुट या स्फुटरूपेण नियत रूप से विद्यमान हैं। इन इन्द्रियों के व्यापार भी (जात्यन्तर्गत सभी व्यक्तियों में) तत्तत्जाति की प्रकृति के अनुसार होते ही हैं। तत्तत्जाति के अनुसार जिस प्रकार इन्द्रिय-व्यापारों का स्वभाव विचित्र

---

१. 'रूपग्रहणं लिङ्गं यस्य' इस विग्रह में बहुव्रीहि समास होगा। इस दृष्टि में त्वक् के स्त्रीलिङ्ग होने के कारण 'स्पर्शग्रणलिङ्गा त्वक्' ऐसा पाठ होगा।

२. 'इति संज्ञा' इति क्वचिदेव पठ्यते।

हो जाता है, इन्द्रिय के विषय भी विचित्र हो जाते हैं—यद्यपि सभी प्रकार की इन्द्रियों और विषयों के मौलिक धर्म अवश्यमेव समान हैं। इन्द्रियों के शारीर अधिष्ठानों को लेकर शरीरचना शास्त्र की तरह विचार करने का कोई प्रयोजन अध्यात्मशास्त्र में नहीं है। इस शास्त्र का उद्देश्य है—(१) इन्द्रियाधिष्ठान से प्रकृत इन्द्रियों को पृथक् करना, (२) अपने अपने विषय से इन्द्रिय को हटाना (प्रत्याहार के बल पर) और (३) इन्द्रियों को अपने उपादान में लीन करना। यही कारण है कि रेटिना (retina) में प्रतिबिम्ब का पतन किस रूप से होता है···इत्यादि विषय इस शास्त्र में विचारित नहीं होते। प्रयोग द्वारा समर्थित किसी भी विषय के साथ सांख्य का अणुमात्रविरोध नहीं है—यह ज्ञातव्य है।[1]

ज्ञानेन्द्रियों के व्यापार के विषय में निम्नोक्त बातें ज्ञातव्य हैं। पाँच प्रकाश्य धर्म (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध) यथाक्रम कर्णादि द्वारा अनुभूत होते हैं (धर्म से धर्मी भी ग्राह्य है)। इन्द्रियाँ बोध को उत्पन्न नहीं करतीं। बाह्य वैषयिक चाञ्चल्य इन्द्रिय द्वारा वाहित होकर बुद्धि में शब्दादि-रूप से प्रकाशित होता है। शब्दादिगुण बाह्य में आरोपित ही होते हैं—यह आरोप प्राणी स्वगत संस्कार के वशीभूत होकर ही करते हैं। शब्दादिरूप से परिणत होने से पहले वैषयिक चाञ्चल्य कैसा है—यह अज्ञेय है। ग्राह्यीभूत भूतादि की पाँच प्रकार की क्रियाएँ हमारी इन्द्रियों द्वारा वाहित होकर शब्दादि पाँच गुणों के रूप में प्रकाशित होती हैं—यही सांख्यीय दृष्टि है।

ज्ञानेन्द्रियों के विषयों के विषय में कुछ ज्ञातव्य है। त्वक् रूप ज्ञानेन्द्रिय का विषय जो स्पर्श है वह शीतोष्ण-रूप है—कठिनता, कोमलता आदि नहीं। काठिन्यादि का बोध ज्ञानेन्द्रिय का नहीं है—वे प्राणगत सत्त्वगुण द्वारा बोध्य हैं। कर्णेन्द्रिय का विषय जो शब्द है—वह सदैव बाह्यद्रव्य में विद्यमान है—रूप-स्पर्शादि की तरह। जिस प्रकार हम रूप को प्रथमतः उत्पन्न नहीं करते, बल्कि विद्यमान रूप में परिणामभेद ही करते हैं, उसी प्रकार हम प्रथमतः शब्द को उत्पन्न नहीं करते—शब्द सदैव बाह्यवस्तु के गुण के रूप में विद्यमान है; हम स्वक्रिया द्वारा शब्द को कर्णग्राह्य

---

१. हमने जो 'प्रयोग द्वारा समर्थित' कहा है, उसका आशय इतना ही है कि हम वैज्ञानिक प्रयोग-परीक्षण का कथमपि अपलाप नहीं करते, प्रयोग-परीक्षण के आधार पर जो निष्कर्ष निर्धारित किये जाते हैं, उनसे हम सर्वत्र सहमत नहीं होते हैं। प्रयोग-परीक्षण भी क्रमिक विकाश से युक्त होते है और कहीं कहीं इनमें भी भ्रम होने की संभावना भी रहती ही है। रेटिना में प्रतिबिम्ब-पतन की जो बात हमने ऊपर कही है, प्रयोग की दृष्टि से वह संशयग्रस्त है—यह श्री कुमुदचन्द्र भट्टाचार्यकृत 'अभौतिक विज्ञान' ग्रन्थ (बंगला ग्रन्थ) से जाना जाता है। इस ग्रन्थ की युक्तियों का मनन करने के लिये हम विज्ञानशास्त्ररसिक विद्वानों से अनुरोध करते हैं। जो लोग 'विज्ञान' शब्द सुनकर ही अभिभूत हो जाते हैं, इस ग्रन्थ को पढ़कर वे अपनी मननक्रिया को बलशाली कर सकेंगे।

ही बनाते हैं—कर्णग्राह्य बनाना उत्पन्न करना नहीं है। सांख्यीय दृष्टि में बाह्यद्रव्य सदैव शब्दादि-पञ्चगुणमय हैं। किसी भी प्रयत्न से किसी भी बाह्य द्रव्य को इन गुणों से विच्युत नहीं किया जा सकता; गुणों में परिणामान्तर ही किये जा सकते हैं। हम किसी बाह्य देश से मिट्टी, जल, हवा, आग को हटा सकते हैं, पर इससे वह स्थान क्षिति, अप्, तेजः, वायु-भूत से शून्य नहीं हो जाता। मिट्टी, जल, हवा आदि असंख्य भौतिक द्रव्यों के कुछ उदाहरण हैं—इसके रहने या न रहने से भूततत्त्व पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। जहाँ हवा अणुमात्र भी नहीं है, वहाँ वायुभूत पूर्णमात्रा में है। हवा न रहने पर भी शब्दगुणक आकाश विद्यमान रहता ही है (का० ३७ में भूतलक्षण द्र०)।

वाचस्पति तथा अन्यान्य व्याख्याकार कर्मेन्द्रियों को जिस रूप से समझते हैं, वह बहुत कुछ भ्रान्त दृष्टि का ही फल है। जिस प्रकार सभी ज्ञानेन्द्रियों का एक ही व्यापार है—बाह्य-विषय-प्रकाशन (यह बाह्य प्रकाशन उपाधि भेद से पाँच प्रकार का प्रकाशन हो जाता है) तथैव सभी कर्मेन्द्रियों का भी एक ही व्यापार है—बाह्य विषय का आहरण=स्वेच्छया चालन। स्वेच्छापूर्वकता में चेष्टा का भाव प्रधान है। ज्ञानेन्द्रियों के व्यापार में यह चेष्टाभाव अत्यल्प है। यह चालन कई रूपों में हो सकता है—उत्पादन करना, परिणत करना, अपसारण करना आदि। प्रत्येक चालन आहरणपूर्वक होता है।

हम समझते हैं कि प्राणीगत बाह्य-विषय-चालिका शक्ति निम्नोक्त पाँच भागों में बाँटी जा सकती है। प्रत्येक शक्ति एक एक इन्द्रिय की है; इन शक्तियों के जैव यन्त्र सभी शरीरों में हैं। चूँकि कर्मेन्द्रियाँ राजस हैं, अतः ये सभी यन्त्र परस्पर अत्यन्त पृथक् नहीं हैं (ज्ञानेन्द्रियों के यन्त्रों की तरह) ; कर्मेन्द्रियों के व्यापार परस्पर अत्यन्त असंकीर्ण नहीं हैं। कर्मेन्द्रियों के व्यापार ये हैं—

वाक् (इन्द्रिय)—	स्वमनोभाव-ज्ञापनार्थ बाह्य-द्रव्य-विशेष का चालन।
पाणि—	बाह्य द्रव्यों को अभीष्ट सन्निवेशों में स्थापनार्थ चालन।
पाद—	स्वशरीर रूप इन्द्रियबाह्य द्रव्य का चालन।
उपस्थ—	समृद्धि, सुख आदि के लिये बाह्य विषयों को चालित करना।
पायु—	प्राक्-गृहीत विषयों को अपसारणार्थ चालित करना।

बाह्य का अर्थ है—इन्द्रियबाह्य विषय। चूँकि जीव का शरीर भी बाह्य द्रव्यों से ही निर्मित है, इसलिये जीव के शरीराङ्ग भी चालनक्रिया के विषय हो सकते हैं। किंच शरीर की स्थूलता-सूक्ष्मता के अनुसार कर्मेन्द्रियाँ और उनके व्यापार भी तदनुरूप ही होते हैं। जिस प्रकार व्यापार की सूक्ष्मता है, उस प्रकार उस व्यापार के विषयीभूत पदार्थों की भी सूक्ष्मता है। शरीर यन्त्र कर्मेन्द्रियों के अधिष्ठान हैं, अतः स्थूलदृष्टि से ही ये यन्त्र कर्मेन्द्रिय कहलाते हैं।

वाक् के विषय में कुछ विशेष वक्तव्य है। कण्ठताल्वादिस्थानमिन्द्रियं वाक् (तत्त्वकौ० २८) इस वाक्य से जाना जाता है कि वाचस्पति 'ध्वनि का उत्पादन करना' रूप व्यापार को ही वाक् का एकमात्र कार्य समझते हैं। हमारी दृष्टि में ध्वनि का उत्पादन वाक् रूप इन्द्रिय का एक प्रमुख व्यापार है; यही एकमात्र व्यापार है—यह बात नहीं। आकार-इङ्गित द्वारा मनोभावज्ञापन भी वाक् का व्यापार है। किंच कण्ठताल्वादि-जन्य ध्वनि से विलक्षण ध्वनियाँ भी हैं—वे भी वाक् के व्यापार से ही निष्पाद्य होते हैं।

यह आवश्यक नहीं कि एक इन्द्रिय का एक ही अधिष्ठान हो। अधिष्ठानों की संख्या शरीरप्रकृति और इन्द्रियशक्ति के बलाबल पर निर्भर करती है। उदाहरणार्थ पाणि का अर्थ हाथ ही नहीं है; आदानशक्ति जहाँ भी अधिष्ठित हो वह यन्त्र या यन्त्रांश या यन्त्रसमूह पाणि हैं। हाथ, मुख, चञ्चु आदि पाणि हो सकते हैं। प्राणियों के शरीर-भेद के अनुसार इन्द्रिय के बाह्य अधिष्ठानों में अनेक वैचित्र्य हो सकते हैं और अद्भुत वैचित्र्य की बातें शास्त्रों में मिलती भी हैं।

पायु और उपस्थ की पहचान में भी कुछ भ्रम प्रचलित है। लोग भूल जाते हैं कि अध्यात्मशास्त्रीय विश्लेषण आयुर्वेदशास्त्रीय विश्लेषण का सर्वथा अनुरूप नहीं है। यह समझना गलत है कि पायु ओजोहीन मल (=विष्ठा) का त्यागकारक इन्द्रिय है और उपस्थ मूत्रत्याग-कारक है। वस्तुतः शरीरविधारणार्थ गृहीत बाह्य विषयों का जो परिणाम शरीरोपादान-निर्माण के लिये (बाद में) अनुपयोगी (अर्थात् मल) सिद्ध होता है, उसका प्रयत्नपूर्वक निःसारण करना पायु का कार्य है। यह मल कठिन, तरल, वायवीय आदि किसी भी अवस्था में रह सकता है। विष्ठा-मूत्र दोनों ही आहार्यद्रव्य का वह भाग है जो शारीर धातु का पुष्टिकारक नहीं है, अतः दोनों का (तथा एतदतिरिक्त घर्म आदि का भी) निष्कासन करना पायु का ही कार्य है। इस पायु का बाह्य अधिष्ठान गुदा में, शिश्न में, लोमकूप में तथा अन्यत्र भी रह सकता है। ध्यान देना चाहिये कि जो मल नहीं है उसका निष्कासन (सुपाच्य द्रव्य को खाने के बाद उद्गिरण-करना, किन्हीं कारणों से) पायु का कार्य नहीं है, प्राणविशेष एवं अंशतःपाणि का कार्य है। यह भी ज्ञातव्य है कि जीर्ण वस्तु से मल का पृथक्करण मात्र (शरीर के भीतर ही) अपान नामक प्राणवायु का कार्य है, और शरीर से बाहर प्रयत्नपूर्वक निःक्षेप पायु का कार्य है।

उपस्थ इन्द्रिय और उसके कार्य के विषय में दीर्घकाल से भ्रान्त मत प्रचलित रहा है। उपस्थ इन्द्रिय का व्यापार स्वेच्छया बाह्य विषय का एक प्रकार का चालन है। अपनी 'समृद्धि' के लिये बाह्य द्रव्यों का आहरणपूर्वक जो स्वेच्छया चालन

किया जाता है, वह उपस्थ इन्द्रिय का व्यापार है। उपस्थ का व्यापार 'आनन्द' है' यह आनन्द शब्द 'टुनदि समृद्धौ 'धातु से निष्पन्न है। आनन्द=स्वसमृद्धि के लिये बाह्य-द्रव्य का चालन। प्रजननकार्य उपस्थकार्य का एक मुख्य उदाहरण मात्र है, क्योंकि बीज-सेक और प्रसवरूप प्रजननक्रिया द्वारा हम अपने को बढ़ाना चाहते हैं; वंशवृद्धि द्वारा अपने को बढ़ाना अन्यतम प्रधान समृद्धि है। शरीर के जिस यन्त्र से ईदृश व्यापार किया जाता है, वही उपस्थ का अधिष्ठान माना जायेगा। व्याख्याकारों में तत्वज्ञान में अज्ञान की वृद्धि के साथ साथ कर्मेन्द्रियों का स्वरूपज्ञान क्रमशः विपर्यस्त होता आया है।

गुणत्रय तथा ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के कार्यों का पारस्परिक संवन्ध निम्नोक्त परिलेख से स्पष्टतया विज्ञात होगा—

ज्ञानेन्द्रिय	गुणसन्निवेश	कर्मेन्द्रिय
श्रोत्र	सत्त्वप्रधान	वाक्
त्वक्	सत्त्व-रजः-प्रधान	पाणि
चक्षु	रजः प्रधान	पाद
जिह्वा	रजः-तमः-प्राधन	उपस्थ
नासा	तमःप्रधान	पायु

उपर्युक्त पारस्परिक संवन्ध को ध्यान से देखने पर अनेक सूक्ष्म रहस्यों का समाधान स्वतः हो जाता है। अध्यात्ममार्ग के साधकों को इस संवन्ध पर ध्यान से विचार करना चाहिये; इससे उनको इन्द्रियवृत्तियों को समझने में सुविधा होगी। ज्ञानेन्द्रिय के व्यापारों (=वृत्तियों) का स्पष्टीकरण २८वीं कारिका में द्रष्टव्य है।

शरीरस्थ अधिष्ठान के साथ इन्द्रियों का संवन्ध कैसा है, यह यहाँ दिखाया जा रहा है। इन्द्रिय स्वरूपतः अहङ्कार का विकाररूप है; प्राणशक्ति की सहायता से शरीर में इन्द्रियाधिष्ठान निर्मित होते हैं, और स्थूलशरीरगत इन्द्रियाधिष्ठान (गोलक-पदवाच्य)[1] द्वारा इन्द्रियशक्ति कार्य करती है। इन्द्रिय की तुलना में शरीर में जाड्य का आधिक्य है; इसका ही फल है कि आहंकारिक मन और इन्द्रियाँ कार्य करती हुई जब क्लान्त नहीं हो जाती हैं, तब उनके शरीरगत अधिष्ठान क्लान्त हो जाते हैं। इस का फल यह होता है कि करणशक्तियाँ अपनी प्रवृत्ति को चरितार्थ करने के लिये एकाधिक इन्द्रियाधिष्ठानों का निर्माण (शरीरों में) करती हैं। विभिन्न प्रकार के प्राणियों में प्रायः सभी इन्द्रियों के अधिष्ठानों की संख्या में जो न्यूनाधिक्य दृष्ट होता है, उसका मूल कारण शरीर-प्रकृति और इन्द्रियप्रकृति का पूर्वोक्त असामञ्जस्य है। बाह्य उपादान के परिवर्तन से भी इन्द्रियविशेष की संख्या में न्यूनाधिक्य कथंचित् कदाचित् हो सकता है, क्योंकि

१. गोल या गोलक सभी इन्द्रियाधिष्ठानों का वाचक है। 'गोल' शब्द से कुछ लोगों को यह भ्रान्ति हुई है कि केवल चक्षुरिन्द्रिय का अधिष्ठान ही गोलक कहलाता है।

बाह्य विषय भी इन्द्रियाभिव्यक्ति का अन्यतम हेतु है—यह सांख्यानुमत दर्शन हैं। पृथिवी की बाह्य अवस्था के परिवर्तन के कारण प्राणी के शरीर यन्त्रों में यादृश परिणाम होने की बात Darwin आदि करते हैं, उसका सारांश सांख्यविरुद्ध नहीं है, पर इस मत का कोई संबन्ध मूल करणप्रकृति के साथ नहीं है—यह ज्ञातव्य है।

इन्द्रियों के अधिष्ठानों की न्यूनाधिक संख्या देखकर प्राणी की करणप्रकृति का स्वरूप विज्ञात हो सकता है, जैसा कि प्रसंख्यानभाष्य में दिखाया गया है। यह ज्ञातव्य है कि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ प्रत्येक प्राणी में अवश्य हैं। स्वरूपतः ऐसा होने पर भी व्यवहारतः कोई इन्द्रिय किसी प्राणी में इतनी अस्फुट हो सकती है कि स्थूल दृष्टिवालों को कभी कभी उस अस्फुट इन्द्रिय की सत्ता का ज्ञान ही न हो। Amoeba सदृश एककौषिक (unicellular) प्राणी में भी ये इन्द्रियाँ हैं—वह पञ्च विषयों का ज्ञान भी करता है तथा बाह्य विषय को पञ्चधा चालित भी करता है—अपने दश इन्द्रियों के माध्यम से। वृक्षादि में भी दस इन्द्रियाँ हैं, प्रत्येक प्रकार के पशु-पक्षी में तो हैं ही।

हम शब्दादि विषयों को जितने स्थूल रूप से समझते हैं, विषय वस्तुतः उतने स्थूल नहीं हैं। विषय की सूक्ष्मता और इन्द्रियशक्ति की सूक्ष्मता अस्मदीय लौकिक दृष्टि से परिमेय भी नहीं है। इन्द्रियाधिष्ठान की तामसिकता के हेतु अपेक्षाकृत सूक्ष्म इन्द्रिय-कार्य बाधाप्राप्त होता है। योगाभ्यास के द्वारा इन्द्रियशक्ति को अधिष्ठान-निरपेक्ष करने की चेष्टा की जाती है। यह निरपेक्षता जितनी बढ़ती जायेगी, सूक्ष्म इन्द्रियशक्ति उतनी ही प्रकटित होती रहेगी। प्राणायाम आदि द्वारा शरीर को निश्चल करने पर इन्द्रियशक्ति का सूक्ष्म रूप स्वतः आविर्भूत हो जाता है ॥२६॥

---

(१) एकादशमिन्द्रियमाह—

[1]उभयात्मकमत्र मनः सङ्कल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात् ।
गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं बाह्यभेदाश्च ॥ २७ ॥

(१) अब कारिकाकार ग्यारहवीं इन्द्रिय का कथन करते हैं :—

इनमें (=इन्द्रियों में) मन उभयात्मक (=ज्ञान-कर्मेन्द्रियात्मक) इन्द्रिय है। यह 'संकल्प' करनेवाला है और इन्द्रियों के सजातीय होने के कारण (=अहंकार से उत्पन्न होने के कारण) 'इन्द्रिय' भी कहलाता है। गुणों के परिणामभेद के कारण विविध इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं; जैसे (एक भूतादि से जात) बाह्य पदार्थ के भेद गुणपरिणाम-भेद के कारण होते हैं ॥ २७ ॥

---

१. अस्मन्मते 'संकल्पकमत्र मनः तच्चेन्द्रियमुभयथा समाख्यातम्' इत्येव पाठः तत्त्वकौमुदीसंमतः; द्र० व्याख्या।

(२) "उभयात्मकम्" इति। एकादशस्विन्द्रियेषु मध्ये मन उभयात्मकम्, बुद्धीन्द्रियं कर्मेन्द्रियं च; चक्षुरादीनां वागादीनां च मनोऽधिष्ठितानामेव स्वस्वविषयेषु प्रवृत्तेः।

(३) तदसाधारणेन रूपेण लक्षयति—"सङ्कल्पकमत्र मनः" इति। सङ्कल्पेन रूपेण मनो लक्ष्यते। आलोचितमिन्द्रियेण 'वस्त्विदम्' इति सम्मुग्धम् 'इदमेवम्, नैवम्' इति सम्यक्कल्पयति विशेषणविशेष्यभावेन विवेचयतीति यावत्। (४) यदाहुः—

सम्मुग्धं वस्तुमात्रं तु प्राग्गृह्णन्त्यविकल्पितम्।
तत् सामान्य-विशेषाभ्यां कल्पयन्ति मनीषिणः॥ इति।

(५) तथाहि—

अस्ति ह्यालोचनं ज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्।
बालमूकादिविज्ञानसदृशं मुग्धवस्तुजम्[1]॥ ११२॥

---

(२) ग्यारह इन्द्रियों में मन उभयात्मक (अर्थात् वह ज्ञानेन्द्रिय भी है और कर्मेन्द्रिय भी) है, क्योंकि मन से अधिष्ठित होकर ही चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियाँ और वागादि कर्मेन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त होती हैं।

(३) असाधारण धर्म के द्वारा मन का लक्षण करते हैं :—'मन संकल्प करने वाला है'। संकल्परूप धर्म से मन (अन्य से पृथक् रूप से) लक्षित होता है। इन्द्रिय के द्वारा किसी वस्तु में 'यह है'—इस प्रकार संमुग्ध रूप में (वस्तुविशेषरूप से अगृहीत) आलोचन-ज्ञान होता है; अनन्तर 'यह वस्तु ऐसी ही है, और ऐसी नहीं है'—इस प्रकार विशेष्य-विशेषण-भाव-पूर्वक विवेचन (=पार्थक्यपूर्वक अवधारण) करना मन का संकल्पकत्व है। (४) जैसा कि पूर्व आचार्यों ने कहा है :—पहले ज्ञाता को अविकल्पित (विशेष रूप से अज्ञात; विशेष्य-विशेषण-भाव-हीन) वस्तुमात्र का संमुग्ध (अविविक्त) ज्ञान होता है। तदनन्तर मनीषियों (=मनोव्यापारवानों) के द्वारा वस्तु सामान्य एवं विशेष धर्मों से युक्त होकर (अनुगत और व्यावृत्त धर्मों के साथ) निर्णीत होती है। (५) इस (निर्विकल्प और सविकल्प नामक ज्ञानद्वय के विषय में) के लिये निम्नोक्त श्लोक भी द्रष्टव्य है—

---

१. श्लोकवार्तिके शुद्धवस्तुजम् इत्येव पठ्यते; तत्त्वकौमुद्यामपि तथैव पठ्यते केषुचित् संस्करणेषु। श्लोकवार्तिके 'आलोचना ज्ञानम्' इति मुद्रितः पाठः, आलोचनं ज्ञानमिति पाठान्तरम्। प्रकरणपञ्चिकायाम् 'शुद्धवस्तुजम्' इत्येवंरूपेण श्लोकोऽयमुद्धृतः (पृ०१६१)। आह पार्थसारथिः—'बालानामिव अव्युत्पन्नानामस्माकमपि चक्षुःसन्निपातानन्तरं सविकल्पकात् प्रथममस्ति निर्विकल्पकं प्रतीतिसिद्धमालोचनविज्ञानं शुद्धवस्तुविषयम्, तदभावे हि निर्निमित्तं शब्दस्मरणं स्यात्, अस्मृतशब्दस्य च न शब्दानुविद्धो विकल्पः संभवति।

ततः परं पुनर्वस्तु धर्मैर्जात्यादिभिर्यया।
बुद्ध्याऽवसीयते सापि प्रत्येक्षत्वेन सम्मता॥ १२० इति॥
(पूर्वमी० १। १। ४ सूत्रीयवार्त्तिक)।

(६) सोऽयं सङ्कल्पलक्षणो व्यापारो मनसः समानासमानजातीयाभ्यां व्यवच्छिन्दन् मनो लक्षयति।

(७) स्यादेतत्—असाधारणव्यापारयोगिनौ यथा महदहङ्कारौ नेन्द्रियम्; एवम्मनोऽप्यसाधारणव्यापारयोगि नेन्द्रियं भवितुमर्हतीत्यत आह—"इन्द्रियं च" इति। कुतः? साधर्म्यात् इन्द्रियान्तरैः। सात्त्विकाहङ्कारोपादानत्वं च साधर्म्यम्, नत्विन्द्रलिङ्गत्वम्; महदहङ्कारयोरप्यात्मलिङ्गत्वेनेन्द्रियत्वप्रसङ्गात्। (८) तस्माद् व्युत्पत्तिमात्रमिन्द्रलिङ्गत्वम्, न तु प्रवृत्तिनिमित्तम्।

(९) अथ कथं सात्त्विकाहङ्कारादेकस्मादेकादशेन्द्रियाणीत्यत आह—

"पहले बालक, मूक आदि के ज्ञान के सदृश (अर्थात् शब्द से अनभिलाप्य) वस्तु-सामान्यविषयक (=विशेष्य-विशेषण-भाव-हीन) निर्विकल्पक ज्ञान होता है, जो आलोचन-ज्ञान (इन्द्रियसन्निकर्षजन्य; इसमें वस्तु के विशेष धर्म का भान नहीं होता) कहलाता है। उसके पश्चात् जाति, गुण, क्रिया आदि वस्तुधर्मों (=विशेषणों) से युक्त वस्तु का जो निश्चित ज्ञान होता है; वही प्रत्यक्षज्ञान (अर्थात् सविकल्पक) माना जाता है (श्लोक-वार्तिक, प्रत्यक्षसूत्र ११२, १२०)॥

(६) यह संकल्प-लक्षणक व्यापार मन को सजातीय (अहंकार आदि से) एवं विजातीय (तन्मात्र आदि) पदार्थों से पृथक् करने के कारण मन का लक्षण है।

(७) परन्तु जिस प्रकार असाधारण कार्य वाले महान् और अहंकार इन्द्रिय नहीं हैं, उसी प्रकार संकल्प रूप असाधारण कार्य करने वाला मन भी इन्द्रिय नहीं हो सकता। इसके उत्तर में कहते हैं—'यह इन्द्रिय है'। क्यों? इसलिये कि अन्य इन्द्रियों के साथ मन का साधर्म्य (=समान धर्म) है। अन्य इन्द्रियों की ही भाँति यह मन भी सात्त्विक अहङ्कार से उत्पन्न हुआ है—यही साधर्म्य है; न कि 'मन भी अन्य इन्द्रियों की ही भाँति इन्द्र या आत्मा का लिङ्ग है'—यह मानकर यह साधर्म्य स्वीकृत हुआ है, क्योंकि तब तो महान् और अहङ्कार भी आत्म-लिङ्ग होने के कारण मन की ही भाँति इन्द्रिय कहलाने लगेंगे। (८) इसलिये इन्द्रिय शब्द के व्युत्पत्ति-निर्देश में जो 'इन्द्रलिङ्ग' कहा गया है, वह व्युत्पत्तिनिमित्त (=योगार्थ-प्रदर्शन) ही है, न कि इन्द्रलिङ्गत्व इन्द्रिय का प्रवृत्तिनिमित्त (शक्यतावच्छेदक; शक्तिज्ञान में प्रकारतया भासमान) है।

(९) प्रश्न होता है कि एकरूप सात्त्विक अहंकार से ग्यारह इन्द्रियाँ कैसे उत्पन्न हो सकती हैं? इसके उत्तर में कहते हैं—'गुणों के धर्माधर्मरूप अदृष्ट-परिणाम के

"गुणपरिणामविशेषाद् नानात्वं बाह्यभेदाश्च" इति। शब्दाद्युपभोगसम्प्रवर्तका-दृष्टसहकारिभेदात्कार्यभेदः। अदृष्टभेदोऽपि गुणपरिणाम एव। (१०) 'बाह्यभेदाच्च' इति—दृष्टान्तार्थम्; यथा बाह्यभेदास्तथैव तदपीत्यर्थः ॥ २७ ॥

वैचित्र्य से विविध इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। शब्द-स्पर्श आदि विषयों के उपभोग के प्रवर्तक अदृष्ट-रूप सहकारी कारण की विभिन्नता से (इन्द्रियरूप) कार्य में विभिन्नता आ जाती है। अदृष्टविशेष भी गुणपरिणाम ही है। (१०) कारिकागत 'बाह्यभेदाश्च' वाक्य दृष्टान्त देने के लिये प्रयुक्त हुआ है। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार बाह्य (शब्द-स्पर्श आदि) बहुविध पदार्थ (एकविध तामस अहंकार से) उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार इन्द्रियों का नानात्व भी (एकविध सात्त्विक अहङ्कार से उत्पन्न होता है) ॥ २७ ॥

२७वीं कारिका की व्याख्या

हमारी दृष्टि में वाचस्पति के अनुसार कारिका के प्रथमार्ध का पाठ है—संकल्पकमत्र मनः तच्चेन्द्रियमुभयथा समाख्यातम् ('बाह्यभेदाच्च' यह अन्तिम पद का अस्मत्संमत पाठ है—यह बाद में दिखाया जायेगा)। गतानुगतिकता की दृष्टि से ही प्रचलित पाठ को मूलपाठ के रूप में रखा गया है।

इस पाठ को वाचस्पतिसंमत पाठ के रूप में स्वीकार करने का प्रथम हेतु है—'संकल्पकमत्र मनः' रूप प्रतीक ('इति' के साथ पठित होने के कारण) का पाठ जो तत्त्वकौमुदी के सभी संकरणों में है। 'संकल्पकमत्र मनः' यह एक ऐसा चरण है जो आर्याछन्दस्क श्लोक में प्रथम या तृतीय ही हो सकता है। तृतीय चरण का प्रसंग ही यहाँ नहीं है, अतः प्रथम चरण में ही यह पठित हो सकता है। इसको प्रथम चरण का पाठ मानने पर 'उभयात्मकमत्र मनः' पाठ की संभावना नहीं रहती। ('अध्यवसायो बुद्धिः' और 'अभिमानोऽहङ्कार' वाक्यद्वय के साथ 'संकल्पकमत्र मनः' वाक्य का रचनासादृश्य देखने योग्य है)। युक्तिदीपिका में तथा उत्पलकृत बृहत्संहिता की टीका में यही पाठ है।

प्रश्न होगा कि वाचस्पति ने कारिका का जो प्रतीक दिया है—"इन्द्रियं च इति। कुतः साधर्म्यात्" उसकी क्या संगति होगी? हमारा कहना है कि जब हम मूलपाठ को 'तच्-चेन्द्रियम्' मानते हैं, तब 'इन्द्रियं च' ईदृश प्रतीक देने में कोई बाधा नहीं है। हमारा यह निश्चित मत है कि 'तच्चेन्द्रियम्' ही कौमुदी का पाठ था, जो बाद में भ्रमवश 'इन्द्रियं च' हो गया है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि वाचस्पति ने जो 'साधर्म्यात्' को प्रतीक के रूप में पढ़ा है, उसकी क्या गति होगी ? क्योंकि इस नये पाठ में 'साधर्म्यात्' पद तो है ही नहीं। उत्तर यह है कि 'साधर्म्यात्' कारिकावाक्य का कोई प्रतीक नहीं है। यदि यह प्रतीक होता तो तत्त्वकौमुदी में इस शब्द के बाद 'इति' पद का पाठ होता, जैसा कि वाचस्पति ने अन्य प्रतीकों के साथ पढ़ा है।

कारिकाव्याख्या के आरम्भ में वाचस्पति ने जो 'उभयात्मकमिति' पढ़ा है, वह भी 'उभयथेति' होगा। वाचस्पति ने ऐसा कुछ भी नहीं कहा जिससे ध्वनित होता है कि मूल का पाठ उनकी दृष्टि में 'उभयात्मकम्' ही था। मूल के 'उभयथा' पद की व्याख्या उन्होंने 'उभयात्मकम्' कहकर की है (टीकाकार इस प्रकार से व्याख्या करने के अधिकारी हैं)। इस 'उभयात्मकम्' शब्द के कारण ही बाद में यह भ्रान्ति उत्पन्न हुई कि 'उभयात्मकम्' ही मूल का पाठ है।

यह तर्क नहीं किया जा सकता कि जब टीका में प्रथम उपन्यस्त प्रतीक 'उभयात्मकम्' (या 'उभयथा') है तब कारिका का आरम्भ भी इस शब्द से ही नियमतः होना चाहिये। व्याख्याकार प्रयोजन के अनुसार मूल के जिस पद को चाहे उसकी व्याख्या पहले या पीछे कर सकते हैं—यह हमारी परम्परागत शैली है। व्याख्यानगत मूलस्थ पदों के पौर्वापर्य को देखकर ही मूलपाठ का निर्धारण नहीं किया जा सकता।

'उभयात्मकमत्र मनः' पाठ पर भी कुछ वक्तव्य है। 'अत्र' का जो सार्थक्य टीकाकार दिखाते हैं (अत्र=एकादशसु इन्द्रियेषु मध्ये) वह वस्तुतः कोई सार्थक्य नहीं है। इस पाठ के विषय में कई विकल्प हो सकते हैं। यथा—'अत्र' पाठ यदि ठीक है तो हम समझते हैं कि अत्र=इसमें=इस परम्परा में अर्थात् ईश्वरकृष्ण की परम्परा के अनुसार। तात्पर्य यह कि ईश्वरकृष्ण की परम्परा में मन रूप एक ही पदार्थ को 'संकल्पक' भी माना जाता था, 'इन्द्रिय' भी। यह मत अन्य-आचार्य-संमत नहीं है। यह बात सत्य हो सकती है, क्योंकि मन को इन्द्रिय न मानने वाली एक प्राचीन परम्परा भी है। इस परम्परा में 'बाह्यविषय का द्वारभूत होना' ही इन्द्रिय का स्वरूप स्वीकृत होता है विषयमात्र का नहीं (अर्थात् आन्तरविषय का वाहक मन इन्द्रिय नहीं है)।

हम 'उभयात्मकम्' पाठ को सांशयिक समझते हैं। इसका प्रमुख कारण है=मन की उभयात्मकता का अयौक्तिक होना। 'उभय की आत्मा आत्मा है जिसकी'—यह उभयात्मक का अर्थ है। (शब्दशास्त्र के नियम के अनुसार प्रथम आत्मा शब्द का लोप होगा)। आत्मा=धर्म या स्वभाव या अन्य जो भी हो—किसी भी अर्थ की पूर्ण संगति मन के साथ लगती नहीं है। द्विविध इन्द्रियों के प्रवर्तक होने के कारण मन उभयात्मक है—यह कोई युक्ति नहीं है। यही कारण है कि मेधातिथि भी मनु के 'स्वगुणेनो-

भयात्मकम्' (२।६२) इस मनपरक-वचनगत उभयात्मक शब्द की दो व्याख्याएँ की हैं, जो एक दूसरे से अत्यन्त पृथक् है।

हमारी दृष्टि में मन उभयात्मक है, ऐसा न कहकर 'मन संकल्पक है तथा इन्द्रिय भी है—इन दो प्रकारों से (उभयथा) मन कथित हुआ है' यह मत अधिक युक्त है और इसी दृष्टि से हम 'संकल्पकमत्र मनः तच्चेन्द्रियमुभयथा समाख्यातम्' ऐसा 'उभयथापद-घटित पाठ को ही युक्ततर समझते हैं। यही कारण है कि व्यासभाष्य में मन को उभयात्मक न कहकर 'सर्वार्थ' कहा गया है (२।१६) सर्वं=सर्वविध इन्द्रिय (=दश इन्द्रिय) के अर्थ (=विषय) जिसके अर्थ हैं, वह सर्वार्थ (बहुव्रीहि में प्रथम अर्थ शब्द का लोप हुआ है)। उभयथा=उभयप्रकारेण; प्रकार=सामान्य का भेदक विशेष।

'अत्र' शब्द के आधार पर हमने जो संप्रदाय-भेद का अनुमान किया है, वह अभी अंशतः अप्रतिष्ठ हैं; अतः हम यह भी सोच सकते हैं कि यहाँ मूलपाठ भ्रष्ट हो गया है। क्या मूलपाठ 'संकल्पक-मन्तृ मनः तच्चेन्द्रियमुभयथा समाख्यातम्' (मन संकल्पकारी भी है और मननकारी भी) ऐसा हो सकता है?

कारिका के पूर्वार्धं का कहना है कि (१) मन (जो अहंकार का कार्य है) संकल्पक है; (२) वह इन्द्रिय कहलाता है (बुद्धि और अहङ्कार करण कहलाते हैं,पर इन्द्रिय नहीं कहलाते); (३) मन उभयथा उक्त है (अर्थात् संकल्पकृत् तथा इन्द्रियरूप से)। (अस्मदीय व्याख्या)।

हम समझते हैं कि चूँकि इन्द्रिईँ बाह्यविषय की व्यवहारकारी हैं, अतः मन को इन्द्रिय कहने का हेतु होगा—मन का बाह्य विषय के साथ योग मन का यह बाह्य-विषय-योग कैसा है? मन का वह योग जिसके रहने पर ही इन्द्रियाँ विषय को जान पाती हैं या विषय का चालन कर पाती हैं वही मन का बाह्यविषय-योग है। रूपादिमय वस्तु के रहने पर भी तथा चक्षु आदि के विषयग्रहणयोग्य रहने पर भी रूपादि-ज्ञान सदैव नहीं होता है—यह एक तथ्य है। मन का जो योग विषयग्राहक इन्द्रियों को विषयग्रहण में समर्थ बनाता है, वही मन का 'इन्द्रिय' रूप है।

विशेष्य-विशेषण-भाव (=धर्मधर्मिभाव) से कल्पना करना संकल्प है—यह वाचस्पति कहते हैं। हमारी दृष्टि में संकल्प का यह एक स्थूल रूप है। हम समझते हैं कि बाह्येन्द्रियसाध्य विषयज्ञान होने पर उन ज्ञानों को लेकर पूर्वानुभूत विषयों को मिलाकर जो चिन्तन होता रहता है, वह 'संकल्प' है। विशेष्य-विशेषण-भाव द्वारा विवेचन संकल्प का अन्यतम प्रधान उदाहरण है। स्मृति की सहायता से अतीतज्ञान के साथ वर्तमान ज्ञान का संयोजन करना मुख्य संकल्प है। क्लृपि धातु से संकल्प शब्द की निष्पत्ति से भी उपर्युक्त भाव की ही पुष्टि होती है।

पूर्वानुभव के साथ योग होना संकल्प का अच्छेद्य अङ्ग है। 'पीठ में जिस हाथ का स्पर्श है, वह मेरी माँ के हाथ का है, अन्य का नहीं'—यह स्पर्शज्ञान त्वक् रूप इन्द्रिय द्वारा

साध्य नहीं है; संकल्पक मन द्वारा साध्य है। यह विवेकप्रतिपत्ति भी पूर्वानुभव से संवद्ध है। नाम-जाति-आदि का योग कल्पना है, यह कल्पना भी पूर्णतया पूर्वानुभव पर आधृत है। यह संकल्पन तमःप्रधान व्यापार है, क्योंकि इसमें संस्कार की प्रमुखता है। यह मन वस्तुतः पूर्वानुभवजन्य संस्कार और संस्कार का कार्यभूत स्मृति का आश्रय है। 'मैं जाऊँगा' मैं यह करूँगा' इत्यादिभाव अहङ्कारक्षेत्र से संवद्ध है—संकल्प क्षेत्र से नहीं। 'संकल्प' शब्द अनेकार्थक है। सांख्य में पूर्वोक्त अर्थ में संकल्प शब्द मुख्यतया प्रयुक्त होता है। सांख्यज्ञान के प्रतिपादन के समय संकल्प शब्द का उपर्युक्त अर्थ में ही नियत व्यवहार इतिहास-पुराणादि में नहीं मिलता—यह ज्ञातव्य है।

इस मन के विषय में दो प्रश्न उठते हैं—(१) मन के इन दोनों रूपों (संकलपकारी और इन्द्रिय रूप) को दो पृथक् पदार्थ ही क्यों नहीं माना गया ? तथा (२) द्विविध इन्द्रिय के साथ मन का जो योग है वह क्या एक ही प्रकार का है, या विभिन्न प्रकार का है ? प्रसंख्यानभाष्य में इस विषय पर विशद विचार द्रष्टव्य है।

'गुणपरिणामविशेषात् नानात्वं बाह्यभेदाच्च' (अस्मत्संमत पाठ) में मुख्य विचार्य यह है कि 'नानात्व गुणपरिणामविशेष हेतुक है' यह यही क्यों कहा गया ? हम समझते हैं कि अभी तक कहे गये महत्, अहंकार, मन और १० इन्द्रियों (अर्थात् सभी करण जो जीवत्व का मुख्य भाग हैं) के नानात्व को उपपन्न करने के लिये यह हेतु है—अहंकार से ११ इन्द्रियाँ कैसे हुई हैं—केवल इस प्रश्न के उत्तर के लिये नहीं जैसा कि वाचस्पति समझते हैं। जब एक ही करण से काम चल सकता है (विशेष कर जब कि अहंकार आदि मूलतः बुद्धि के ही कार्यभूत हैं) तब इतने करण क्यों हुये हैं—यह है प्रश्न। कारिकाकार का उत्तर है कि ऐसा होना (अर्थात् उपर्युक्त १३ करणों का होना) गुणस्वभाव के अनुसार है।

गुणस्वभाव में ऐसा क्या है, जिसके कारण पूर्वोक्त १३ करण स्वाभाविक रूप से प्रकटित होते हैं—यह सांख्ययोगविद्या का परम रहस्य है। त्रिगुण-परिणाम के भेद के लिये दो हेतु हैं; प्रथम हेतु है—त्रिगुण की परिणामशीलता अर्थात् गुणप्रधान-भाव में अवस्थान। चूँकि गुण अन्योन्य-अभिभव-आश्रय-जनन-मिथुन वृत्ति हैं, अतः गुण की जो वैषम्यावस्था है, वह कभी भी एक प्रकार की नहीं होती तथा प्रत्येक प्रकार भी स्वगत भेदवान् होता है। द्वितीय हेतु है—ग्राह्य विषय का भेद। उदाहरण के लिये परिणामशीलता के कारण ही बुद्धि अहङ्कार में परिणत होती है यह बात नहीं; बुद्धिबाह्य विषय के साथ संवद्ध होना भी एक हेतु है। उसी प्रकार अहंकार जो मन तथा दस इन्द्रियों में परिणत होता है उसका हेतु जिस प्रकार इसकी परिणामशीलता है, उसी प्रकार बाह्य विषय के साथ पृथक् पृथक् रूप से अभिसंबन्ध होना भी एक हेतु है। ये दो हेतु एक साथ ही प्रवृत्त होते हैं—ऐसा

अनुमित होता है। यह स्पष्टतया जानना चाहिये कि सुप्तवत् स्थिति में स्थित लिङ्ग विषय की अभिव्यक्ति होने पर जागरित होता है और वैषयिक क्रिया द्वारा उपरक्त होता है। इस उपरक्तता के कारण अध्यवसाय से अभिमान व्यक्त होता है; यह अभिमान भी स्थूलतर-विषय सम्पर्क निबन्धन विषयव्यवहारोपयोगी होता रहता है और अभिमानधर्मक अहङ्कार से इन्द्रियों की अभिव्यक्ति होती है।

गुणपरिणाम भेद की वाचस्पतिकृत व्याख्या सांख्यीय दृष्टि को कथमपि स्पष्ट नहीं करती। वे धर्माधर्मरूप अदृष्ट (जो गुणपरिणाम ही है) रूप सहकारी के भेद को इन्द्रियभेद का निमित्त समझते हैं। इन्द्रियों की अभिव्यक्ति में धर्माधर्म (संस्काररूप) की कोई हेतुता है—यह सांख्य नहीं मानता। इन्द्रियशक्ति के उत्कर्षापकर्ष आदि में ही धर्माधर्म की हेतुता है। धर्माधर्म का संबन्ध कर्माशय के साथ है—तत्त्वों की अभिव्यक्ति के साथ नहीं ॥२७॥

---

(१) तदेवमेकादशेन्द्रियाणि स्वरूपत उक्त्वा दशानामप्यसाधारणी वृत्तीराह—

रूपादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः ।
वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम् ॥ २८ ॥

(२) बुद्धीन्द्रियाणां समुग्धवस्तुदर्शनमालोचनमुक्तम्। वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानां कर्मेन्द्रियाणाम्। कण्ठताल्वादिस्थानमिन्द्रियं वाक्, तस्या वृत्तिर्वचनम्। ज्ञानेन्द्रियाणां वृत्तयः स्पष्टाः ॥ २८ ॥

---

(१) इस प्रकार ग्यारह इन्द्रियों के स्वरूप का उल्लेख कर अब दस इन्द्रियों (५ बुद्धीन्द्रियों और ५ कर्मेन्द्रियों) के असाधारण व्यापारों का निर्देश करते हैं :—

चक्षु आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियों की वृत्ति (=व्यापार) रूप, शब्द, गन्ध रस, और स्पर्श—इन पाँचों विषयों का 'आलोचनमात्र' (=संमुग्ध-वस्तु-ज्ञान-मात्र) है, ऐसा कहा जाता है। तथैव वाक् आदि पाँच कर्मेन्द्रियों के व्यापार वचन (=वाक्योच्चारण), आदान (=ग्रहण), विहरण, उत्सर्ग (=मलत्याग) और आनन्द (=मैथुनकर्म) कहे जाते हैं ॥२८॥

(२) ज्ञानेन्द्रियों द्वारा वस्तुसामान्यविषयक निर्विकल्पज्ञान 'आलोचन' है—यह कहा गया है। वचन (=ध्वन्युत्पादन), आदान (=ग्रहण), विहरण (=गमन), उत्सर्ग (=मलादित्याग) एवं (मैथुनजनित) आनन्द ये पाँच ज्ञानेन्द्रियों के (कार्य) हैं। कण्ठ, तालु आदि उच्चारण स्थानों में रहने वाली इन्द्रिय 'वाक्' कहलाती है। उसकी वृत्ति (=व्यापार) 'वचन' है। ज्ञानेन्द्रियों की वृत्तियाँ सहजतः समझ में आ जाती हैं ॥२८॥

२८वीं कारिका की व्याख्या

तत्त्वकौमुदी के अनुसार 'रूपादिषु···'पाठ ही उचित प्रतीत होता है, क्योंकि बुद्धिन्द्रियों की गणनाकारी कारिका चक्षुः से गणना का आरम्भ करती है (२६)। वाचस्पति कहते हैं—चक्षुरादिभिरुक्तानि। जो २८वीं कारिका में 'शब्दादिषु' पाठ करते हैं, उनके लिये श्रोत्र से इन्द्रियगणना का आरम्भ करना ही न्यायप्राप्त होता है।

वाचस्पति के 'समुग्धवस्तुदर्शनम् आलोचनम् उक्तम्' वाक्य से कुछ लोग यह समझते हैं कि आलोचनज्ञान चाक्षुप रूप से ही संबद्ध है; **यह भ्रान्त दृष्टि है**। प्रत्येक ज्ञानेन्द्रियमात्र द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है (जैसा कि आगे कहा जायेगा) वह आलोचनज्ञान है। वाचस्पति के उपर्युक्त वाक्य में जो 'दर्शन' शब्द है, वह चाक्षुपज्ञानमात्र-वाची नहीं है। ज्ञानसामान्य में, बहिरिन्द्रियसाध्य ज्ञानमात्र में दर्शन 'शब्द' सुप्रचलित है; अतः यहाँ 'सम्मुग्ध-वाह्यवस्तु-ज्ञानम् आलोचनम्' अर्थ ही ग्राह्य होना चाहिये। तत्त्वकौमुदी में प्रयुक्त 'संमुग्ध' शब्द वस्तुदर्शन का विशेषण है, वस्तु का नहीं।

संमुग्ध के अनुवाद में डॉ० आद्याप्रसाद कहते हैं—"अविविक्त वस्तु का अस्पष्ट या निर्विकल्पप्रत्यक्ष-ज्ञान 'आलोचन' कहा गया है" (पृ६ २४८)। यह स्पष्ट है कि यह 'अविविक्त' शब्द कौमुदी के 'संमुग्ध' शब्द के लिये दिया गया है, और इस शब्द को वस्तु के विशेषणं के रूप में ही प्रयुक्त किया गया है। दर्शनशस्त्रवित् जानते ही हैं कि यहाँ 'वस्तु की संमुग्धता' का कोई प्रश्न नहीं है 'वस्तुदर्शन की संमुग्धता' ही विवक्षित है। अन्यत्र भी उन्होंने कहा है—"अविविक्त समस्त वस्तु के विषय में···अस्पष्ट निर्विकल्प ज्ञान होता है"(पृ. २४४)। यह असंगत हैं। एक बात और। आलोचन ज्ञान को जो अस्पष्ट कहा गया है, यह 'अस्पष्टता' क्या है ? निर्विकल्प (=आलोचन) ज्ञान वस्तु के स्वरूप मात्र को विषय करता है—जो ज्ञान अपनी विषयभूतवस्तु में किसी भी प्रकार के विशेषण के संबन्ध का अवगाहन नहीं करता, उसे निर्विकल्प या निर्विकल्पक कहा जाता है। **यह बात स्पष्टतया जान लेनी चाहिये कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष में गो, गोत्व तथा समवाय-संबन्ध—इन तीनों का ज्ञान होता है** (न्यायमत), पर ये विशेष्यविशेषणरूप से भासित नहीं होते—विशुद्ध वस्तु के रूप में ही भासित होते हैं। अनेक नैयायिक इस निर्विकल्प के प्रमात्व को भी स्वीकार करते हैं। **इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि निर्विकल्प को 'अस्पष्ट' कहना एक अस्पष्ट कथन ही है**, जब तक न 'अस्पष्टता' का स्वरूप स्पष्ट किया जाये। अस्पष्ट (indistinct) शब्द से निर्विकल्प ज्ञान का परिचय देना वस्तुतः असंगत है। दूर से किसी को देखने से जो 'अस्पष्ट दर्शन' होता है—उसे अज्ञ व्यक्ति निर्विकल्प[1]

---

१. डा० चन्द्रधर शर्मा कहते हैं कि सिनेमागृह में प्रथमतः प्रविष्ट होने पर हम देखते हैं—a dim sensation of the objects present there which gradually

समझते हैं; इससे न्यायशास्त्रीय ज्ञानविश्लेषण उपहासास्पद हो गया है। अस्पष्टता का संबन्ध भ्रमज्ञान से है।

शब्द आदि गुणों (गुण या धर्म का उल्लेख होने पर धर्मधर्मिभाव के अनुसार ही उसका तात्पर्य समझना चाहिये) में कर्ण आदि ज्ञानेन्द्रियों की जो वृत्ति (=व्यापार) है वह आलोचन कहलाता है। आलोचनमात्रम्=आलोचनमेव। केवल इन्द्रियसाध्य ज्ञान यह है। यह इन्द्रियों की विषयाकार-वृत्ति-मात्र ही है—सांख्यीय प्रक्रिया के अनुसार यह ज्ञान वस्तुतः इन्द्रियगत स्थूल अस्मिता का परिणाम है। यह आलोचन नाम, जाति के संबन्ध से शून्य है। 'का-का' शब्द का सुनना मात्र आलोचन है; पर 'यह काक का शब्द है,' 'यह कटु है,' इत्यादि संबन्धों का योग होने पर (जो स्मृति आदि के बिना नहीं हो सकता) वह आलोचन नहीं होता।

आलोचनज्ञान सामान्याकारमात्र नहीं है। इसमें विशेष धर्म का ज्ञान भी रहता है, अतः यह ३।४७ योगसूत्रोक्त ग्रहण ही है—यह सिद्ध होता है। पर यह संकल्पशून्य है संकल्पशून्य होने पर भी इस ज्ञान में इन्द्रियरूपी मन का योग है, क्योंकि मन के योग के बिना इन्द्रिय वैषयिक चाञ्चल्य का ग्रहण नहीं कर सकती। सांख्यीय-प्रक्रियानुमत विषयेन्द्रियस्वरूप को छोड़कर यदि कहा जाये तो न्यायशास्त्रीय निर्विकल्पज्ञान और यह आलोचन ज्ञान समान है—यह कहा जा सकता है[1]।

यहाँ एक प्रश्न उठता है—जब ज्ञानेन्द्रिय अन्तःकरण के द्वारा अधिष्ठित होकर ही विषयप्रकाशन रूप कार्य करती है तब केवल आलोचनवृत्ति का उद्भव ही कैसे होता है? संकल्पक मन के साथ जिसका ज्ञानकारक योग नहीं है ऐसी इन्द्रिय का योग स्वविषयके साथ है—क्या यह संभव है? क्या कारण है कि रूप के साथ चक्षु का जब योग होता है तब

---

reveal themselves to us; the dim sense-experience of the objects in the hall is 'indeterminate perception' (=निर्विकल्प प्रत्यक्ष) (C. S. I. P. p. 194). कोई भी न्यायशास्त्रवेत्ता इस अस्पष्ट sensation या sense-experience को निर्विकल्प प्रत्यक्ष नहीं मान सकता। 'आलोचनज्ञान' (निर्विकल्प) को यथावत् न समझने के कारण कभी कभी ऐसी बातें कही जाती हैं जिनका कोई अर्थ प्रतीत नहीं होता। एक उदाहरण लें। डा० व्रजमोहन कहते हैं—"(२८वीं) कारिका में आलोचन पद का अर्थ ज्ञान नहीं, अपितु प्रकाशनमात्र है, अर्थात् सन्निकृष्ट वस्तु के विषय में सामान्यात्मक बोध। मात्रपद अविशेष की व्यावृत्ति और विशेष के ग्रहण के लिये प्रयुक्त हुआ है, जिसका अभिप्राय यह है कि चक्षु रूपमात्र का बोधक है, रस आदि का नहीं" (पृ० ११५)। न्यायशास्त्र में कृतपरिश्रम किसी से यह पूछना चाहिये कि उनको इस सन्दर्भ की कोई संगति लग रही है या नहीं।

१. इन्द्रियों के पाँच रूप हैं (योगसूत्र ३।४७); इन पाँचों में स्वानुरूप सविकल्प-निर्विकल्प होते हैं या नहीं—इसका विचार प्रसंख्यानभाष्य में द्रष्टव्य है।

संकल्पक मन के साथ चक्षु का योग नहीं होता? कल्पनाशून्य विषयज्ञान उत्पन्न ही क्यों होता है? क्यों न सदैव सविकल्पक ज्ञान ही हो? उत्तर—कल्पना स्मृतिरूप है; स्मृति संस्कार का कार्य है; संस्कार को स्मृतिरूप-कार्य उत्पन्न करने के लिये कोई उद्बोधक-हेतु चाहिये। यहाँ यह उद्बोधक हेतु 'विषय द्वारा इन्द्रिय का उपरंजन' ही है। यह उपरंजन मनोगत संस्कार को स्मृतिरूप में परिणत होने के लिये प्रेरित करता है। इस परिणाम से पहले ही यह उपरंजन रूप चाञ्चल्य ज्ञानरूप में प्रकाशित हो जाता है। यही कारण है कि **पहले आलोचनरूप कल्पनाहीन ज्ञान उत्पन्न हो जाता है और तब सविकल्पज्ञान उत्पन्न होता है।**

संकल्पक मन के साथ योग होना एक स्वाभाविक घटना है। वाक्य द्वारा अभिहित न होने पर भी यह सविकल्प ज्ञान उत्पन्न होता है—सर्वथा मूक व्यक्तियों में भी यह ज्ञान उत्पन्न होता है। क्योंकि उनमें भी संकल्पक मन का व्यापार यथावत् होता ही है[1]।

'त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम्' (का० ३३) वाक्य से जाना जाता है कि मन का योग जब होता है तब अतीत-अनागत काल से सम्पर्कित विषय के साथ संबन्ध होता है। अत: sensation, और co-ordinated sensation आलोचन क्षेत्रीय ही हैं। इसके बाद perception; इनमें भी वर्तमान काल का ही संबन्ध है। पर जैसे ही इस ज्ञान के साथ पूर्वसंस्कार या पूर्वगृहीत किसी ज्ञान का योग होता है, तत्काल ही यह आलोचन न होकर 'प्रत्यक्ष' का अन्तर्गत हो जाता है। उदाहरणार्थ का-का-ध्वनियाँ और उनका समाहार —दोनों ही आलोचन हैं; पर जैसे ही यह बोध होगा कि यह कौआ का शब्द है (इसमें अतीत काल में ज्ञात विषय के ज्ञान के साथ वर्तमान ज्ञान का योग है) तत्काल ही यह आलोचन न होकर सविकल्प (प्रत्यक्ष) हो जायेगा। इसी प्रकार 'मुझको यह शब्द प्रिय या अप्रिय लग रहा है'—यह भी चित्तगत राग से संबद्ध होने पर ही होता है (जो सुख का अनुशयी है)। अत: यह भी आलोचन न होकर प्रत्यक्ष है।

जब यह निश्चित है कि अहङ्कार का स्थूलभाव इन्द्रियाँ हैं, तब इन्द्रियाँ (विकारमात्र के परिछिन्न होने के कारण) परिछिन्न होंगी ही। इस दृष्टि में इन्द्रियाधीश मन भी परिछिन्न है, प्रकृति की तरह नित्य, व्यापी, अनाश्रित, निरवयव स्वतन्त्र नहीं है। जिस दृष्टि में प्रकृति अवयवहीन है, उस दृष्टि में मन तथा इन्द्रियाँ सावयव हैं। [नैयायिक मन को अणु (=निरवयव) कहते हैं, पर उनकी अवयव-सांख्यीय संबन्धी धारणा नहीं है—यह ज्ञातव्य है]।

---

१. यौगिक कौशल से संकल्पनशून्य प्रत्यक्षज्ञान को उद्भूत किया जा सकता है—यह निर्विचारा-निर्वितर्का-समापत्ति-द्वय को देखने से ज्ञात होता है। आलोचनज्ञान से समापत्तिज ज्ञान का मौलिक भेद है—इस विषय पर विशद विचार के लिये प्रसंख्यानभाष्य द्रष्टव्य है।

यदि सांख्य इन्द्रिय को विभु कहता है तो वह इन्द्रिय की विषय-व्यापन-क्रिया को देखकर ही ऐसा कहता है; अथवा इन्द्रियों को सावयव मानकर कहता है (अवयवसंबन्धी उनकी धारणा के अनुसार)। इसी प्रकार विभिन्न-इन्द्रिय-गृहीत सभी विषयों का ग्रहण अकेला एक मन करता है—इस दृष्टि से मन को कोई सांख्याचार्य 'विभु' कह ही सकता है; तथैव प्रकृति की तरह मन विभु नहीं है, ऐसा समझकर कोई मन को अणु भी कह सकता है (यह परिभाषा बनाकर कि जो विभु नहीं है, वह अणु है)। जिस महत्तत्व को उसकी व्यापिता को देखकर हम विभु कहने के लिये उद्यत हो जाते हैं, वह दृष्टिभेद से अणु भी कहला सकता है (देशव्याप्तिशून्यता के कारण, अथवा अन्य करण की अपेक्षा सूक्ष्मता के कारण)। देशव्यापिता के कारण किसी पदार्थ को यदि कोई विभु कहता है, तो वह मन को अ-विभु=अणु कहेगा। सभी विषयों के साथ संबद्ध होने की योग्यता है—इस दृष्टि से जो मन को विभु कहता है वह इन्द्रियों को अणु कहेगा, पर अन्य दृष्टि से इन्द्रियों को भी विभु कहा जा सकता है।

किसी वस्तु पर विचार विचारक के दृष्टिकोण का भी सापेक्ष है और इसीलिये वस्तु-स्वभाव में एकरूपता रहने पर भी तथा उस स्वभाव को यथावत् जानने पर भी उस स्वभाव के विवरण में मतभेद हो ही सकते हैं—यह बाह्य भेद है; इससे शास्त्र की मूल दृष्टि में कोई भेद या वैलक्षण्य नहीं हो जाता।[1]

इन्द्रियों की प्राप्यकारिता के विषय में भी यही दृष्टि प्रयोज्य है। सांख्यानुसार इन्द्रिय और विषय का जो स्वरूप है, तदनुसार ही विषय-इन्द्रिय-संबन्ध को जानना चाहिये। प्राप्यकारिता-अप्राप्यकारिता पर विचार करने के समय यह भूलना नहीं चाहिये कि इन्द्रिय के पाँच रूप हैं—ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवान्; उसी प्रकार विषय भी मूलतः मनोजातीय द्रव्य है; किंच इन्द्रियाँ तथा विषयमूल द्रव्य सजातीय हैं। अज्ञ व्यक्ति सांख्यीय 'इन्द्रिय' को न्यायमीमांसा-शास्त्र की दृष्टि से समझते हैं और सांख्य शास्त्र को कदर्थित करते हैं ॥ २८ ॥

---

(१) अन्तःकरणत्रयस्य वृत्तिमाह—

---

(१) अब त्रिविध अन्तःकरण की वृत्ति (=व्यापार) का वर्णन करते हैं :—

---

१. अत्यन्त प्राचीन आचार्यों के विभु-अणु-परक मतों के जो उद्धरण बाद के ग्रन्थों में मिलते हैं, उन उद्धरणमात्रों के आधार पर मतभेद-रूप सौध का निर्माण आजकल के विद्वान् करते हैं—यह अपप्रचेष्टा है, क्यों कि उद्धरण देनेवाले ग्रन्थकारों ने इन शब्दों के विवक्षित अर्थों को जानकर (अर्थात् कहाँ किस अर्थ में विभु-अणु शब्द प्रयुक्त हुये हैं—इसका परिज्ञानपूर्वक) उद्धरण दिये हैं—ऐसा हमें सर्वत्र प्रतीत नहीं होता।

स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य सैषा भवत्यसामान्या ।
सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च ॥ २९ ॥

(२) "स्वालक्षण्यम्" इति । स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य । स्वमसाधारणं लक्षणं येषां तानि स्वलक्षणानि महदहङ्कारमनांसि तेषां भावः स्वालक्षण्यम्; तच्च स्वानि[1]लक्षणान्येव । तद्यथा–महतोऽध्यवसायः, अहङ्कारस्याभिमानः, सङ्कल्पो मनसो वृत्तिर्व्यापारः (३) वृत्तिद्वैविध्यं साधारणासाधारणत्वाभ्यामाह—"सैषा भवत्यसामान्या"—असाधारणी । (४) "सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च" । सामान्या चासौ करणवृत्तिश्चेति । त्रयाणामपि करणानां पञ्च वायवो जीवनं वृत्तिः, तद्भावे भावात् तदभावे चाभावात् ।

(५) तत्र प्राणो नासाग्र-हृन्नाभि-पादाङ्गुष्ठवृत्तिः; (६) अपानः कृकाटिकापृष्ठपायूपस्थपार्श्ववृत्तिः ; (७) समानो हृन्नाभि-सर्वसन्धिवृत्तिः;

तीनों अन्तःकरणों (महत्-अहंकार-मन-नामक) के अपने अपने लक्षण ही उनके व्यापार हैं, (संकल्प आदि प्रत्येक के असाधारण व्यापार हैं) । 'प्राण' आदि पञ्च वायु (=वायुवत् संचारी) करणत्रय की साधारण वृत्ति हैं ॥ २९ ॥

(२) तीनों के अपने-अपने लक्षण ही वृत्ति (=व्यापार) हैं । जिनके 'स्व' अर्थात् अपने-अपने असाधारण लक्षण (=धर्म) हैं, वे महान्, अहङ्कार एवं मन 'स्वलक्षण' हुए और 'स्वलक्षण' का भाव 'स्वालक्षण्य' हुआ । तात्पर्य यह है कि तीनों अन्तःकरणों के स्वकीय लक्षण (=असाधारण धर्म) ही उनके व्यापार रूप वृत्तियाँ हैं—जैसे महत्तत्व का अध्यवसाय (=निश्चय, का० २३), अहङ्कार का अभिमान (का० २४), एवं मन का संकल्प (का० २७) (अध्यवसायादि लक्षण भी हैं, साथ ही व्यापार भी) ।

(३) अब साधारण और असाधारण रूप से अन्तःकरणों के द्विविध व्यापार को कहते हैं—ये (अध्यवसायादि) इन अन्तःकरणों के असामान्य या असाधारण व्यापार हैं । (४) 'प्राण आदि पाँच जो वायु भी कहलाते हैं इसके सामान्य (अर्थात् सभी का सम्मिलित) व्यापार हैं । सामान्यकरणवृत्ति=अन्तःकरण की वृत्ति (=व्यापार) जो सामान्य (=साधारण) है । [सामान्य पद करणवृत्ति का विशेषण है—कर्मधारय समास] । पञ्च प्राणवायु ही अन्तःकरण की सामान्यवृत्ति हैं । यह वृत्ति जीवन है; क्योंकि प्राणादि-क्रिया के रहने पर ही जीवन का अस्तित्व रहता है और उसके अभाव से जीवन का अभाव हो जाता है ।

(५) इनमें 'प्राण' नामक वायु नासाग्र, हृदय, नाभि, और पैर के अंगुष्ठ में रहता है । (६) 'अपान' वायु कृकाटिका (=कण्ठ का स्थानविशेष) पीठ, पाद, पायु (=मलत्यागेन्द्रिय) उपस्थ (=प्रजननेन्द्रिय) एवं पार्श्वों (=बगलों) में रहता है; (७) 'समान'

---

१. स्वानि स्वानि इति कैश्चित् पठ्यते ।

(८) उदानो हृत्कण्ठतालुमूर्धभ्रूमध्यवृत्तिः; (९) व्यानस्त्वग्वृत्तिरिति पञ्च वायवः ॥ २९ ॥

वायु हृदय, नाभि तथा सभी सन्धियों (=जोड़ों) में रहता है; (८) 'उदान' वायु हृदय, कण्ठ, तालु, मूर्वा और भ्रूमध्य में रहता है; (९) 'व्यान' वायु त्वक् (=चमड़े) में रहता है ॥ २९ ॥

२९वीं कारिका की व्याख्या

'सामान्य-करणवृत्ति' शब्दान्तर्गत जो करण है वह अन्तःकरण ही है, वाह्यकरण नहीं। हमारी दृष्टि में पाँच ज्ञानेन्द्रियों और पाँच कर्मेन्द्रियों की तरह पाँच धारणेन्द्रियाँ भी होनी चाहिये; ये पञ्च प्राण हैं।

विधारणकारी होने के कारण प्राण तमः-प्रधान है। यतः प्राणों के व्यापार प्रायः अलक्षित रूप से ही चलते रहते हैं और इनके अधिष्ठानभूत शारीर यन्त्र ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय के यन्त्रों की तरह असंकीर्ण नहीं हैं (ज्ञानेन्द्रिय के यन्त्र अत्यन्त विशद और असंकीर्ण हैं, कर्मेन्द्रियों के यन्त्रों में उतनी विशदता और असंकीर्णता नहीं है), अतः इन्द्रियों की तरह एक पृथक् तत्व के रूप में प्राण की गणना नहीं की गई है। ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ परस्पर-निरपेक्ष हैं (यह निरपेक्षता पूर्णनिरपेक्षता नहीं है)। प्राण के साथ इनकी अत्यन्त सापेक्षता दर्शनीय है। प्राण की सहायता के बिना ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रियों के व्यापार स्तब्ध हो जाते हैं। अलक्ष्यता और व्यापकता के कारण प्राण को पृथक् तत्त्व के रूप में गिना नहीं गया—ऐसा भी कहा जा सकता है।

पञ्च प्राणों के स्वरूप और उनके व्यापार संबन्धी पूर्वाचार्य-वचनों में बहुविध मतभेद दृष्ट होते हैं। प्राण का जैसा स्वरूप समझकर पञ्चप्राणों के कार्य कहे गये हैं—यह जानने से परस्पर असंबद्ध वचनों की संगति लगाई जा सकती है। योगादि के ग्रन्थों में प्राण शब्द का प्रयोग सर्वत्र एक ही अर्थ में किया नहीं गया है। किंच प्राण के भी स्थूल और सूक्ष्म रूप हैं। यह भी ज्ञातव्य है कि अध्यात्मशास्त्रीय प्राणसंबन्धी दृष्टि और आयुर्वेदशास्त्रीय प्राणसंबन्धी दृष्टि समान नहीं है। दोनों दृष्टियाँ समान हैं—इस भ्रान्त धारणा के वशीभूत होने के कारण ही प्राचीन व्याख्याकार प्राणसंबन्धी आर्षवचनों का संगत सार्थक्य नहीं दिखा सके—ऐसी मेरी धारणा है। अन्तःकरण-त्रय का सामान्यवृत्तिरूप प्राण चिकित्सा का विषय नहीं है; प्राण के अधिष्ठान अवश्य ही चिकित्सा-विषय हैं।

प्राण का शुद्धतम स्वरूप है अन्तःकरणगत वह शक्ति जो (अन्तःकरण को कार्यक्षम बना रखने के लिये) बाह्य विषय को शरीररूप से व्यूहित करती है, तथा शरीर का

विधारण करती है (शक्ति से शक्तिमान् भी गृहीत होगा)। विधारण=निर्माण, वर्धन और पोषण। अध्यवसाय-अभिमान-संकल्प-व्यापारवान् अन्तःकरण तभी कार्य कर सकता है, जब वह शरीररूप आधार में प्रतिष्ठित होता है (यह शरीर स्थूल-सूक्ष्म-भेद से अनेकविध है)। प्रलयकाल में शरीरहीन (पर शरीरधारणसंस्कार से युक्त) होकर जैव अन्तःकरण मोहयुक्त निद्रित अवस्था में रहता है, अतः वह पुरुषार्थाचरण नहीं कर सकता। सृष्टिकाल में अभिव्यक्त बाह्य विषय को अपनी प्राणशक्ति द्वारा शरीररूप से व्यूहित करने के बाद ही अन्तःकरण भोगापवर्ग की सिद्धि करने में प्रवृत्त हो जाता है। बाह्य विषय धार्यधर्म से युक्त है, अतः विधारक प्राण के द्वारा वह शरीररूप से व्यूहित (=विधार्य) होने योग्य है।

यह बाह्य विषय जब प्राणशक्ति के द्वारा शरीररूप से व्यूहित हो जाता है, तब वही प्राणशक्ति शरीर की स्थूलता-सूक्ष्मता के अनुसार स्वयं उपयोगी रूप का धारण कर के उस शरीर को विधृत रखती है—जीवित रखती है। उदाहरण के लिये पृथिवीलोकस्थ मनुष्यादि के शरीरों को जीवित (=कार्यक्षम) रखने के लिये प्राणशक्ति को एक स्थूल-रूप ग्रहण करना पड़ता हैं, जो वायु रूप है। चूंकि प्राण वायु-रूपी होकर मनुष्यादि के शरीरों को जीवित रखता है, अतः वायुशून्य होने पर ये शरीर मृत हो जाते हैं। वस्तुतः जिस जिस लोक में जिस जिस रूप में प्राणशक्ति शरीरों को जीवित रखती हैं, उस उस रूप की सहायता न पाने पर शरीर मृत हो जाते हैं। यह 'मरण' स्थूलदृष्टि से भी होता है, सूक्ष्मदृष्टि से भी, क्योंकि जो प्राणशक्ति शरीर को चलाती है, वह भी स्थूल और सूक्ष्म रूपों से कार्य करती हैं। **स्थूल प्राण के अभाव से स्थूल मृत्यु, सूक्ष्मप्राण के अभाव से सूक्ष्म मृत्यु होती है।** ऐसा हो सकता है कि स्थूल मृत्यु होने पर भी सूक्ष्म मृत्यु न हो। यही कारण है कि प्रक्रियाविशेष के बल पर स्थूल मृत्यु से युक्त किसी व्यक्ति को पुनः जीवित कर दिया जा सकता हैं (क्योंकि सूक्ष्म रूप से अभी वह जीवित है ही)। शरीर को मृत (मृतवत्) कर दीर्घकाल रहने के बाद हठयोगी उस 'मृत' शरीर को जो सक्रिय करते है, यह भी प्राण की इस द्विविधता के कारण ही संभव होता है। हृत्पिण्ड आदि को शरीर से विच्छिन्न कर कुछ काल पर्यन्त उनको 'जीवित' रखा जाता है, यह भी प्राण के द्विविध स्वरूप के कारण ही संभव होता है।[1]

पूर्वोक्त विचार से यह स्पष्ट है कि प्राण वस्तुतः हवा नहीं है, और न यह कोई गैस आदि ही हैं। प्राण अध्यात्मभूत करण है। वायु (=हवा) पाञ्चभौतिक द्रव्य (अर्थात्

१. 'जीवित रहना'-संबन्धी अनेक चिकित्साशास्त्रीय समस्याएँ अध्यात्मशास्त्रीय प्राणविद्या को जानने से स्वतः समाहित हो जाती है। जीवित रहना और मृत होना रूप क्रिया द्वय स्वगतभेदवान् है; अतः जिसको स्थूलतः जीवित या मृत कहा जाता है, वह सूक्ष्मतः वैसा नहीं भी हो सकता है।

विषय) है; प्राण करणरूप है । शरीरस्थ वायु प्राणकार्य का मुख्यतम सहायक है तथा इस वायु के बिना प्राणशक्ति कार्य नहीं कर सकती—इस दृष्टि से ही वायु को प्राण कहने की प्रथा प्रचलित हुई है । प्राण वायुवत् संचार करने के कारण वायु नाम से प्रसिद्ध है—यह जो प्रचलित मत है—यह अत्यन्त आधुनिक कल्पना है । प्राण तमःप्रधान है—विधारणानुकूल कार्य ही उसके हैं, अतः वह संचरणप्रधान नहीं है[1] । प्राणरूप करणशक्ति के अधिष्ठान-भूत जैव यन्त्र भी निश्चित हैं । वस्तुतः संचरण का प्रश्न गौण है । किंच सभी लोकों में वायु (=हवा) से प्राण का निकट सादृश्य है—यह भी नहीं कहा जा सकता । अन्य भूत से प्राण का जो संवन्ध है, स्पर्शगुणक वायुभूत से उस संवन्ध की अपेक्षा गाढ संवन्ध है—यह नहीं कहा जा सकता ।[2]

प्राण की शरीरसम्पर्कित विधारणक्रिया पाँच प्रकार से विभक्त हो सकती है; यथा—

१. प्राण—बाह्योद्भव बोध के अधिष्ठानों का विधारण
२. उदान—आन्तरबोध (शरीरोपादानभूत धातुजात बोध) के अधिष्ठानों का विधारण
३. व्यान—चालनक्रिया के अधिष्ठानों का विधारण
४. समान—शरीरपुष्टिकरण-रूप क्रिया के अधिष्ठानों का विधारण
५. अपान—ओजोहीन (=पुष्टि में अनुपयोगी) पदार्थ का आहार्य से पृथक्करण

ये पाँच व्यापार न केवल मनुष्य में हैं, पशु-पक्षि-रूप तिर्यक् प्राणी में भी हैं । उद्भिद् जाति में भी ये पाँच व्यापार हैं । इस जाति में प्राण का सर्वाधिक प्रावल्य है तथा ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय के व्यापार अस्फुट हैं । देवजाति में भी ये पाँच प्राणव्यापार हैं । शरीरजाति के अनुसार इन क्रियाओं के बाह्य रूप परिवर्तित होते हैं, पर मुख्य रूप सर्वत्र समान हैं । प्रजापति हिरण्यगर्भ तथा भूत-तन्मात्राभिमानी देवों में भी पञ्च प्राण हैं । इनके प्राणव्यापार उपर्युक्त प्राणियों के प्राणव्यापार से कुछ विलक्षण हैं; इस पर विशद विचार के लिये प्रसंख्यानभाष्य द्रष्टव्य है ।

---

१. गत्यर्थक वा-धातु से वायु शब्द निष्पन्न हुआ है । यह गति 'अलक्षित अवस्था में रहकर सर्वशरीर का नियन्त्रण करना' रूप है । हवा (वायु) प्रवहणशील है, अतः उसमें वायु शब्द सार्थक ही है । यदि प्राण को साक्षात् रूप से वायु कहा जाये, तो उपर्युक्त रूप से ही संगति करनी होगी । पृथिवी के प्राणियों के लिये वायुशून्य स्थान में जीवनधारण करना असंभव है, अतः प्राण को वायु कहा जा सकता है । वायु ग्राह्य भौतिक द्रव्य है—प्राण करणविशेष है ।

२. वायु के साथ प्राण का (कम से कम इस पृथ्वीपिण्ड में) निकट सम्पर्क है, क्योंकि वायु-संबद्ध क्रियाविशेष से अर्थात् प्राणायाम से पञ्च प्राण रूप करणों की शुद्धि वस्तुतः होती है ।

प्राण तमःप्रधान शक्ति है (विधारण करना इसका मुख्य कार्य है) । इसके बिना कोई भी इन्द्रिय कार्य नहीं कर सकती (इन्द्रियाधिष्ठान का निर्माण प्राण-सापेक्ष ही है) । पञ्च प्राण अपने किस रूप से किस इन्द्रिय और किस विषय से प्रधानतः संबद्ध रहते हैं, यह निम्न परिलेख से स्पष्ट होगा :—

सत्त्वप्रधान.........प्राण——वाक्——कर्ण——आकाश——शब्द
सत्त्व-रजः-प्रधान...उदान——पाणि——त्वक्——वायु——स्पर्श
रजः प्रधान.........व्यान——पाद——चक्षुः——तेजः——रूप
रजस्तमः-प्रधान......समान——उपस्थ——जिह्वा——अप्——रस
तमःप्रधान...........अपान——पायु——नासा——पृथ्वी——गन्ध

आयुर्वेदशास्त्र के अनेक गूढ रहस्यों का स्पष्टीकरण इस परिलेख की सहायता से किया जा सकता है । 'प्राणकार्यसंबन्धी वैदिक वचनों की उपपत्ति भी इस सांख्यीय विश्लेषण से की जा सकती है ॥ २९ ॥

(१) चतुर्विधकरणास्यास्यासाधारणीषु वृत्तिषु क्रमाक्रमौ सप्रकारावाह—

युगपच्चतुष्टयस्य तु वृत्तिः क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा ।
दृष्टे तथाप्यदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः ॥ ३० ॥

(२) "युगपदि"ति। दृष्टे यथा—यदा सन्तमसान्धकारे विद्युत्सम्पातमात्राद् व्याघ्रमभिमुखमतिसन्निहितं पश्यति, तदा खल्वस्यालोचनसङ्कल्पा-

---

(१) अब चारों प्रकार के करणों (तीन अन्तःकरण तथा एक बाह्यकरणविशेष) के असाधारण व्यापारों का क्रम (=पौर्वापर्य) तथा अक्रम (=यौगपद्य) अवान्तर भेद के साथ कहते हैं :—

प्रत्यक्ष (विषय) में चारों ही (कोई एक बाह्य तथा तीन आन्तर) करणों के व्यापार कभी एक साथ और कभी क्रमशः लक्षित होते हैं । इसी प्रकार अदृष्ट (=अप्रत्यक्ष) विषय में तीनों अन्तःकरणों की वृत्तियाँ (=व्यापार) कभी एक साथ और कभी क्रमशः प्रत्यक्षपूर्वक होती हैं ॥ ३० ॥

(२) प्रत्यक्ष (विषय) के विषय में युगपद् वृत्ति का दृष्टान्त, यथा—जब घने अन्धकार में विद्युत् के चमकने से कोई व्यक्ति बाघ को अपने अभिमुख अत्यन्त निकट में देखता है, तब उसके (बाह्येन्द्रिय-जनित) आलोचन, (मानस) संकल्प, (अहङ्कार-कृत) अभिमान तथा (बुद्धि-कृत) अध्यवसाय एक साथ (=एक क्षण में) ही प्रादुर्भूत होते हैं; यही कारण है कि वह तत्काल ही उस स्थान से कूद कर भागता है ।

भिमानाध्यवसाया युगपदेव प्रादुर्भवन्ति, यतस्तत उत्प्लुत्य तत्स्थानादेकपदेऽपसरति। (३) क्रमशश्च—यदा मन्दालोके प्रथमन्तावद् वस्तुमात्रं सम्मुग्धमालोचयति, अथ प्रणिहितमनाः कर्णान्ताकृष्ट-सशरशिञ्जिनीमण्डलीकृतकोदण्डः प्रचण्डतरः पाटच्चरोऽयमिति निश्चिनोति, अथ च माम्प्रत्येतीत्यभिमन्यते, अथाध्यवस्यत्यपसरामीतः स्थानादिति।

(४) परोक्षे त्वन्तःकरणत्रयस्य बाह्येन्द्रियर्जं वृत्तिरित्याह—"अदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः" इति। अन्तःकरणत्रयस्य युगपत्क्रमेण वृत्तिर्दृष्टपूर्विकेति। (५) अनुमानागमस्मृतयो हि परोक्षेऽर्थे दर्शनपूर्वाः प्रवर्तन्ते नान्यथा। यथा दृष्टे तथाऽदृष्टेऽपीति योजना ॥ ३० ॥

---

(३) (प्रत्यक्ष पदार्थ के विषय में) क्रमशः वृत्ति का दृष्टान्त, यथा—जब कोई व्यक्ति मन्द प्रकाश में पहले केवल सम्मुग्ध (=अविशद रूप से) वस्तुमात्र को देखता है (अर्थात् आलोचन ज्ञान होता है; द्र० तत्त्वकौ० २७) तब स्थिर चित्त से वह निश्चय करता है कि यह व्यक्ति शर और ज्या से युक्त मण्डलाकार धनुष का कर्णपर्यन्त आकर्षण कर रहा है, अतः यह भीषण चोर है (स्थाणु आदि नहीं—यह विवेचन मनःकार्य है)। फिर उसे यह अभिमान होता है कि वह मेरी ओर आ रहा है (यह अहङ्कार का कार्य है) और बाद में यह निश्चय करता है कि इस स्थान से भाग जाऊँ (यह बुद्धि का कार्य है)। (इस प्रकार वृत्तियाँ क्रमशः होती रहती हैं)।

(४) परोक्ष (=अप्रत्यक्ष) पदार्थ के विषय में बाह्य इन्द्रियों के योग के विना ही तीनों अन्तःकरणों की वृत्तियाँ (=व्यापार) होती हैं, यह कहते हैं—"अदृष्ट पदार्थ के विषय में तीनों के व्यापार 'तत्पूर्व' अर्थात् दृष्ट (=प्रत्यक्ष)-ज्ञानपूर्वक एक साथ और क्रमशः भी होते हैं"। युक्ति यह है कि परोक्ष विषय का ज्ञान कराने वाले अनुमान (=अनुमिति) आगम (=शाब्दबोध) और स्मरण प्रत्यक्ष-ज्ञानपूर्वक ही प्रवृत्त होते हैं; अन्यथा नहीं। जिस प्रकार दृष्ट (विषय) में तथैव अदृष्ट (विषय) में भी (वे युगपत् और क्रमशः प्रवर्तित होते है)—इस प्रकार वाक्ययोजना करनी चाहिए ('अपि' को 'अदृष्टे' के बाद पढ़ना चाहिए) ॥ ३० ॥

३०वीं कारिका की व्याख्या

वाचस्पति के अनुसार कारिका का तात्पर्य यह है—"तीन अन्तःकरण और एक बाह्य करण (चतुष्टय=चार अवयव हैं जिसके) का जो समूह है (ऐसे पाँच समूह होंगे, क्योंकि पाँच ज्ञानसाधक बाह्यकरण हैं) उस समूह के अन्तर्गत जो चार वृत्तियाँ हैं,

(प्रत्येक करण की एक एक वृत्ति) वे युगपत् भी होती हैं, क्रमशः भी होती हैं। इस समष्टि की वृत्तियों का विषय दृष्ट (प्रत्यक्ष) ही होता है—अप्रत्यक्ष होता है। केवल तीन अन्तःकरणों (त्रय=तीन अवयव हैं जिसके) की जो वृत्तियाँ हैं, वे वृत्तियाँ दृष्टपूर्विका होती है (प्रत्यक्षज्ञान पूर्वक ही होती हैं, पूर्वज्ञात विषय को लेकर ही होती हैं); चाहे वे वृत्तियाँ युगपत् हों चाहे क्रमशः हों पर उन वृत्तियों का विषय अदृष्ट ही होगा—दृष्ट नहीं'' ।

इस कारिका के विषय में हमारी दृष्टि वाचस्पति की दृष्टि से अंशतः पृथक् है। हमारी दृष्टि में इस कारिका का उद्देश्य है—वाह्य विषय के साथ इन्द्रिय तथा अन्तरिन्द्रिय के संवन्धभेद का प्रदर्शन। वाह्य विषय या तो दृष्ट होता है या अदृष्ट होता है। दृष्ट=वाह्येन्द्रिय द्वारा संवेद्यमान है। अदृष्ट विषय वह है जो वाह्येन्द्रिय द्वारा संवेद्यमान नहीं है। दृष्ट विषय वह है जिसके द्वारा इन्द्रियों का उपरंजन हो रहा है; जो वाह्येन्द्रियोग्य विषय इन्द्रिय को उपरंजित नहीं कर रहा है, वह अदृष्ट है—यह ज्ञातव्य है।

त्रिविध अन्तःकरणों के साथ ज्ञानेन्द्रियरूप वाह्य करण का उल्लेख होने के कारण यह स्पष्ट है कि यहाँ वृत्ति का मुख्य लक्ष्य आलोचन नहीं है, सविकल्प प्रत्यक्ष ही है। इस प्रत्यक्ष वृत्ति में तीन आन्तरकरण और एक ज्ञानेन्द्रिय के व्यापार सदैव क्रमशः ही ही होंगे, क्योंकि इन चारों में स्थूल-सूक्ष्मभाव हैं तथा इनमें कार्यकारण संवन्ध है। इनके व्यापारों में यौगपद्य की प्रतीति चित्तचाञ्चल्य के कारण ही होती है; तत्त्वतः वृत्तियाँ क्रमशः ही होती हैं; यह क्रमिकता चित्तस्थैर्यविशेष द्वारा अनुभवगम्य भी है। वाचस्पति ने युगपद्भाव का जो उदाहरण दिया है, वहाँ भी करणों के व्यापारों में क्रमिकता अवश्य है। वाचस्पति के 'युगपदेव' कहने पर भी वह वस्तुतः 'युगपदिव' है। ध्यान देना चाहिये कि 'चतुष्टय' शब्द का अर्थ है 'चार अवयवों से युक्त' (संख्याया अवयवे तयप्, अष्टा० ५।२।४२)। यह एकवचनान्त शब्द है; वृत्ति शब्द भी एकवचनान्त है।

हमारी दृष्टि में कारिका का तात्पर्य यह है—अन्तःकरण-त्रय द्वारा अधिष्ठित प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय की वृत्ति (एकाधिक विषयों में) युगपत् होती है और वह क्रमशः भी होती है। **योगशास्त्रोक्त अक्रमज्ञान युगपद्भाव का उदाहरण है**। साधारण लौकिक इन्द्रियज्ञान क्रमशः का उदाहरण है, क्योकि इन्द्रियाँ वैषयिक परिणामों का क्रमशः ही ग्रहण करती रहती हैं। जिस क्रम से विषय का परिणाम उदित होता रहता है, उस उदित परिणाम का ही ग्रहण ज्ञानेन्द्रिय अपने स्वभाव के अनुसार करती है।

क्रमशः के वाद 'च' और युगपत् के वाद 'तु' देना भी साभिप्राय है। 'तु' देने का अभिप्राय यह है कि यह युगपत् वृत्ति कादाचित्क है—क्योंकि यह योगजस्थैर्य-सापेक्ष है। यही कारण है कि 'चतुष्टयस्य' के वाद 'च' न देकर 'तु' का प्रयोग किया गया है।

यदि 'चतुष्टय' का अर्थ 'सभी चतुष्टय' (या यथासंभव सभी चतुष्टय) कर लिया जाय तो अर्थ होगा—एकाधिक इन्द्रियों का (स्व-स्व विषय में) युगपद् प्रवृत्त होना और क्रमिक प्रवृत्त होना। योगी की एकाधिक इन्द्रियों की युगपद् वृत्ति का उल्लेख न केवल योगशास्त्र में है, बलिक वात्स्यायनभाष्य आदि में भी है। इस प्रकार कारिका का अर्थ होगा—विषयों में इन्द्रियों की प्रवृत्ति युगपद् भी होती है, एक एक कर भी होती है।

बाह्य विषय यदि अप्रत्यक्ष हो तो भी तीन अन्त:करणों की जो वृत्तियाँ हैं (अध्यवसाय, अभिमान और संकल्प) वह तत्पूर्विका होती हैं। ध्यान देना चाहिये कि यहाँ अप्रत्यक्ष विषय 'पूर्वज्ञात बाह्य विषय' ही है—वृत्ति, संस्कार आदि आन्तर विषय इस कारिका में 'अदृष्ट' शब्द द्वारा अभिहित नहीं हुए हैं।

बाह्य विषय अप्रत्यक्ष होने पर तद्विषयक जो वृत्ति होगी वह या तो अनुमिति होगी या शाब्दबोध होगा। यह भी हो सकता है अप्रत्यक्ष बाह्य विषय का स्मरणमात्र हो। ईदृश ज्ञानों में भी तीन अन्त:करणों की निजी वृत्तियाँ होती हैं, उनमें क्रम अवश्य होता है, पर वह क्रम योगजस्थैर्य के बिना लौकिक चित्तस्थैर्य द्वारा विज्ञेय नहीं होता। अप्रत्यक्षविषय में अन्त:करणत्रय की वृत्तियाँ युगपत् नहीं होती, यद्यपि युगपत् की तरह प्रतीत होती हैं। यह कहना कि धूम देखकर अदृष्ट अग्नि की अनुमिति में जो व्याप्तिज्ञान है वह संकल्परूप है, जो परामर्श है वह अभिमान है और जो अनुमिति है वह अध्यवसाय है—एक काल्पनिक धारणा है। संकल्प-अभिमानादि के लक्षणों को देखने से ही इस व्याख्या की असंगति ज्ञात होती है। अप्रत्यक्ष विषय में अन्त:करणत्रय की वृत्तियाँ वस्तुत: युगपत् होती हैं—यह सांख्यीय दृष्टि से उपपन्न नहीं होता। अनेक अप्रत्यक्षविषयों में अन्त:करणत्रय की वृत्ति (तीन अन्त:करणों की वृत्तियों का संहत रूप एक वृत्ति) युगपत् हो सकती है—यह अर्थ हो सकता है। 'त्रयस्य' और 'वृत्ति:' रूप एकवचनान्त पदों के प्रयोग से अर्थ इस की युक्तता प्रतीत होती है।

अदृष्ट विषय का प्रसंग करने का एक गूढ अभिप्राय है—ऐसा हम समझते हैं। जो विषय उदित होता है (उदित धर्मविशिष्ट होता है) वह प्रत्यक्षविषय है। विषय उदित होने के बाद अतीत अवस्था में पहुँच जाता है और अदृष्ट कहलाता है। ईदृश विषय के साथ बाह्य इन्द्रिय का संबन्ध नहीं रहता पर इस विषय का 'योग' अन्त:करण के साथ रह जाता ही है। तात्पर्य यह है कि विषय-ज्ञान का संस्कार अन्त:करण में विधृत रहता है। संस्कार का ज्ञायमान रूप स्मृति है। विषय की स्मृति अवश्य ही अन्त:करण की विषय-संबद्ध वृत्ति है—यह कहा ही जा सकता है। स्मृति अनुभवपूर्वक ही होती है अत: अन्त:-करणत्रय की वृत्ति 'तत्पूर्वक' है—यह कारिका-मत सर्वथा संगत है। यदि स्मृति न हो तो कोई भी प्राणी अनुमान नहीं कर सकता। अग्निविषयक स्मृति यदि न हो तो अग्नि

की अनुमिति कभी भी नहीं हो सकती; अग्नि शब्द को सुनकर अग्निसत्ता का जो बोध होता है वह अग्नि के पूर्वज्ञात न होने पर नहीं हो सकता—सर्वथा अज्ञात पदार्थ के विषय में जो उपदेश है वह प्रमाण रूप चित्तवृत्ति को उत्पन्न नहीं कर सकता—यह ज्ञातव्य है। शाब्दबोध में शब्द का श्रावणप्रत्यक्ष पहले आवश्यक है—तत्पूर्वकता की यह व्याख्या अत्यन्त स्थूल है।

ध्यान देना चाहिये कि अन्तःकरण के जो अपने विषय (आन्तर विषय) हैं (यथा विभिन्न मनोवृत्तियाँ) उनके साक्षात् ज्ञान में तत्पूर्वकत्व नियम नहीं लगता। पर ईर्ष्याद्वेषादिवृत्तियों के जो आलम्बन हैं, वे बाह्यविषय हैं, और इनके ज्ञान में ही तत्पूर्वकत्व-नियम प्रवर्तित होता है। रागद्वेषादि वृत्तियों के उदय होने पर उनके आलम्बनों का बोध सहजात रूप से उठता है यह—ज्ञातव्य है ॥३०॥

---

(१) स्यादेतत्—चतुर्णां त्रयाणां वा वृत्तयो न तावन्मात्राधीनाः, तेषां सदातनत्वेन वृत्तीनां सदोत्पादप्रसङ्गात्; आकस्मिकत्वे तु वृत्तिसङ्करप्रसङ्गो नियमहेतोरभावादित्यत आह—

स्वां स्वां प्रतिपद्यन्ते परस्पराकूतहेतुकां वृत्तिम् ।
पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित्कार्यते करणम् ॥३१॥

(२) "स्वाम्" इति। करणानीति शेषः। यथा हि बहवः पुरुषाः शाक्तीकयाष्टीकधानुष्ककार्पाणिकाः कृतसङ्केताः परावस्कन्दनाय प्रवृत्ताः, तत्रा-

---

(१) परन्तु चारों या तीनों के व्यापार इन्हीं (बुद्ध्यादिकरणों) पर ही आश्रित नहीं हो सकते, क्योंकि ऐसा होने पर इन करणों के सदा रहने के कारण इनके व्यापार भी सर्वकाल में उत्पन्न होते रहेंगे। और यदि इन व्यापारों को किसी के अधीन या आश्रित न मानकर आकस्मिक (=हेतुहीन) माने, तो (किसी भी नियामक हेतु के अभाव में) इनके साङ्कर्य (एक इन्द्रिय के प्रसंग में अन्य इन्द्रिय का वृत्तिप्रसंग, कौन वृत्ति कब होगी इसका अनिश्चय एवं बधिर को भी शब्दज्ञान होना—इत्यादि साङ्कर्य) की आपत्ति होगी, इसके उत्तर में कारिकाकार कहते हैं :—

ये (आन्तर और बाह्य) करण पारस्परिक आकूत (=अभिप्राय अर्थात् स्व-स्व-कार्योन्मुखता) के कारण अपनी अपनी वृत्ति (=व्यापार) को प्राप्त करते हैं। (करणों की कार्योन्मुखता में) भोग–अपवर्ग–रूप पुरुषार्थ ही हेतु है, अन्य कोई (अर्थात् ईश्वर या अभिमानी देव आदि) करणों के प्रयोजक या प्रवर्तक नहीं है ॥३१॥

(२) इस कारिका में ('प्रतिपद्यन्ते' क्रिया के कर्ता के रूप में) 'करणानि' पद का अध्याहार करना है। जिस प्रकार शक्तिधारी, यष्टिधारी, धनुर्धारी और कृपाणधारी

न्यतमस्याकूतमवगम्यान्यतमः प्रवर्तते, प्रवर्तमानस्तु शाक्तीकः शक्तिमेवादत्तो न तु यष्ट्यादिकम्, एवं याष्टीकोऽपि यष्टिमेव न शक्त्यादिकम्। तथाऽन्यतमस्य करणस्याकूतात् स्वकार्यकरणाभिमुख्यादन्यतमं करणं प्रवर्तते। (३) तत्प्रवृत्तेश्च हेतुमत्त्वान्न वृत्तिसङ्करप्रसंग इत्युक्तम्--"स्वां स्वां प्रतिपद्यन्ते" इति।

(४) स्यादेतत्—याष्टीकादयश्चेतनत्वात् परस्पराकूतमवगम्य प्रवर्तन्त इति युक्तम्। करणानि त्वचेतनानि, तस्मान्नैवं प्रवर्त्तितुमुत्सहन्ते। तेनैषामधिष्ठात्रा करणानां स्वरूपसामर्थ्योपयोगाभिज्ञेन भवितव्यमित्यत आह—"पुरुषार्थ एव हेतु र्न केनचित्कार्यते करणम्" इति। (५) भोगापवर्गलक्षणः पुरुषार्थ एवानागतावस्थः प्रवर्तयति करणानि, कृतमत्र तत्स्वरूपाभिज्ञेन कर्त्रा। एतच्च "वत्सविवृद्धिनिमित्तम्" (कारिका ५७) इत्यत्रोपपादयिष्यते ॥ ३१ ॥

पुरुष शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिये पारस्परिक संकेत से प्रवृत्त होते हैं, तथा प्रवृत्त होकर शक्ति चलाने वाला शक्ति ही लेता है, लाठी आदि नहीं; लाठी चलाने वाला लाठी ही लेता है, शक्ति आदि नहीं; उसी प्रकार प्रत्येक करण के आकूत (=अभिप्राय) अर्थात् स्व-कार्यकरणाभिमुखता से अन्य करण भी स्व-कार्य में अभिमुख होते है। (३) करणों के व्यापार में पारस्परिक अभिप्राय के हेतु होने से उनके व्यापारों में साङ्कर्य उत्पन्न नहीं होता; इसीलिये कारिका में कहा गया है—'अपने अपने व्यापार में वे प्रतिपन्न होते हैं'।

(४) याष्टीक आदि चेतन होने के कारण पारस्परिक अभिप्राय जानकर अपने अपने कार्यों में प्रवृत्त होते हैं, ऐसा कहना युक्त है; पर करण (=इन्द्रियाँ) अचेतन हैं; अतः आकूतानुसार (अर्थात् अभिप्राय जानकर) वे कार्यों में प्रवृत्त नहीं हो सकते। इसलिये इन करणों के स्वरूप, सामर्थ्य एवं उपयोग को सम्यक् जानने वाले कोई चेतन ज्ञाता (प्रेरक या प्रयोजक के रूप में) होना चाहिए। इसके उत्तर में कारिकाकार कहते हैं—'करणों की कार्योन्मुखता या वृत्ति में पुरुषार्थ ही हेतु है, अन्य कोई प्रवर्तक नहीं हैं'। अनागतावस्थ (=भविष्यत्कालीन) भोग और अपवर्ग रूप पुरुषार्थ ही करणों की प्रवृत्ति में हेतु होता है। (जड़) करणों के स्वरूप को जानने वाले किसी चेतन कर्ता की आवश्यकता नहीं है। यह मत आगे की 'वत्सविवृद्धिनिमित्तम्' (५७ वीं) कारिका में प्रतिपादित होगा ॥३१॥

३१वीं कारिका की व्याख्या

करणों की प्रवृत्ति का जो स्वभाव कारिका में दिखाया गया है, उसका तत्त्वकौमुदी प्रदर्शित व्याख्यान अत्यन्त स्थूल है, अतः इस स्वभाव का प्रकृत स्वरूप दिखाया

जा रहा है। इस कारिका में जैव यन्त्र (physiology की दृष्टि में) तथा लिङ्गान्तर्गत (आध्यात्मिक) करणों के व्यापारों के विषय में एक सर्वानुभववेद्य तथ्य कहा गया है तथा यह भी कहा गया है कि वह तथ्य क्यों होता है। पहले प्राणी के आत्मभाव के सब से स्थूल रूप 'शरीर' को लेकर विचारने से ज्ञात होगा कि यह शरीर यन्त्रसमष्टि ही है। देखा जाता है कि प्रत्येक यन्त्र एक दूसरे के व्यापार का साधन बनकर या अनुगत होकर (तथा दूसरे के व्यापार में वाधा न डालकर) स्वभावतः अपना व्यापार करता रहता है—शारीर यन्त्रसमूह समञ्जसता के साथ कार्य करते हैं। एक यन्त्र के व्यापार में अन्य यन्त्रों का सहयोग इस प्रकार है कि यह कहा जा सकता है कि एक यन्त्र मानों दूसरे यन्त्र का अभिप्राय जान कर अपने व्यापार को कर रहा है। आध्यात्मिक करणों में जिस प्रकार परस्पर-सहयोग-पूर्वक स्वव्यापार करने की प्रवणता है, वह प्रवणता करण-व्यूहित शारीर यन्त्रों में भी है। शरीरधारणसंस्कारवती करणशक्ति वाह्य विषयों को शरीररूप से व्यूहित करती है (सृष्टिकाल में, विषयों की अभिव्यक्ति होने पर)—यही कारण है कि जो स्वभाव आध्यात्मिक करणों में है वही उनके अधिष्ठानभूत भौतिक शारीर यन्त्रों में भी है।[1] शारीर यन्त्रों के परस्पराकूत की सहायता Association fibres द्वारा होती है [गणनाथ सेन जी ने इन fibres को 'सयुजसूत्र' माना है और कहा है कि एक fibre में उत्पन्न ज्ञान अन्य fibre को ज्ञात होता है]। यह कोई भी परीक्षण कर देख सकता है कि जिस जिस धातु (सप्त धातु) या दोष (त्रिदोष) का क्षय होता है, उसकी पूर्ति जिसके द्वारा होती है, उस पदार्थ को खाने के लिये इच्छा स्वतः उत्पन्न होती है (द्र० सुश्रुत, सूत्र० १५।२९–३०)।

'न केनचित् कार्यते करणम्' पर एक विशेष वक्तव्य है; वह यह कि महत् आदि जब करणमात्र हैं, तो उनका कोई प्रयोजक चाहिये; यह प्रयोजक निर्गुण अपरिणामी पुरुष तो हो नहीं सकता, अतः यह प्रयोक्ता कौन है—यह प्रश्न सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इस

---

१. बाह्य विषय एवं आन्तरजगत् का स्वभावसाम्य सांख्यशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण विषय है। आन्तरजगत् में जिस प्रकार प्रख्या, प्रवृत्ति और संस्कार हैं, बाह्य जगत् में भी उसी प्रकार प्रकाश्य; कार्य और धार्य धर्म हैं। आन्तरजगत् में जिस प्रकार वृत्तियाँ उदीयमान और लीयमान रूप से वर्तमान रहती हैं, बाह्यजगत् में भी बाह्य क्रिया स-भङ्ग चलती रहती है। गुणत्रय का ही एकजातीय परिणाम (व्यवसेय नामक) करणों में हैं और अन्यजातीय परिणाम (व्यवसेय नामक) ग्राह्य विषय में है। बाह्यजगत् और आन्तरजगत् का यह अद्भुत सादृश्य ज्ञात होने पर आयुर्वेदशास्त्र के अनेक नियमों का रहस्य ज्ञात होता है। बाह्य विषयों के सूक्ष्म-सूक्ष्मतर-सूक्ष्मतम स्तरों में मानस धर्मों की अभिव्यक्ति क्रमशः स्फुटतर होती रहती है। जडपदार्थस्वभाव-संबन्धी कई वैज्ञानिक-समस्याओं का समाधान भी उपर्युक्त सांख्यीय दृष्टि के आधार पर किया जा सकता है।

विषय में सांख्य का जो मत है, वह सांख्य को अन्यान्य दर्शनों से पृथक् करता है। सांख्य का कहना है कि त्रैगुणिक करणों की उपर्युक्त प्रवृत्ति सहेतुक है। यह हेतु अपने में ही है, जीवान्तर से नहीं आता (चाहे वह जीव किसी भी प्रकार का क्यों न हो; ईश्वर भी जीवविशेष है; जीव=अन्तःकरण तथा चिद्रूप पुरुष का संघातविशेष) अर्थात् करणों के स्व-स्व-व्यापार में जो प्रवर्तन है (जो अन्य करणों की अनुकूलता के अनुसार होता रहता है) उस में पुरुषार्थ ही 'हेतु' है। यह हेतु किस प्रकार का है, इसका स्पष्टीकरण टीकाकारों ने नहीं किया। यह 'हेतु' है—'स्थितिहेतु' अर्थात् करणों का पूर्वोक्त स्व-व्यापार-संपादन तब तक चलता रहेगा जब तक पुरुषार्थ की चरितार्थता न हो जाये। चूँकि यह हेतु अनादि करणों के विषय में है (अर्थात् अनादि लिङ्ग अनादिकाल से ही करणों से युक्त होकर उदीयमानरूप से या लीयमानरूप से विद्यमान है) अतः पुरुषार्थ की हेतुता करणों की उत्पत्ति से संबद्ध नहीं है, स्थिति से है। करण व्यक्त है, और वह पुरुषार्थ से सर्वथा असंपृक्त है—ऐसी स्थिति कभी नहीं हो सकती; परन्तु पुरुषार्थ की चरितार्थता-पूर्वक निवृत्ति होने पर करणप्रवृत्ति भी एकान्त-अत्यन्त निवृत्त हो जाती है—यह देखा जाता है, अतः यह अनुमित होता है कि पुरुषार्थ करणप्रवृति का हेतु (=स्थिति का हेतु) है।

इन करणों का कोई पृथक् प्रयोक्ता नहीं है—इस मत को अच्छी तरह समझना चाहिये। अपरिणामी निर्गुण पुरुष (तत्त्व) रूप आत्मा वस्तुतः प्रयोक्ता हो नहीं सकता। एक जीव के करणों का प्रयोक्ता अन्य जीव है—यदि यह कहा जाये तो न्यायदोष होगा। सांख्याचार्यों का कहना है कि जीव ही अपने आप को (अर्थात् ये करण ही अपने आप को) चलाता है। अधिक विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि लिङ्ग=जीवगत जो पुरुषार्थ है (भोग और अपवर्गरूप ज्ञानद्वय) वही करणप्रवृत्ति का हेतु है। पुरुषार्थ यद्यपि पुरुषसाक्षिक भाव है, तथापि चूँकि पुरुष निर्विकार है, अक्रिय है, अतः पुरुषार्थ को ही हेतु के रूप में माना गया है। करणप्रवृत्ति के फलभूत सुख-दुःख-ज्ञानरूप भोग का निर्विकार प्रकाशक पुरुष है, अतः उसको हेतु कहना व्यर्थ है।

वाचस्पति ने 'करणानि अचेतनानि' कहा है। यह सर्वथा असंगत है, क्योंकि करण व्यक्त पदार्थ हैं जो पुरुषाधिष्ठित प्रकृति के विकार हैं। पुरुषसंबन्ध-हीन करण की व्यक्तता नहीं होती। अतः 'अचेतन करण की प्रवृत्ति के लिये कोई हेतु चाहिये, और वह हेतु पुरुषार्थ है', यह कथन असंगत है—करण कभी भी अचेतन नहीं रहता। करण चिद्रूप नहीं है, अतः अचेतन है—यह कहना व्यर्थ है, क्योंकि चिद्रूप (=स्वप्रकाश पदार्थ) की प्रवृत्ति ही नहीं होती। उपादानदृष्टि से करण अचेतन अवश्य ही है, पर व्यक्त करण सदैव पुरुषसंबन्ध से अन्वित है। इस 'उपादानदृष्टि' को लेकर करण को अचेतन कहने पर भी करणप्रवृत्ति के विचार के समय उसको 'चेतनाधिष्ठित' (अतएव अचेतन नहीं है)

मानकर विचार करना होगा। अन्यत्र भी वाचस्पति एवं अन्यान्य टीकाकारों के ईदृश असंगत मत देखे जाते हैं। ईदृश मतों के कारण सांख्य की स्थिति बहुत कुछ अमर्यादित हो गई है—यह ज्ञातव्य है।

यह स्पष्टतया जान लेना चाहिये कि **जीवगत करणों के कर्मसंपादन में न प्रजापति का ओर न अनादिमुक्त ईश्वर का कोई हाथ है। जैव कर्मप्रवृत्ति का मूल हेतु जीव-गत ही है, जो अनादि है।** किसी जीव की प्रवृत्ति-परिवर्तन में अन्य जीव कुछ न कुछ हेतु हो सकता है; पर प्रवृत्ति का प्रथमतः उत्पादन नहीं कर सकता। गौण रूप से या मुख्य रूप से भोग या अपवर्ग-मार्ग में प्रवृत्त होने का मूल हेतु जीव में ही है। एक जीव की प्रवृत्ति को एक ओर से दूसरी ओर ले जाने में अथवा एक ही प्रकार की प्रवृत्ति में परिवर्तन करने में अन्य जीव सहायकमात्र हो सकता है।

यह ज्ञातव्य है दोनों पुरुषार्थ एक साथ जीव में प्रबल-अप्रबल रूप में रहते हैं—केवल भोगप्रवृत्ति या केवल अपवर्गप्रवृत्ति नहीं रहती। भोगप्रवृत्ति में भी ईषत् अपवर्ग है—शब्दादिभोगकाल में शब्दादि का ज्ञातृत्व (जो द्रष्टा का 'धर्म' है) रहता है, जो अपवर्ग (=भोक्तुः स्वरूपावधारणम् अपवर्गः—व्यासभाष्य २।१८) की सत्ता का ज्ञापक है। तथैव अपवर्गज्ञान में भी 'मैं जानता हूँ' रूप की ख्याति (अर्थात् भोग) भी रहती है। अपवर्ग या भोगज्ञान की जैसी जैसी वृद्धि होती जायेगी भोग या अपवर्गज्ञान भी उसी रूप से क्षीण होता जायेगा ॥३१॥

(१) " न केनचित् कार्यते करणम्" इत्युक्तम्। तत्र करणं विभजते—

करणं त्रयोदशविधं तदाहरणधारणप्रकाशकरम्।

कार्यं च तस्य दशधाऽऽहार्यं धार्यं प्रकाश्यं च ॥३२॥

(२) "करणं त्रयोदशविधमि"ति। इन्द्रियाण्येकादश बुद्धिरहंकारश्चेति त्रयोदशप्रकारं करणम्। कारकविशेषः करणम्। न च व्यापारावेशं विना कारकत्वमिति व्यापारावेशमाह–"तदाहरणधारणप्रकाशकरम्" इति; यथायथम्।

---

(१) करणों की व्यापारशीलता का कोई (चेतनकर्ता रूप) प्रयोजक नहीं है, यह (पूर्वकारिका में) कहा जा चुका है। अब करणों का विभाग कहते हैं :—

करण तेरह प्रकार के हैं। वे आहरण, धारण तथा प्रकाश करने वाले हैं। इनका कार्य आहार्य, धार्य और प्रकाश्य हैं; प्रत्येक कार्य दस प्रकार का होता है ॥३२॥

(२) करण तेरह हैं। ग्यारह इन्द्रियाँ, बुद्धि तथा अहङ्कार—ये तेरह प्रकार के करण हैं। करण (व्याकरणप्रसिद्ध) कारकों में अन्यतम (साधकतम रूप) है। व्यापार-

(३) तत्र कर्मेन्द्रियाणि वागादीन्याहरन्ति, यथास्वमुपाददते, स्वव्यापारेण व्याप्नुवन्तीति यावत् । बुद्धचहंकारमनांसि तु स्ववृत्त्या प्राणादिलक्षणया धारयन्ति । बुद्धीन्द्रियाणि प्रकाशयन्ति ।

(४) आहरणधारणादिक्रियाणां सकर्मकतया किं कर्म कतिविधं चेत्यत आह—"कार्यं च तस्य" इति । कार्यं तस्य त्रयोदशविधस्य करणस्य दशधा—आहार्यं धार्यं प्रकाश्यं च । (५) आहार्यं व्याप्यम् । कर्मेन्द्रियाणां वचनादान-विहणोत्सर्गानन्दा यथायथं व्याप्याः, ते च यथायथं दिव्यादिव्यतया दश—इत्याहार्यं दशधा । (६) एवं धार्यमप्यन्तःकरणत्रयस्य प्राणादिलक्षणया वृत्त्या शरीरम्, तच्च पार्थिवादि पाञ्चभौतिकम्[१] । (७) शब्दादीनां पञ्चानां समूहः पृथिवी, ते च पञ्च दिव्यादिव्यतया दशेति धार्यमपि दशधा । एवं बुद्धीन्द्रियाणां

(=क्रिया) संवन्ध के विना कारक नहीं होता, अतः करणों का व्यापार कहा जाता है—"वे करण यथायथरूप से आहरण, धारण तथा प्रकाशन रूप क्रिया करते हैं" ।

(३) इनमें वाक् आदि कर्मेन्द्रियाँ अपने-अपने विषय का आहरण (=ग्रहण) करती हैं, अर्थात् अपने-अपने व्यापार से उन्हें व्याप्त करती हैं । बुद्धि, अहङ्कार और मनः अपने प्राण आदि रूप व्यापार द्वारा (देह का) धारण करते हैं; कर्ण आदि ज्ञानेन्द्रियाँ शब्द, स्पर्श आदि को प्रकाशित करती हैं ।

(४) आहरण, धारण आदि क्रियाओं के सकर्मक होने के कारण उनका कर्म और उस कर्म का प्रकार—इन दोनों के विषय में कहा जा रहा है—"उन तेरह प्रकार के करणों के आहार्य, धार्य और प्रकाश्य रूप कार्य दस दस प्रकार के हैं" । (५) आहार्य का अर्थ है—व्याप्य (आहरण-क्रिया द्वारा प्राप्य) । वाक् आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ वचन, आदान (=ग्रहण), गमन, मलमूत्रोत्सर्ग एवं आनन्द (=रति क्रिया) इन कार्यों में यथायोग्य रूपेण व्याप्त रहती हैं । ये व्याप्य कार्य दिव्य (=देवभोग्य) तथा अदिव्य (=लोकभोग्य) भेद से दस होते हैं । इस प्रकार 'आहार्य' दस प्रकार के हैं ।

(६) इसी प्रकार (मनः-अहङ्कार-बुद्धिरूप) त्रिविध अन्तःकरण के प्राण आदि पाँच व्यापारों के द्वारा धारण करने योग्य कार्य 'शरीर' है । यह शरीर पार्थिव, जलीय, तैजस, वायवीय और आकाशीय है, जो पञ्चभूत-निर्मित है (पार्थिवादि शारीरों में पृथ्वी आदि पाँच भूतों का यथाक्रम प्राधान्य है) । (७) पृथिवीभूत शब्द, स्पर्श आदि पाँचों गुणों का समूह है । ये पाँच गुण (अर्थात् गुणवान् पाँच पदार्थ) दिव्य और अदिव्य रूपसे द्विविध होने के कारण दस होते हैं । इस प्रकार 'धार्य' (विषय) भी दस प्रकार के हैं ।

---

१. क्वचित् पार्थिवादिपाञ्चभौतिकमिति एकमेव पदं पठितं व्याख्यातं च ।

शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा यथायथं व्याप्या: । (८) ते च यथायथं दिव्यादिव्यतया दशेति प्रकाश्यमपि दशधेति ॥ ३२ ॥

---

(८) इसी प्रकार शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध रूप पाँच (प्रकाश्य) विषय ज्ञानेन्द्रियों से यथायोग्य व्याप्त (=क्रियाविशेष द्वारा ग्राह्य) होते हैं और वे भी दिव्य तथा अदिव्य रूप से दस होते हैं । इसलिये 'प्रकाश्य' कार्य भी दश प्रकार के हैं ।।३२।।

३२वीं कारिका की व्याख्या

यह यहाँ लक्षणीय है कि कारिका में 'करणानि,' 'कार्याणि' ऐसे बहुवचनान्त पद न देकर 'करणम्' 'कार्यम्' ऐसे एकवचनान्त पद दिये गये हैं । यही कारण है कि हम इस कारिका का यह तात्पर्य समझते हैं—(१) करण तेरह भागों में विभक्त है; (२) करण (=प्रत्येक करण) आहरण करता है, धारण करता है और प्रकाशन करता है (अर्थात् इन तीन क्रियाओं में से किसी का किसी करण में प्राधान्य है) ; (३) करण अपने व्यापार द्वारा जो कार्य निष्पन्न करते हैं, वह दस प्रकार का है; (४) यह विषय रूप कार्य या तो आहार्य है, या धार्य है या प्रकाश्य है । प्रत्येक कार्य दस दस प्रकार का है—यह अस्मत्संमत अर्थ नहीं है । इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि इस कारिका की अस्मदीय व्याख्या वाचस्पति की व्याख्या से बहुत कुछ भिन्न है ।

तेरह करणों में ज्ञानेन्द्रिय रूप करण में प्रकाशन क्रिया प्रधान है; कर्मेन्द्रिय में आहरण रूप क्रिया प्रधान है; तीन अन्तःकरणों में धारणरूप क्रिया प्रधान है (कर्माशय, संस्कार और वासना का धारण अन्तःकरणों का ही व्यापार है) ।

यद्यपि ज्ञानेन्द्रिय का प्रकाशनव्यापार मुख्य है, तथापि ज्ञानेन्द्रिय में गौणरूप से आहरण और विधारण व्यापार भी हैं, जो यथाक्रमः रजः और तमः के अनुगत हैं । इसी प्रकार कर्मेन्द्रिय में भी धारण और प्रकाशन व्यापार हैं । इसी प्रकार अन्तःकरण में भी प्रकाशन-विधारण व्यापार हैं । किंच अन्तःकरण का सामान्यव्यापार रूप प्राण यद्यपि विधारणप्रधान है, पर उसके भी आहरण-प्रकाशनरूप व्यापार हैं । इन्द्रियाँ आहङ्कारिक हैं, अन्तःकरण भी आध्यात्मिक पदार्थ है, इनमें तथा इन्द्रियों के अधिष्ठानभूत शारीर यन्त्रों में एवं मन-अहङ्कार और बुद्धि के अधिष्ठानभूत शारीर यन्त्रों में पूर्वोक्त व्यापार देखे जा सकते हैं ।[1]

---

१. बाह्य-आन्तर करणों के शारीर अधिष्ठानों की पहचान करना सरल कार्य नहीं है । प्राणियों की शरीरप्रकृति के वैचित्र्य के अनुसार अधिष्ठानों में भी वैचित्र्य होता है—यह निश्चित है । अस्मदीय शरीरों में स्थूल अस्मिता का स्थान हृदय है, पर सूक्ष्म अस्मिता का स्थान मस्तिष्क का प्रदेशविशेष है ।

इन्द्रिय और उनके अधिष्ठान त्रैगुणिक हैं; त्रिगुण अविवेकी है, अतः त्रैगुणिक पदार्थों के व्यापार कभी भी पूर्णतः असंकीर्ण नहीं हो सकते। जिसमें जिस व्यापार का अप्राधान्य है, वह प्रायः सूक्ष्मरूप में रहता है, अतः अज्ञातप्राय रहता है।

इन्द्रियों के पूर्वोक्त त्रिविध व्यापार सर्वथा शास्त्रानुमोदित है। इसको न मानने पर हम अनेक शारीरिक और मानसिक तथ्यों की व्याख्या नहीं कर सकते। प्राण में जो प्रकाशकत्वगुण है (सत्त्व का कार्य) उसी के कारण कठिनता आदि धर्मों का बोध होता है। भार का बोध भी ज्ञानेन्द्रिय का प्रकाशनकार्य नहीं है—वह प्राणादि का प्रकाशनकार्य है।

करणों के इन व्यापारों का संबन्ध जिन विषयों से है, वे दस हैं। शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध रूप पाँच विषय (अर्थात् शब्दादिधर्मक द्रव्य) स्थूल-सूक्ष्म भेद से द्विविध होकर दशविध होते हैं। वाचस्पति का दिव्य-अदिव्य-विभाग निष्प्रयोजन है। दिव्य=देवजातिभोग्य, अतः यह विभाग व्यर्थ है, क्योंकि भोग्यता में देवजातिकृत होना और देवजातिकृत न होना रूप भेद का कोई अर्थ नहीं होता। दिव्य=सुखकर और अदिव्य=दुःखकर रूप अर्थ करना भी असांख्यीय है, क्योंकि विषय जिस प्रकार सुखकर और दुःखकर हैं, उसी प्रकार मोहकर भी हैं। यही कारण है कि हमने स्थूल-सूक्ष्मरूप दो भेद करना ही शास्त्रसंगत समझा।

जो 'कार्य' है वह आहार्य रूप से, धार्यरूप से तथा प्रकाश्य रूप से ही अवस्थित है। करणों द्वारा चाल्यमान होना आहार्यरूप कार्य (रजोगुणानुगत) है; शरीररूप से व्यूहित होना मुख्य धार्यरूप कार्य है (तमोऽनुगत); इन्द्रिय द्वारा प्रकाशित होना प्रकाश्यरूप कार्य (सत्त्वानुगत) है ॥ ३२ ॥

(१) त्रयोदशविधकरणेऽवान्तरविभागं करोति—

अन्तःकरणं त्रिविधं दशधा बाह्यं त्रयस्य विषयाख्यम् ।
साम्प्रतकालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम् ॥३३॥

---

(१) अव।तेरह प्रकार के करणों का अवान्तर विभाग (करणत्व-व्याप्य धर्मान्तर में) करते हैं :—

अन्तःकरण (=अबाह्यविषयों का ग्राहक) तीन प्रकार का है, और इन तीन अन्तःकरणों के विषयाख्य (=व्यापारजनक) बाह्यकरण दस प्रकार के हैं। बाह्यकरण वर्तमानमात्र-विषयक (वर्तमान विषय का ग्रहणकारी) और अन्तःकरण त्रिकाल-विषयक होते हैं ॥३३॥

(२) "अन्तःकरणम्" इति। अन्तःकरणं त्रिविधम् बुद्धिरहंकारो मन इति। शरीराभ्यन्तरवर्तित्वादन्तःकरणम्। (३) दशधा बाह्यं करणम्। त्रयस्य अन्तःकरणस्य विषयाख्यम्—विषयमाख्याति विषयसंकल्पाभिमानाध्यवसायेषु कर्तव्येषु द्वारी भवति। (४) तत्र बुद्धीन्द्रियाण्यालोचनेन, कर्मेन्द्रियाणि तु यथास्वं व्यापारेण।

(५) बाह्यान्तरयोः करणयोर्विशेषान्तरमाह—"साम्प्रतकालम्" इति। साम्प्रतकालं वर्तमानकालं वाह्यमिन्द्रियम्। वर्तमानसमीपमनागतमतीतमपि वर्तमानम्, अतो वागपि वर्तमानकालविषया भवति।

(६) "त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम्" इति। तद्यथा—नदीपूरभेदादभूद् वृष्टिः। अस्ति धूमादग्निरिह नगनिकुञ्जे। असत्युपघातके पिपीलिकाण्डसञ्चरणाद्

---

(२) 'अन्तःकरण' बुद्धि, अहङ्कार तथा मन के भेद से तीन प्रकार का है। ये शरीर के अन्तर्गत रहने से 'अन्तःकरण' कहलाते हैं। (३) बाह्य करण दश प्रकार का है (५ बुद्धीन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय)। ये वाह्य करण तीन अन्तःकरणों के विषयाख्य हैं तीन अन्तःकरणों के व्यापार के जनक हैं अर्थात् ये विषयों के सम्वन्ध में होने वाले संकल्प, अभिमान और निश्चय में द्वार या साधन वनते हैं। (वाह्यकरण अन्तःकरण को विषयों को उपढौकित करते हैं)। (४) इनमें ज्ञानेन्द्रियाँ आलोचन (विषय का निर्विकल्प ज्ञान) के द्वारा, कर्मेन्द्रियाँ अपने यथायोग्य व्यापारों (चालनों) के द्वारा सहायक होती हैं।

(५) अव बाह्य इन्द्रियों तथा अन्तःकरणों का दूसरा भेद कहते हैं—"वाह्य इन्द्रियाँ 'साम्प्रतकाल' अर्थात् केवल वर्तमानकालविषयक होती हैं"। वर्तमान के समीप स्थित भूत तथा भविष्यत् काल भी वर्तमान काल के ही अन्तर्गत होते हैं। यही कारण है कि वाक् इन्द्रिय भी वर्तमानकालविषयक ही होती है। [शब्द करणसंप्रयोग का उत्तरवर्ती है, अतः वाक् रूप करण को 'वर्तमानकालविषया' कैसे कहा जा सकता है—इसके उत्तर में कहा गया कि वर्तमानसमीप भविष्यत् काल भी वर्तमान है, अतः वाक् रूप-इन्द्रिय को वर्तमानकाल-विषया कहा जा सकता है]।

(६) (तीन) अन्तःकरण त्रिकाल-विषयक होते हैं, जैसे (ईदृश वोध होता है कि) —वर्षा अवश्य हुई है क्योंकि नदी का पूरण-विशेष (फेन आदि से युक्त धारा) दिखाई पड़ती है (अतीत-विषयक); इस पर्वत-निकुञ्ज में अग्नि अवश्य है क्योंकि वहाँ धूम है (वर्तमानविषय); 'प्रतिवन्धक के न रहने पर यदि पिपोलिका का अण्डसंचार होता है, तो वृष्टि होगी (भविष्यत्विषयक)। इन वोधों (भविष्यत्-वर्तमान-अतीत कालपरक) के अनुरूप संकल्प, अभिमान और अध्यवसाय होते हैं।

भविष्यति वृष्टिरिति, तदनुरूपाश्च संकल्पाभिमानाध्यवसाया भवन्ति। (७) कालश्च वैशेषिकाभिमत एको नानागतादि-व्यवहारभेदं प्रवर्तयितुमर्हति। तस्मादयं यैरुपाधिभेदैरनागतादिव्यवहारभेदं प्रतिपद्यते, सन्तु त एवोपाधयोऽनागतादिव्यवहारहेतवः, कृतमत्रान्तर्गडुना कालेनेति सांख्याचार्याः। तस्मान्न कालरूपतत्त्वान्तराभ्युपगम इति ॥ ३३ ॥

---

(७) विशेषिक मत के अनुसार जो 'काल' है, वह एक (=अखण्ड) होने के कारण भविष्यत् आदि भेदों का निर्वाह करने में असमर्थ है। इसलिये यह काल जिन (अतीत सूर्यक्रिया आदि) उपाधियों से भविष्यत् आदि व्यवहारों को प्राप्त होता है, वे उपाधियाँ ही उन व्यवहारों का कारण माने जायँ, और ऐसा मानने पर काल के रूप में एक पृथक् पदार्थ को मानना व्यर्थ ही होता है—ऐसा सांख्याचार्यों का मत है। इसलिये इस शास्त्र में काल को एक पृथक् तत्त्व के रूप में नहीं माना जाता ॥३३॥

३३वीं कारिका की व्याख्या

वाचस्पति के अनुसार 'विषयाख्य' कहने का अभिप्राय है—दश बाह्यकरण तीन आन्तर करणों को विषयों का उपढौकन करते हैं—'बाह्य करण अन्तःकरण को विषयदान द्वारा व्यापारवान् बना देते हैं, तीनों अन्तःकरणों का व्यापार करने में ये द्वार होते हैं' इत्यादि। हमारी दृष्टि में 'विषयाख्य' शब्द का एक सूक्ष्म तात्पर्य भी है; वह है—दश बाह्य करण तीन अन्तःकरण के विषय रूप भी हैं—अर्थात् बाह्य करणों का साक्षात्कार अन्तःकरण कर सकता है—बाह्य करण अन्तःकरण का साक्षात् ज्ञेय विषय है। इन्द्रिय का अधिष्ठान-भूत शारीर यन्त्र प्रकृत इन्द्रिय नहीं है—यह पहले भी कहा गया है। **इन शारीर यन्त्रों को यौगिक प्रक्रिया से अतिस्थिर कर ध्यानविशेष के बल पर इन्द्रिय-तत्त्व का साक्षात्कार आन्तर करण द्वारा किया जाता है।**

बाह्य इन्द्रिय साम्प्रतकाल (=वर्तमानकालमात्र) है, अर्थात् ये इन्द्रियाँ धर्मी के उदित धर्मों का ही ग्रहण कर सकती हैं, शान्तधर्म (=अतीतधर्म) एवं अव्यपदेश्यरूप अनागत धर्मों का ग्रहण नहीं कर सकती। बाह्य इन्द्रियाँ क्यों उदितधर्मों का ही ग्रहण करती हैं, इस विषय में एक सूक्ष्म रहस्य ज्ञातव्य है। सृष्टिकाल में विषय की जो आदिम सूक्ष्म व्यक्तता होती है, उस सूक्ष्म विषय की राजस क्रिया के द्वारा आकृष्ट और चञ्चल होने के कारण ही अन्तःकरण में सुप्तावस्था में स्थित इन्द्रियों की स्थूल अभिव्यक्ति होती है। चूँकि मूलतः इन्द्रियों की अभिव्यक्ति वैषयिक क्रिया के प्रत्यक्ष संपर्क के कारण होती है, अतः इन्द्रियों का व्यापार वर्तमान विषय से ही संबद्ध होता है—अतीतानागतविषयों से नहीं।

अतीत-अनागत बाह्य विषय का प्रकाशन और चालन इन्द्रिय द्वारा नहीं होते—वे आन्तर करणों द्वारा होते हैं (योगोक्त कौशल से)।

यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है—दिव्य चक्षु, दिव्य कर्ण आदि इन्द्रियाँ क्या अतीत-अनागत रूप-शब्द आदि का ग्रहण नहीं कर सकती हैं ? क्या अतीत-अनागत बाह्य धर्मों का ज्ञान सर्वथा बाह्यकरण-निरपेक्ष ही है ? उत्तर यह है कि इन्द्रिय की स्थूलता और विषय की स्थूलता यदि एक प्रकार की है तो इन्द्रिय द्वारा वर्तमान विषय का ही ग्रहण किया जा सकेगा; सूक्ष्म इन्द्रिय के द्वारा जो वर्तमान विषय गृहीत होता है, वह विषय स्थूल इन्द्रिय की दृष्टि में अतीत-अनागत है, अतः उसके द्वारा अग्राह्य है। सूक्ष्म विषय विद्यमान रहने पर भी स्थूल इन्द्रिय के द्वारा गृहीत नहीं होता है।

हमारी दृष्टि में 'साम्प्रतकालं बाह्यम्' का अर्थ है—सांप्रतः (=संप्रति भवः) कालः (विषयसत्ताकालः) यस्य तत् सांप्रतकालम्। इसी को ही हमने 'बाह्य इन्द्रिय का व्यापार वर्तमान (उदितधर्म) विषय को ही विषय करता है'—ऐसा कहा है। वाचस्पति समझते हैं कि इन्द्रियाँ वर्तमानकाल के समीप अतीत-अनागत-काल संबन्धी विषयों को भी ग्रहण करती हैं, और इस विषय में वाक्रूप इन्द्रिय को उदाहरण के रूप में उपस्थित करते हैं। वाक्-इन्द्रिय के व्यापाररूप जो क्रिया है, उससे होने वाले विभाग-संयोग से वर्ण उत्पन्न होता है, अतः वाक्-इन्द्रिय-व्यापार का वर्णाधिकरणक्षण-वृत्तित्व नहीं होता (द्र० पूर्णिमा)। ऐसा होने पर भी वाक्-इन्द्रिय का जो विषय है (अर्थात् शब्द) उसे वर्तमान माना जाता है (पूर्वनियम के अनुसार) और इसी दृष्टि से इन्द्रिय की सांप्रतकालता सिद्ध ही होती है। किसी किसी का यह भी कहना है कि केवल वाक् नहीं, श्रोत्र में भी यही बात है, क्योंकि शब्दोत्पत्ति के द्वितीयक्षण में कर्ण शब्द का ग्रहण करता है।

हमारी दृष्टि में यह विचार व्यर्थ है। न्यायवैशेषिक-संस्कार से अभिभूत होकर वाचस्पति ने ऐसा कहा है। सांख्यीय दृष्टि के अनुसार बाह्यविषय जिस प्रकार सदैव रूपादिगुणयुक्त हैं, उसी प्रकार सदैव शब्दगुणयुक्त भी हैं। जिस प्रकार चक्षु से उदित-रूपविशेषधर्मक पदार्थ का प्रत्यक्ष होता है उसी प्रकार कर्ण से उदित-शब्द-विशेष-धर्मक पदार्थ का प्रत्यक्ष होता है। विषयग्रहण की प्रक्रिया उभयत्र समान है। हम विद्यमान रूपादि-गुणों में अवस्थान्तरता ही कर सकते हैं; रूपादि का प्रथमतः उत्पादन नहीं कर सकते, शब्द के विषय में भी यही तथ्य है। बाह्य वस्तु सदैव शब्दधर्मक है। हम वायु आदि को चालित कर शब्द को कर्णग्रहणयोग्य बनाते हैं—न कि शब्द को उत्पन्न करते हैं; शब्द रूपादि की तरह सदैव वस्तु में विद्यमान है।

बाह्येन्द्रिय मे यह सामर्थ्य नहीं है कि वह अवर्तमान धर्म का ग्रहण कर सके। वाक्रूप इन्द्रिय का एक व्यापार है—बाह्य वायु आदि का संचालन करना, जो मनोभाव के प्रकाशन में सहायक होता है। उस संचालन से 'शब्द के उत्पन्न होने या न होने पर वाक्

का कोई भी संवन्ध नहीं है। वाक् का संवन्ध है—'वचन' रूप व्यापार से। 'वचन' सांख्यीय परिभाषिक शब्द है। इसका स्वरूप भी वाक् इन्द्रिय की प्रकृति के अनुसार ही निर्धार्य है। वाक् इन्द्रिय वहाँ भी व्यापार कर सकती है, जहाँ हवा नहीं है; जिस प्राणी में कण्ठादि-स्थान नहीं है उसमें में वाक् इन्द्रिय हैं। मनुष्यादि प्राणियों एवं पृथिवीआदि-रूप वासस्थानों को लक्ष्यकर ही वाक् और वचन के स्वरूप का पूर्ण निर्धारण नहीं करना चाहिये।

वाचस्पति ने इस कारिका की व्याख्या में काल के विषय में सांख्यीय दृष्टि को कहा है। 'सांख्य काल को नहीं मानता'—इस प्रकार कहना अनुचित है। लोकप्रसिद्ध जो काल है—सांख्यीय दृष्टि में उसका स्वरूप क्या है—यह ज्ञातव्य है। प्रतिक्षण परिणम्यमान गुणत्रय के अनुसार विचारने पर जिस प्रकार घट-पटादि-द्रव्य 'गुण के भूत-रूप व्यवसेय परिणाम के धर्मपरिणामभूत पदार्थ हैं' ऐसे प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार गुणत्रय की दृष्टि से लोकविदित काल का जो स्वरूप है—वह ज्ञातव्य है। सांख्यीय दृष्टि में काल पदार्थ है, पर कोई तत्त्व नहीं है। पुरुष-तत्त्व से काल का कोई संवन्ध नहीं है; गुणत्रय की विषमस्थिति में ही काल है—परिणाम के साथ काल का अविनाभावी संवन्ध है। कोई गुणपरिणाम जब करणों द्वारा व्यवहृत होता है, तब काल का प्रश्न उठता है।

व्यक्त जीव वैषयिक क्रियाओं को जब ग्रहण करता है तब वह अपने पूर्वसंस्कारयुक्त चित्तेन्द्रिय से ही ग्रहण करता है। जीव एक एक क्षणमात्रव्यापी क्रिया को विविक्त कर जानने की शक्ति नहीं रखता और वह बहुसंख्यक क्रियाखण्डों के समूह को ही स्व-करणों के द्वारा ग्रहण कर पाता है। इस प्रकार प्राणीगत एक प्रकार की अशक्ति के कारण 'क्षणों के समाहृत रूप' काल की चिन्ता प्राणी के मन में उठती है। जो क्षणसमाहार वस्तुतः नहीं है, प्राणी उस समाहार की कल्पना करता है। ईदृश कल्पना करना विकल्पवृत्ति का उदाहरण है। यदि प्राणी प्रत्येक क्षण को विविक्त कर जान सके (व्यवहारतः ऐसा होना पूर्णतः संभव नहीं है) तो प्राणी क्षण-समाहार से पृथक् भूत 'काल' नामक किसी पदार्थ का संवन्ध लेकर चिन्ता नहीं करेगा। चित्तेन्द्रिय की समाहारकरण-योग्यता (वस्तुतः अशक्ति) जैसी जैसी क्षीण होती जायेगी, कालपरिणाम-संवन्धी दृष्टि भी तदनुसार परिवर्तित होती जायेगी।[1]

वाचस्पति ने कालसत्ता का खण्डन (अर्थात् उपाधियों को ही मानना चाहिये, तदतिरिक्त काल का स्वीकार व्यर्थ है; उपाधि=कार्यारम्भ, कार्यस्थिति, कार्यनिरोध आदि रूप

---

१. व्यासभाष्यागत 'स खल्वयं कालो वस्तुशून्यो बुद्धिनिर्माणः शब्दज्ञानानुपाती लौकिकानां व्युत्थितदर्शनानां वस्तुस्वरूप इवावभासते (३।५२) वाक्य सांख्यीय तत्त्वज्ञान पर प्रतिष्ठित है। इस वाक्य का 'वस्तुशून्योऽपि बुद्धिनिर्माणः' पाठ (डा० व्रजमोहन द्वारा उद्धृत, पृ० १३०) भ्रष्ट है; इस पाठ में अर्थ में असंगति होती है (डॉ० व्रजमोहन दारा उद्धृत पाठ में अन्यत्र भी भ्रंश है, जो अनर्थकर है)।

अथवा सुर्योदय, सूर्यास्त आदि क्रियारूप, इत्यादि) जिस रूप से किया है, वह वस्तुतः किसी सांख्याचार्य का मत है या नहीं—यह ज्ञात नही है।

तत्त्व का जो लक्षण सांख्यीय है, तदनुसार काल तत्त्व नहीं हो सकता[1]; तत्त्व न होने पर भी काल विकल्पवृत्ति का विषय होता है। सांख्यदर्शन का यह मत नहीं है कि लौकिक-पुरुष-विदित कालनामक पदार्थं है ही नहीं। यह काल-नामक पदार्थ क्या है—यह अपनी दृष्टि के अनुसार सांख्य दिखाता है। 'कालरूप द्रव्य (नित्य और अखण्ड) है, उपाधिभेद से इसमें अतीतत्व आदि भेद होते हैं; प्रत्येक उपाधि तत् तत् विशिष्टकाल-रूप क्षण है, क्षणसमुदाय दिन है'—यह वैशेषिक की दृष्टि है। इन उपाधियों के अतिरिक्त काल को मानने की आवश्यकता नहीं है—इतना ही सांख्य का कहना नहीं है; सांख्य का जो कहना है व्यासभाष्य के वाक्य में वह प्रतिपादित हुआ है ॥३३॥

(१) साम्प्रतकालानां बाह्येन्द्रियाणां विषयं विवेचयति—

बुद्धीन्द्रियाणि तेषां पञ्च विशेषाविशेषविषयाणि ।
वाग्भवति शब्दविषया शेषाणि तु पञ्चविषयाणि ॥ ३४॥

(२) "बुद्धीन्द्रियाणि" इति। बुद्धीन्द्रियाणि तेषां दशानामिन्द्रियाणां मध्ये पञ्च विशेषाविशेषविषयाणि—विशेषाः स्थूलाः शब्दादयः शान्तघोरमूढाः

---

(१) अब वर्तमान वस्तुओं की व्यवहारकारी बाह्य ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के विषयों का पृथक् पृथक् कथन करते है :—

इन दस बाह्य करणों (=इन्द्रियों) में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ विशेष (=भूत) और अविशेष (=तन्मात्र) रूप द्विविध ग्राह्य विषयों में प्रवृत्त होती हैं; वाक्रूप कर्मेन्द्रिय का विषय शब्द है, शेष चार कर्मेन्द्रियाँ, शब्द-स्पर्शादि पञ्चगुणमय पाञ्चभौतिक विषयों में प्रवृत्त होती हैं ॥३४॥

(२) इन दस इन्द्रियों में पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ अविशेष (=तन्मात्र) और विशेष (=भूत) रूप विषयों में प्रवृत्त होती हैं। 'विशेष' का अर्थ है—स्थूल शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध जो शान्त, घोर, मूढ़ (सुख-दुःख-मोहरूप) हैं एवं जो पृथिवी आदि रूप हैं।

---

१. कोई सांख्य ऐसा भी था जो 'काल' को तत्त्व मानता था—ईदृश मत वालोचित है। अहिर्बुध्न्य-संहिता में षष्टितन्त्र की जो विषयसूची है, उसमें कहा गया है कि कालसंबन्धी विचार एक तन्त्र में किया गया था (शक्तेर्नियतिकालयोः, १२।२१)। इससे यह कथमपि सिद्ध नहीं होता है कि काल एक 'तत्त्व' है, क्यों कि षष्टि पदार्थ=षष्टि तत्त्व नहीं हैं। (तत्त्व शब्द के अर्थ में परिवर्तन कर कोई षष्टि-तत्त्ववाद का प्रवर्तन कर ही सकता है—यह दूसरी बात है)।

पृथिव्यादिरूपाः, अविशेषास्तन्मात्राणि सूक्ष्माः शब्दादयः। (३) मात्रग्रहणेन भूतभावमपाकरोति। विशेषाश्च अविशेषाश्च विशेषाविशेषाः, त एव विषया येषां बुद्धीन्द्रियाणां तानि तथोक्तानि।

(४) तत्रोर्ध्वस्रोतसां योगिनां च श्रोत्रं शब्दतन्मात्रविषयं स्थूलशब्दविषयं च; अस्मदादीनां तु स्थूलशब्दविषयमेव। एवं तेषां त्वक् स्थूलसूक्ष्मस्पर्शविषया, अस्मदादीनान्तु स्थूलस्पर्शविषयैव। (५) एवं चक्षुरादयोऽपि तेषामस्मदादीनां च रूपादिषु सूक्ष्मस्थूलेषु द्रष्टव्याः।

(६) एवं कर्मेन्द्रियेषु मध्ये "वाग्भवति शब्दविषया"—स्थूलशब्दविषया, तद्धेतुत्वात्। न तु शब्दतन्मात्रस्य हेतुस्तस्याहङ्कारिकत्वेन वागिन्द्रियेण सहैककारणकत्वात्। (७) शेषाणि तु चत्वारि पायूपस्थपाणिपादाख्यानि पञ्चविषयाणि—पाण्याद्याहार्याणां घटादीनां पञ्च-शब्दाद्यात्मकत्वादिति॥३४॥

'अविशेष' का अर्थ है—'तन्मात्र' अर्थात् सूक्ष्म शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। (३) तन्मात्रपद-गत 'मात्र' के ग्रहण से महाभूतों का निषेध किया जाता है। विशेष और अविशेष जिसके विषय हैं वे इन्द्रियाँ 'विशेषाविशेष-विषय' हैं (अर्थात् बुद्धीन्द्रियाँ विशेष-अविशेषविषयक हैं)।

(४) विषय के प्रसंग में यह जानना चाहिये कि 'ऊर्ध्वस्रोताः' नामक देवविशेषों की तथा योगियों की श्रवणेन्द्रियाँ शब्दतन्मात्र तथा स्थूल शब्द (शब्दगुणक आकाशभूत का गुण) दोनों ही प्रकार के शब्दों का ग्रहण करती हैं, परन्तु हम लोगों की श्रवणेन्द्रियाँ केवल स्थूल शब्द का ग्रहण करती हैं। इसी प्रकार पूर्वोक्त दोनों की त्वक् इन्द्रिय स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों प्रकार के स्पर्शों का ग्रहण करती है, हम लोगों की त्वक् केवल स्थूल स्पर्श का। (५) इसी प्रकार उपर्युक्त दोनों की चक्षु आदि इन्द्रियाँ स्थूल (अर्थात् विशेष) और सूक्ष्म (अर्थात् अविशेष) रूप-आदि का ग्रहण करने वाली होती हैं, एवं साधारण जनों की चक्षु आदि इन्द्रियाँ केवल स्थूल रूप आदि का ग्रहण करने में समर्थ होती हैं—ऐसा समझना चाहिये।

(६) इसी प्रकार कर्मेन्द्रियों में "वाक्-इन्द्रिय का विषय शब्द अर्थात् स्थूल शब्द है" क्योंकि वह स्थूल शब्द को उत्पन्न करती है। वाक् इन्द्रिय शब्दतन्मात्र को उत्पन्न करने वाली नहीं है- क्योंकि शब्दतन्मात्र अहङ्कार से ही उत्पन्न होती है; अतः एककारणक होने के कारण इन दोनों में कारण-कार्यभाव नहीं हो सकता। (७) शेष चारों ही इन्द्रियाँ (पाणि, पाद, पायु और उपस्थ) शब्द, स्पर्श आदि पञ्चात्मक विषयों का व्यवहार करती हैं, क्योंकि पाणि आदि के ग्राह्य (=विषयभूत) घट आदि पदार्थ शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध—इन पाँचों गुणों से युक्त होते हैं॥३४॥

३४वीं कारिका की व्याख्या

विशेष=भूत; अविशेष=तन्मात्र। योगसूत्र में अविशेष शब्द से अस्मिता का भी ग्रहण होता है (षष्ठ अविशेष के रूप में)—यह दृष्टि यहाँ अप्रयोज्य है।[1]

वाचस्पति के कथन से प्रतीत होता है कि विशेष (=भूत-तत्त्व) अर्थात् स्थूल शब्द आदि, जो शान्त-घोर-मूढ रूप तथा पृथिवी आदि रूप हैं (धर्म-धर्मि-दृष्टि के अनुसार) वे अस्मदादि की इन्द्रियों द्वारा साक्षात्करणीय हैं। यदि वाचस्पति का यही तात्पर्य है तो वे भ्रान्त हैं। भूतरूप तत्त्व (भूत मिट्टी, जल, हवा आदि या इसके यन्त्रसाध्य क्षुद्रांश रूप नहीं हैं) का साक्षात्कार समाधिविशेष की सहायता से आहङ्कारिक इन्द्रिय में विशेष प्रकार की स्थिरता का आधान करके ही किया जा सकता है। वाचस्पति का यह कहना भी असंगत है कि ऊर्ध्वस्रोताः (देवजाति के व्यक्ति) का श्रोत्र शब्दतन्मात्र का साक्षात्कार कर सकता है। देवजाति के करणों की प्रकृति का जो विवरण मिलता है, उससे यह सिद्ध नहीं होता कि देवगणों की इन्द्रियों में स्वभावतः यह सामर्थ्य है। देवजाति की इन्द्रियों में सत्त्वगुण का जो विकाश है, उससे वह स्थैर्य उत्पन्न नहीं होता जिससे तन्मात्रसदृश सूक्ष्मविषय का ग्रहण हो सके। यदि ऊर्ध्वस्रोताः शब्द योगी का विशेषण हो तो यह उचित ही है।

कारिका में जो विशेष है, वह भूततत्त्व है। भूत सदैव धर्म-लक्षण-अवस्था-परिणाम से युक्त होकर (भौतिक या पाञ्चभौतिक शब्द द्वारा जो कथित होता है) अस्मदादि के इन्द्रियग्राह्य विषय के रूप में अवस्थित है। भौतिक द्रव्य कोई तत्त्व नहीं है।

जिस प्रकार प्रत्येक बुद्धीन्द्रिय का व्यापार है और विषय है (यथा—चक्षु-दर्शन-रूप; कर्ण-श्रवण-शब्द) उसी प्रकार कर्मेन्द्रियों के विषय में भी समझना चाहिये। प्रत्येक कर्मेन्द्रिय का स्वीय बाह्य-विषय-चालन रूप व्यापार है, और उस व्यापार का विषय भी है। कर्मेन्द्रिय के स्वरूप और व्यापार के विषय में जो धारणा दार्शनिकों में प्रचलित है, वह बहुत कुछ असंगत है, पहले इस पर विचार किया गया है।

वाक्रूप कर्मेन्द्रिय के व्यापार (=वृत्ति) का नाम है 'वचन' (द्र० का० २८) और उसका विषय है=शब्द। वाचस्पति का एतद्विषयक व्याख्यान अगभीर है, यह हमारे

---

१. इस कारिका के 'विशेषाविशेषविषयाणि' पाठ के स्थान पर वाचस्पति 'विशेषाविशेषमात्रविषयाणि' पाठ समझते थे—ऐसा म०म० पञ्चानन भट्टाचार्य महाशय का मत है। उन्होंने तत्त्वकौमुदी के 'मात्रग्रहणेन भूतभाविनौ अपाकरोति' वाक्य की व्याख्या में लिखा है—'विशेषाविशेषमात्र-विषयाणीति मूलपाठमभिप्रेत्य व्याचष्टे मात्रग्रहणेति' (पूर्णिमा)। सच बात यह है कि वाचस्पति ने 'मात्र' शब्द के सार्थक्य के विषय में जो कहा है (उपर्युक्त वाक्य में) वह मात्रशब्द कारिकागत कोई शब्द नहीं है, बल्कि उनके ही द्वारा यहीं प्रयुक्त 'तन्मात्र' शब्द है (भूत में शब्दादि की जो स्थूलता है, उसकी व्यावृत्ति के लिये मात्र शब्द प्रयुक्त होता है—तन्मात्र शब्द में)। वाचस्पति के इस वाक्य का संबन्ध कारिकागत 'विशेषाविशेषविषयाणि' पद से नहीं है।

तत्तत् स्थलों के स्पष्टीकरण से विज्ञात होगा। हमारे अनुसार वाक् वह इन्द्रिय (आध्यात्मिक करण शक्ति) है जो वाह्य द्रव्य को परिणामित करती है—मनोभाव प्रकटनार्थ। इसका एक प्रमुख उदाहरण है—कण्ठ द्वारा ध्वनि का उत्पादन (यह उत्पादन ही वाक् का व्यापार है—ईदृश मत सर्वथा असंगत है)। कण्ठादि द्वारा वाह्य वायु का संचालन करने पर शब्द 'उत्पन्न' होता है—अत: शब्द वाक् की वृत्ति (=व्यापार) का विषय है। हमारी दृष्टि में परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी शब्द वाक् के व्यापार द्वारा ही उत्पाद्य होते हैं[1]। वाक्, उसका व्यापार वचन और वचन का विषय शब्द—इन तीनों पर बहुत कुछ वक्तव्य है, जो प्रसंख्यानभाष्य में द्रष्टव्य है।

वाक् के अतिरिक्त अन्य जो चार कर्मेन्द्रियाँ हैं, उनकी भी निजी वृत्तियाँ हैं,[2] और उन वृत्तियों के विषय भी हैं। पर अन्यान्य कर्मेन्द्रियों के ये विषय पाञ्चभौतिक ही होते हैं—पाणि के आदानव्यापार के विषय घटादि पाञ्चभौतिक ही हैं इत्यादि। (पञ्चविषय =शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध; गुण से गुणी भी ग्राहच है; अतएव पञ्चविषय= पाञ्चभौतिक द्रव्य)।

'वाग् भवति शब्दविषया शेषाण्यपि पञ्चविषयाणि' वाक्य में एक सांशयिक विषय है। पाठक ध्यान दें।

श्रोत्र आदि ज्ञानेन्द्रियों के श्रवणादि पाँच व्यापार हैं—जिनके यथाक्रम विषय हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध। ये इन्द्रियाँ इन विषयों का प्रकाशन करती हैं, उत्पादन नहीं करतों। तथैव पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं (वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ और पायु) जिनके व्यापार हैं वचन, आदान, विहरण, आनन्द और उत्सर्ग। चूंकि ये व्यापार हैं; अत: इनके विषय भी होंगे। कारिका कहती है कि आदान, विहरण, आनन्द और उत्सर्ग रूप व्यापार के जो विषय हैं वे पञ्चभूतनिर्मित पदार्थ होते हैं, पर वचन रूप व्यापार का विषय केवल 'शब्द' है। इसमें यह प्रश्न उठता है कि जब अन्य चार कर्मेन्द्रियों के विषय पञ्चभूत-निर्मित हैं, तब वाक् का क्यों नहीं।

द्वितीय प्रश्न इस 'शब्द' के स्वरूप को लेकर है। यह शब्द वर्णरूप है जो कर्णेन्द्रिय का विषय है—यह प्रचलित व्याख्यान है। इससे यह बात स्पष्टतया प्रतीत होती है कि कर्णरूप ज्ञानेन्द्रिय का जो ज्ञेय विषय है वही वाक्रूप कर्मेन्द्रिय का निष्पाद्य विषय है (वाक् इन्द्रिय द्वारा 'उत्पाद्य' है)। पर ईदृश नियमन अन्य ज्ञानेन्द्रिय के विषयों पर कथमपि

---

१. परा आदि शब्दभेद जिस कम्पन के द्वारा उत्पन्न या आविर्भूत होते हैं, वह कम्पन या स्पन्दन 'वचन' रूप वाक्-व्यापार ही है (कम्पन या स्पन्दन चालनव्यापार का ही एक भेद है)। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, अनाहत और विशुद्ध चक्रों में जो चेष्टा होती है, वह वचन-नामक वाक्-व्यापार है।

२. कर्मेन्द्रियों की वचन, आदान, विहरण, आनन्द और उत्सर्ग वृत्तियों पर आलोचना के लिये द्र० का० २६।

दृष्ट नहीं होता। कर्मेन्द्रियों का स्वरूप और उसके प्रातिस्विक व्यापार जब भलीभाँति स्पष्ट होंगे—तभी इन समस्याओं का समाधान हो सकेगा। कर्मेन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रिय के शब्दादि-पञ्च विषयों को उत्पन्न नहीं कर सकतीं, अवस्थान्तरित ही कर सकती हैं। पर यहाँ कहा गया है कि वाक् इन्द्रिय द्वारा उत्पाद्य शब्द श्रोत्र द्वारा गृहीत होता है—जो अस्मदीय दृष्टि से असिद्ध है। कर्मेन्द्रिय वाक् के व्यापार द्वारा निष्पाद्य 'शब्द' और ज्ञानेन्द्रिय कर्ण का विषय रूप 'शब्द' एक ही पदार्थ है—इसमें हमें संशय है[1] ॥३४॥

---

(१) साम्प्रतं त्रयोदशसु करणेषु केषाञ्चिद् गुणभावं केषाञ्चित् प्रधानभावं[1] सहेतुकमाह—

सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात् ।
तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि ॥ ३५ ॥

(२) "सान्तःकरणा" इति। द्वारि प्रधानम्। शेषाणि करणानि; बाह्येन्द्रियाणि द्वाराणि। तैरुपनीतं सर्वं विषयं समनोऽहंकारा बुद्धिर्यस्मादवगाहतेऽध्यवस्यति, तस्माद् बाह्येन्द्रियाणि द्वाराणि, द्वारवती च सान्तःकरणा बुद्धिरिति ॥३५॥

---

(१) अब तेरह करणों में किन्हीं की गौणता (=अप्रधानता) और किन्हीं की प्रधानता को हेतु सहित कहते हैं :—

यतः अन्तःकरणों (अर्थात् मन एवं अहङ्कार) के साथ (अध्यवसायलक्षणक) बुद्धि समस्त विषयों में व्याप्त होती है (=विषयप्रकाशन करती है), अतः ये तीनों अन्तःकरण द्वारी (=प्रधान) हैं; अन्य करण द्वार (=साधन-मात्र; अप्रधान) हैं ॥३५॥

(२) 'द्वारी' (द्वारिन्; नपुंसक-प्रथमैकवचन)=द्वारविशिष्ट का अर्थ है—प्रधान। 'शेष' करण अर्थात् बाह्येन्द्रियाँ (ज्ञान-कर्मेन्द्रिय) 'द्वार' अर्थात् अप्रधान हैं। चूंकि बाह्येन्द्रियों द्वारा उपस्थित किये गये सभी विषयों को मन और अहङ्कार के साथ बुद्धि निश्चित या प्रकाशित करती है इसलिये बाह्य इन्द्रियाँ द्वार (=साधन-मात्र) हैं और मन तथा अहङ्कार से युक्त बुद्धि द्वारवती (=प्रधान) है ॥३५॥

---

१. 'वाग् भवति शब्दविषया ....' पाठ की यथार्थता में हमें पर्याप्त संशय है। कारिका में 'भवति' इस क्रियापद की क्या आवश्यकता है ? हम समझते हैं कि 'भवति' भ्रष्ट पाठ है; यहाँ कोई ऐसा शब्द था जो 'शब्द' का विशेषण था (प्रसंख्यानभाष्य में विशेष विचार द्र०)।

३५वीं कारिका की व्याख्या

सान्तःकरण बुद्धि की बाह्यविषयावगाहन रूप क्रिया का स्वरूप ज्ञातव्य है। टीकाकार सान्तःकरण का अर्थ 'मन और अहङ्कार के साथ युक्त' करते हैं। तात्पर्य यह है कि बाह्य इन्द्रियाँ ग्राह्य विषयों को वाहित करती हैं और मन एवं अहङ्कार को लेकर बुद्धि उन विषय में अवगाहन करती है। यहाँ 'अवगाहन' का तात्पर्य विषय का प्रकाशन है—इसमें संशय नहीं है। इस विषय-प्रकाशन में संकल्पक मन और अभिमानी अहङ्कार का अपरिहार्य योग है; अर्थात् विषय का जो ज्ञान बुद्धि में प्रकटित होता है, वह प्राणी के मन और अहङ्कार की प्रकृति के अनुसार ही होता है। तात्पर्य यह है कि विषयज्ञान सर्वथा आपेक्षिक होता है; प्राणी के करणों की प्रकृति जैसी होगी, तदनुसार ही विषय ज्ञात होगा। ज्ञानोत्पादक एक ही क्रिया विभिन्न जातियों की चित्तेन्द्रियों में विभिन्न ज्ञान उत्पन्न करती है। मनुष्यप्रकृतिक चक्षु जिसको लालरंग के रूप में देखता हैं, अन्य जाति के प्राणियों के चक्षु उसको लाल रंग के रूप में ही देखते है—ऐसा नहीं समझना चाहिये।

'सर्वविषय' का अर्थ 'बाह्येन्द्रिय-ग्राह्य सभी विषय' है, न कि 'बाह्य-आभ्यन्तर विषय'। बाह्य विषय सदैव शब्दादिपञ्च-गुण-युक्त होते हैं (आन्तर विषय वृत्तिरूप या संस्काररूप होते हैं)। युक्तिदीपिका में 'शब्दादि' पद प्रयुक्त हुआ है, जिससे यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि बाह्य विषय ही कारिका का लक्ष्य है, अर्थात् पूर्वकारिकोक्त विशेष-अविशेष ही इस कारिका के 'सर्व विषय' हैं।

'त्रिविध करण द्वारी है, शेष (=बाह्यकरण) द्वार हैं' इस पर कुछ वक्तव्य है। बाह्य करण वैषयिक चाञ्चल्य का वाहक मात्र है। बाह्यज्ञान में इन्द्रियाँ अपरिहार्य हैं, पर ज्ञानोत्पत्ति चूँकि आन्तर करणों में होती है, अतः बाह्य करण अप्रधान (=द्वार) है—आन्तर करण द्वारी (=प्रधान) है। प्रत्येक बाह्यकरण शब्दादि विषय-नियत हैं, पर आन्तर करण शब्दादि-विषय-नियत नहीं हैं—इस दृष्टि से भी आन्तर करणों का प्राधान्य है।

'सान्तःकरणा (अन्तःकरण के साथ) बुद्धि' इस वाक्य से ध्वनित होता है कि विषयावगाहन में करणों की प्रवृत्ति युगपत् होती है (द्र० अष्टा० तेन सहेति तुल्ययोगे, २।२।२८)। पर यह तत्त्वतः युगपत् नहीं हो सकती, अतः सान्तःकरण शब्द में तुल्ययोग नहीं माना जा सकता है। उपर्युक्त अष्टाध्यायीसूत्र में तुल्ययोग प्रायिक है—यह प्रसिद्ध है।

व्याख्याकार यद्यपि 'सान्तःकरणा बुद्धिः' वाक्य में अन्तःकरण=मन और अहङ्कार ही समझते हैं और ईदृश संकोच शास्त्रों में यदा कदा देखा भी जाता है, तथापि हमें ऐसी संभावना भी प्रतीत होती है कि यहाँ बुद्धि अध्यवसायवृत्तिक न होकर पुरुषकारा बुद्धि है। त्रिविध करणों के साथ पुरुषाकारा बुद्धि (कर्तृरूप) बाह्य-आभ्यन्तर सभी विषयों का अवगाहन करती है; अतः तीन आन्तर करण (इसमें संकल्पक मन गणित होता है)

द्वारी है, अवशिष्ट करण (इसमें १० इन्द्रियाँ तथा इन्द्रिय रूप मन) द्वारभूत हैं। इन्द्रियों को प्रणालीरूप माना जाता है—यह भी द्वार-शब्द-प्रयोग के औचित्य को सिद्ध करता है ॥३५॥

---

(१) न केवलं बाह्यानीन्द्रियाण्यपेक्ष्य प्रधानं बुद्धिः, अपि तु ये अप्यहंकार-मनसी द्वारिणी, ते अप्यपेक्ष्य बुद्धिः प्रधानमित्याह—

एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः ।
कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति ॥ ३६ ॥

(२) "एते" इति। यथा हि ग्रामाध्यक्षाः कौटुम्बिकेभ्यः करमादाय विषयाध्यक्षाय प्रयच्छन्ति, विषयाध्यक्षश्च सर्वाध्यक्षाय, स च भूपतये; तथा बाह्येन्द्रियाण्यालोच्य मनसे समर्पयन्ति, मनश्च संकल्प्याहंकाराय, अहंकारश्चाभिमत्य बुद्धौ सर्वाध्यक्षभूतायाम्; तददिदमुक्तम्—"पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति" इति। (३) बाह्येन्द्रियमनोऽहंकाराश्च गुणविशेषा गुणानां

---

(१) बाह्य इन्द्रियों की अपेक्षा ही बुद्धि प्रधान नहीं है, प्रत्युत अहङ्कार और मन रूप जो दो अन्य अन्तःकरण द्वारी (=प्रधान) माने जाते हैं, उनकी अपेक्षा भी बुद्धि प्रधान है—यह कारिकाकार कहते हैं :—

गुणों के सन्निवेशविशेषरूप (अर्थात् गुणपरिणामभूत) एवं परस्पर विलक्षण ये करण (अन्तःकरण और बाह्यकरण) प्रदीपसदृश (अर्थात् मिलकर कार्य करने में समर्थ) हैं। ये पुरुष के सभी अर्थों को प्रकाशित कर उसे बुद्धि को समर्पित कर देते हैं (पुरुष उद्देश्य है; संबन्धत्वेन विवक्षा करके पुरुष में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया गया है) ॥३६॥

(२) जिस प्रकार ग्रामाध्यक्ष सभी कुटुम्बपालनकारी गृहस्थों (अर्थात् जीविका करने वालों से) कर लेकर उसे विषय (=जनपद) के अध्यक्ष को देता है और विषयाध्यक्ष सर्वाध्यक्ष को, सर्वाध्यक्ष राजा को सौंपता है; उसी प्रकार बाह्य इन्द्रियाँ विषयों का आलोचन करके उनका समर्पण मन को करती हैं; मन उनका संकल्पपूर्वक समर्पण अहङ्कार को करता है तथा अहङ्कार अभिमानपूर्वक विषयों का समर्पण सभी करणों की अध्यक्षभूत बुद्धि को करता है"। इसलिये कारिका में कहा गया है—"ये करण पुरुष के सभी अर्थों (=विषय) को प्रकाशित कर उसे बुद्धि में सौंपते हैं। [बुद्धि में पुरुषत्व का आरोप करने पर बौद्ध विषय पुरुषार्थरूपेण ज्ञात होता है]।

(३) (ज्ञान-कर्मेन्द्रिय रूप) बाह्य इन्द्रियाँ, मन और अहङ्कार गुणों के 'विशेष' हैं अर्थात् सत्त्व, रजः और तमः गुण के विकार हैं। ये परस्पर विरुद्धस्वभाव के होते हुए भी भोग और अपवर्ग रूप पुरुषार्थ के द्वारा परस्पर अविरोधिता (=परस्परसहयोग) को प्राप्त होते हैं। जैसे वत्ती, तेल तथा अग्नि गहन अन्धकार का दूरीकरण द्वारा रूप को

सत्त्वरजस्तमसां विकाराः, ते तु परस्परविरोधशीला अपि पुरुषार्थेन भोगापवर्गरूपेणैकवाक्यतां नीताः। यथा वर्तितैलवह्नयः सन्तमसापनयनेन रूपप्रकाशाय मिलिताः प्रदीपः, एवमेते गुणविशेषा इति योजना ॥ ३६ ॥

प्रकाशित करने के लिये मिलकर कार्य करते हैं—यही प्रदीप (=दीपशिखा) कहलाता है, उसी प्रकार गुणों के परिणामभूत ये करण भी (परस्पर सहकारित्व को प्राप्त होते हैं)। कारिका के पदों की योजना इस प्रकार करनी चाहिये ॥३६॥

३६वीं कारिका की व्याख्या

कारिका में करणों को परस्पर विलक्षण गुण-विशेष कहा गया है। गुणविशेष=गुण-सन्निवेशविशेष। विषय-ग्रहण-सामर्थ्य से युक्त होने पर भी—गुणवैषम्यात्मक होने पर भी—ये करण गुण से तत्त्वतः पृथक् नहीं हैं। 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' इस गीतोक्त न्याय के अनुसार इन करणों के विषय भी गुणविकार-विशेष ही होते हैं। प्रत्येक करण का अपना कार्य है—इस दृष्टि से ही प्रत्येक करण एक दूसरे से पृथक् है। कार्यभेद न हो तो बाह्य करणों को अहङ्कार से पृथक् कर जानने का कोई उपाय नहीं है; इस प्रकार अहङ्कार यदि स्व-व्यापार से सम्यक् हीन हो जाये तो वह बुद्धि में लीन हो जायेगा। वस्तुतः व्यापारभेद ही कार्य का व्यक्तित्व है। 'एक धर्मी के जितने धर्म होते हैं, उनकी सत्ता विभिन्न कार्यों के जनन से अनुमित होती है'—यह व्यासभाष्योक्त मत (३।१४) इस प्रसंग में आलोच्य है।

'पुरुष के पूर्ण अर्थ का प्रकाशन' में विचार्य यह है कि यह 'अर्थ' क्या है? क्या यह भूत-तन्मात्र रूप विषय है अथवा भोगापवर्ग रूप पुरुषार्थ है? हम देखते हैं यहाँ 'एते' शब्द से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन, अहङ्कार और बुद्धि (जैसा कि पूर्वकारिका में कहा गया है) ही गृहीत हैं, अतः 'अर्थ' का तात्पर्य है—'विशेष-अविशेष-रूप' अर्थ (जो प्रकाश्य, कार्य और धार्य के रूप में इन्द्रिय द्वारा व्यवहृत होते हैं)। ये विषय या तो भोगरूप ज्ञान के विषय होते हैं—या अपवर्ग रूप ज्ञान के; इन विषयों के ज्ञान में जब द्रष्टा और बुद्धि का एकत्व-प्रत्यय ही प्रबल रहता है तब 'भोग' होता है और जब पृथक्त्व-ख्याति प्रबल रहती है तब 'अपवर्ग' होता है।

वाचस्पति आदि समझते हैं कि प्रदीप-उपमा (दृष्टान्त नहीं) की ध्वनि यह है कि 'परस्पर-विरोधी होने पर भी एक प्रयोजन में मिलित होना' करणों का स्वभाव है। हमारी दृष्टि में यहाँ यह कथन असमीचीन है। यह स्वभाव तो मूलतः त्रिगुण का है क्योंकि वे परस्पर विरोधी होकर भी परस्पर के सहायक हैं। 'गुण अन्योन्याभिभवा-

श्रयजननमिथुन-वृत्ति हैं' कहने का तात्पर्य ही यह है कि उनमें विरोधिता-सहयोगिता हैं। गुणों का मूल स्वभाव प्रत्येक त्रैगुणिक विकार में (महदादि करण में तथा भूत-तन्मात्रों में) अनुवर्तमान अवश्य है—अतः यहाँ पुनः उसी भाव के प्रदर्शन के लिये इस उपमा की कोई आवश्यकता नहीं है। किंच इस उपमा के द्वारा यही भाव पूर्व में उक्त भी हुआ है (द्र० का० १३)। हमारी दृष्टि में 'प्रदीप-कल्प' कहने की ध्वनि यह है कि प्रदीप (=दीपशिखा) जिस प्रकार वस्तुप्रकाशन करने पर भी वस्तु के भेद से अपने में भेद को उत्पन्न नहीं करता अथवा वह वस्तुप्रकाशन करने पर भी वस्तु से लिप्त नहीं हो जाता—अपने स्वरूप को वस्तु से पृथक् रखकर ही वस्तु-प्रकाशन करता है, उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये।[1]

यह प्रश्न हो सकता है कि इस भाव को यहीं पर कहने की क्या आवश्यकता है? यह आवश्यक इसलिये है कि जब इन्द्रियाँ और भूत त्रिगुण के अतिरिक्त कुछ हैं ही नहीं, तब इन दोनों में उपरज्य-उपरञ्जक-भाव होने के कारण यह संशय रहता है कि विषयप्रकाशन करने के समय कहीं करण अपने स्वरूप से विच्युत न हो जाता हो। इस संभावना के लिये ही यह कहा जा रहा है कि दीपशिखा जिस प्रकार वस्तुप्रकाशन करने के कारण अपने स्वरूप को खो नहीं देती है, उसी प्रकार करण भी स्व-स्वरूप से विच्युत नहीं हो जाता है—यद्यपि वैषयिक क्रिया से सक्रिय होता रहता है।

यह भी ज्ञातव्य है कि करण प्रतिजीवगत वस्तु है और विषय अन्य जीव के अन्तःकरण का विकार है (जिस भूतादि-अहङ्कार से विषयमूल तन्मात्र प्रकट होते हैं, वह अहङ्कार प्रजापति का है—यह सांख्य की मान्यता है)। इन्द्रियाँ विषय द्वारा अभिहन्यमान होने की योग्यता से अन्वित हैं (विषय और विषयग्राहक इन्द्रियों का एकोपादानत्व होने के कारण; यथा भूत तन्मात्र का स्थूल रूप है, तन्मात्र अहङ्कार का विकार है, इन्द्रिय भी अहङ्कार का विकार है, अहङ्कार बुद्धि का विकार है; अहङ्कार चाहे किसी का हो वह एकजातीय वस्तु ही होगा) अतः यह प्रश्न हो ही सकता है कि क्या इन्द्रियाँ वैषयिक क्रिया द्वारा अभिहन्यमान होकर स्व-स्वरूप से च्युत हो जाती हैं या नहीं।

यदि करण अपने को अविकृत रखकर ही विषय-प्रकाशन करते हैं; तो 'विषयाकारा बुद्धिवृत्ति' रूप प्रवाद का तात्पर्य क्या होगा? हमारा कथन यह है कि सांख्य की दृष्टि यह नहीं है कि शब्दादि विषय कोई स्वप्रतिष्ठ स्वतन्त्र आकारवान् पदार्थ हैं और उनके आकारों में बुद्धिवृत्ति वस्तुतः आकारित होती है। हमारे मत में 'आकारित होना' उपमा की भाषा है। 'विषयाकारा बुद्धिवृत्ति' का तात्पर्य यह है—विषय मूलतः भूतादि-अहङ्कार का

१. प्रदीपकल्पा इत्यनेन प्रकाशसाम्यं करणपर्वण आचष्टे (युक्तिदी०)। यहाँ प्रदीप पात्रविशेष नहीं है, पात्रस्थ वह्निज्वालामात्र है। यही कारण है कि प्रदीप को 'रूपविशेषसंस्थान कहा जाता है।

ग्राह्यीभूत रूप है। इसमें प्रकाश्य-कार्य-धार्य-रूप में व्यवहृत होने की योग्यता है। प्राणी में भी प्रकाशन-आहरण-विधारण करने की योग्यता है। ग्राह्यीभूत भूतादि द्वारा सजातीयता के कारण प्राणीस्थ इन्द्रियों में चाञ्चल्य उत्पन्न होता है; यह चाञ्चल्य प्राणी के पूर्वसंस्कार-युक्त करण-सहायक बुद्धि में शब्दादिज्ञानरूप से प्रकाशित होता है। पूर्वसंस्कारवश प्राणी समझता है कि शब्दादि बाह्य पदार्थ में हैं। चूंकि ज्ञान भिन्न भिन्न प्रकार का होता है, अतः अनुमित होता है कि भूतादि की क्रिया भी भिन्न भिन्न प्रकार की है। चूंकि ज्ञान खण्ड-खण्ड रूप से उदित होता रहता है, अतः अनुमित होता है कि चाञ्चल्य के अनुरूप ही ज्ञान होता है। यह अनुरूप होना ही 'विषयाकार में आकारित' होना है।[1]

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि 'विषयाकारा बुद्धिवृत्ति होने पर भी करण स्व-स्वरूप से विच्युत नहीं होता'। विषय द्वारा करण उपरक्त होता है—उपरक्त होने पर भी करण रूप धर्मी अन्य धर्मी में परिवर्तित नहीं हो जाते—उनमें परिणाममात्र होता है।

'करण पुरुष के सभी अर्थों को प्रकाशित कर उनको बुद्धि को समर्पित करते हैं'—इस वाक्य में कुछ विचार्य है। बुद्धि में समर्पित होने से पहले ही अर्थ का प्रकाशन हो जाता है—यह इस वाक्य से ज्ञापित होता है। यह भी कहा जाता है कि अप्रकाशित विषय को प्रकाशित करना बुद्धि का कार्य है—यही अध्यवसाय का स्वरूप है। इस विरोध का एक समाधान यह हो सकता है कि यहाँ बुद्धि का अर्थ करण रूप बुद्धि नहीं है, प्रत्युत 'पुरुषाकारा बुद्धि' है—कर्तृरूप बुद्धि जो लिङ्ग (द्र० का० २०) का स्वरूप है। दूसरा समाधान यह हो सकता है कि मन रूप इन्द्रिय के द्वारा आन्तर विषय का और बाह्य इन्द्रियों द्वारा बाह्य विषय का स्वानुरूप प्रकाशन संकल्पकमन-सहायक अहङ्कार करता है और इस 'प्रकाशित' विषय को बुद्धि के पास पहुँचाता है (पहुँचाना—उपमा की भाषा है) जिससे वह 'पूर्णतः प्रकाशित' हो जाता है। चूंकि इन्द्रियाँ सात्त्विक अहङ्कार का विकार है, अतः उनमें प्रकाशन-सामर्थ्य स्वतः सिद्ध है। यह सामर्थ्य बुद्धि में सर्वोच्चरूपेण विद्यमान है और बुद्धि द्वारा प्रकाशित (अर्थात् अध्यवसित) होने से पूर्व जो विषयप्रकाशन है वह अपूर्ण प्रकाशन है ॥३६॥

---

(१) कस्मात्पुनर्बुद्धौ प्रयच्छन्ति, न तु बुद्धिरहंकाराय द्वारिणे मनसे वेत्यत आह—

---

(१) क्यों सब करण बुद्धि को ही पुरुषार्थ का समर्पण करते हैं, क्यों नहीं बुद्धि ही प्रधानभूत अहङ्कार को या मन को समर्पण करती है? इसके उत्तर में कारिकाकार कहते हैं—

---

१. जो शास्त्र शब्दादि को वस्तुतः बाह्यविषयगत ही मानते हैं वे 'ज्ञान का विषयाकार में परिणत होना' रूप मत नहीं मानते हैं। सांख्यीय दृष्टि में विषयज्ञान का हेतु इन्द्रियबाह्य वस्तु है, पर ज्ञान का उपादान प्राणी की बुद्धि है।

सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात्पुरुषस्य साधयति बुद्धिः ।
सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम् ॥ ३७ ॥

(२) "सर्वम्" इति। पुरुषार्थस्य प्रयोजकत्वात् तस्य यत्साक्षात्साधनं तत् प्रधानम्। बुद्धिश्चास्य साक्षात्साधनम्, तस्मात्सैव प्रधानम्। यथा सर्वाध्यक्षः साक्षाद्राजार्थसाधकतया प्रधानम्, इतरे तु ग्रामाध्यक्षादयस्तं प्रति गुणभूताः। (३) बुद्धिर्हि पुरुषसन्निधानात् तच्छायापत्त्या तद्रूपेव सर्वविषयोपभोगं पुरुषस्य साधयति। (४) सुखदुःखानुभवो हि भोगः, स च बुद्धौ, बुद्धिश्च पुरुषरूपेवैति, सा च पुरुषमुपभोजयति। (५) यथाचाऽर्थालोचन-संकल्पाभिमानाश्च तत्तद्रूपपरिणामेन बुद्धावुपसंक्रान्ताः, तथेन्द्रियव्यापारा अपि बुद्धेरेव स्वव्यापारेणाध्यवसायेन सहैकव्यापारी भवन्ति, यथा वा स्वसैन्येन सह ग्रामाध्यक्षादिसैन्यं सर्वाध्यक्षस्य भवति। (६) सर्वं शब्दादिकं प्रति य उपभोगः पुरुषस्य तं साधयति।

चूँकि बुद्धि पुरुष के लिये सर्वविषयक भोग को सम्पादित करती है और वही प्रकृति एवं पुरुष के सूक्ष्म भेद को प्रकट करती है (इसलिये बुद्धि को ही सर्वोच्च करण माना जाता है) ॥३७॥

(२) (करणों के व्यापार=प्रवृत्ति में) पुरुषार्थ के ही प्रयोजक होने से जो (करण) पुरुषार्थ का साक्षात् (=अव्यवहित) साधन है, वही प्रधान है। बुद्धि चूँकि साक्षात् साधन है, इसलिये वह प्रधान है। जैसे, राजकार्य के साधन में साक्षात् रूप से साधक होने के कारण सर्वाध्यक्ष प्रधान होता है, अन्य ग्रामाध्यक्ष आदि उसकी अपेक्षा अप्रधान होते हैं। (३) पुरुष के सन्निहित होने के कारण बुद्धि पर पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है जिससे बुद्धि पुरुषवत् चेतन होती हुई पुरुष के लिये समस्त विषयों के उपभोग को सम्पादित करती है।

(४) भोग सुख और दुःख का अनुभव है, वह बुद्धि में वर्तमान रहता है और बुद्धि पुरुष-सदृश चेतन-सी होती है। इस प्रकार (पौरुष चैतन्य से युक्त होकर) यह बुद्धि पुरुष को विषयों का भोग कराती है। (५) ज्ञानेन्द्रियों, मन तथा अहङ्कार के द्वारा कृत अर्थ के आलोचन, संकल्प और अभिमान जिस प्रकार क्रमशः संकल्प-अभिमान-अध्यवसाय के आकार में परिणत होकर बुद्धि में उपसंक्रान्त हो जाते हैं, कर्मेन्द्रियों के आदान-आदि व्यापार भी उसी प्रकार बुद्धि के 'अध्यवसाय' रूप व्यापार के साथ मिलकर एक हो जाते हैं; जैसे सर्वाध्यक्ष की सेना के साथ ग्रामाध्यक्ष आदि की सेनाएँ सर्वाध्यक्ष की हो जाती हैं। (६) सभी शब्दादि विषयों के प्रति (शब्दादि के संबन्ध में) पुरुष का जो उपभोग होता है, उसे (बुद्धि ही) सम्पन्न करती है।

(७) ननु पुरुषस्य सर्वविषयोपभोगसम्पादिका यदि बुद्धिः तर्ह्य निर्मोक्ष इत्यत आह–सैव चेति। पश्चात् प्रधानपुरुषयोरन्तरं विशेषं "विशिनष्टि" करोति —यथौदनपाकं[1]पचतीति, करणञ्च[2]प्रतिपादनम् । (८) [3]अनेना पवर्गः पुरुषार्थो दर्शितः। (९) ननु प्रधानपुरुषयोरन्तरस्य कृतकत्वादनित्वत्वम्, तत्कृतस्य मोक्षस्याप्यनित्यत्वं स्यादत आह—विशिनष्टि। प्रधानं सविकारमन्यदहमन्य इति विद्यमानमेवान्तरमविवेकेनाविद्यमानमिव बुद्धिर्बोधयति, न करोति, येनानित्यत्वमित्यर्थः; सूक्ष्मं दुर्लक्ष्यं तदन्तरमित्यर्थः ॥ ३७ ॥

---

(७) परन्तु पुरुष के सभी भोगों को यदि बुद्धि ही सम्पादित करती है, तो मोक्ष कभी होगा ही नहीं। इस शंका का उत्तर कारिकाकार 'सैव च' इत्यादि वाक्य द्वारा देते हैं। पुनः भोग के अनन्तर बुद्धि प्रकृति और पुरुष का पृथक्त्व भी करती है। 'अन्तरं विशिनष्टि' (विशिनष्टि=भेद करता है) वाक्यगत 'विशिनष्टि' का अर्थ इस स्थल में 'करोति' (=करता है) है; जैसे 'ओदनपाकं पचति' (=ओदनपाक-कर्मक पाक) —इस वाक्य में 'पचति' (=पकाता है) का अर्थ—करोति (=करता है) है; विशिनष्टि ='करोति' में करना भी प्रतिपादन के अर्थ में है। (८) इस विचार के द्वारा अपवर्ग रूप पुरुषार्थ प्रतिपादित हुआ।

(९) प्रश्न यह है कि प्रकृति और पुरुष के भेद के उत्पाद्य होने के कारण उस भेद-ज्ञान-हेतुक मोक्ष भी अनित्य होगा। इसके उत्तर में कारिकाकार कहते हैं—परिणामों के सहित प्रकृति भिन्न है, मैं (आत्मा) उससे भिन्न हूँ—ईदृश जो भेद विद्यमान (=सिद्ध) ही है, पर अविवेक से अविद्यमान की तरह है, उस भेद को बुद्धि प्रकटित ही करती है; न कि उस भेद को उत्पन्न करती है क्योंकि ऐसा होने पर उस भेद से उत्पन्न मोक्ष को अनित्य कहना पड़ेगा। कारिकागत सूक्ष्म का अर्थ दुर्लक्ष्य है (अर्थात् प्रधान-पुरुष का अन्तर अत्यन्त दुरधिगम है) ॥३७॥

३७वीं कारिका की व्याख्या

वाचस्पति कारिकोक्त बुद्धि को करण रूप मानकर व्याख्या करते हैं और यह दिखाते हैं कि अन्य दो आन्तर करणों की तुलना में बुद्धि का वैशिष्ट्य क्या है, जिसके

---

१. 'यथौदनपाकं···करणं च प्रतिपादनम्' इति वाक्यं क्वचित् 'येन अनित्यत्वमित्यर्थः, इत्यनन्तरं पठ्यते, तदनन्तरं च 'अनेनापवर्गः पुरुषार्थो दर्शितः' इति वाक्यं पठ्यते।

२. 'करणं च प्रतिपादनम्' इति वाक्यं टीकान्तिमवाक्यरूपेण बहुत्र पठ्यते।

३. 'अनेन अपवर्गः पुरुषार्थो दर्शितः' इति वाक्यं येनानित्यत्वमि'ति वाक्यानन्तरं पठ्यते क्वचित्।

कारण अन्य करण उसको विषय-समर्पण करते हैं। हमारी दृष्टि में यह बुद्धि पुरुषाकारा बुद्धि है—कर्तृरूप बुद्धि (=लिङ्ग) है। करणरूप बुद्धि में समर्पण-क्रियाकर्तृत्व का उल्लेख गौण दृष्टि से ही संभव होता है। पुरुषाकारा बुद्धि में ही चित्-जड़-भेद का सम्यक् ज्ञान होता है। 'प्रधान-पुरुषान्तर' का तात्पर्य है—प्रत्येक ज्ञान में द्रष्टृभाव का दृश्यभाव के साथ जो एकवत् प्रत्यय होता है, उसका पृथक् करण। 'प्रधान' रूप 'गुण-अवैषम्यावस्था' का उल्लेख तत्त्वदृष्टि से है; गुणवैषम्यभूत बुद्धि के प्रत्येक परिणाम के मूल में चेतन-अचेतन का संयोग है—यह समझना ही प्रधान-पुरुषान्तर का बोध है—यही विवेकख्याति है। पूर्वोक्त एकवत् प्रत्यय भोग है; पृथक्त्वख्याति होना अपवर्ग है। विवेकख्याति जब होती है, तब भी संयोग और संयोगजन्य बुद्धि—ये दो रहते ही हैं। वस्तुतः विवेकख्याति बुद्धि का ही कार्य है। 'पुरुषस्य भोगं साधयति' का तात्पर्य है—भोगरूप चित्तकार्य का प्रकाशक पुरुष ही है। पुरुषार्थ के विना दृश्य की व्यक्तता की कोई संभावना नहीं रहती—'तत्स्वरूपं पररूपेण प्रतिलब्धात्मकम्' वाक्य (व्यासभाष्य २।२१) इस प्रसंग में द्रष्टव्य है। भाषा के द्वारा 'पुरुषस्य भोगं साधयति' कहने पर भी पुरुष वस्तुतः भोग से विकृत नहीं होता या पुरुष में भोग द्वारा कोई वैशिष्ट्य उत्पन्न नहीं होता।

यह भी लक्षणीय है कि करणों की प्रवृत्ति में भोग-अपवर्ग-रूप पुरुषार्थ को हेतु कहा गया है (पुरुषार्थ एव हेतु र्न केनचित् कार्यते करणम्, ३१); और इस कारिका में कहा जा रहा है कि भोग (शब्दादि-विषय-ज्ञान) की साधक बुद्धि (करणविशेष) ही है। पुरुषार्थ बुद्धि की प्रवृत्ति में हेतु भी है और बुद्धि द्वारा संपाद्यमान भी है—क्या ऐसा कथन परस्पर विरुद्ध नहीं है? इस समस्या का एक समाधान वाचस्पति ने किया है कि अनागतावस्था में (निष्पादनीयत्वेन) स्थित जो भोग और अपवर्ग हैं, वे करणों का प्रवर्तन करते हैं। यह कथन सर्वथा असमीचीन है। अनागत =भविष्यद् व्यक्तिक वस्तु; इस अवस्था में रहकर करणसाध्य फल करण को प्रवर्तित करेगा (चूँकि सत्कार्यवाद स्वीकार्य होता है) यह व्याख्याकार कहना चाहते हैं। व्यापार कर उपरत होना अतीतावस्था है, व्यापार कृत होगा—यह अनागतावस्था है, यह शास्त्रीय मत है। ऐसी स्थिति में अनागतावस्था में स्थित पदार्थ स्वव्यापार से वर्तमान वस्तु को प्रभावित करेगा—यह संभव नहीं है। सूक्ष्मरूपेण विद्यमान रहना और व्यापारवान् होना अत्यन्त पृथक् हैं।

भोग और अपवर्ग ज्ञानरूप हैं। इन दो चित्त-व्यापारों (दोनों अर्थों में ये दो शब्द प्रयुक्त होते हैं) का परस्पर संबन्ध किस प्रकार का है, यह निम्न उदाहरण से स्पष्ट होता है। लालरूप का दर्शन भोग का एक उदाहरण है, क्योंकि इस भोग-ज्ञान में ज्ञातृभाव और ज्ञेयभाव का पार्थक्य ज्ञात नहीं होता। यह लाल रूप रूपतन्मात्र में नहीं है; इन्द्रिय के स्वभाव के अनुसार अनेक रूपतन्मात्रों का एक साथ ग्रहण करने पर (अर्थात् तान्मात्रिक क्रिया-समष्टिविशेष द्वारा इन्द्रिय उपरक्त होने पर) रूपज्ञान बुद्धि में उद्भूत होता है—

'मैं रूप देख रहा हूँ'—इस प्रकार से। यह बुद्धिस्थ परिणामविशेष है, अतः ज्ञान 'मैं' का परिणाम ही होता है (यह 'मैं' चिद्रूप आत्मा नहीं है, किन्तु अभिमान-अध्यवसाय-धर्मों का धर्मी द्रव्य है)। क्रिया के उदय-लय के विना 'परिणाम' नहीं होता और क्रिया क्षण-व्यापिनी होती है—यह सांख्यीय दृष्टि है। अतः सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर यह ज्ञात होगा कि रूप का ज्ञान 'मैं' के क्षणव्यापी परिणामों से पृथक् कोई पदार्थ नहीं है। यदि बुद्धि निरुद्ध होती है, तो यह ज्ञान नहीं होता। निरुद्ध होना=वृत्तिसारूप्य का न होना, अर्थात् जब रूपादि दृश्यों का ज्ञान नहीं है, तब द्रष्टा की स्वरूपस्थिति है—वृत्तिसारूप्य नहीं है। इस काल में काल का ज्ञान भी नहीं है। दूसरे शब्दों में दो चित्तलयों के बीच में जब वृत्तिसारूप्य है तब दृश्यज्ञान है। (वृत्ति लयोदयशालिनी है—यह प्रसिद्ध ही है)। जब द्रष्टा का स्वरूपा-वस्थान है तब दृश्यज्ञान नहीं है। अतः द्रष्टा को न जानना ही विषयज्ञान (=भोग) है। इससे यह सिद्ध होता है कि द्रष्टा की ख्याति जैसी जैसी बढ़ती जायेगी भोग तदनुसार घटता जायेगा और भोग जैसा जैसा बढ़ता जायेगा, अपवर्ग तदनुसार घटता जायेगा॥३७॥

(१) तदेवं करणानि विभज्य विशेषाविशेषान् विभजते—

तन्मात्राण्यविशेषा स्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः ।
एते स्मृता विशेषाः शान्ता घोराश्च मूढाश्च ॥३८॥

(२) "तन्मात्राणि" इति। शब्दादितन्मात्राणि सूक्ष्माणि। न चैषां शान्त-त्वादिरस्ति उपभोगयोग्यो विशेष इति मात्रशब्दार्थः। (३) अविशेषानुक्त्वा विशेषान् वक्तु मुत्पत्तिमेषामाह—"तेभ्यो भूतानी"ति। तेभ्यस्तन्मात्रेभ्यो यथा-

---

(१) इस प्रकार करणों का विभाजन कर अब विशेष (=भूत) और अविशेष (=तन्मात्र) रूप ग्राह्य विषयों का विभाग कहते हैं—

पाँच तन्मात्र 'अविशेष' (=विशेष-रहित) हैं; इन पाँचों से आकाश आदि पाँच भूत उत्पन्न होते हैं, जो विशेष कहलाते हैं। ये विशेष शान्त (सुखात्मक), घोर (दुःखात्मक) और मूढ (मोहात्मक) होते हैं ॥३८॥

(२) शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध तन्मात्र सूक्ष्म हैं; इनमें शान्तत्व आदि उप-भोगयोग्य विशेष नहीं हैं। इस तथ्य को कहने के लिये तन्मात्र शब्द में 'मात्र' शब्द (मात्रच् प्रत्यय) प्रयुक्त हुआ है। (तदेव=तन्मात्रम्; कोई कोई 'सा मात्रा अस्मिन्'—ऐसा भी विग्रह करते हैं)।

(३) 'विशेष'-हीन तन्मात्रों को कहकर 'विशेष' रूप भूत को कहने के लिये इनकी उत्पत्ति कहते हैं—उन तन्मात्रों से भूतों (की उत्पत्ति होती है)। अर्थात् उन शब्दादि पांच तन्मात्रों से अर्थात् एक, दो, तीन, चार, और पाँच तन्मात्रों से यथाक्रम

संख्यमेकद्वित्रिचतु:पञ्चभ्यो भूतान्याकाशानिलानलसलिलावनिरूपाणि पञ्च पञ्चभ्य: तन्मात्रेभ्य: ।

(४) अस्त्वेतेषामुत्पत्ति:, विशेषत्वे किमायातमित्यत आह—"एते स्मृता विशेषा:" इति । कुत: ? शान्ता घोराश्च मूढाश्च । (५) चकार एको हेतौ, द्वितीय: समुच्चये । (६) यस्मादाकाशादिषु स्थूलेषु सत्त्वप्रधानतया केचिच्छान्ता: सुखा: प्रकाशा लघव:, केचिद्रज:प्रधानतया घोरा दु:खा अनवस्थिता:, केचित्तम:प्रधानतया मूढा विषण्णा गुरव: । (७) तेऽमी परस्परव्यावृत्त्याऽनुभूयमाना विशेषा इति च स्थूला इति चोच्यन्ते । (८) तन्मात्राणि त्वस्मदादिभि: परस्परव्यावृत्तानि नानुभूयन्ते, इत्यविशेषा इति सूक्ष्मा इति चोच्यन्ते ॥ ३८ ॥

—:०:—

आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—ये पाँच भूत उत्पन्न होते हैं । (शब्द-तन्मात्र से आकाश, शब्द-स्पर्श-तन्मात्र-द्वय से वायु इत्यादि) ।

(४) इन भूतों की उत्पत्ति मानने पर भी इनके 'विशेष' होने पर क्या सिद्ध होता है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'ये भूत विशेष कहे जाते हैं, क्योंकि वे शान्त, घोर और मूढ होते हैं । (५) एक 'च' (घोराश्च) 'हेतु' के अर्थ में है (चूँकि शान्त हैं, इसलिये विशेष हैं) और दूसरा 'च' (मूढाश्च) समुच्चय करने के लिये है । (६) तात्पर्य यह है कि चूंकि आकाश, वायु आदि स्थूल ग्राह्य पदार्थों में कुछ सत्त्वप्रधान होने के कारण शान्त हैं अर्थात् सुखात्मक, प्रकाशरूप और लघु हैं; कुछ रज:प्रधान होने के कारण घोर अर्थात् दु:खरूप और चञ्चल हैं; कुछ तम:प्रधान होने के कारण मोहात्मक अर्थात् विपादरूप और गुरु होते हैं । (७) ये (पाँच) भूत परस्पर पृथक् पृथक् रूप से (शान्तत्वादिभाव से) अनुभव किए जाने के कारण 'विशेष' और 'स्थूल' शब्द से अभिहित होते हैं । (८) पर ये तन्मात्र हमलोगों के द्वारा पृथक्-पृथक् अनुभूत न होने के कारण 'अविशेष' और 'सूक्ष्म' पद से अभिहित होते हैं ॥३८॥

३८वीं कारिका की व्याख्या

कारिका में तन्मात्र को अविशेष कहा गया है। अविशेष=विशेष-शून्य; विशेष कहने का तात्पर्य यह है कि तन्मात्र रूप इन्द्रियग्राह्य पदार्थ में सुख-दु:ख-मोह-करत्व रूप गुण नहीं है । विशेष शान्त (=सुखकर), घोर (=दु:खकर) और मूढ़ (=मोहकर) होते हैं । प्रसंगत यह ज्ञातव्य है कि तन्मात्र अकारान्त शब्द है आकारान्त (तन्मात्रा) नहीं है

१. 'प्रसन्ना:' इति पठ्यते व्याख्यायते च केनचिद् व्याख्यात्रा ।

प्रायः सभी हिन्दी व्याख्याकार 'तन्मात्रा' (आकारान्त) लिखते हैं—यह मनोवृत्ति शोच्य है। मात्रा-शब्द के प्रभाव के कारण ऐसा भ्रष्ट प्रयोग किया जाता है—ऐसा प्रतीत होता है। तन्मात्र='तदेव' या 'स एव' या 'सा एव'—शब्दः एव शब्दमात्रम्—तथैव स्पर्शमात्रम्, रूपमात्रम्, रसमात्रम्, गन्धमात्रम्। शब्दमात्र आदि प्रत्येक तन्मात्र भी कहलाता है [शब्द शब्द पुंलिङ्ग है; पर शब्दमात्र नपुंसकलिङ्ग है—ऐसा लिङ्गभेद व्याकरणानुमोदित है—चित् एव=चिन्मात्रम् में चित् स्त्रीलिङ्ग है]। विष्णुपुराण में जो 'तस्मिन् तस्मिन् तु तन्मात्रा तेन तन्मात्रता स्मृता' (१।२।४१) कहा गया है, उसमें 'तन्मात्रा' का अर्थ है—तस्य मात्रा—प्रत्येक तन्मात्र में शब्द आदि की एक एक मात्रा ही है, यह तात्पर्य है; अतः यह शब्द स्त्रीलिङ्ग ही होगा (तत्पुरुष समास होने के कारण)। तन्मात्र शब्द में बहुव्रीहिसमास भी कोई कोई मानते हैं। इतिहास-पुराण, वेदान्त आदि के ग्रन्थों में सर्वत्र अकारान्त तन्मात्र शब्द ही प्रयुक्त हुआ है। पहले के अंग्रेजी ग्रन्थों में तन्मात्र शब्द ही प्रयुक्त होता था, पर इदानीं प्रकाशित कुछ अंग्रेजी ग्रन्थों में आकारान्त तन्मात्रा शब्द का प्रयोग होने लगा है।

तन्मात्र को शास्त्रीय पद्धति के अनुसार समझने के लिये यह आवश्यक है कि कारिका में कथित तन्मात्रसंबन्धी मतों को पहले जाना जाये। कारिकाकार का कहना है कि (१) तन्मात्र प्रकृति-विकृति में अन्यतम है (का० ३); (२) अहङ्कार से ११ इन्द्रियों और ५ तन्मात्रों की उत्पत्ति होती है (का० २२ तथा २४); (३) अहङ्कार का भूतादिनामक जो तामस भाग है, वह तन्मात्र का उपादान है; इस तन्मात्र की उत्पत्ति में तैजस अहङ्कार सहायक है (का० २५); (४) बुद्धीन्द्रिय (=ज्ञानेन्द्रिय) का विषय अविशेष (=तन्मात्र) और विशेष (=भूत) है (का० ३४)।

उपर्युक्त कारिकाओं की व्याख्या में हमने तन्मात्र पर कई बातें कही हैं; यहाँ भूत-तन्मात्र-संबन्धी अन्य आवश्यक बातें कही जा रही हैं—

बाह्य विषयों का भूत-तन्मात्र के रूप में जो सांख्यीय विश्लेषण है, वह ध्यानज दृष्टि पर आधृत है; वह यन्त्रादि द्वारा साध्य विश्लेषण नहीं है। भूत-तन्मात्र-विश्लेषण रसायनशास्त्रीय विश्लेषण का अनुरूप कथमपि नहीं है। सांख्यीय भूततन्मात्र-विश्लेषण में पाञ्चभौतिक को भूतों में तथा भूतों को तन्मात्रों में वस्तुतः विश्लिष्ट-विभक्त नहीं किया जाता; योगोक्त कौशलविशेष से तथा योगोक्त युक्तियों के आधार पर भौतिक का उपादान पञ्चभूत, भूतों का उपादान पञ्चतन्मात्र—ऐसा प्रत्यक्षतः अवधारणमात्र किया जाता है। जिस समय कोई योगी तन्मात्र या भूततत्त्व का साक्षात्कार कर रहे हैं, अर्थात् यह प्रत्यक्षतः जान रहे हैं कि जगत् का उपादान तन्मात्र है; उस समय जगत् भूत और तन्मात्र में विश्लिष्ट नहीं हो जाता, क्योंकि उसी समय अन्य व्यक्ति भौतिक विषय का ही प्रत्यक्ष दर्शन कर रहा है—यह तथ्य अच्छी तरह से जान लेना चाहिये।

बाह्य विषयों का भूत और तन्मात्र में जो विश्लेषण किया जाता है, वह प्रकाश्य-धर्मानुसारी विभाग है, कार्यधर्म-जाड्यधर्म के अनुसार नहीं (धर्म से धर्मी भी ग्राह्य है)। ये दो धर्म प्रकाश्यधर्म के अनुगत रूप में रहते हैं। प्रकाश्यधर्म पाँच हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। ये पाँच धर्म परस्पर सापेक्ष नहीं हैं और जब तक बाह्य बोध होता रहेगा, तब तक इन धर्मों के आश्रय से ही वह बोध विद्यमान रहेगा।

सांख्यीय दृष्टि में सभी बाह्य पदार्थ पाँच द्रव्यों के मिश्रणरूप हैं—शब्दगुणक जड परिणामी द्रव्य (आकाश नामक भूत), स्पर्शगुणक (वायु), रूपगुणक (तेजः); रसगुणक (अप्) और गन्धगुणक (क्षिति)। प्रत्येक भूत एक ही प्रकाश्यधर्म का धर्मी है। स्पर्श = शीतोष्ण। केवलशब्दगुणक, द्रव्य केवलस्पर्शगुणक द्रव्य-इस प्रकार के बाह्य द्रव्य लौकिक यन्त्रादि द्वारा कभी भी पृथक् रूप से प्राप्तव्य नहीं हैं। कोई भी बाह्य द्रव्य ऐसा नहीं हो सकता, जिसमें ये पाँच गुण स्फुट या अस्फुट रूप से न रहते हों (स्फुटता-अस्फुटता चित्तेन्द्रिय-सामर्थ्य-सापेक्ष है)।[1] **ध्यानविशेष के द्वारा भौतिक विषयों के अन्तर्गत ये पाँच भाव (अर्थात् द्रव्य) साक्षात्कृत हो सकते हैं।**

ध्यान देना चाहिये कि यह आकाश sky या ether नहीं है। वायु भूत हवा (air या gas) नहीं है—स्पर्शरूप एक ही प्रकाश्यगुण का गुणी जडबाह्यद्रव्य वायु है; वह वायु हवा के न रहने पर भी रहता है। किंच कोई भी बाह्य द्रव्य वायुभूत से हीन नहीं हो सकता, क्योंकि स्पर्शगुण से विरहित कोई बाह्य देश नहीं है। शब्द के विषय में भी यही बात है। जो यह समझते हैं कि वायुशून्य देश शब्दशून्य है, वे भ्रान्त हैं। सभी बाह्यद्रव्य जिस प्रकार रूपगुणक हैं, उसी प्रकार शब्दगुणक भी हैं। हम जिसको शब्दोत्पत्ति समझते हैं, वह वस्तुतः शब्दोत्पत्ति नहीं है, शब्दतरङ्गाल्पता की वृद्धिमात्र है।[2]

प्रत्येक भूत स्वगतभेदवान् है, क्यों कि शब्दादि-गुण नाना प्रकार के होते हैं। शब्दादि-गुणों के ये भेद जिस सूक्ष्मावस्था में नहीं रहते उस अवस्था में स्थित शब्दादि-

---

१. कोई भी बाह्य देश ऐसा नहीं हो सकता जो शब्दादि-गुणहीन हो—यह सांख्य की मान्यता है। किसी बाह्य देश को किसी भी प्रक्रिया के द्वारा शब्दादिगुण से शून्य नहीं किया जा सकता। किंच जब तक बाह्यदेश का ज्ञान होता रहेगा वह शब्दादि पञ्चगुणपुरःसर ही होता रहेगा। 'शब्दादिगुणशून्य अथच बाह्य देश'—एक अलीक चिन्ता है, जो विकल्पवृत्ति का उदाहरण है।

२. इन विषयों पर विशद विचार के लिये प्रसंख्यानभाष्य द्रष्टव्य है। जडविज्ञानशास्त्री जब सांख्यीय पञ्चभूत-वाद पर आक्षेप करते हैं, तब वे मनमानी ढंग से भूतस्वरूप को सोचकर ही आक्षेप करते हैं—शास्त्रीय पद्धति को जान कर नहीं—यह हम प्रमाणित कर सकते हैं। हिन्दूविश्वविद्यालय के चार विज्ञानाध्यापक के द्वारा लिखित Nature of the Physical World ग्रन्थ में (पृ० २१) ईदृश हेय मनोवृत्ति का उदाहरण मिलता है।

गुणक द्रव्य तन्मात्र कहलाते हैं। शब्दतन्मात्र (शब्दमात्र भी कहलाता है) में जो शब्द है, उसमें षड्जादि रूप विशेष नहीं हैं, वह सर्वविशेषरहित शब्द है। ईदृश शब्द-गुण का गुणी शब्दतन्मात्र है। इसी प्रकार सर्वविशेषरहित स्पर्श, रूप, रस और गन्ध गुणों के गुणी यथाक्रम स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र और गन्धतन्मात्र कहलाते हैं।

इन तन्मात्रों का ज्ञान सूक्ष्मतर-ध्यान-साध्य है। जब इन्द्रियाँ बाह्य-विषय जनित चाञ्चल्य से अपने को हटाने की चेष्टा करती हैं (प्रत्याहार के बलपर) तब बाह्य संबन्ध से सम्यक् विच्युत होने के ठीक पहले जो बाह्यज्ञान होता है, वह **तन्मात्र-ज्ञान** है। बाह्य विषयक चित्त-इन्द्रिय-स्थैर्य की यह चरम सूक्ष्मता है। इससे अधिक बाह्यविषयक चित्तस्थैर्य नहीं होता। तन्मात्रसाक्षात्कार काल में दैशिक व्याप्ति का ज्ञान अत्यन्त अस्फुट हो जाता है, और कालिक धाराक्रम से तन्मात्र साक्षात्कृत होता है।

शब्द आदि के स्वगत भेद या विशेष इस अवस्था में नहीं रहते, अतः तन्मात्र अविशेष[1] कहलाते हैं। प्राणी बाह्य पदार्थों को जो सुखकर, दुःखकर, और मोहकर समझते हैं, उसका हेतु है—शब्दादिगत विशेष। यही कारण है कि तन्मात्रसाक्षात्कारकाल में बाह्यज्ञान के सहभू के रूप में सुख-दुःख-मोह का बोध उदित नहीं होता।

शब्दमात्र, स्पर्शमात्र, रूपमात्र, रसमात्र, गन्धमात्र को जो तन्मात्र कहा जाता है, उसमें 'मात्र' कहने का यही सार्थक्य है। **शब्दादि की उत्पादिका एक एक क्रिया (जो क्षणमात्र-व्यापिनी है) के अभिघात से जो ज्ञान होता है वह शब्दमात्र, स्पर्शमात्र आदि है।** एक-एक क्रिया से जनित अणु ज्ञान को प्राणी स्वीयचित्तेन्द्रिय की दुर्बलता के कारण पृथक्-पृथक् कर जानने में असमर्थ हैं। इन्द्रियाँ क्रियासमष्टि-जनित ज्ञानसमूह को 'एक' ज्ञान की तरह ग्रहण करती हैं। योगोक्त कौशल से चित्तेन्द्रियोंको ईदृश पटु (अर्थात् स्थिर) किया जा सकता है कि वे तान्मात्रिक स्पन्दन का यथावत् अनुभव (एक-एक क्रिया से उत्पन्न अणु शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध का अनुभव) कर सकती हैं। **तन्मात्र अनुमेयमात्र नहीं है; कोई भी अभ्यास द्वारा इसका साक्षात्कार कर सकता है।** 'क्षणमात्र काल-व्यापिनी क्रिया' के 'क्षण' को लौकिक (यान्त्रिक) प्रक्रिया से नापा नहीं जा सकता—यह ज्ञातव्य है।

---

१. तन्मात्र को अणु तथा विष कहते हैं—यह जयमङ्गला का उदाहरण देकर डा० व्रजमोहन कहते हैं (पृ० ९७)। यह तो नितरां स्पष्ट है कि जयमङ्गला का 'विषाः' यह मुद्रित पाठ भ्रष्ट है; यह 'निर्विशेषाः' हो सकता है। तन्मात्र के लिये निर्विशेष शब्द प्रयुक्त हो सकता है, यह तत्त्वसमास की भावागणेशकृत वृत्ति (सूत्र १) को देखने से स्पष्टतया विज्ञात होगा। क्या डा० व्रजमोहन समझते हैं कि 'विष' शब्द तन्मात्र के लिये प्रयुक्त हो सकता हैं या वस्तुतः प्रयुक्त हुआ है ? जयमङ्गला के सम्पादक स्वयं 'विष' पाठ पर सन्दिहान हैं, पर जयमङ्गला के वाक्य का उद्धरण देनेवाले व्रजमोहनजी को इस पाठ के विषय में कुछ भी संशय नहीं हुआ—यह आश्चर्य है !

तन्मात्रसाक्षात्कार-काल में यह बोध होता है कि शब्दमात्र आदि जो बोध उदित हो रहे हैं, वे वस्तुतः बाह्य क्रिया द्वारा इन्द्रियस्थित अस्मिता के चाञ्चल्य से उत्पन्न हो रहे हैं। वैषयिक चाञ्चल्य इन्द्रियवाहित होकर बुद्धि में जाकर शब्दादिज्ञान के रूप से प्रकाशित होता है। अस्मिता को चञ्चल वही कर सकता है वह अस्मितासजातीय है—यह सांख्य का कहना है। इस दृष्टि से ग्राह्य तन्मात्र का मूल द्रव्य अहंकारजातीय पदार्थ होगा—यह अनुमित होता है। यह अहंकार तन्मात्रज्ञाता प्राणी का नहीं है, यह प्रजापति का ऐश संस्कारयुक्त अहंकार है जो उनके सृष्टिसंकल्प से ग्राह्यीभूत होकर प्राणियों के मन और इन्द्रियों का विषय होता है।

तन्मात्र से भूत की उत्पत्ति के विषय में वाचस्पति का मत पूर्णतया असंगत है। वाचस्पति का कहना है कि शब्दतन्मात्र से आकाश (शब्दगुणक) भूत उत्पन्न होता है। शब्द और स्पर्शतन्मात्र से वायुभूत (स्पर्शगुणक) उत्पन्न होता है। शब्द-स्पर्श-रूप तन्मात्रों से तेजोभूत (शब्द-स्पर्श-रूप गुणवान्); शब्द-स्पर्श-रूप-रस तन्मात्रों से जल (अप्); शब्दादि पाँच तन्मात्रों से पृथ्वी भूत उत्पन्न होता है। [डा० मुसलगांवकर 'वायुतन्मात्रा' 'तेजस्तन्मात्रा' 'अप्तन्मात्रा' आदि शब्दों का व्यवहार (पृ. २२०) करते हैं, जो अशास्त्रीय है; स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र-ऐसे शब्दों का ही प्रयोग करना चाहिए]।

यह तो समझ में आ सकता है कि सूक्ष्म शब्द स्थूल शब्द (गुण से गुणी भी ग्राह्य है) का उपादान है। अतः शब्दतन्मात्र से शब्दगुणक आकाश की उत्पत्ति समझ में आती है। शब्द-स्पर्शतन्मात्रों से वायुभूत की उत्पत्ति अबोध्य है, क्योंकि ये दो तन्मात्र क्यों संयुक्त हुए—यह प्रश्न असमाधेय है। किंच तन्मात्रों की संख्यावृद्धि-जनित भूतोत्पत्ति वाद में सबसे बड़ा दोष यह है कि ईदृश स्वरूपवान् भूत है—यह भौतिक प्रयोग से सिद्ध नहीं होता[1]। उपर्युक्त भूत ध्यानगम्य है—यह एकोत्तरगुणवादी नहीं कहते हैं। यदि ध्यानगम्यता की बात कही जाये तो हम यह युक्तितः दिखा सकते हैं कि वाचस्पतिसंमत भूत ध्यानगम्य नहीं हैं।

हमारी दृष्टि में एक एक तन्मात्र का स्थूल भाव एक एक भूत है। प्रत्येक भूत शब्दादि-गुणों में एक एक गुण का गुणी है। केवल शब्दमय, स्पर्शमय, रूपमय, रसमय गन्धमय बाह्यद्रव्य (भूततत्त्व) का ज्ञान लौकिक प्रयत्न से कथमपि साध्य नहीं है।

---

१. 'पञ्चीकरण' प्रक्रिया (अद्वैतवेदान्त की) प्रसिद्ध है। क्षिति आदि में अपने अर्धांश हैं तथा बाकी अर्धांशों में चार अन्य भूतों के समानांश हैं—यह इस मत में कहा जाता है। यह एक अज्ञतापूर्ण धारणा है जो सर्वथा अश्रौत ही है। ईदृश पञ्च भूत हैं—यह किसी भी यान्त्रिक प्रयोग से सिद्ध नहीं होता। ईदृश भूत हैं, पर वे ध्यानगम्य हैं—यह भी नहीं कहा जा सकता; यान्त्रिक प्रयोग द्वारा जो बाधित होता है—वह ध्यानगम्य नहीं हो सकता। अस्मत्संमत भूततत्त्व यान्त्रिक प्रयोग का अगम्य है।

प्रत्याहार के बल पर ज्ञानेन्द्रिय में विशेष योग्यता का आधान करके ही कोई भूततत्त्व का साक्षात्कार कर सकता है[1]। ॥३८॥

(१) विशेषाणामवान्तरविशेषमाह—

सूक्ष्मा मातापितृजाः सह प्रभूतैस्त्रिधा विशेषाः स्युः ।
सूक्ष्मास्तेषां नियता मातापितृजा निवर्तन्ते ॥ ३९ ॥

(२) "सूक्ष्मा" इति । त्रिधा विशेषाः स्युरिति तान् विशेषप्रकारानाह— "सूक्ष्माः" इति । सूक्ष्माः सूक्ष्मदेहाः परिकल्पिताः, मातापितृजाः षाट्कौशिकाः । तत्र मातृतो लोमलोहितमांसानि पितृतस्तु स्नाय्वस्थिमज्जान इति षट् कोषाः[2] । (३) प्रकृष्टानि महान्ति भूतानि प्रभूतानि तैस्सह । सूक्ष्मशरीरमेको विशेषः, मातापितृजो द्वितीयः, महाभूतानि तृतीयः । महाभूतवर्गे च घटादीनां निवेश

---

(१) अब विशेषों (=भूतों) के अवान्तर (=अन्तःपाती) भेद कहते हैं—

सूक्ष्म शरीर, माता और पिता से उत्पन्न शरीर तथा प्रभूत (महाभूत)—ये तीन प्रकार के 'विशेष' होते हैं । इनमें सूक्ष्म शरीर नियत होते हैं किन्तु माता-पिता से उत्पन्न (स्थूल) शरीर नाशवान् होते हैं ॥३९॥

(२) सूक्ष्म शरीर आदि तीन प्रकार के भेद 'विशेष' के हैं । उन्हीं प्रकारों को करते हैं; (क) सूक्ष्म शरीर—अदृष्ट होने पर भी जिसका अनुमान पूर्वाचार्यों ने किया है (द्र० ४१ का०) । (ख) माता-पिता से उत्पन्न शरीर जो छह कोशों (=आवरकों) से निर्मित होते हैं । इनमें लोम (=त्वक्) रक्त और मांस माता से तथा स्नायु (=नसें) अस्थि (=हड्डियाँ) और मज्जा (=मजा) पिता से आती हैं । इस प्रकार ये छहों कोष (देहोपादानभूत) हैं । (३) 'प्रभूत' का अर्थ है—प्रकृष्ट अर्थात् महत्त्वयुक्त भूत (अर्थात् महाभूत) । इनको साथ जोड़ने पर 'विशेष' त्रिविध होते हैं । सूक्ष्म शरीर पहला विशेष है, माता-पिता से उत्पन्न षाट्कौशिक शरीर दूसरा और महाभूत (=पाञ्चभौतिक द्रव्य) तीसरा । इन्हीं महाभूतों में घट आदिका भी अन्तर्भाव है ।

---

१. इस कारिका में तन्मात्र और भूत का ही प्रसंग किया गया है, 'ब्रह्माण्डसृष्टि' का प्रसंग नहीं किया गया । इस सृष्टि में 'आकाशाद् वायुर्वायोरग्निरग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी' रूप क्रम है । यह आकाश न आकाशभूततत्त्व है और न शब्दतन्मात्र है; यह पञ्चीकृत आकाश है, वायु आदि भी पञ्चीकृत ही हैं । इस सृष्टि का रहस्य भूमिका में द्रष्टव्य है ।

२. इति षट्को गण इति केचन पठन्ति ।

इति। (४) सूक्ष्म-मातापितृजयोर्देहयो विशेषमाह—सूक्ष्मास्तेषां विशेषाणाम् मध्ये ये, ते नियताः नित्याः। "मातापितृजा निवर्तन्ते" इति, रसान्ता वा भस्मान्ता वा विडन्ता वेति ॥ ३९ ॥

---

(४) सूक्ष्म शरीर तथा माता-पिता से उत्पन्न शरीर में जो भेद है, उसे कहते हैं—उन विशेषों में जो सूक्ष्म शरीर हैं, वे नियत अर्थात् नित्य (सर्गादि से प्रलय पर्यन्त स्थायी) होते हैं। मातापिता से उत्पन्न स्थूल शरीर निवृत्त (अर्थात् नष्ट) हो जाते हैं, अर्थात् मृत शरीर (पृथ्वी में गाड़े जाने पर पृथ्वी से मिलकर) रसभाव को प्राप्त होते हैं, अथवा (जलाये जाने पर) भस्म हो जाते हैं, अथवा (पशु आदि से खा लिए जाने पर) मल वन जाते हैं ॥३९॥

३९वीं कारिका की व्याख्या

विशेष पञ्चभूत हैं। इन भूतों के तत्त्वान्तरपरिणाम नहीं होते हैं, भूतों के परस्पर मिलनजात जो पदार्थ हैं, वे ही इस कारिका के 'विशेष' हैं[१]। इस कारिका में इस विशेष द्वारा निर्मित त्रिविध पदार्थ कहे जा रहे हैं।

विशेषनिर्मित प्रथम वस्तु है—'सूक्ष्म'=सूक्ष्म शरीर। यद्यपि कारिका में शरीर शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है, तथापि कारिका के उत्तरार्ध से यह अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है।

जिस प्रकार सूक्ष्मदेह विशेषनिर्मित है, उसीप्रकार मातापितृजदेह भी विशेषनिर्मित है। यह कथन महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इससे **सूक्ष्मशरीर तथा लिङ्ग का भेद ज्ञात होता है (यह हमारा मत है)**। इससे एक वात और भी स्पष्ट हो जाती है कि **सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर अनेकांश में समान हैं**। इन दोनों शरीरों में मुख्य भेद है—किसी वाह्य निमित्त की सहायता से शरीरग्रहण (माता-पितृज) और ऐसे निमित्त के विना शरीरग्रहण (सूक्ष्मशरीर)। इस निमित्त (शुक्र–शोणित आदि) से संयुक्त होने के कारण ही स्थूलशरीर सूक्ष्म शरीर की अपेक्षा स्थूल होता है। पर सामान्य गुण-कर्म-स्वभाव में

---

१. कारिका में 'एते स्मृताः विशेषाः' कहा गया है। एक एक भूत अवश्य ही विशेष है, पर प्रत्येक भूत असंकीर्णरूप से विद्यमान नहीं हैं। जो व्यवहार्य विषय हैं, जिनसे सत्यलोकपर्यन्त ब्रह्माण्ड निर्मित है, वे पञ्चभूतों के संकीर्ण रूप हैं। भूतों का जो भी व्यवहार्य विषय होगा वह एक एक भूत से निर्मित नहीं होगा—सभी भूतों के योग से ही निर्मित होगा। अतः 'सूक्ष्मशरीर' की दृष्टि से विशेष का अर्थ होगा—पञ्चभूत का मिश्रणरूप पदार्थ—यह अर्थ अर्थात्सिद्ध है। ब्रह्माण्ड में भूत और तन्मात्र पृथक रूप से प्राप्तव्य नहीं हैं; वे ध्यानजदृष्टि से ज्ञानेन्द्रिय द्वारा साक्षात्करणीयमात्र हैं। कर्मेन्द्रिय द्वारा जो व्यवहार्य होता है, वह पाञ्चभौतिक है। इस भेद पर यथास्थान विचार किया गया है।

सूक्ष्मशरीर स्थूलशरीरवत् है—सूक्ष्मता में ही भेद है, इसीलिये यह शरीर सूक्ष्म कहलाता है।

उदाहरण के लिये हम कह सकते हैं कि यह सूक्ष्म शरीर नीलादिवर्णविशिष्ट है, यह ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय द्वारा व्यापार कर सकता है। गतजन्म में सूक्ष्मशरीरी के जिन वस्तुओं पर असाधारण प्रेम, द्वेष आदि थे, उनके साथ किसी न किसी प्रकार से यह सम्बन्ध स्थापित भी कर सकता है। किञ्चित् चितस्थैर्य होने पर ईदृश सूक्ष्म शरीर का साक्षात्कार चक्षु से भी (गोलक गत चक्षु में स्थिरताविशेष का आधान करके; इसमें धारणाध्यान आदि की आवश्यकता नहीं है—प्राणायामप्रत्याहारादि-जात स्थैर्य ही पर्याप्त है) हो सकता है। जैसा सूक्ष्म शरीर है, वैसा शरीरवासोपयोगी सूक्ष्म 'देश' भी है; यह देश भी अनुरूप शब्दादिगुणों से युक्त है। सूक्ष्म स्वर्गनरकादि का जो शास्त्रीय विवरण मिलता है, उससे यह ज्ञात होता है कि ये वस्तुतः पञ्चभूतनिर्मित ही हैं।

यह निश्चित है कि 'सूक्ष्म शरीर' के सूक्ष्मताभेद के अनुसार एकाधिक प्रकार के सूक्ष्म शरीर हो सकते हैं। ये शरीर प्रधानतः भोगशरीर हैं; कुछ सूक्ष्म शरीर सूक्ष्मतर भोग-शरीर-प्रापक शरीर हैं। साधारण पिशाच आदि के सूक्ष्मशरीर सूक्ष्मशरीर के स्थूलतम रूप हैं।

मातापितृज की तुलना में सूक्ष्मशरीर नियत है। प्रत्येक सूक्ष्मशरीर सर्ग से प्रलयपर्यन्त स्थायी अवश्य होगा—यह कहना असंगत है। आतिवाहिक आदि शरीर कथमपि एतावत्-काल स्थायी नहीं हो सकते। हाँ, कुछ सूक्ष्मशरीर किन्हीं कारणों से सर्ग-प्रलय-स्थायी (=एक ब्रह्माण्ड का स्थितिकाल व्यापी) हो सकते हैं।

मातापितृज शरीर को 'मातापितृज' मात्र नहीं समझना चाहिये। स्थूल शरीर का यह उपलक्षण है; मातापितृज शरीर स्थूलशरीरों में प्रमुख है—ऐसा समझकर मातापितृज नाम ही लिया गया है।

स्थूलशरीर का अर्थ वह शरीर है, जिसके आविर्भाव का कोई निमित्त है, जैसे लोहित-रेतः। यह जरायुरूप से प्रसिद्ध है। अण्डज प्राणी भी मातापितृज हैं। स्वदेज भी निमित्तमूलक ही हैं। उद्भिज्ज भी ईदृश ही हैं। माता-पितृज कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि शरीरग्रहण के दो निमित्त अवश्य होंगे। एकजनकहेतुक शरीरग्रहण (agamogenesis) भी प्रसिद्ध है[1]। मातापितृज को 'प्राणिज जन्मग्रहण' यदि कहा जाये तो सामान्यतः कोई दोष प्रतीत नहीं होता।

---

१. एक जनक या दो जनक (अर्थात् जनक-जननी) को शरीरग्रहण के निमित्त के रूप में प्रायशः माना जाता है। प्राणी के उच्च करणों का जैसा जैसा उच्च विकाश होता जायेगा उसके अवर-करणों की शक्ति तदनुसार अल्प होती जायेगी (करणशक्ति का व्यय उच्चचिन्तासाधक यन्त्रों में होने के कारण)। चूँकि उच्च प्राणियों की शक्ति देहधारण-मात्र में प्रधानतः व्यापृत

ध्यान देना चाहिये कि सूक्ष्म और मातापितृज शब्द शरीर या शरीरोपादान को लक्ष्य करते हैं—शरीरनिष्ठ अन्तःकरण के द्रष्टा रूप पुरुष से इस विचार का कोई सम्बन्ध नहीं है। शरीरोपादान की व्यूहनक्रिया में अन्तःकरण की प्राणशक्ति का आधिपत्य है—यह इस प्रसङ्ग में ज्ञातव्य है।

सूक्ष्म शरीर के प्रसङ्ग में सांख्यीय शरीरव्यवस्था के विषय में कुछ कहना है। स्थूल शरीर (जो प्रमुखतया जरायुज, अण्डज, स्वदेज आदि होते हैं) का त्याग मरण के समय होता है। मरण के समय और भोगदेह की प्राप्ति के बीच में आतिवाहिक शरीर जीव को प्राप्त होता है—यह एक उत्सर्ग है। यह शरीर स्वर्गसुख और नरकदुःख की प्राप्ति के लिये सूक्ष्म लोक में 'जाने' का सहायक है। सात्त्विक स्वर्गसुख और तामस नरकदुःख का उपयोगी जो सूक्ष्म शरीर है वह भोगदेह कहलाता है, क्योंकि इसमें पुरुषकार-पूर्वक कर्माचरण सम्भव नहीं होता (स्वर्गसुख को प्राप्त देहियों में कदाचित् ही कोई पुरुषकार का प्रयोग कर सकता है)। सुख-दुःख-भोग का संस्कारबल क्षीण होने पर जीव स्थूलशरीर का ग्रहण करने के लिये उन्मुख हो जाते हैं (शरीरग्रहणसंस्कार रह जाने के कारण), अतः उपयोगी स्थूल लोक में 'जाकर' (आतिवाहिक शरीर की सहायता से) जीव उन लोकों के उपयोगी शरीरों का ग्रहण करते हैं। स्थूल लोकों के वैचित्र्य के अनुसार स्थूल शरीर भी अनेक प्रकार के होते हैं, पर ये सभी शरीर विशेष निर्मित ही हैं, क्योंकि सभी लोक विशेष-निर्मित हैं।

स्थूलशरीर-त्याग और भोगशरीर-ग्रहण के बीच में आतिवाहिक शरीर की बात हमने कही है। इस अन्तराभव (=मध्यकाल में अवस्थित या उत्पन्न) शरीर की सत्ता कुछ आचार्य नहीं मानते थे—ऐसा कहा जाता है। इस शरीर को अस्थूल मानकर सूक्ष्म शरीर में इसका अन्तर्भाव किया गया होगा—ऐसा प्रतीत होता है। जो इसको नहीं मानते थे, वे किस आधार पर नहीं मानते थे, यह जब तक भलीभाँति पता न चले तब-तक इस पर कुछ निश्चितरूप से कहना कठिन है। अन्तराभव-शरीर का ग्रहण एक सापवाद उत्सर्ग है—यह हमारा मत है।

नहीं रहती, अतः उनके तामस इन्द्रियों की शक्ति घटती जाती है। इसका फल यह होता है कि ईदृश प्राणी स्वयं ही सन्तान-उत्पादन में असमर्थ हो जाता है—अन्य एक की सहायता अपेक्षित हो जाती है। ऐसा दिन आ सकता है जब सन्तानजनन के लिये तीन जनकशक्तियों की आवश्यकता हो जाये। इस प्रकार के अनन्तवैचित्र्यों से सांख्यमतों का कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं है; हाँ, सांख्यीय तत्त्वज्ञान की दृढता इनसे प्रमाणित होती है। आधुनिक Medical science ने कितनी ही ऐसी घटनायें ला दी हैं, जो शरीरशास्त्रवेत्ता के लिये समस्यारूप हैं। गुणत्रय के ज्ञान से ईदृश समस्याओं का युक्त समाधान अस्मदीय परम्परा में शिक्षित होकर कोई भी व्यक्ति कर सकता है!

शरीर के प्रसङ्ग में निम्नोक्त ८ बातें ज्ञातव्य हैं—(१) सूक्ष्म शरीर भी नाना प्रकार के होते हैं ; (२) इनके द्वारा निष्पाद्य कर्म भी पृथक् पृथक् प्रकार के होते हैं; (३) करण-समष्टि-रूप लिङ्ग एकाधिक प्रकार के शरीरों द्वारा संपृक्त रहता है; (४) लिङ्ग कभी भी शरीरहीन नहीं रहता (ब्रह्माण्ड में); (५) एक शरीर के बाद अन्य उपयोगी शरीर की प्राप्ति तत्काल ही होती है; (६) प्रलयकाल में शरीरहीन लिङ्ग शरीर-धारण के लिये उन्मुख रहता है; (७) ब्रह्माण्ड की अभिव्यक्ति होने पर तत्काल ही लिङ्ग स्वीय प्राणशक्ति की सहायता से व्यक्त ग्राह्यविषय को शरीररूप से व्यूहित कर लेता है; (८) प्रचलित पुराणादि में इन विषयों के जो विवरण हैं, वे पल्लवित हैं और योगज प्रज्ञा की सहायता से इन विवरणों में से सार का ग्रहण एवं असार का त्याग करना चाहिये ।

प्रभूत के विषय में एक निगूढ़ बात कहनी है । जिन घट-पट आदि को हम शुद्ध जड पदार्थ समझते हैं, वे अहंकार के ग्राह्यीभूत रूप हैं । यह अहंकार भी मूलतः चिद-धिष्ठित है (द्र० पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्तते) । घटादि-पदार्थों को जड कहते समय इस तथ्य को भूलना नहीं चाहिये । शुद्ध जड़ अव्यक्त प्रकृति है, जो प्रातव्य नहीं है—यह जड चित्त-इन्द्रिय द्वारा सर्वथा असंवेद्य है ।

घटादिवस्तुओं को भोगायतन शरीर नहीं माना जाता । पर यह दृष्टि बहुत ही स्थूल है । सांख्यीय दृष्टि में प्रत्येक जडकण किसी न किसी प्राणी का शरीर है । इन सूक्ष्म जड कणों की समष्टि को ही हम व्यवहार्य जड कण समझते हैं—इस प्रकार प्रत्येक जड कण अनेक शरीरों का समष्टिभूत ही होता है । इन कणों के शरीरधर्म प्रतिकूल परिस्थिति के कारण नष्टप्राय हो गये हैं और हम साधारण व्यक्तियों की दृष्टि में इन कणों की शरीररूपता प्रतीत ही नहीं होती है । यदि बाह्य प्रकृति में उपयोगी परिवर्तन हो जाये तो इन कणों के शरीरधर्म स्फुट हो जायेंगे और प्राणी-शरीर के रूप में वे कण हमको ज्ञात होंगे । प्रत्येक कण चूंकि शरीर है, अतः वह समन और सप्राण है । प्रत्येक कण में चूंकि एक मन है, अतः जड द्रव्यों पर योगी अपने शक्तिशाली मन द्वारा आधिपत्य कर सकता है । मानस संकल्प मात्र के द्वारा योगी बाह्यद्रव्य का चालन कर सकता है—अपने बलशाली मन द्वारा कणगत मन को अभिभूत कर सकता है (मन पुरुष द्वारा प्रकाशित रहता है—यह भूलना नहीं चाहिये) । वह दिन दूर नहीं जिस दिन जडवैज्ञानिक भी प्रत्येक जड कण की शरीर-रूपता को नतमस्तक होकर स्वीकार करेंगे जिससे सांख्यज्ञान को गभीरता विश्व में पुनः प्रतिष्ठित होगी ।।३९।।

(१) सूक्ष्मशरीरं विभजते—

पूर्वोत्पन्नामसक्तं[1] नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् ।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् ॥ ४० ॥

(२) "पूर्वोत्पन्नम्" इति। पूर्वोत्पन्नम् प्रधानेनादिसर्गे प्रतिपुरुषमेकैकमुत्पादितम्। (३) असक्तम् अव्याहतम् शिलामप्यनुप्रविशति। (४) नियतम् आ चादिसर्गादा च महाप्रलयादवतिष्ठते—महादादिसूक्ष्मपर्यन्तम् महदहङ्कारैकादशेन्द्रियपञ्चतन्मात्रपर्यन्तम्। (५) एषां समुदायः सूक्ष्मं शरीरम्; शान्तघोरमूढैरिन्द्रियैरन्वितत्वाद्विशेषः।

(६) नन्वस्त्वेतदेव शरीरं भोगायतनं पुरुषस्य, कृतं दृश्यमानेन षाट्कौशिकेन शरीरेणेत्यत आह—"संसरति" इति। उपात्तमुपात्तं षाट्कौशिकं शरीरं जहाति हायं हायं चोपादत्ते। कस्मात् ? निरुपभोगम्; यतः षाट्कौशिकं शरीरं भोगायतनं विना सूक्ष्मं शरीरं निरुपभोगं[2] तस्मात् संसरति।

---

(१) अब सूक्ष्म शरीर का विभाग (=अवयवप्रदर्नन) करते हैं—

सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न, असक्त (=अबाधितगतियुक्त), नियत (=स्थायी), महत्तत्व से लेकर सूक्ष्म (=तन्मात्र) तत्त्वों से बना हुआ, भोग-रहित (अर्थात् स्थूलशरीरहीन), धर्माधर्म आदि भावों से अधिवासित, लयशील यह सूक्ष्मशरीर संसरण (जन्ममृत्यु के साथ संसार में स्थिति) करता रहता है। ॥४०॥

(२) कारिकास्थ 'पूर्वोत्पन्न' का अर्थ है—आदिसृष्टि में प्रकृति के द्वारा प्रत्येक पुरुष के लिये पृथक् पृथक् उत्पादित सूक्ष्मशरीर, (३) जो 'असक्त' (=अव्याहत) अर्थात् जो शिला मे भी प्रविष्ट हो जाता है। (४) यह 'नियत' अर्थात् आदिसर्ग से लेकर महाप्रलयपर्यन्त रहता है। 'महान् से लेकर सूक्ष्म तक' अर्थात् महान्, अहंकार ग्यारह इन्द्रियाँ और पाँच तन्मात्र पर्यन्त। (५) महत्तत्व आदि (१८ तत्त्वों) का समूह सूक्ष्मशरीर है, जो शान्त, घोर और मूढ इन्द्रियों से युक्त (=संघटित) होने के कारण 'विशेष' कहलाता है।

(६) प्रश्न होगा कि तब इसी (सूक्ष्म) शरीर को पुरुष के भोग का आयतन (अर्थात् भोगक्षेत्र) क्यों न मान लिया जाये ? षट् कोषों से युक्त स्थूल शरीर की क्या आवश्यकता है ? इसके उत्तर में कहते हैं—यह शरीर 'संसरण करता है'—अर्थात् सूक्ष्म शरीर बार-बार धारण किये गये स्थूल शरीर को छोड़ता है (मृत्युकाल में) और छोड़छोड़ कर नया शरीर धारण करता है। किस हेतु से ऐसा होता है ? चूँकि छह कोषों से

---

१. अशक्तमित्यपपाठः।

२. यतः षाट्कौशिकं शरीरं निरुपभोगं तस्मात् संसरति इति पाठः कैश्चिद् व्याख्यातः।

(७) ननु धर्माधर्मनिमित्तकः संसारः, न च सूक्ष्मशरीरस्यास्ति तद्योगः, तत्कथं संसरतीत्यत आह—"भावैरधिवासितम्" इति । धर्माधर्मज्ञानाज्ञान-वैराग्यावैराग्यैश्वर्यानैश्वर्याणि भावाः, तदन्विता बुद्धिः, तदन्वितञ्च सूक्ष्मं शरीर-मिति तदपि भावैरधिवासितम्, यथा सुरभिचम्पककुसुमसम्पर्काद्वस्त्रं तदामोद-वासितं भवति । तस्माद्भावैरधिवासितत्वात्संसरति ।

(८) कस्मात्पुनः प्रधानमिव महाप्रलयेऽपि तच्छरीरं न तिष्ठतीत्यत आह—"लिङ्गम्" इति । लयं गच्छतीति लिङ्गम्—हेतुमत्त्वेन चास्य लिङ्गत्व-मिति भावः ॥ ४० ॥

निर्मित भोगायतन शरीर के विना सूक्ष्म शरीर भोग-विहीन रहता है, इसलिये वह संसरण करता रहता (स्थूलशरीरग्रहणपूर्वक) है ।

(७) किन्तु संसरण तो धर्म और अधर्म रूप निमित्त से होता है और सूक्ष्म शरीर का धर्माधर्म से संयोग होता ही नहीं, तब वह (सूक्ष्मशरीर) कैसे संसरण करता है ? इसके उत्तर में कहते हैं—"भावों से युक्त होकर संसरण करता है" । धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य और अनैश्वर्य—ये (आठ) भाव हैं । बुद्धि इनसे युक्त होती है और बुद्धि से युक्त सूक्ष्म शरीर होता है । इस दृष्टि से सूक्ष्म शरीर भी धर्माधर्म आदि भावों से युक्त होता है, जैसे सुगन्धित चम्पक पुष्प के सम्पर्क में आकर वस्त्र उसकी गन्ध से सुवासित हो जाता है । इसलिये धर्माधर्म आदि भावों से युक्त होने के कारण सूक्ष्म शरीर संसरण करता है ।

(८) क्या कारण है कि प्रधान जिस प्रकार महाप्रलय में भी रहता है, उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर महाप्रलय में नहीं रहता ? इसके उत्तर में कहते हैं—यह शरीर 'लिङ्ग' अर्थात् लय को प्राप्त हो जाता है; यह शरीर लयशील है, क्योंकि 'प्रधान' रूप कारण से यह उत्पन्न हुआ है (अतएव कार्यरूप शरीर अपने कारण में लीन अवश्य होगा) ॥४०॥

४०वीं कारिका की व्याख्या

यद्यपि टीकाकार तथा आधुनिक व्याख्याकार एकस्वर यह से कहते हैं कि यह कारिका सूक्ष्म शरीर की प्रतिपादिका है (जो शरीर ३९वीं कारिका में 'सूक्ष्माः' पद द्वारा लक्षित हुआ है) तथापि हमारी दृष्टि में यह सर्वथा असंगत है । यह एक ऐसी भ्रान्त धारणा है जिसके कारण सांख्य की जीवतत्त्व-संबन्धी गवेषणा वहुत कुछ व्यर्थ और अस्पष्ट हो गई है ।

यह कारिका सूक्ष्म शरीर की प्रतिपादिका नहीं है, इसमें प्रथम युक्ति यह है कि ३९वीं कारिका में जो सूक्ष्म शरीर 'सूक्ष्माः' इस पुलिंग-वहुवचन में निर्दिष्ट हुआ है, वह इस विवरणपरक कारिका में सूक्ष्मम्, इस नपुंसक-लिंग एकवचन में लक्षित नहीं हो सकता। उद्देशपरक वाक्य और लक्षणपरक वाक्य में इतना बड़ा भेद कभी नहीं हो सकता। ऐसा भेद तभी संभव हो सकता है यदि पुलिंग-बहुवचन में विवरण देने पर कोई बहुत बड़ा दोष हो। क्या ऐसे किसी दोष की संभावना है? जो कारिकाकार उद्देश वाक्य में पुलिङ्ग-वहुवचन को उचित समझते हैं; वे लक्षणवाक्य में वैसा करना उचित क्यों नहीं समझते? छन्द मिलाने के लिये ऐसा किया गया है—यह कहना व्यर्थ है। लिंग और वचन दोनों में जो प्रयोगभेद है, वह अवश्य ही पदार्थस्वरूप में भेद का ज्ञापक है; विशेषकर जब सूक्ष्म शरीर (सूक्ष्माः) और लिङ्ग की अभिन्नता का प्रतिपादक कोई वाक्य नहीं मिलता।

किंच यदि यह माना जाये कि ४० वीं कारिका में सूक्ष्मशरीर का विवरण है तो यह भी मानना होगा कि लिङ्ग 'विशेष' के क्षेत्र में आता है क्योंकि सूक्ष्म शरीर 'विशेष' का अवान्तर भेद है। पर कारिकाकार स्वयं ही 'महत् से सूक्ष्म[1] (=सूक्ष्म शरीर) पर्यन्त' को 'लिङ्ग में गिनते है। अतः इस लिङ्ग अर्थात् सूक्ष्मशरीर को विशेष के अवान्तर भेद में माना नहीं जा सकता। वाचस्पति का यह कहना कि शान्त, घोर और मूढ रूप इन्द्रियों से अन्वित होने के कारण ही लिङ्ग (जो विशेष क्षेत्र के अतीत पदार्थ हैं) विशेष के अन्तर्गत होता है—एक निकृष्टस्तर के स्वपक्षाभिनिवेश का उदाहरण है। यदि सांख्यकारिका इन्द्रियों को 'विशेष' के एक भेद के रूप में गिनती, तो वाचस्पति का यह कथन कथंचित् संगत भी हो सकता था। 'शान्त-घोर-मूढ़' रूप विशेष से अन्वित इन्द्रियों को लेकर यदि लिङ्ग को विशेष का अवान्तर भेद माना जा सकता है तो बुद्धि-अहंकार-मन के भी 'विशेष' होने के कारण तथा इन बुद्धि आदि से अन्वित होने के कारण ही लिङ्ग को विशेष कहा जा सकता है, इन्द्रियान्वितता को हेतु रूप से देने की आवश्यकता क्या है? इस दृष्टि से तो प्रत्येक त्रैगुणिक पदार्थ 'विशेष' होगा। वाचस्पति ने इस असंगति पर ध्यान नहीं दिया, यह आश्चर्य का विषय है।

---

१. वाचस्पति ने यहाँ 'सूक्ष्म' का तन्मात्र अर्थ किया है। सूक्ष्म शब्द तन्मात्र के लिये प्रयुक्त नहीं होता, यह हम नहीं कहते, पर यहाँ सूक्ष्म शब्द तन्मात्रवाची ही हो सकता है—यह कैसे जाना जा सकता है? हमारी दृष्टि में ४० वीं कारिका में सूक्ष्म शब्द का वही अर्थ है जो ३९ वीं कारिका में 'सूक्ष्म' (=सूक्ष्मशरीर जो विशेषनिर्मित है) का है। ४० वीं कारिका में 'सूक्ष्म' शब्द समस्तपद के अन्तर्गत है, अतः लिङ्गवचन के भेद को लेकर (अर्थात् ३९ वीं कारिका में सूक्ष्म के जो लिङ्ग-वचन हैं, वे ४० वीं कारिका में नहीं है—यह मानकर) कोई प्रश्न उठाया नहीं जा सकता।

किंच वाचस्पति के अनुसार जो 'सूक्ष्म' कहलाता है, वही लिङ्ग भी है। एक ही पदार्थ के लिये दो संज्ञाएँ क्यों दी गईं—इस पर वाचस्पति ने कुछ नहीं कहा। यह भी विचार्य है कि सूक्ष्म शरीर का नामान्तर यदि लिङ्ग हो, (जैसा वाचस्पति कहते हैं) तो ४०वीं कारिका में प्रयुक्त'लिङ्ग'पदार्थविशेष का नाम (अर्थात् विशेष्य पद) होगा, जब कि वाचस्पति के अनुसार लिङ्ग लयशील[1] अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार इस कारिका में कोई भी विशेष्य पद नहीं रह जाता। पूर्वोत्पन्न आदि विशेषणों का अवश्य ही कोई अनुरूप विशेष्य होना चाहिये जो (लिङ्ग को लयशील अर्थ में लेने पर) प्राप्तव्य नहीं होता। वाचस्पति ने 'सूक्ष्मशरीरम्' को जो विशेष्य पद माना है, वह एक अपठित शब्द है। वाचस्पति की कल्पना में 'शरीरम्' रूप एक नपुंसकलिंग शब्द को लेना अनिवार्य हो जाता है। यदि कोई पुंलिङ्ग'देह' शब्द ले तो क्या होगा ? सूक्ष्म शरीर शब्द पूर्वकारिका में तो है नहीं, सूक्ष्म शरीर रूप विषय है, जो सूक्ष्मदेहशब्द से भी कहा जा सकता है। किंच ऐसा कहने में कोई दोष भी नहीं होता। अतः जब तक यह न प्रमाणित हो कि ४०वीं कारिका का प्रतिपाद्य विषय सूक्ष्म शरीर (नपुंसकलिङ्गशब्द) है, तब तक अपनी रुचि के बल पर यह कथमपि नहीं कहा जा सकता है कि ४०वीं कारिका में जिस विषय का प्रतिपादन है वह अवश्य ही 'सूक्ष्म शरीर' पद का वाच्य है, केवल इस आधार पर कि ४०वीं कारिका में नपुंसकलिङ्ग विशेषण पद ही प्रयुक्त हुये हैं।

किंच वाचस्पति के अनुसार सूक्ष्म शरीर ऐसा है जो विशेष के विना नहीं रह सकता (द्र० ४१ कारिका-व्याख्या)। यदि वाचस्पति-कृत यह अर्थ उचित है तो वाचस्पति के अनुसार यह कहा जायेगा कि सूक्ष्म शरीर (विशेष का अवान्तर भेद) विशेष (=सूक्ष्म शरीर) के विना नहीं रह सकता। क्या ऐसा कहना स्वारसिक है ?

किंच कारिकाकार लिङ्ग को असक्त, निरुपभोग कहते हैं। वाचस्पति के अनुसार सूक्ष्म शरीर यम द्वारा वहनीय है (द्र० ४१ का०)। जो पाशबद्ध, वशंगत होता है—

---

१. लिङ्ग 'लयशील' का वाचक है (लयं गच्छति), यह मत अत्यन्त सन्दिग्ध है। सांख्यकारिका में कहीं भी लिङ्ग शब्द को इस अर्थ में लेने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। लिङ्ग का लयशील रूप अर्थ अर्वाचीन विद्वानों का एक कल्पनामात्र है, जिसका कोई भी प्राचीन आधार नहीं है। गमक अथवा वैशिष्ट्यज्ञापक चिह्न या धर्म के अर्थ में ही यह शब्द उपनिषद् तथा महाभारतादि में प्रयुक्त हुआ है। लिङ्ग के लयशीलरूप अर्थ के लिये जो निर्वचन आवश्यक है, वह निर्वचन किसी भी प्राचीन निरुक्तविद् द्वारा उपदिष्ट नहीं हुआ है।

वह सूक्ष्म शरीर क्या असक्त और निरुपभोग भी हो सकता है ? अतः मानना होगा कि सूक्ष्म शरीर (जो विशेषनिर्मित है) लिङ्ग नहीं है[१] ।

पूर्वोक्त युक्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि ४० तम कारिका का लिङ्ग और विशेषनिर्मित सूक्ष्म शरीर ये दो अत्यन्त पृथक् पदार्थ हैं। **यह लिङ्ग वही है जिसका निर्देश २०वीं कारिका में किया गया है,** और कहा गया है कि यह 'अचेतन' पंदार्थ पुरुषसंयोग से 'चेतनावद् इव भवति' ।यह लिङ्ग सूक्ष्म शरीर नहीं है, पर सूक्ष्म शरीराश्रित है और ब्रह्माड में रहने के कारण बाह्य शरीर से भी संयुक्त है—महदादेः सूक्ष्मशरीराश्रितस्य लिङ्गस्य यथासंस्कारं बाह्येन शरीरेण संबन्धः (युक्तिदी १८ वा०)।

यह लिङ्ग पूर्वोत्पन्न है—अर्थात् सभी प्रकार के शरीरों (शरीर चाहे स्थूल हो, चाहे सूक्ष्म हो, विशेषनिर्मित ही होते हैं, क्योंकि तभी वे भोगायतन हो सकते हैं केवल तन्मात्र से यदि कोई शरीर बनता हो तो वह सुख-दुःख-बोध का उत्पादक नहीं होगा; केवल तन्मात्र से कोई शरीर बन ही नहीं सकता—यह ज्ञातव्य है) से पहले है, अर्थात् इसके आश्रय के रूप में ही सभी प्रकार के शरीर हैं (पूर्वोत्पन्न =पूर्वभावी; वास्तव उत्पत्ति का कोई प्रसंग नहीं है) । चूँकि जीव अनादि है, अतः लिङ्ग आमुक्ति लीयमान और उदीयमान रूप से व्यक्त रहता है; प्रलय काल में भी लिङ्ग सुप्तवत् ही रहता है—कर्मादिशून्य होकर, पर अव्यक्तीभूत नहीं हो जाता । हमने यह पहले ही कहा है कि प्रलयावस्था प्रकृत अव्यक्तावस्था नहीं है—यह प्रजापति का रुद्धप्राय चित्तावस्था है, जिसमें बाद में सृष्टिसंकल्प की अभिव्यक्ति होती है । लिङ्ग आदिसर्ग में उत्पादित हुआ है—यह वाचस्पति कहते हैं । यदि उत्पादित =प्रथमतः सृष्ट है, तो यह कथन दार्शनिक दृष्टि से अश्रद्धेय है । आदिसर्ग का अर्थ यदि इस सर्ग का आदि हो, तो प्रश्न होगा कि इस सर्ग में जो लिङ्ग दृष्ट हो रहे हैं, क्या वे पूर्व सर्ग में नहीं थे ? आदिसर्ग का 'प्रथम सर्ग' रूप अर्थ तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि सर्गपरम्परा का वस्तुतः कोई आदि नहीं हैं ।

असक्त का तात्पर्य है-विशेष निर्मित शरीर में आश्रित रहने पर भी इस शरीर से असंलग्न; लिङ्ग यथोचित हेतु से इस शरीर से निर्गत हो सकता है-अपने स्वरूप को अविकृत रखकर । लिङ्ग सर्वत्र प्रविष्ट हो सकता है, इसलिये लिङ्ग को असक्त कहा गया है—यह

---

१. वाचस्पति ने लिङ्ग की जो व्याख्या दी है, वह सदोष है, यह **S. S. Suryanarayana Sastri** ने भी कहा है (**P. 73**) । उनका वाक्य यह है—**Vācaspati's explanation.............has the obvious defect that in two consecutive verses, liṅga is understood in two different ways, first as including the tanmātras, and then as exclusive of them.** 'लिङ्ग को सूक्ष्म शरीर मानना' रूप अपव्याख्या के कारण अनेक शास्त्रोक्त बातें दुर्बोध हो जाती हैं'—यह ज्ञातव्य है ।

वाचस्पति-मत स्थूल दृष्टि का परिचायक है। लिङ्ग करणसमष्टि-मात्र है, अतः उसमें दैशिक परिमाण (आयाम-विस्तार- स्थौल्य) तो है नहीं, अतः वह अव्याहतगति है-यह तो स्वतः सिद्ध है। इसके लिये असक्त कहने की कोई आवश्यकता नहीं है। नियत कहने का तात्पर्य यह है कि शरीरों के निरन्तर ग्रहण-त्याग होते रहने पर भी लिङ्ग एक ही रहता है। 'एक एक पुरुष का एक एक लिङ्ग'- इस अर्थ के ज्ञापक के रूप में नियत शब्द को लेना संगत ही है (द्र० युक्तिदी०)। लिङ्ग निरुपभोग है, क्योंकि जब तक कोई अधिष्ठान न मिले तब तक करणशक्तियाँ भोग-अपवर्ग-साधक कर्म नहीं कर सकतीं। इसलिये यदि सर्वविध शरीरों से हीन अवस्था में लिङ्ग रहता है; तो वह निरुपभोग ही रहेगा। स्थूल या सूक्ष्म शरीर के साथ संयुक्त होने पर ही भोग होता है, यही कारण है कि शरीर को भोगायतन कहा जाता है।

इस प्रसंग में यह पुनः द्रष्टव्य है कि स्थूल-सूक्ष्म शरीरों से हीन लिङ्ग की स्थिति ब्रह्माण्ड के व्यक्त होने पर सम्भव नहीं है। ब्रह्माण्ड के व्यक्त होने पर सभी शरीरहीन लिङ्ग (जिनमें शरीरधारण का संस्कार है) ग्राह्य विषय के मूल उपादान को अपनी प्राणशक्ति के द्वारा शरीररूप से क्षणमात्र में व्यूहित कर लेते हैं; यही सर्वप्रथम सूक्ष्मतम सूक्ष्म शरीर है। व्यवहारतः लिङ्ग सशरीर ही है, अतः व्यावहारिक दृष्टि से लिङ्ग को अशरीर नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शरीर से पृथक्-कृत लिङ्ग प्राप्तव्य नहीं है [प्रलयकालीन लिङ्ग शरीरहीन है, पर उस समय व्यवहार का कोई प्रसंग नहीं है, शरीरहीन होने पर भी शरीरधारण का संस्कार लिङ्ग में रहता ही है]।

इस लिङ्ग का संसरण धर्मादि आठ भावों से अधिवासित होकर ही होता है। ये आठ भाव वृत्तिरूप में या संस्काररूप में सदैव बुद्धि में प्रधान-अप्रधान भाव में रहते ही हैं। लिङ्ग का संसरण इन आठों के बलाबल पर निर्भरशील है। अधिवासित की ध्वनि यह है कि कोई भी ऐसा कर्म नहीं है, जिसके प्रेरणा-स्रोत के रूप में इन आठों में से कोई न कोई भाव न रहता हो।

लिङ्ग को जो महदादि-सूक्ष्म-पर्यन्त (सूक्ष्म=विशेषनिर्मित सूक्ष्म शरीर) कहा गया है, वह साभिप्राय है। यह तो नितरां सत्य ही है कि जिस प्रकार महत्-अहंकार-मन-इन्द्रियाँ परस्पर संलग्न हैं, सूक्ष्म शरीर उसी प्रकार करणों के साथ स्वभावतः संबद्ध कोई पदार्थ नहीं है, अतः पहले ही प्रश्न उठता है कि महत्-अहंकार-मन-इन्द्रियरूप करणसमष्टि के साथ विशेष रूप ग्राह्य विषय का योग ही कैसे हुआ, जिससे लिङ्ग के परिचय देने के समय सूक्ष्म शरीर का नियत रूप से कथन अनिवार्य हो गया? किंच यह विशेष नामक वस्तु तो पुरुषान्तर के अहंकार से उत्पन्न ग्राह्य विषय है, इसको महदादि-करणों के साथ जोड़कर लिङ्ग का परिचय देने की अनिवार्यता ही क्या है? खेद है कि किसी भी टीका-

कार ने इस अत्यन्त आवश्यक विषय पर ध्यान नहीं दिया। युक्तिदीपिका ने केवल इतना ही कहा है कि महदादि का योग सूक्ष्म तक ही अभीष्ट है-इससे अधिक नहीं (सूक्ष्म पर्यन्त-मिति तत्त्वान्तर-प्रतिषेधमाह, एतावदेव नातोऽन्यदिति); पर इससे इस प्रश्न का कोई स्पष्ट उत्तर नहीं होता है कि लिङ्ग के परिचय में 'विशेषनिर्मित सूक्ष्म-शरीर-पर्यन्त' कहना क्यों अनिवार्य है। महत् से अहंकार और अहंकार से मन जिस प्रकार संबद्ध है, तन्मात्र उस प्रकार मन से संबद्ध नहीं हैं—यह स्पष्ट रूप से ज्ञातव्य है। समाधान यह है—

महदादि का अर्थ है—महत् तथा अन्यान्य आन्तर एवं बाह्यकरण। इन आन्तर-बाह्य करणों की अभिव्यक्ति लिङ्ग के मूल रूप महत्-तत्त्व से ही होती है, पर इस अभिव्यक्ति में महत् की बाह्यभावप्रवणता आवश्यक होती है। बाह्यभाव का प्राथमिक रूप है—प्रजापति के भूतादि-अहंकार का ग्राह्यीभूत रूप जो सूक्ष्म शरीर का उपादान है। इस उपादान को विषय के रूप में पाकर जीव प्राणशक्ति के बल पर शरीर का निर्माण तत्काल ही कर लेता है अतएव तत्त्वतः करणसमष्टि के ही लिङ्गस्वरूप होने पर भी करणों की सक्रिय अवस्था की उपपत्ति के लिये सूक्ष्म शरीर का भी उल्लेख करना आवश्यक हो जाता है। ध्यान देना चाहिये कि यहाँ क्रिया 'संसरति' है, 'विद्यते' या 'अस्ति'। नहीं चूँकि संसरण क्रिया पर दृष्टि रखकर लिङ्ग का परिचय दिया गया है, अतः लिङ्ग के सूक्ष्मतम स्वरूप (ज्ञातहम् मात्र) के स्थान पर उसका स्थूल रूप (सर्व-करण समष्टि) ही लिया गया है, और उस स्थूल रूप की उपपत्ति के लिये सूक्ष्म शरीर (जो लिङ्ग का अघटक पदार्थ है) का भी उल्लेख लिङ्ग के परिचय में किया गया है। करणसमष्टि रूप लिङ्ग का कोई अवयव विशेषनिर्मित सूक्ष्म शरीर नहीं है, पर विशेष रूप सूक्ष्मतम बाह्य विषय के सम्पर्क के बिना करणों की अभिव्यक्ति नहीं होती, इसलिये विशेषजात सूक्ष्म शरीर का उल्लेख करना आवश्यक था। यह भूलना नहीं चाहिये कि मनुष्यादि साधारण जीवों के जो महदहंकर-मन हैं, उनके अन्तर्गत अहंकार से तन्मात्र नहीं बनता, अतः महत्-हंकार मन से तन्मात्रों का कोई स्वाभाविक योग नहीं है, नैमित्तिक योग है। लिङ्करणसमष्टि है, पर इसका जो सर्वोच्च करण है, वह कर्ता और करणरूप द्विधा विभक्त है—इत्यादि पूर्वोक्त विचार यहाँ पुनः स्मरणीय है। प्राण को चूँकि अन्तःकरण की सामान्यवृत्ति माना गया है, अतः लिङ्ग में प्राण स्वतः अन्तर्गत हो जाता है। लिङ्गान्तर्गत यह प्राणशक्ति ही बाह्य विषय का शरीरोपादान के रूप में व्यवहार करके स्थूल और सूक्ष्म शरीर का निर्माण करती रहती है। यही कारण है कि लिङ्गमें पञ्च प्राणों की गणना नहीं की गयी है, यद्यपि उसमे प्राणों की सत्ता मानी जाती है।

'भाव से अधिवासित होने' का वाचस्पतिकृत व्याख्यान (सूक्ष्मशरीर के प्रसंग में) समीचीन रूप से घटता नहीं है। इन भावों से बुद्धि अन्वित है (धर्मादि बुद्धि के आठ भाव

हैं), बुद्धि से सूक्ष्म शरीर अन्वित है, अतः यह सूक्ष्म शरीर भावों से अन्वित है—यह वाचस्पति कहना चाहते हैं। जब साक्षात्‌रूप से वासित नहीं है, तब अधिवासित कहने के लिये कारिकाकार आग्रह ही क्यों करते हैं–यह प्रश्न वाचस्पति से किया ही जा सकता है। हमारी व्याख्या के अनुसार यह प्रश्न उठता ही नहीं है। लिङ्ग और महत् का निकटतम सम्पर्क है; वे दो एक ही वस्तु के स्थूल-सूक्ष्म रूप हैं-अतः बुद्धि (=महत्) के रूपों द्वारा लिङ्ग अधिवासित होता है—यह कथन समीचीन ही होता है।

लिङ्ग को सूक्ष्म शरीर मानकर वाचस्पति ने एक शङ्का उठाकर उसका जो समाधान किया है, उसकी समीचीनता विचार्य है। शङ्का यह है कि महाप्रलय में प्रधान तो अवस्थित रहता[1] है, लिङ्ग शरीर इस काल में क्यों नहीं स्थिर रहता? उत्तर दिया गया कि चूंकि लिङ्ग शरीर हेतुजन्य है, अतः वह अनित्य है। सुतरां वह कारण में लीन अवश्य होगा। इससे ज्ञात होता है कि महाप्रलय (अर्थात् चतुर्विध प्रलयों में जो प्राकृत या प्राकृतिक नामक प्रलय हैं जिसका विवरण पुराणों के प्रतिसर्ग प्रकरणों में है, वह) से भिन्न प्रलयों में लिङ्ग नामक सूक्ष्म शरीर अवस्थित रहता है।

अब विचारना चाहिये कि जो भूत (=विशेष) जीवशरीर का उपादान है, वह तो कल्पप्रलय में ही लीन हो जाता है, अतः महाप्रलय की ही बात क्यों की जाती है? एक बात और। महाप्रलय का क्रम यह है—पहले तन्मात्रों का लय अहंकार में होता है, अहंकार का महत् में, महत् का प्रकृति में। अब विचारना चाहिये कि तन्मात्र का लय जिस क्षण होगा, वाचस्पति-संमत यह सूक्ष्मशरीर तत्काल ही स्वस्वरूप से विघटित हो जायेगा; महत् का लय होना पर्यन्त अपेक्षा करने की कोई हेतु ही नहीं है अर्थात् प्राकृत प्रलय होने से पहले ही यह सूक्ष्म शरीर स्वरूप में नहीं रहेगा। वाचस्पति के पास इसका कोई युक्त समाधान नहीं है ।४०॥

---

(१) स्यादेतत्—बुद्धिरेव साहंकारेन्द्रिया कस्मान्न संसरति ? कृतं सूक्ष्मशरीरेणाप्रामाणिकेनेत्यत आह—

---

(१) पूर्वोक्त मत के निश्चय होने पर प्रश्न उठता है कि अहङ्कार और इन्द्रियों से युक्त बुद्धि को ही संसरण करने वाली क्यों नहीं मान लिया जाये ? अप्रामाणिक सूक्ष्म

---

१. आधुनिक व्याख्याकार महाप्रलय का स्वरूप क्या है—यह नहीं कहते। महाप्रलय शब्द से अनुवाद करना अनुचित है। व्यासभाष्य में कल्पप्रलय से पृथक् कर महाप्रलय का उल्लेख किया गया है। महाप्रलय=प्राकृतप्रलय है, यह शास्त्रकारों का मत है।

चित्रं यथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथा च्छाया ।
तद्वद्विना विशेषै[1]र्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम् ॥४१॥

(२) "चित्रम्" इति । लिङ्गनाज्ज्ञापनाद् बुद्ध्यादयो लिङ्गम्, तद् अनाश्रयं न तिष्ठति । जन्मप्रायणान्तराले[2] बुद्ध्यादयः प्रत्युत्पन्नशरीराश्रिताः प्रत्युत्पन्नपञ्चतन्मात्रवत्त्वे सति बुद्ध्यादित्वाद्, दृश्यमानशरीरवृत्तिबुद्ध्यादिवत् । (३) "विना विशेषैः" इति । सूक्ष्मैः शरीरैरित्यर्थः । (४) आगमश्चात्र भवति—

ततः सत्यवतः कायात् पाशबद्धं वशङ्गतम् ।
अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष बलाद्यमः[3] ॥
(महाभारत, वनपर्व २९७ । १७)

शरीर (४० कारिकोक्त) को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है ? इसके उत्तर में कारिकाकार कहते हैं—

जिस प्रकार आधार के बिना चित्र और स्थाणु (=खूँटा) आदि के बिना छाया नहीं रह सकती, उसी प्रकार 'विशेष' के बिना लिङ्ग (अर्थात् बुद्धि अहङ्कार, इन्द्रिय, तन्मात्र की समष्टि) आश्रयहीन होकर नहीं रह सकता ॥४१॥

(२) प्रधान के ज्ञापक (=अनुमापक) होने से बुद्धि आदि 'लिङ्ग' कहलाते हैं । यह लिङ्ग किसी आश्रय (=अवलम्बन) के बिना नहीं रह सकता । इसमें अनुमान यह है । जन्म और मृत्यु के मध्यकाल में उत्पन्न एक-एक शरीर में बुद्धि आदि आश्रित रहते हैं, क्योंकि ये बुद्धि आदि ऐसे हैं जो सृष्टिकाल में उत्पन्न पञ्च तन्मात्रों से युक्त हैं । इस नियम में दृष्टान्त हैं—दृश्यमान (अर्थात् स्थूल) शरीर में स्थित बुद्ध्यादि [बुद्ध्यादि के आश्रय के रूप में एक शरीर की आवश्यकता है; जन्म-मरण-मध्यकाल में चूँकि स्थूल शरीर नहीं रहता इसलिये बुद्धयादि के आश्रयरूप में जिस शरीर की अपेक्षा होती है, वह सूक्ष्म शरीर है] । (३) 'विशेष के विना' अर्थात् सूक्ष्म शरीर के बिना ।

(४) इस विषय में यह शास्त्रवचन भी प्रमाण है—'तव यम ने सत्यवान् के शरीर से पाश-बद्ध तथा वशीभूत अङ्गुष्ठमात्र पुरुष को बलपूर्वक निकाल लिया ।' यहाँ

---

१. केचन कौमुदी संपादकाः 'विनाऽविशेषैः' इति पठन्ति । पाठोऽयमसाधुः ।

२. डा० गजानन शास्त्री के संस्करण में 'जन्ममरणान्तराले' पाठ है, जब कि सभी प्राचीन संस्करणों में जन्मप्रायण…ही पठित हुआ है । प्रायण=मरण । इस संस्करण में 'प्रयाण शब्द भी प्रयुक्त हुआ है (पृ. २२९), जो प्रायण होगा ।

३. 'ततः सत्यवतः कायात् पाशबद्धं वशं गतम्' इत्यंशः क्वचिन्न पठ्यते । यमो बलादिति मुद्रित-भारतपाठः ।

इति अङ्गुष्ठमात्रत्वेन सूक्ष्मशरीरत्वमुपलक्षयति । (५) आत्मनो निष्कर्षा-सम्भवात् सूक्ष्ममेव शरीरं पुरुषः, तदपि पुरि स्थूलशरीरे शेते ॥ ४१ ॥

'अङ्गुष्ठमात्र' का तात्पर्य लक्षणा से 'सूक्ष्म शरीर' है । (५) आत्मस्वरूप पुरुषतत्त्व का निष्कर्ष असम्भव होने के कारण सूक्ष्म शरीर ही यहाँ 'पुरुष' है, क्योंकि यह सूक्ष्म शरीर भी स्थूलशरीर रूप पुरी में स्थित है ॥४१॥

४१वीं कारिका की व्याख्या

कारिकागत विशेष का अर्थ है—विशेषनिर्मित शरीर । कुछ प्राचीन व्याख्याकार 'अविशेषैः' पाठ करते हैं; पर वे भ्रान्त हैं—तान्मात्रिक शरीर शास्त्रसंमत नहीं है । तन्मात्र से कोई भी शरीर (अर्थात् भोगायतन) नहीं बन सकता । पूर्वकारिका में कहा गया है कि लिङ्ग[1] महदादि सूक्ष्म (अर्थात् विशेषनिर्मित शरीर=सूक्ष्म शरीर)—पर्यन्त है । अब प्रश्न उठता है कि महदादिकरणों के साथ सूक्ष्म शरीर के योग का प्रश्न ही क्या है, क्योंकि यह सूक्ष्म शरीर महदादि-करणों से न उत्पन्न होता है और न यह महदादिकरणों के साथ अविनाभावी है । अतः इस सूक्ष्म शरीर के साथ महदादि-करणों का योग स्वतः नहीं हो सकता । लिङ्ग रूप करणसमष्टि सूक्ष्म शरीर के साथ रहने के लिये क्यों बाध्य है—इसका उत्तर इस कारिका में दिया गया है ।

कारिकोक्त चित्र और छाया उपमाएँ हैं, दृष्टान्त नहीं—यह ज्ञातव्य है । विशेष-निर्मित सूक्ष्म शरीर के साथ लिङ्ग के अपरिहार्य योग (ब्रह्माण्ड की अवस्थिति के काल में) के लिये जो हेतु है, वह है—शरीरधारण का संस्कार जो लिङ्ग में सुप्त रूप से विद्यमान रहता है । प्रजापति के संकल्प से ग्राह्य विषय के आविर्भाव होते ही उस विषय को प्राणी शरीररूप से तत्क्षण ही व्यूहित कर लेता है । यह आदिम सूक्ष्म शरीर है । इस शरीर को पाकर प्राणी करणव्यवहार-पूर्वक भोग या अपवर्ग की सिद्धि करता रहता है ।

---

१. इस कारिका की व्याख्या में डा० व्रजमोहन कहते हैं कि इस कारिका में लिङ्ग पद से 'आत्मा के ज्ञापक बुद्धि आदि त्रयोदश करणों का ग्रहण होता है न कि सूक्ष्मशरीर का' (पृ० १४६) । यह दृष्टि अस्मदृष्टि की अनुगामिनी है । पर जब व्रजमोहनजी ४० कारिकागत लिङ्ग का अर्थ सूक्ष्मशरीर करते हैं, ४२ कारिकागत लिङ्ग का अर्थ सूक्ष्मशरीर करते हैं, तब मध्यस्थ-कारिकागत लिङ्ग शब्द का सूक्ष्मशरीर रूप अर्थ न करने का कोई हेतु उन्हें अवश्य देना चाहिये था । यदि वे यह समझते हैं कि ४१ वीं कारिका में लिङ्ग का अर्थ सूक्ष्मशरीर करना असंगत है, तो उनको यह भी समझना चाहिये कि ४० और ४२वीं कारिका में भी लिङ्ग का सूक्ष्मशरीर रूप अर्थ करना असंगत है । इन दो स्थलों में उनको स्वकृत अर्थों की असंगति क्यों प्रतीत नहीं हुई, यह मैं न समझ सका ।

'निराश्रयं लिङ्गं न तिष्ठति' का तात्पर्य है—लिङ्ग प्रलय काल में सूक्ष्म शरीर से हीन हो जाता है क्योंकि सूक्ष्म शरीर का उपादान स्वकारण में लीन हो जाता है। प्रलयकाल में करणसमष्टि भोग या अपवर्ग का साधन करने योग्य नहीं रहती—सुप्त-मुग्धवत् रहती है।

यहाँ एक बात लक्षणीय है। वाचस्पति के अनुसार लिङ्ग=सूक्ष्म शरीर है, जो विशेष का एक भेद है। वाचस्पति की दृष्टि के अनुसार अर्थ करने पर यह कहा जायेगा कि विशेष का एक भेदरूप सूक्ष्म शरीर विशेष (=सूक्ष्मशरीर) के बिना रह नहीं सकता। इस उपहासास्पद तात्पर्य के उपस्थित होने के कारण ही कुछ संपादक तत्त्वकौमुदी-संमत 'विना विशेषैः' पाठ को 'विना अविशेषैः' रूप में पढ़ते हैं—ऐसा प्रतीत होता है। पर वाचस्पति ने स्वयं ही 'सूक्ष्मैः शरीरैः इत्यर्थः' कहा है, अतः पाठ का परिवर्तन करना व्यर्थ ही है। कारिकाकार सूक्ष्मशरीर को विशेष का भेद कहते हैं और वाचस्पति लिङ्ग को सूक्ष्म शरीर मानते हैं—इन दो बातों को मानकर उपर्युक्त समस्या का समाधान करने की चेष्टा करने पर वाचस्पति के मत की असंगति स्फुटरूप से विज्ञात होती है।

वाचस्पति कहते हैं कि देहत्याग के बाद देहान्तर-ग्रहण के मध्य में बुद्धि आदि करणों का आधारभूत एक शरीर अपरिहार्य है—यही सूक्ष्म शरीर है। जान पड़ता है कि वाचस्पति 'निश्चित प्रकार के किसी एक शरीर' को ही सूक्ष्म शरीर समझते हैं। मान लीजिये किसी को स्वर्गभोग के बाद ही नरक भोग करना है; क्या दैव शरीर के त्याग के अनन्तर और नारक-शरीर-ग्रहण से पहले कोई अन्य 'सूक्ष्मशरीर' लेना होगा ? ॥४१॥

(१) एवं सूक्ष्मशरीरास्तित्वमुपपाद्य यथा संसरति येन हेतुना च तदुभयमाह—

पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन ।
प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम् ॥४२॥

---

(१) इस प्रकार सूक्ष्म शरीर की सत्ता सिद्ध करके अब उसके संसरण का प्रकार और हेतु कहते हैं :—

पुरुषार्थ-रूप हेतु से प्रवर्तित यह लिङ्ग (=सूक्ष्म शरीर) धर्म, अधर्म आदि निमित्त और नैमित्तिक (=निमित्तहेतुक स्थूलशरीर ग्रहण) से सम्बद्ध (अर्थात् 'निमित्त-नैमित्तिक-परतन्त्र) होने के कारण प्रकृति के विभुत्वयोग (=सर्वव्यापकता) से नट के समान (बहुविध रूपों से) अवस्थित है (अर्थात् भोगापवर्ग का सम्पादन करता रहता है) ॥४२॥

(२) "पुरुषार्थहेतुकम्" इति। पुरुषार्थेन हेतुना प्रयुक्तम्। निमित्तम्—धर्माधर्मादि; नैमित्तिकम्—तेषु तेषु निकायेषु यथायथं षाट्कौशिकशरीरपरिग्रहः; स हि धर्मादिनिमित्तप्रभवः। निमित्तञ्च नैमित्तिकञ्च तत्र यः प्रसङ्गः प्रसक्तिस्तेन नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गं सूक्ष्मशरीरम्। (३) यथा हि नटस्तां तां भूमिकां विधाय परशुरामो वाऽजातशत्रुर्वा वत्सराजो वा भवति, एवं तत्तत्-स्थूलशरीर-परिग्रहणाद्देवो वा मनुष्यो वा पशुर्वा वनस्पतिर्वा भवति सूक्ष्मशरीरमित्यर्थः। (४) कुतस्त्यः पुनरस्येदृशो महिमेत्यत आह—"प्रकृतेर्विभुत्वयोगाद्" इति। तथा च पुराणम्—"वैश्वरूप्यात् प्रधानस्य परिणामोऽयमद्भुतः[१]" (द्र० वायु०५३।१२०) इति ॥ ४२ ॥

---

(२) 'पुरुषार्थहेतुक' अर्थात् पुरुषार्थ रूप हेतुयुक्त; 'निमित्त'=धर्म, अधर्म, आदि (द्र० का० २३)। 'नैमित्तिक'= उन उन निकायों अर्थात् भिन्न-भिन्न योनियों में उत्पन्न षाट्कौशिक (षट्-कोश युक्त) स्थूल शरीर का यथायथ ग्रहण, क्योंकि यह शरीरग्रहण धर्म आदि निमित्तों से ही होता है। इस 'निमित्त' और 'नैमित्तिक' के साथ प्रसंग (=सम्बन्ध; प्रसक्ति) होने से यह लिङ्ग अर्थात् सूक्ष्म शरीर नट के समान विविध रूपों में अवस्थित होता है।

(३) नट जिस प्रकार अनेक प्रकार का वेषविन्यास करके परशुराम, अजातशत्रु या वत्सराज (=उदयन) आदि बन जाता है, उसी प्रकार यह सूक्ष्म शरीर भी अनेक प्रकार के स्थूल शरीरों का ग्रहण करके देव, मनुष्य, पशु और वृक्ष आदि बनता रहता है।

(४) इस सूक्ष्म शरीर को ऐसी महिमा (=परिणमन-शक्ति) कहाँ से मिल जाती है (कि वह अनादिकाल से बहुविध रूपों का निरन्तर ग्रहण करता रहता है)? इसके उत्तर में कहते हैं—"प्रकृति की विभुत्वशक्ति के संयोग से"। जैसा कि पुराण में कहा गया है—प्रधान (=प्रकृति) की नानारूपता (=सर्वविध-परिणामग्रहण-योग्यता) के कारण यह अद्भुत परिणाम (=बहुलोकमय ब्रह्माण्ड की सृष्टि) होता है।॥ ४२ ॥

---

१. यह वाक्य 'यथोक्तं वायुपुराणे' कहकर तत्त्ववैशारदी ४।१३ में उद्धृत हुआ है। वायु० ५३।१२० का पाठ है—विश्वरूपं प्रधानस्य परिणामोऽयमद्भुतः (आनन्दा० संस्क०); आनन्दाश्रम संस्करण का पाठ भ्रष्ट है—यह प्रतीत होता है। (विश्वरूपः-यह पाठान्तर भी इस संस्करण में निर्दिष्ट हुआ है)। मत्स्यपुराण का पाठ है—वैश्वरूपं प्रधानस्य परिणा-होऽस्य यः स्मृतः (१२८।८४); एकरूपप्रधानस्य परिणामोऽयमद्भुतः—यह लिङ्ग १।६।१६ का पाठ है (प्रकरण सर्वत्र समान है)। डा० मुसलगांवकर तथा डा० आद्याप्रसाद इसको देवीभागवत का वचन कहते हैं। क्या मुद्रित पुराण में यह वचन है ?

४२वीं कारिका की व्याख्या

भोग या विषयग्रहण के लिये अथवा अपवर्ग या विषयत्याग के लिये लिङ्ग की जो प्रवृत्ति (=व्यापार अथवा परिणाम) होती हैं; वह धर्म-अधर्म आदि आठ निमित्तों (२३ कारिकोक्त) से चलती रहती है। निमित्तानुसारी शरीरपरिग्रह रूप नैमित्तिक के योग से भी लिङ्ग संसरण करता रहता है (भोगमार्ग में अपवर्ग का भी बीज रहता है; अपवर्ग मार्ग में भोग का भी बीज रहता है; यही कारण है कि इन दोनों में निरन्तर उत्कर्षापकर्ष होते रहते हैं)।

कारिका की ध्वनि यह है कि लिङ्ग का नानाविध-शरीर-परिग्रहपूर्वक विभिन्न लोकों में रहना चिरकाल तक चलता रहता है—स्वभावतः इस संसरण की निवृत्ति नहीं होती है। (विषयों को भोग करते रहने पर विषयों की समाप्ति नहीं होती, अतः भोग की समाप्ति कभी भी नहीं होती है)। प्रकृति चूँकि अमेय है, अतः भोग्य विषय अनन्त हैं—शरीरादि भी असंख्य प्रकार के होते हैं। उदाहरणार्थ दर्शन रूप क्रिया का परिणाम कैसा भी क्यों न हो, तदुपयोगी दृश्य रूप सदैव प्राप्त होता रहेगा; तथैव रूप का कैसा भी परिणाम क्यों न हो, तद्ग्राहिका करणशक्ति अवश्य ही रहती है। दर्शनक्रिया को करते रहने पर अनागत जन्मों में चक्षु का विकास होता रहेगा और वह विकास कभी भी विषयाभाव से समाप्त नहीं होगा, क्योंकि प्रत्येक चक्षु को उपयोगी रूप सदैव मिलता ही रहेगा।

नटवत् की ध्वनि यह है लिङ्ग शरीर में या लोक में उसी प्रकार रहता है, जैसे नट वस्त्रों में; लिङ्ग के शरीर बदलते रहते हैं—शरीर-धारण करने पर भी लिङ्ग शरीर से पृथक् ही रहता है। 'विशेषैः' में जो बहुवचन है, वह साभिप्राय है—एकाधिक शरीर द्वारा लिङ्ग वेष्टित रहता है—यह हमारा मत है ॥४२॥[1]

(१) 'निमित्त-नैमित्तिकप्रसङ्गेन' इत्युक्तम् । तत्र निमित्तनैमित्तिके विभजते—

(१) (सूक्ष्म शरीर) निमित्त तथा नैमित्तिक के साथ सम्बन्ध होने के कारण

१. हमारी दृष्टि में निमित्त को कर्माशय और नैमित्तिक को जात्यायुर्भोग रूप विपाक मानकर इस कारिका की व्याख्या करना संगततर है। कारिकाकार ने स्वयं निमित्त-नैमित्तिक का स्वरूप कहीं भी नहीं कहा है। अतः उसी व्याख्या को हम अधिकतर संगत समझते हैं, जो लिङ्ग के स्वरूप के अनुसार है। लिङ्ग की प्रवृति में कर्माशय और उसके विपाक का जो सम्बन्ध है वह धर्मादि और शरीर-परिग्रह से अन्तरंग है। षाट्कौशिक शरीर लिङ्ग से स्थूलतर है, अतः लिङ्ग-प्रवृत्ति में उसकी हेतुता का प्रतिपादन करना असमीचीन है। निमित्त=वासना; नैमित्तिक=वासनाजात स्मृति-ऐसा मानकर भी व्याख्या की जा सकती है।

सांसिद्धिकाश्च भावाः प्राकृतिका वैकृताश्च धर्माद्याः ।
दृष्टाः करणाश्रयिणः कार्याश्रयिणश्च कललाद्याः ॥४३॥

(२) "सांसिद्धिकाश्चे"ति । वैकृता नैमित्तिकाः[1], प्राकृतिकाः स्वाभाविकाः भावाः सांसिद्धिकाः । (३) तथा हि सर्गादावादिविद्वान् भगवान् कपिलो महामुनिर्धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यसम्पन्नः प्रादुर्बभूवेति स्मरन्ति । (४) वैकृताश्च भावा असांसिद्धिकाः, ये उपायानुष्ठानेनोत्पन्नाः; यथा—प्राचेतसप्रभृतीनां महर्षीणाम् । एवमधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्याण्यपि ।

(५) एते कुत्र दृष्टाः ? इत्यत आह—"करणाश्रयिणः" इति । करणं बुद्धितत्त्वम्, कार्यं शरीरं तदाश्रयिणः, तस्यावस्थाः कललबुद्बुदमांसपेशीकण्डरा[2]-द्यङ्गप्रत्यङ्गव्यूहाः गर्भस्थस्य, ततो निर्गतस्य बालस्य बाल्यकौमारयौवन-वार्धकानीति ॥४३॥

(संसरण करता है)—यह कहा गया है । अब निमित्त (=कारण) तथा नैमित्तिक (=निमित्तजात कार्य) का विभाग करते हैं—

प्रकृति अर्थात् स्वभाव से ही सिद्ध 'सांसिद्धिक' तथा (निमित्त से सिद्ध) 'वैकृत' धर्म, अधर्म आदि भाव 'करण' अर्थात् बुद्धि में आश्रित रहते हैं (बुद्धि-वृत्ति रूप में) । एवं कलल (शुक्ररजः का संयुक्त रूप; यह कई रात्रियों के बाद कलल होता है) आदि भाव 'कार्य' अर्थात् नैमित्तिक (=शरीर के) होते हैं (अर्थात् कललादि शारीरिक धर्म हैं)॥४३॥

(२) 'वैकृत' अर्थात् किसी निमित्त से उत्पन्न (सहजात नहीं) । सांसिद्धिक ही 'प्राकृतिक' है, प्रकृति अर्थात् स्वभाव से जात । इसके शिष्टपरम्परा में स्मृत उदाहरण हैं—आदिविद्वान् भगवान् कपिल जो सृष्टि के आरम्भ में धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य से सम्पन्न होकर उत्पन्न हुए थे । (४) वैकृत भाव वे हैं जो असांसिद्धिक हैं—अर्थात् (जन्मसिद्ध न होकर) उपाय से उत्पन्न होते हैं, जैसे प्रचेतोवंशीय वाल्मीकि आदि महर्षियों के भाव (धर्म, ज्ञान, आदि) हैं । इसी प्रकार अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य भी (प्राकृतिक और वैकृत) होते हैं ।

(५) ये कहाँ रहते हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं—"ये करण में रहते हैं ।" करण का अर्थ है—बुद्धितत्त्व । कार्य अर्थात् शरीर । कार्याश्रयी=शरीर की अवस्थाएँ । गर्भस्थित शरीर के भाव (=अवस्थाएँ) हैं–कलल, बुद्‌बुद, मांसपेशी, कण्डरा (स्नायुविशेष), आदि अङ्ग और प्रत्यङ्ग समूह; गर्भ से निकले हुये बालक के शैशव, कौमार, यौवन तथा वार्धक्य भी कार्याश्रित भाव हैं ॥४३॥

१. एतदनन्तरं क्वचित् 'पुरुषस्य जातस्योत्तरकालदेवताराधनादिनोत्पन्नाः' इति पठ्यते ।

२. करण्डेत्यपपाठः ।

४३वीं कारिका की व्याख्या

लिङ्ग (=जीव) धर्म-अधर्मादि आठ भावों से अधिवासित होकर संसरण (देहधारण-देहत्याग पूर्वक विभिन्न लोकों में आना-जाना) करता रहता है—इस मत में सबसे बलिष्ठ प्रमाण यह है कि कभी भी सक्रिय जीव इन भावों से विरहित दिखाई नही पड़ता। करण वर्ग जब संरुद्ध रहते हैं (प्रलयावस्था में) तब भी धर्मादि अनभिव्यक्त संस्कार के रूप में रह जाते हैं।

ये धर्मादि आठ भाव बुद्धि के साथ नित्य संयुक्त हैं; ये किसी न किसी अवस्था में रह कर प्राणी को पुरुषार्थाचरण में प्रवृत्त कराते हैं। सांसिद्धिक कहने का अभिप्राय यह है कि व्यक्तावस्था में बुद्धि इन भावों से विरहित नहीं रहती है। यह हो सकता है कि धर्मादि में कोई संस्कार के रूप में रहे, वृत्तिरूप में न रहे। यह देखा गया है कि कोई-कोई भाव सुदीर्घकाल तक संस्काररूप में ही रह जाता है, वृत्तिरूप में नहीं आता।

अनादिकाल से बुद्धि में ये आठ भाव विकसित-अविकसित, उत्कट-अनुत्कट, स्थूल-सूक्ष्म आदि किसी न किसी रूप में सदैव विद्यमान रहते हैं। इनके उत्कर्ष-अपकर्ष भी किये जा सकते हैं। यह उत्कर्ष दृष्टजन्मवेदनीय (इस जीवन में ही चेष्टा पूर्वक कृत) होता है; ऐसा भी हो सकता कि दृष्टजन्म में उपयोगी साधन के बिना भी धर्मादि का असाधारण उत्कर्ष किसी में उत्पन्न हो। ईदृश उत्कर्ष का हेतु पूर्वकृत असाधारण कर्मजन्य संस्कार है, जो दृष्ट जन्म में किसी हेतु से अभिव्यक्त होता है। ईदृश उत्कर्ष प्रायः सांसिद्धिक कहलाता है, यद्यपि तत्त्वतः यह वैकृत है (क्यों कि यह उत्कर्ष भी वस्तुतः निमित्तजात है)। दृष्टजन्म में जिस उत्कर्ष का हेतु है (अर्थात् जो दृष्टजन्म में साधन से उत्पन्न हुआ है) वह वैकृत है। धर्मादि आठ भावों का उत्कर्ष दृष्ट जन्म में किया ही जा सकता है। अधर्म आदि चार तामस भाव वैकृत ही होते हैं (वाचस्पति का यह मत है, ऐसा कुछ व्याख्याकार कहते हैं)—यह कहना गुणत्रय के स्वभाव और सत्कार्यवाद की दृष्टि से असंगत है। तत्त्वतः प्राकृतिक और वैकृत में कोई भेद नही है, व्यवहारतः भेद है।

योगसूत्रोक्त जन्मज सिद्धि सांसिद्धिक का उदाहरण है। दृष्टजन्म में कृत साधन के बिना धर्मादि का जो असाधारण उत्कर्ष किसी प्राणी में दृष्ट होता है वह जन्मज सिद्धि कहलाता है। जिस जाति का प्राणी है उस जाति के अनुसार इस सिद्धि का निर्धारण होता है। पक्षी का आकाशगमन जन्मज सिद्धि नहीं है, पर मनुष्य का आकाशगमन (यदि-जन्मतः हो तो) जन्मज सिद्धि (=असाधारण उत्कर्ष) ही है। जन्मकाल में किसी हेतु से पक्षी की करण-प्रकृति की वासना की अभिव्यक्ति होने पर ऐसा होना संभव होता है। चूंकि शरीर का प्रकृतिवैशिष्ट्य इसमें एक हेतु है, अतः यह उत्कर्ष प्राकृतिक कहलाता है। इसी तथ्य को कहने के लिये ही सांसिद्धिक का नामान्तर भी दिया गया है,

अन्यथा जो सांसिद्धिक हैं वे प्राकृतिक कहलाते हैं—इस प्रकार कहने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

कुछ लोग यह समझते हैं कि धर्मादि भाव या तो जन्मजात हैं या जन्मतः विद्यमान नहीं हैं (डा० ब्रजमोहन की व्याख्या, पृ० १५०)। यह असंगत है, क्यों कि धर्मादि आठ बुद्धिरूप बुद्धि के सहभावी हैं, जो किसी न किसी अवस्था में (कोई प्रधान, उत्कट; कोई अप्रधान, अनुत्कट इस रूप से) सदैव बुद्धि में रहते हैं। ये आठ किसी प्राणी में जन्मतः विद्यमान नहीं हैं—यह हो ही नहीं सकता। कारिकागत धर्मादि का तात्पर्य है—'धर्मादिभावों का उत्कर्षापकर्ष युक्त रूप' (यह तात्पर्य सामर्थ्य-प्राप्त है)। धर्मादि भावों का असाधारण उत्कर्ष किसी प्राणी में जन्मसहभू होता है, किसी में साधन द्वारा निष्पादनीय होता है। जन्मसहभू का कारण है—पूर्व जन्म में साधन से निष्पादित होना; ये भाव संस्कार रूप में रहकर इस जन्म में किसी हेतु से जन्म के साथ साथ अभिव्यक्त होते हैं।

धर्मादि का जो असाधारण उत्कर्ष किसी में जन्म से होता है, वह त्रैगुणिक नियम के अनुसार ही होता है। शरीर और करणशक्ति एक दूसरे के लिये सर्वथा अनुरूप नहीं होते। श्रुतिधर पुरुष किसी एक करणांश के असाधारण उत्कर्ष के संस्कार को लेकर ही जन्मग्रहण करता है; ऐसी स्थिति में जन्म से (अर्थात् वर्तमान जन्म में दृष्ट हेतु के विना) ही वह उत्कर्ष उस व्यक्ति में दृष्ट होता है। (पूर्वजन्म के ईदृश प्रबल-शक्ति-युक्त संस्कार के दृष्ट जन्म के साथ ही व्यक्त होने के लिये अवश्य ही कोई उपयोगी हेतु होता है, उस हेतु के विना यथाकाल ही वह संस्कार अभिव्यक्त होगा)। धर्मादि का असाधारण उत्कर्ष लेकर जो आविर्भूत होते हैं, वे लोक में महापुरुष (बहुसंख्यक लोगों पर आधिपत्य करने की शक्ति से युक्त; ऐसे व्यक्ति को बहुसंख्यक व्यक्ति 'प्रमाण' मानते हैं) पद से अभिहित होते हैं; ईदृश उत्कर्ष की पराकाष्ठा से युक्त व्यक्ति 'अवतार' कहलाते हैं। अवतारों के स्वरूप के विषय में वैष्णवादि-सम्प्रदायों में जो धारणाएँ प्रचलित हैं; वे अज्ञतामूलक हैं, क्योंकि वे धारणाएँ ऐश करण के स्वरूप के अनुसार संगत नहीं हैं। लोकप्रसिद्ध अवतारों की यही सांख्यीय व्याख्या है। धर्मादि का अधिकरण बाह्य-आन्तर इन्द्रियाँ है। धर्मादि का उत्कर्ष करणशक्ति पर प्रभाव डालता है और नवीन शरीर ग्रहण के समय शरीर-प्रकृति का निर्वाचन करणशक्ति की प्रकृति के अनुसार होता हैं। करण की प्रकृतियों और धर्मादि की प्रकृतियों का सर्वथा सामञ्जस्य दुर्लभ है, अल्पाधिक असामञ्जस्य प्रत्येक प्राणी में रहता ही है।

'कललादि भाव कार्याश्रयी हैं' यह वाक्य पृथक् है। कललादि (शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग-अंश) कार्यरूपी शरीर का आश्रय करके रहते हैं—इस बात को इस कारिका में कहने की क्या आवश्यकता है जब कि कललादि धर्मादि-सदृश नहीं हैं? हमारा कहना है कि

कललादि का धर्मादिभावों के साथ कुछ निकट संबन्ध रहने के कारण यहाँ कललादि का प्रसंग किया गया है।

कललादि स्थूल शरीर की बीजभूत अवस्था (इस लोक में जो गर्भावस्था की स्थिति है, वह; इस बीजभूत अवस्था का आश्रय गर्भातिरिक्त अन्य प्रकार की वस्तु भी हो सकती है—प्राणी की जातिप्रकृति के अनुसार) से ही संबन्वित पदार्थ हैं। इन पदार्थों का संहनन होकर जीवों के शारीर यन्त्र (अर्थात् इन्द्रियाधिष्ठान) बनते हैं। शारीरयन्त्रों की कार्यं-क्षमता धर्मादि के आचरण पर अंशतः निर्भरशील है। उदाहरणार्थ आयुर्वेदशास्त्रोक्त प्रज्ञापराधों का आचरण न करने से (जो ज्ञान, वैराग्य, धर्म तथा प्रवल इच्छाशक्ति के यथायथ प्रयोग से ही संभव होता है) इन्द्रियों के स्वास्थ्य में असाधारण विकाश होता है—यह देखा जाता है।

किंच जिस प्रकार के धर्मादि का संस्कार करणों में रहता है, नूतन शरीर धारण के समय तदनुकूल शरीर ही मिलता है। शरीर के मूल में एक वीजभाव की अवस्था है, जो उचित आहार्य की सहायता से क्रमशः विकशित होता रहता है। चूँकि यह शरीरवीज प्राकृतिक नियम से करणप्रकृति का अनुकूल होता है (करण सदैव भावों से अभिसंस्कृत ही रहता है) और शरीर के यन्त्रों पर सदैव धर्मादि-युक्त आचरण का प्रभाव पड़ता रहता है (जैसा ऊपर कहा गया है), अतः धर्मादि के प्रसंग में 'कार्याश्रयिणश्च कललाद्याः' कहना उचित ही होता है। किंच यह देखा जाता है कि कभी-कभी शारीरिक कारणों से (यथा वाह्य आघात के कारण) सुप्त मानसिक वृत्तियाँ प्रकटित हो जाती हैं। मस्तिष्क में तीव्र आघात पाने से चौर्यवृत्ति भी मन में प्रकटित हो सकती है—यह देखा गया है; अतः धर्मादि के प्रसंग में कललादि का प्रसंग करना अप्रासंगिक नहीं है।

धर्म आदि भाव वृत्तिरूपी अथवा कर्मरूपी होते हैं, तथा उन कर्मों द्वारा जो संस्कार उत्पन्न होते हैं, वे संस्कार भी भाव ही हैं। भाव का यह द्वितीय रूप प्रथम की अपेक्षा अधिकतर शक्तिशाली है[1]। कललादि-कथन के स्वारस्य के विपय से सभी टीकाकार मौन हैं ॥४३॥

---

१. भाव त्रिविध है—सांसिद्धिक, प्राकृतिक और वैकृत—यह मत गौडपादभाष्य में है। इस मत की समीचा तथा भावसम्वन्धी अन्यान्य सूक्ष्म तथ्यों (जो आधुनिक मनोविज्ञानी के लिये अवश्य विज्ञेय हैं) के लिये प्रसंख्यानभाष्य द्रष्टव्य है। इन्द्रियवाची करण शब्द के साथ शरीर-वाची कार्य शब्द का प्रयोग 'कार्यैस्तैः करणैः सह' आदि पुराणवाक्यों में बहुत्र मिलता है। 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते'—इस श्वेताश्वतरवाक्य (६।८) में भी कार्य का अर्थ शरीर है।

(१) अवगतानि निमित्तनैमित्तिकानि । कतमस्य तु निमित्तस्य कतमन् नैमित्तिकमित्यत आह—

धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण ।
ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः ॥४४॥

(२) "धर्मेण गमनमूर्ध्वम्", द्युप्रभृतिषु लोकेषु गमनम् । (३) "गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण", सुतलादिषु लोकेषु । (४) "ज्ञानेन चापवर्गः", तावदेव प्रकृतिर्भोगमार[1]भते न यावद्विवेकख्यातिं करोति । अथ विवेकख्यातौ सत्यां कृतकृत्यतया विवेकख्यातिमन्तं पुरुषं प्रति निवर्तते । (५) यथाहुः—"विवेकख्यातिपर्यन्तं ज्ञेयं प्रकृतिचेष्टितम्" इति[2] । (६) विपर्ययाद् अतत्त्वज्ञानाद् इष्यते बन्धः ।

(७) स च त्रिविधः—प्राकृतिको वैकृतिको दाक्षिणकश्चेति । तत्र प्रकृतावात्मज्ञानाद्ये प्रकृतिमुपासते तेषां प्राकृतिको बन्धः, यः पुराणे प्रकृतिलयान्प्रत्यु-

---

(१) निमित्त और नैमित्तिक ज्ञात हो गए । अब किस निमित्त का कौन सा नैमित्तिक (=कार्य) है, यह कारिकाकार कहते हैं—

धर्म से ऊर्ध्व लोकों में तथा अधर्म से अधः लोकों में गति होती है । ज्ञान से अपवर्ग (=मोक्ष) तथा उसके विपरीत अज्ञान से बन्धन प्राप्त होता है—ऐसा शास्त्रकारों का कहना है ॥ ४४ ॥

(२) धर्म से स्वर्गादि ऊर्ध्व लोकों में तथा (३) अधर्म से सुतलादि पाताल लोकों में गति प्राप्त होती है । (४) ज्ञान से अपवर्ग (=मोक्ष) होता है । प्रकृति भी तभी तक (शब्दादिविषयकज्ञानरूप) भोग उत्पन्न करती है, जब तक वह विवेकज्ञान उत्पन्न नहीं करती; विवेकज्ञान उत्पन्न हो जाने पर कृतकृत्यता होती है, जिससे विवेकज्ञान वाले पुरुष के प्रति प्रकृति निवृत्त हो जाती है । (५) जैसा कि कहा गया है—"विवेकख्याति होने तक ही प्रकृति की चेष्टा (=भोगसम्पादनकार्य) जाननी चाहिए ।"(६) 'विपर्यय' अर्थात् तत्त्वविषयक विपर्यस्त ज्ञान से बन्धन प्राप्त होता है । (७) यह बन्ध प्राकृतिक, वैकृतिक तथा दाक्षिणक रूप से तीन प्रकार का होता है । इनमें प्राकृतिक बन्ध उनको प्राप्त होता हैं, जो प्रकृति को ही आत्मा (=चिद्रूप पुरुष) समझते हुए उसी की

---

१. प्रकृतिरारभते इति केचित् पठयते (पुरुषभोगाय प्रवर्तते इत्यर्थः) ।

२. कस्येदं वचनमिति न विज्ञायते । बृहदारण्यकभाष्यटीकायामानन्दगिरिणा 'यथाहुः सांख्याः' इत्युक्त्वा उद्धृत मिदं वचनम्—विवेकख्यातिपर्यन्त मज्ञानात् चित्तचेष्टितम् इति (४।५।१५) ।

च्यते—"पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तका:" इति । (८) वैकारिको बन्धस्तेषां ये विकारानेव भूतेन्द्रियाहंकारबुद्धीः पुरुषधियोपासते, तान् प्रतीदमुच्यते—

दश मन्वन्तराणीह तिष्ठतीन्द्रियचिन्तकाः ।
भौतिकास्तु शतं पूर्णं सहस्रन्त्वाभिमानिकाः ।
बौद्धा दशसहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः ॥ इति[1] ।

(९) ते खल्वमी विदेहा येषां वैकृतिको बन्धः[2] । (१०) इष्टापूर्तेन दाक्षिणकः पुरुषतत्त्वानभिज्ञो हीष्टापूर्तकारी कामोपहतमना बध्यत इति ॥४४॥

उपासना करते हैं । प्रकृतिलीन पुरुषों के इस प्राकृतिक बन्ध को लक्ष्य कर पुराण में कहा गया है—'अव्यक्त प्रकृति की भावना (=आत्मरूप से उपासना) करने वाले शत सहस्र मन्वन्तर तक प्रकृतिलीन पद में विद्यमान रहते हैं ।'' (मन्वन्तर=७१ दिव्ययुग) ।

(८) वैकृतिक बन्धन उन्हें प्राप्त होता है, जो पञ्च भूतों, द्विविध इन्द्रियों, अहङ्कार और बुद्धिरूप प्रकृति-विकृतियों (=कार्यों) को ही पुरुष-रूप से (ये तत्त्व चिद्रूप पुरुष हैं—ऐसा समझकर) उपासना करते हैं । उन्हींके विषय में (पुराण में) कहा गया है:–'इन्द्रियों के उपासक (इन्द्रियात्मदर्शी) दस मन्वन्तरों तक, भूतों के उपासक (भूतात्मदर्शी) सौ मन्वन्तरों तक, अहङ्कार के उपासक (अहङ्कारात्मदर्शी) सहस्र मन्वन्तरों तक तथा बुद्धि के उपासक (=बुद्धि ही आत्मा है—ऐसा समझने वाले) दस सहस्र मन्वन्तरों तक ज्वरहीन (=तापशून्य) होकर अपने अपने पदों में स्थित रहते हैं ।

(९) जिनको वैकृतिक बन्धन प्राप्त होते हैं, वे ही विदेह कहलाते हैं (वैकारिक ही वैकृतिक है) । (१०) इष्ट (=यागादि) और पूर्त (=कूपखननादि) कर्मों से

---

१. अत्रत्य (दश मन्वन्तराणीह···) पुराण श्लोक रूप से टीका में उद्धृत हुये हैं । तत्त्ववैशारदी में वाचस्पति ने इन श्लोकों के लिये 'तथा च वायुप्रोक्तम्' (१।१९ पर) कहा है । भिक्षु भी 'यच्च वायुपुराणे' कहा है । ये श्लोक मुद्रित वायुपुराण में नहीं हैं; शिवपुराण की वायवीय-संहिता में भी नहीं हैं । (इन दो पुराणों में ईदृश प्रकरण है ; पर ये श्लोक नहीं हैं) । कुमारप्रोक्त वायवीय पुराण का उल्लेख मिलता है । यह पूर्ण संभव है कि ये श्लोक इसी ग्रन्थ के हों ।

२. कुछ सम्पादक 'ते खल्वमी···' इति वाक्य को पूर्वाचार्य-वाक्य-विशेष समझते है और उद्धरणचिह्न के साथ लिखते है (ऐसे सम्पादक 'इति' शब्द को उद्धरणज्ञापक समझते है) । हमारे अनुसार 'इति' शब्द 'विगतज्वराः' के बाद ही है, क्योंकि इस पदके बाद 'दशमन्वण······' वचनसमूह (छन्दोमय) समाप्त हो जाते हैं । 'वैकृतिको बन्धः' के बाद 'इति' की कोई आवश्यकता को नहीं है । 'ते खल्वमी···' वाक्य न आर्याछन्दस्क श्लोक का और न अनुष्टुप् छन्दस्क श्लोक का कोई अंश हो सकता है । यह वाक्य किसी पूर्वाचार्य का वचन है—ऐसा न कोई टीकाकार कहते हैं और न अन्य किसी स्रोत से ही इसका पूर्वाचार्यवचनत्व ज्ञात होता है ।

'दाक्षिणक' बन्धन प्राप्त होता है। पुरुषतत्त्व से अनभिज्ञ व्यक्ति कामना से पीड़ित होकर इष्ट और पूर्त कर्म का अनुष्ठान करके संसार बन्धन में गिरता है। ॥ ४४ ॥

४४वीं कारिका की व्याख्या

ऊर्ध्व-अधोलोक सूक्ष्मलोक हैं; वे पार्थिव लोकविशेष नहीं हैं। अतः इनमें दैशिक व्यवधान नहीं है। करणप्रकृति की सूक्ष्मता के साथ इन लोकों का सम्बन्ध है। करण-प्रकृति की सात्त्विकता जैसी जैसी घटती-बढ़ती जाती है, तदनुरूप लोकों में जीवों का गमनागमन होते रहते हैं। धर्म या अधर्म के आचरण से करणप्रकृति परिवर्तित हो जाती है। स्थूलशरीर त्याग के बाद जो दूसरा शरीर प्राप्त होता है वह करणानुरूप प्रकृति से युक्त होता है और उपयोगी लोक में ही वह शरीर प्रतिष्ठित होता है—ऐसा प्राकृतिक नियम है। 'शरीरप्रकृति' और 'तदनुकूल वासस्थान' एक अनपलाप्य सत्य है; मत्स्य आदि के शरीर जैसे होते हैं, तदनुसार जलादि ही उसके निवासस्थान होते हैं—यह स्थूल उदाहरण है।

यह ज्ञातव्य है कि ये गमनागमन वस्तुतः स्थूलशरीर त्याग के बाद ही होते हैं। पृथ्वीलोक में जो जीव प्रतिष्ठित होता है, उसकी करणप्रकृति और शरीर भी पृथ्वी लोक में रहने की योग्यता से युक्त होते हैं। जगत्सृष्टि के मूल में चूंकि प्रजापति का एक अहङ्कार है, अतः गुणानुकूल स्वाभाविक रूप से ही उपयोगी लोकों की प्राप्ति होती है। सांख्य का कहना है कि धर्म चाहे कितना ही उच्चस्तर का क्यों न हो वह अनावृत्ति का साधक नहीं हो सकता है, क्योंकि उसका अच्छेद्य सम्बन्ध सत्त्वगुण से है।

'ज्ञानहेतुक अपवर्ग (=कैवल्य)' के प्रसंग में एक बात लक्षणीय है। कारिका में भावों के वाचक शब्द धर्मेण, अधर्मेण, विपर्ययात, वैराग्यात्, रागात्, ऐश्वर्यात्, ऐश्वर्य-विपर्ययात् के रूप में प्रयुक्त हुये हैं (विपर्ययात्=ऐश्वर्य-विपर्ययात्), पर ज्ञान रूप भाव के उल्लेख के समय 'ज्ञानेन च' इस 'च' का भी प्रयोग किया है। यह 'च' एवकारार्थक है (द्र० युक्तिदी०); ज्ञान=ज्ञानमात्र कहने का तात्पर्य यह है कि अपवर्ग-रूप फल का चरम साधन ज्ञानमात्र है; कर्म, कर्मसमुच्चित ज्ञान, उपासना आदि चरम साधन नहीं हैं।

इससे यह भी ध्वनित होता है कि ऊर्ध्वगमनादि फलों के साधन के रूप में जो धर्म आदि कहे गये हैं, उनमें यह ऐकान्तिकता नहीं है; अर्थात् धर्ममात्र से ऊर्ध्व लोक में गमन नहीं होता; इस गमन में धर्म प्रधानतम है, पर अन्य भावों का भी सहयोग है। यह भी जानने योग्य है कि ऊर्ध्व-गमनादि फल स्वगतभेदवान् हैं, पर अपवर्ग (=कैवल्य) सर्वथा स्वगतभेदशून्य है। प्रकृतिलयावस्था में जैसा तारतम्य है—बन्धावस्था में भी वैसा तारतम्य है। 'ज्ञानान्मोक्षः'—यह सांख्यीय मत प्रसिद्ध ही है।

अपवर्ग (=कैवल्य; इस कारिका में अपवर्ग का अर्थ ज्ञानविशेष रूप पुरुषार्थ न होकर कैवल्य ही है) ज्ञानैकसाध्य क्यों है—यह सांख्यीय दृष्टि से विचार्य है। विवेकख्याति की पूर्णता होने पर चित्त शाश्वतकाल के लिये अत्यन्त निवृत्त हो जाता है—यह योगानुमत तथ्य है। इस निवृत्ति का अविनाभावी है—पुरुष का केवलीभाव (स्वरूपतः पुरुष केवल ही है); कैवल्यावस्था में पुरुष के साथ नया कुछ संयुक्त नहीं होता। कैवल्य का जो मुख्य साधन है, वह पुरुषविषयक प्रज्ञा का अनुशीलन है; इसमें किसी भी अपुरुषभाव का संयोजन अणुमात्र भी वांछनीय नहीं है। वस्तुतः अकैवल्य का हेतुभूत जो वृत्तिसारूप्य है, उसका हान करते रहना ही कैवल्य का मुख्य साधन है। यह 'हान करते रहना' और 'पुरुष की विविक्तता का अनुभव' प्रायः एक पदार्थ हैं। अतः पुरुषविषयक विपर्ययज्ञान का रोधमात्र करना ही कैवल्य का साधन है—यह सिद्ध होता है। यह रोध ज्ञान द्वारा ही साध्य है। इसी दृष्टि से ज्ञान को ही कैवल्य का साधन माना गया है। जिन वादियों की दृष्टि में कैवल्य में कोई नूतन भाव अभिव्यक्त होता है, वे ज्ञानमात्र को कैवल्य के साधन के रूप में नहीं मान सकते।

यह बात स्पष्टतया जान लेनी चाहिये कि ज्ञान से कैवल्य निर्वर्तित नहीं होता। ज्ञान वृत्तिसारूप्य का विरोधी है; अतः ज्ञान के द्वारा वृत्तिसारूप्य रूप अज्ञान का नाश होता है। यह नाश ही पुरुष का कैवल्य है—कैवल्य रूप फल उत्पादित नहीं होता। तत्त्वतः चित्तनिवृत्ति ही मोक्ष है। चूँकि यह मोक्ष (=बन्धनविच्युति) वस्तुतः पुरुष को नहीं होता, अतः पुरुष को लक्ष्य कर 'कैवल्यप्राप्ति' कही जाती है; अकेवल रूप से जो पुरुष ज्ञात हो रहा था (बुद्धि के द्वारा), वह अब अकेवलरूप से ज्ञात नहीं होगा—यह समझकर 'कैवल्यप्राप्ति' शब्द का प्रयोग किया जाता है—यह ज्ञातव्य है; स्वरूपतः पुरुष केवल ही है। कारिकाकार ज्ञान को जब कैवल्यसाधक के रूप में कहते हैं, तब उनके अनुसार ज्ञान विवेकख्याति ही है—अन्य सभी ज्ञान अपेक्षाकृत अज्ञान हैं। विवेकख्याति के अतिरिक्त अन्य सभी ज्ञान बन्ध को जीवित रखते ही हैं और संसारबन्धन को नानाभावों से परिणामित करते रहते हैं, अतः विवेकख्याति के अतिरिक्त सभी ज्ञान बन्ध-साधक ही हैं (बन्ध अनादि है)।

'विपर्ययादिष्यते बन्धः' का अर्थ यह है कि ज्ञान का जो विपर्यय है, वह बन्ध का हेतु है। विपर्ययरूप अविवेक अनादि है, बन्ध भी अनादि है। विवेकविरुद्ध अविवेक को बन्ध का हेतु कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि अविवेक द्वारा किसी काल में यह बन्ध हुआ है। इस हेतुकथन का तात्पर्य यही है कि जब तक अविवेक रहेगा तब तक बन्ध रहेगा और जब अविवेक नहीं रहेगा तब बन्ध भी नहीं रहेगा। इस प्रकार अविवेक बन्ध का स्थितिहेतु है। बन्ध चूँकि अनादि है, अतः अविवेक बन्ध का स्थिति-कारण ही हो सकता है, उत्पत्तिकारण नहीं।

वाचस्पति कहते हैं—'तावदेव प्रकृतिः···निवर्तते। प्रायः व्याख्याकार प्रकृति को चिन्तनकारी जीव की तरह समझकर अर्थ करते हैं कि प्रकृति तब तक भोग देती रहती है जब तक वह स्वयं विवेकख्याति को उत्पन्न नहीं कर देती। क्या सचमुच सत्व-रजः-तमः रूप जड़ा प्रकृति के द्वारा इस प्रकार 'सोच विचार कर कार्य करना' सम्भव है? पुरुष को अपवर्ग प्राप्त कराना सत्त्वरजस्तम का प्रयोजन है, पुरुष के लिये भोग को उपस्थित करना प्रकृति की प्रवृत्ति (=संकल्पपूर्वक चेष्टा) का अन्यतम उद्देश्य है···इस प्रकार के काल्पनिक मतों से सांख्यशास्त्र कदर्थित हो गया है। प्रकृति-निवृत्ति के व्याख्यान में इस विषय का स्पष्टीकरण द्रष्टव्य है। विवेकख्याति जब तक उत्पन्न न हो तब तक इष्ट-अनिष्ट रूप से गुणविकार का ज्ञान होता रहता है, जिससे ज्ञान में द्रष्टा की प्रतीति अभिन्नवत् होती रहता है—यही सांख्यीय दृष्टि है। प्रकृति की निवृति=प्राकृत उपाधि का अव्यक्तीभाव होना। सत्त्वरजस्तमः रूप प्रकृति का पुरुष से वियुक्त होना रूप निवृत्ति असांख्यीय चिन्ता है। देश-कालातीत अव्यक्त प्रकृति का वास्तव वियोग क्या भव है? ईदृश स्थलों में प्रकृति का अर्थ 'प्राकृत विकार' है जो प्रकरण के अनुसार ग्राह्य या ग्रहण या ग्रहीता होता है ॥४४॥

वैराग्यात्प्रकृतिलयः संसारो भवति राजसाद्रागात् ।
ऐश्वर्यादविघातो　　विपर्ययात्तद्विपर्यासः ॥४५॥

(१) "वैराग्यात् प्रकृतिलयः"–इति। पुरुषतत्त्वानभिज्ञस्य वैराग्यमात्रात् प्रकृतिलयः; प्रकृतिग्रहणेन प्रकृतिमहदहंकारभूतेन्द्रियाणि गृह्यन्ते, तेष्वात्मबुद्ध्योपास्यमानेषु लयः[1]। (२) "संसारो भवति राजसाद्रागात्" इति। राजसाद्

वैराग्य से प्रकृतिलय होता है; रजःप्रधान राग से संसरण, ऐश्वर्य से इच्छा की बाधाहीनता (इच्छासिद्धि) तथा ऐश्वर्य के अभाव (अनीश्वरता) से इच्छासिद्धि में विपर्यास होता है ॥ ४५ ॥

(१) वैराग्य से प्रकृतिलय होता है। तात्पर्य यह है कि जो पुरुष-तत्त्व-ज्ञान में अकुशल है पर वैराग्यमात्र युक्त है, वह प्रकृतिलय को प्राप्त होता है। 'प्रकृति' से अव्यक्त प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार, भूत और इन्द्रियों का ग्रहण किया गया है। ये प्राकृत तत्त्व आत्मा हैं–ऐसा समझकर इनकी उपासना करने पर उपासक (का चित्त) इन्हीं में लीन हो जाता है। (२) 'राजस (=रजोबहुल) राग से संसरण होता है'—यहाँ 'राजस' शब्द के प्रयोग से रजोगुण के दुःखहेतु होने के कारण संसार की दुःखमयता सूचित की गई है।

---

१. एतदनन्तरं 'कालान्तरेण च पुनराविर्भावः' इति वाक्यं क्वचित् पठ्यते।

इत्यनेन रजसो दुःखहेतुत्वात् संसारस्य दुःखता सूचिता। (३) "ऐश्वर्यादविघातः" इति। इच्छायाः। ईश्वरो हि यदेवेच्छति तदेव करोति। (४) विपर्ययाद् अनैश्वर्यात् तद्विपर्यासः सर्वत्रेच्छाविघात इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

---

(३) 'ऐश्वर्य (=ईश्वरता-धर्म) से अविघात अर्थात् इच्छा का घात नहीं होता, जो ईश्वर(=ईशनशक्तिमान्) होता है वह इच्छानुसार सभी कार्य कर सकता है। (४) ऐश्वर्य न होने से उसका वैपरीत्य होता है अर्थात् सर्वत्र इच्छा का हनन होता है ॥ ४५ ॥

४५वीं कारिका की व्याख्या

वैराग्य से प्रकृतिलय होता है' मत का रहस्य यह है—विषयवैराग्यबल से करणों को इतना स्थिर किया जा सकता है कि वे विषयग्रहण करने में प्रवृत्त नहीं होते। देहत्यागानन्तर ऐसे करणों से युक्त जीव पुनः स्थूल शरीर का ग्रहण नहीं करते। ऐसे जीवों के चित्त अपने उपादान में लीन हो जाते हैं। यह जानना चाहिये कि यह लीनता आत्यन्तिक लीनता नहीं है, क्योंकि उनके चित्त में व्यूत्थित होने का संस्कार रहता ही है, अतः निरोधबल का क्षय होने पर वे पुनः उपयोगी शरीर का ग्रहण करने के लिये बाध्य हो जाते हैं। यह लीन भाव कृत्रिम है। यह ज्ञातव्य है कि मन का अहंकार में लय होता है, अहंकार का बुद्धि में और बुद्धि का प्रकृति में। अहंकार आदि प्रकृतियाँ हैं (अष्टौ प्रकृतयः-तत्त्व समास-१), अतः यह लय प्रकृतिलय कहलाता है। वाचस्पति ने प्रकृतिलय में भूत और इन्द्रिय का भी जो ग्रहण किया है, वह असङ्गत है। इन्द्रिय अष्ट प्रकृति में आती ही नहीं। 'भूत' शब्द से तन्मात्र लिया जा सकता है। अतः प्रकृतिलय में 'भूत' का उल्लेख करना असंगत नहीं हैं, पर तन्मात्र में चूंकि मन का लय नहीं हो सकता (तन्मात्र मन का उपादान नहीं है) अतः प्रकृतिलय के प्रसंग में तन्मात्र का ग्रहण करना असंगत है। मूल प्रकृति में लय मुख्य प्रकृतिलय है। वाचस्पति ने 'किसका लय होता है' यह यद्यपि नहीं कहा पर इनका तात्पर्य भी उसी में है जो ऊपर कहा गया है। यहाँ मन, अहंकार, बुद्धि का ही तत्-तत् कारणों में लय अभिप्रेत (और युक्तियुक्त) है[१]। मन तन्मात्रों में तन्मय हो सकता है-समापत्ति के द्वारा; पर तन्मात्र में मन का लय नहीं हो सकता, क्योंकि मन का उपादान तन्मात्र नहीं है।

---

१. डा० गजानन शास्त्री प्रकृति से प्रकृति, महत, अहंकार, तन्मात्र, भूत, मन, और इन्द्रियों का ग्रहण करते हैं, (पृ० २३९) जो सर्वथा असंगत है। भूत को कभी भी प्रकृति नहीं माना जाता है (सांख्य में)—वाचस्पति की भी यही दृष्टि है। मन-इन्द्रियां भी प्रकृति में नहीं आती हैं।

ध्यान देना चाहिये कि प्रकृतिलय [प्रकृतौ लयः येषाम्; प्रकृतिलय शब्द द्वारा अवस्थाविशेष (प्रकृतौ लयः) भी कहा जाता है; व्यक्ति को लक्ष्य कर प्रकृतिलीन कहना संगततर है] में वैराग्य है, पर आत्मज्ञान का पर्याप्त विकास नहीं है। आत्मबोध के सम्पर्क से हीन विषयवैराग्य से कभी भी शाश्वत चित्तरोध सम्भव नहीं होता। वस्तुतः चित्तातिरिक्त पदार्थ है-यह ज्ञान यदि न हो तो अनात्मवस्तु में सम्यक् विराग भी नहीं होता-विराग की एक प्रकार की तीव्रतामात्र होती है, जो अंशतः कृत्रिम है। बौद्धविशेष का वैराग्य ईदृश दोष से ग्रस्त है, क्योंकि चित्तातिरिक्त पदार्थ उनके मत में स्वीकृत नहीं है।

प्रकृतिलयावस्था की प्राप्ति में वैराग्य प्रमुख साधन है; पर तत्त्वविषयक अज्ञान भी सहकारी हेतु है—यह भूलना नहीं चाहिये। इस प्रसंग में यह कहना आवश्यक है कि वैराग्य पथ-भ्रष्ट होकर कैवल्यविमुख न हो जाये, इस उद्देश्य से ही अभ्यास-वैराग्य रूप मार्ग के साथ अष्टाङ्ग योग का संयोजन किया गया है। इन अष्टाङ्गों से ज्ञान को दीप्ति होती है जिसके फलस्वरूप वैराग्य प्रकृतिलय का हेतु न होकर कैवल्य का हेतु बन जाता है। कैवल्यसाधक प्रकृतिलय भी है; उसमें भी वैराग्य अपेक्षित है। हम समझते हैं कि यह द्विविध प्रकृतिलय ही यहाँ कथित हुआ है[1]।

वाचस्पति ने ४४ वीं कारिकोक्त बन्ध के प्रसंग में प्राकृतिक, वैकृतिक और दाक्षिण बन्धों का उल्लेख किया है; इनमें प्रथम प्रकृतिलय भी कहलाता है। यह ४५ कारिकोक्त प्रकृतिलय में भी पुनः उक्त हुआ है। इसमें पुनरुक्तिदोष वस्तुतः नहीं है। हम समझते हैं कि ४४वीं कारिका में अविवेक और उसका फल कहे गये हैं। बन्धरूप फल के अवान्तर भेद किस प्रकार के प्राणी में किस रूप से हैं, यह वचस्पति ने पुराणवचन की सहायता से दिखाया है। ४५ वीं कारिका में भी तथैव वैराग्य आदि के फल कहे गये हैं। वैराग्य का फलभूत प्रकृतिलय है, पर यह उस सोपाधिक पुरुष को ही होता है जिनमें विपर्यय ज्ञान (पुरुषतत्त्व के विषय में अज्ञान, यथा अनात्मा में आत्मा का बोध) है।

---

१. प्राकृतिक-वैकारिक (=वैकृतिक)—बन्धन के विषय में वाचस्पति के एक 'वदतोव्याघात' दोष का उल्लेख डा० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव जी ने किया है। उनके अनुसार तत्त्ववैशारदी में कहा गया है कि भूत-इन्द्रिय के उपासक विदेहगति प्राप्त करते हैं तथा बुद्धि-अहंकार-तन्मात्रों के उपासक उन उन तत्त्वों में लीन होते हैं और वे प्रकृतिलीन कहलाते हैं (भाष्य सिद्धि, पृ० ७५)। डा० श्रीवास्तव के विचार में एक कमी है। तत्त्ववैशारदी के अनुसार प्रकृति के उपासक भी प्रकृतिलीन हैं; केवल बुद्धि अहंकारतन्मात्र के उपासक ही नहीं। तत्त्ववैशारदी के सभी संस्करणों में 'प्रकृतिलयाश्च अव्यक्त-महदहंकार···'वाक्य है (१।१९)। 'इन्द्रिय में लीन होना' आदि मत सदोष हैं, यह हम पहले ही कह चुके हैं।

'अव्यक्त प्रकृति को आत्मा समझने के कारण प्रकृति की उपासना करने' का तात्पर्य ज्ञातव्य है। आत्मा के विषय में जिसकी यह धारणा हो जाती है कि आत्मा 'शून्य' है, वही प्रकृति को ही आत्मा समझकर वैराग्यपूर्वक आत्मध्यानपरायण होता है। तथैव महत् में जिसकी आत्मख्याति होती है, वे समझते है कि चिद्रूप आत्मा वस्तुतः सर्वव्यापी है, आनन्दमय है, सर्वज्ञ सर्वशक्ति है, इत्यादि। अहंकार रूप परिच्छिन्न आत्मभाव में जिसकी अपरिणामी कूटस्थ आत्मा की ख्याति होती है, वह समझता है कि आत्मा वस्तुतः शरीरमध्यस्थ है, परिणामवान् है। इस प्रकार आत्म-सम्बन्धी एक एक प्रकार के अज्ञान से एक एक सम्प्रदाय प्रवर्तित होता है।

चित्त के किसी भी प्रकृति में लीन होने पर उस प्रकृति के स्वरूप के अनुसार तथा निरोधवल के अनुसार वह किसी एक अवच्छिन्न काल तक मृतवत् निरुद्ध अवस्था में रहता है—यह अनुमित होता है। इन्द्रियचिन्तक, भूतचिन्तक, अभिमान (=अहंकार) में जसका चित्त लीन है वह, बुद्धि में जिसका चित्त लीन है वह, अव्यक्त प्रकृति में जिसका चित्त लीन है, वह—ये सव कितने कालपरिमाण तक रुद्धावस्था में रहते हैं, इसका जो उल्लेख मिलता है (द्र० ४४ का० तत्त्वकौ० धृत वायुवाक्य) वह परिमाण यथार्थ है या नहीं—अस्मत्सदृश व्यक्ति अनुमान द्वारा इसको प्रमाणित नहीं कर सकते। इस विषय में निम्नोक्त विचार द्रष्टव्य है—शारीर भाव जिसमें प्रस्फुटित नहीं हुआ है, ऐसे भी प्राणीशरीर हैं—यह आधुनिक अनुसन्धान से पता चलता है। असंभव नहीं कि ये सव शरीर असम्यक् रूप से रुद्धान्तःकरण प्राणियों द्वारा ही अधिकृत हैं; दीर्घकाल के वाद इन शरीरों में भी शारीर धर्म प्रस्फुटित होंगे। पुरुषख्यातिहीन चित्तरोध का उल्लेख योगसूत्र में है, अन्य प्रकार का भी चित्तरोध नहीं हो सकता—ऐसा नहीं कहा जा सकता। असम्यक् रूप से चित्तरोधकारियों के जाड्यधर्मवहुलता से युक्त शरीर भी नाना प्रकार के होंगे[1]।

'संसारो भवति…'वाक्य में अवैराग्य के लिये राजसराग शब्द प्रयुक्त हुआ है। ध्यान देना चाहिये कि वैराग्य सात्त्विक रूप है और यह अवैराग्य (भाव पदार्थ) तामस रूप है, अतः राजस रूप विशेषण क्यों दिया गया—यह प्रश्न स्वाभाविक है। यदि छन्द मिलाने के लिये ही यह पद है तो 'तामसाद्रागात्' भी कहा जा सकता था, जिससे २३वीं कारिका के मत के साथ कोई विरोध भी नहीं होता। हमारी दृष्टि में संभवतः मूल का पाठ **'संसारो भवति राजसो रागात्'** है। संसार को राजस कहना साभिप्राय है। अवैराग्य से

---

१. अधुना प्रसिद्ध virus ऐसे किसी रुद्धान्तःकरण प्राणी का शरीर है—ऐसी संभावना है। चूंकि इसमें living organism के लक्षण प्रायः होते हैं, यह अपने को reproduce कर सकता है—अतः virus को किसी भौतिक-चिन्तक प्राणी का रूप-विशेष मानने में हमें कोई अयुक्तता प्रतीत नहीं होती। इस विषय का विशेष विचार प्रसंख्यानभाष्य में द्रष्टव्य है।

संसरण रूप राजस क्रिया के साथ संसर्ग गाढ-गाढतर होता है। राग राजस है, यह प्रसिद्ध है (द्र० काम एम क्रोध एप रजोगुणसमुद्भवः'आदि गीता-वाक्य) अतः भ्रम से राग को यहाँ राजस मान लिया गया है। 'राजसो रागात्' मानने की ध्वनि यह भी है कि रजः-प्रधान संसार रागहेतुक ही होता है। सत्त्वप्रधान संसार भी है जिसकी प्राप्ति में राग का प्राधान्य नहीं है। तथैव तामस संसार भी है।[1]

ऐश्वर्य=ईश्वरता=इच्छा का अनभिघात=किसी पदार्थ को स्वेच्छया परिणामित-परिचालित करने की सामर्थ्य। इस सामर्थ्य का सर्वोच्च विकाश प्रजापति में है और अभिमानी देवों में भी यह शक्ति अत्यन्त विकशित है। सृष्टिव्यापारहीन अनादि-मुक्त-चित्तोपाधि से युक्त प्राणी को योगसूत्र में जो ईश्वर कहा गया है; वह गौणदृष्टि से ही है। इसमें ज्ञान (और वैराग्य) की पराकाष्ठा है, अतः सृष्टिरूप चित्तचाञ्चल्य-प्रधान कर्म से इनका चित्त सर्वथा उपरत हो गया है। सृष्टिसंकल्प को अभिभूत करने की सामर्थ्यरूप ईश्वरता उसमें हैं—यह कहा ही जा सकता है ॥४५॥

(१) बुद्धिधर्मान् धर्मादीन् अष्टौ भावान् समासव्यासाभ्यां मुमुक्षूणां हेयोपादेयान् दर्शयितुं प्रथमतस्तावत् समासमाह—

एष प्रत्ययसर्गो विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः।
गुणवैषम्यविमर्दात् तस्य च भेदास्तु पञ्चाशत् ॥४६॥

(२) "एषः" इति। प्रतीयतेऽनेनेति प्रत्ययो बुद्धिः, तस्य सर्गः। (३) तत्र विपर्ययोऽज्ञानमविद्या; सा च बुद्धिधर्मः। (४) अशक्तिरपि करणवैकल्य-

(१) धर्म आदि आठ (सात्त्विक-तामस) भाव रूप बुद्धिधर्मों, जो यथायथ रूप से मुमुक्षुओं के लिये उपादेय और हेय हैं, को संक्षेप-विस्तार के साथ कहने के लिये पहले संक्षेपतः उनका उल्लेख किया जा रहा है—

(आठ धर्मादि बुद्धिकार्यरूप) यह प्रत्ययसर्ग विपर्यय, अशक्ति तुष्टि और सिद्धि रूप आख्या (=संज्ञा) से युक्त है। गुणों के वैषम्यजनित विमर्द (=परस्पराभिभव) से इस विपर्ययादि प्रत्ययसर्ग के पचास भेद होते हैं ॥ ४६ ॥

(२) जिससे प्रतीति (अर्थात् निश्चय) हो वह 'प्रत्यय' अर्थात् बुद्धि है; उसका 'सर्ग' अर्थात् कार्य। (३) इनमें 'विपर्यय' का अर्थ है—अज्ञान अर्थात् अविद्या (अयथाभूत ज्ञान); यह बुद्धि का धर्म (=परिणाम) ही है। (४) करणों की विकलता के कारण उत्पन्न 'अशक्ति'

१. धर्म-अधर्म, ज्ञान-अज्ञान, वैराग्य-अवैराग्य, ऐश्वर्य-अनैश्वर्य रूप परस्पर विरुद्ध पदार्थों की तरह इनके मध्यस्थ पदार्थ भी हैं, तदनुसार फल भी मिलते हैं—इस पर विचार प्रसंख्यान भाष्य में द्रष्टव्य है।

हेतुका बुद्धिधर्मं एव । (५) तुष्टिसिद्धी अपि वक्ष्यमाणलक्षणे बुद्धिधर्मावेव। (६) तत्र विपर्ययाशक्तितुष्टिपु यथायोगं सप्तानां धर्मादीनां ज्ञानवर्जमन्तर्भावः, सिद्धौ च ज्ञानस्येति ।

(७) व्यासमाह—" तस्य च भेदास्तु पञ्चाशत् " इति । कस्माद्, "गुण-वैषम्यविमर्दात्" इति । गुणानां वैषम्यमेकैकस्याधिकबलता द्वयोर्द्वयोर्वा, एकैकस्य न्यूनबलता द्वयोर्द्वयोर्वा; ते च न्यूनाधिक्ये मन्दमध्याधिकमात्रतया यथाकार्य-मुन्नीयेते । (८) तदिदं गुणानां वैषम्यम्, तेनोपमर्दः; एकैकस्य न्यूनबलस्य द्वयोर्द्वयोर्वाभिभवः । तस्मात्तस्य भेदाः पञ्चाशदिति ॥ ४६ ॥

भी बुद्धि का परिणाम ही है । वक्ष्यमाणलक्षणक 'तुष्टि' और 'सिद्धि' भी बुद्धि के परिणाम ही हैं । (६) इनमें से विपर्यय, अशक्ति और तुष्टि में ज्ञान के अतिरिक्त धर्म आदि सात बुद्धिरूपों का यथासम्भव अन्तर्भाव है और 'सिद्धि' में ज्ञान का अन्तर्भाव है। ('विपर्यय में अज्ञान का, अशक्ति में अनैश्वर्य-अवैराग्य-अधर्मों का, और तुष्टि में धर्म-वैराग्य-ऐश्वर्य का अन्तर्भाव समझना चाहिये) ।

(७) विस्तारपूर्वक प्रतिपादन के लिये कहते हैं—"उसके पचास भेद हैं" । क्यों ? गुणों के वैषम्य से उत्पन्न पारस्परिक अभिभव के कारण ।' गुणों का वैषम्य एक-एक गुण या दो-दो गुणों की अधिकता अथवा एक-एक गुण या दो दो-दो गुणों की न्यूनता । गुणों की यह न्यूनाधिकता कार्यों में उनकी अल्पता, मध्यता और अधिकांशता से समझी जाती है । (८) यही गुणों का वैषम्य है, उससे उपमर्द-अर्थात् एक-एक या दो-दो न्यून बल वाले गुणों का (अधिकबली गुणों के द्वारा) अभिभव होता है; उससे प्रत्यय सर्ग के पचास भेद हो जाते हैं । ॥४६॥

४६वीं कारिका की व्याख्या

वाचस्पति के अनुसार आठ बुद्धिरूपों का गण 'प्रत्ययसर्ग' कहलाता है । यह गण विपर्यय आदि चार नामों से भी कहलाता है । हमारी दृष्टि में यह व्याख्या अस्वारसिक है । हमारे अनुसार 'एषः' पद 'विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः के साथ अन्वित होगा । आख्या=नाम । 'प्रत्ययसर्ग' शब्द से ज्ञापित किया गया है कि विपर्ययादि (इस शास्त्र में) 'प्रत्यय' रूप हैं, संस्कार-वासना-रूप नहीं । धर्मादि आठ बुद्धिरूप 'प्रत्ययसर्ग' पदवाच्य है—यह जो प्रचलित व्याख्यान है, उसका स्वारस्य और प्रयोजन सर्वथा अस्पष्ट हैं । धर्मादि सात बुद्धिरूपों का अन्तर्भाव विपर्यय-अशक्ति-तुष्टि में है और ज्ञान में सिद्धि का है—इस प्रकार अन्तर्भाव करने का क्या प्रयोजन है, यह भी ज्ञात नहीं है । बुद्धिरूप

की प्रतिपादक कारिका के बाद ही यह कारिका क्यों नहीं कही गई, यह प्रश्न भी दु:समाधेय ही है। युक्तिदीपिका प्रचलित व्याख्या को नहीं मानती और हम युक्तिदी० की इस दृष्टि को संगत ही समझते हैं।

हमारे अनुसार धर्म आदि आठ बुद्धिरूपों का संबन्ध है—व्यक्तित्व (आजकल की भाषा में) के साथ। प्राणी में ८ प्रवणताएँ हैं, जिनके द्वारा (संस्कारत:) वे अपने को चालित करते हैं–प्रवृत्ति या निवृत्ति रूप कर्म में। प्रस्तुत ४६वीं कारिका का विषय है—उपर्युक्त कर्म में सिद्धि के उपाय को कहना (सिद्धिबाधक तत्वों के कथन द्वारा)। प्रत्ययसर्ग और आठ बुद्धिरूपों के कथन का उद्देश्य पृथक् पृथक् है–यह हमारी दृष्टि है। पूर्वोक्त आठ रूप मुख्यतया वासना-कर्माशय-संबद्ध हैं, और यह विपर्यय-अशक्ति-तुष्टि-सिद्धि नामक प्रत्ययसर्ग मनोवृत्ति, चिन्तन और सामर्थ्य से संबन्ध रखता है। विपर्यय असंगत चिन्तन-विशेष है; अशक्ति कार्य करने में करणों की अपेक्षित सामर्थ्य का अभाव है, अकर्मण्यता है; ज्ञान और सामर्थ्य रहने पर भी क्रिया को फलसिद्धि पर्यन्त ले जाने से पहले ही किसी असंगत मत के आधार पर निवृत्त हो जाना[1] तुष्टि है (इस निवृत्ति का हेतु है—किसी भ्रान्त मत पर आस्था रखना)। इष्ट का साधन सिद्धि है।

जीव की यह नित्य कामना है कि मेरी इच्छा अबाधित रहे—मुझे सदैव सफलता मिले। कब इच्छा अबाधित होती है, अभीष्टार्थ की सिद्धि होती हैं—इसका विज्ञान प्रत्यय-सर्ग का विषय है। सिद्धि के तीन ही विघातक हैं—यह सांख्यशात्र का कहना है। प्रबल-पुरुषकार-साध्य जो योगाभ्यास है, उसमें सफलतापूर्वक चेष्टा करने के लिये इस प्रत्ययसर्ग का ज्ञान सर्वथा अपरिहार्य है। सिद्धि के लिये उपयोगी यथार्थ ज्ञान चाहिये, ज्ञान के प्रयोग के लिये करणों की सामर्थ्य चाहिये तथा उचित काल तक क्रिया करते रहना चाहिये (यत: क्रियाजनित सिद्धि कालसापेक्ष अवश्य होती है)। सांख्याचार्यों ने ईदृश विषयों पर पर्याप्त विचार किया था, इसका प्रमाण गीता आदि में मिलता है।

प्रत्येक प्राणी में सामान्यतया अवस्थित होने पर भी जातिगत रूप से ये विपर्यय आदि भाव चार जातियों में विशेषत: विद्यमान हैं–यथा स्थावर जाति में विपर्यय (विपर्यास भी कहा जाता है), तिर्यक् जाति में अशक्ति, देव जाति में तुष्टि तथा मनुष्यों में सिद्धि[2]। पूर्वाचार्यों के इस कथन से विपर्यय आदि के स्वरूप का जो परिज्ञान होता है, वह इस प्रकार है—

---

१. युक्तिदी० का मुद्रित पाठ है—चिकीर्षितादूनेन निर्वृति स्तुष्टि: (का० ४६)। निर्वृति: के स्थान पर निवृत्ति: होगा। इसी स्थल में 'मुख्यस्रोतसो देवा: प्रादुर्बभूवु:' पाठ है। देवा: के स्थान पर नगा: होगा।

२. द्र० वायु० ६।५७-६९, मार्क० ४७।२८-२९। श्रीधर कृत विष्णु १।५।२२ की टीका में वायु० के श्लोक उद्धृत किये गये हैं (ईषत् पाठभेद के साथ)।

प्राणी शरीर, कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय तथा अन्तःकरण का समष्टिभूत है। प्राणियों की एक जाति ऐसी है जिसमें शारीर धर्म ही प्रधानतम है, उनमें इन्द्रियों के व्यापार रुद्धप्राय रहते हैं। यह एक प्रकार है, जिसके उदाहरण हैं—पञ्चविध स्थावर रूप प्राणी। प्राणी की एक अन्य जाति ऐसी है जिसमें इन्द्रिय-व्यापार अवश रूप से चलता है और अन्तःकरण अल्प विकशित है। तिर्यक् जाति इसका उदाहरण है। तिर्यक् प्राणी इन्द्रिय-कार्य पर प्रायः कुछ भी नियन्त्रण नहीं रख सकते, वे अनागत बाधा या विपत्ति को पूर्व से जान कर उसका प्रतीकार बहुत कम मात्रा में ही कर सकते हैं। किंच तिर्यक् प्राणियों में इन्द्रियों की शक्ति का विभाग अत्यन्त विषम है—किसी की घ्राणशक्ति अतिप्रबल है, किसी की दृष्टिशक्ति, पर अन्यान्य इन्द्रियाँ उसी रूप से विकशित न होने के कारण वे इन्द्रियव्यापार द्वारा कोई उच्चस्तरीय कार्य नहीं कर सकते, जैसा मनुष्य कर सकते हैं। प्राकृतिक परिवर्तन के अनुसार तत्काल ही अपने को बचाने के उपायों का ज्ञान भी तिर्यक् प्राणियों में अल्प है—फलतः अत्यधिक बाधाप्राप्त होते रहने के कारण तिर्यक् प्राणियों में अशक्ति मुख्यरूपेण है—यह लक्षित होता है।

प्राणी की एक ऐसी जाति है जिसमें इन्द्रियाँ अत्यन्त विकशित हैं, शरीर भी इन्द्रिय-कर्म के उपयोगी है, पर अन्तःकरण का विकाश ऐसा है कि उस पर आधिपत्य नहीं होता। इस जाति में पुरुषकार का प्रयोग करने की स्वतन्त्रता नहीं है या अत्यल्प है, और मनमें सदैव भोग-लाभ-जनित (कृत्रिम) तृप्ति है। देव जाति इसका उदाहरण है।

प्राणी की एक ऐसी भी जाति है जिसमें अन्तःकरण, बाह्यकरण और शरीर का विकाश ऐसा समन्वित है जो बहुत दूर तक पुरुषकार का प्रयोग कर सकता है, विचार पूर्वक प्रवृत्ति पर नियन्त्रण कर सकता है और सामान्यतया कर्महीन होकर रहना नहीं चाहता। मनुष्यजाति इसका प्रमुख उदाहरण है।

प्रतीत होता है कि व्यावहारिक स्वभाव को देखकर जीवों को इन चार भागों में बाँटा गया था—विपर्ययप्रधान, अशक्तिप्रधान, तुष्टिप्रधान और सिद्धिप्रधान। ये चार भाव प्रत्येक प्राणिजाति में हैं[1] ॥४६॥

---

१. पूर्वाचार्यों का कहना है कि विपर्यय के पाँच भेद हैं, अतः उद्भिद् जाति भी पाँच प्रकार की है; अशक्ति २८ प्रकार की हैं, अतः तिर्यक् जाति के भी २८ भेद हैं; तुष्टि नौ प्रकार की है, अतः देवजाति के ९ अवान्तर भेद हैं। सिद्धि अष्टधा है—मनुष्य जाति के भी ८ अवान्तर भेद हैं। इस मत के साथ 'अष्टविकल्पो दैवः' 'मानुष्यश्चैकविधः' (का० ५३) की असंगति स्पष्ट है। प्रसंख्यानभाष्य में इस विषय का विशदीकरण द्रष्टव्य है। अधुना प्रचलित प्राण-संबन्धी जो विकाशवाद हैं, उसके विद्वानों को यह विषय विशेषतया देखना चाहिये। इन विद्वानों में jumping into a conclusion रूप जो न्यायदोष दृष्ट होता है, वह सांख्यीय विचार की सहायता से अपाकृत हो सकता है। प्रचलित विकाशवाद के कुछ अंश सांख्यीय दृष्टि के विरोधी नहीं हैं।

(१) तानेव पञ्चाशद्भेदान् गणयति—

पञ्च विपर्ययभेदा भवन्त्यशक्तिश्च करणवैकल्यात् ।
अष्टाविंशतिभेदा तुष्टिर्नवधाऽष्टधा सिद्धिः ॥४७॥

(२) "पञ्च" इति । अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशा यथासंख्यं तमो-मोह-महामोहतामिस्रान्धतामिस्रसञ्ज्ञकाः पञ्च विपर्ययविशेषाः, विपर्ययप्रभवणामप्य-स्मितादीनां विपर्ययस्वभावत्वात् । (३) यद्वा यदविद्यया विपर्ययेणावधार्यते वस्तु, अस्मितादयस्तत्स्वभावाः सन्तस्तदभिनिविशन्ते । (४) अत एव "पञ्च-पर्वाऽविद्ये" त्याह भगवान् वार्षगण्यः ॥ ४७ ॥

---

(१) अब इन्हीं पचास भेदों को गिना रहे हैं—

'विपर्यय' के पांच भेद हैं; करणों की विकलता के कारण 'अशक्ति' के अट्ठाईस भेद हैं । 'तुष्टि' के नौ भेद और 'सिद्धि' के आठ भेद होते हैं ॥ ४७ ॥

(२) अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश, जो यथाक्रम तमः, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र, इन नामों से प्रसिद्ध हैं, पाँच विपर्यय (=अज्ञान) के भेद हैं, क्योंकि ये अस्मिता आदि चार विपर्ययों से जात होते हुये भी उसी के स्वभाव के होते हैं (लाक्षणिक दृष्टि से विपर्ययजन्य अस्मिता आदि को विपर्यय कहा गया है) । (३) अथवा अविद्या से जो वस्तु विपर्यय (=विपरीतता=अयथारूप) से जानी जाती है, अस्मिता आदि भी अविद्यास्वभाव के होने के कारण उस वस्तु को विपरीत रूप से निश्चित करते हैं (अतएव अस्मिता आदि का विपरीत स्वभाव वाला होना मुख्य दृष्टि से ही सिद्ध होता है) । (४) इसलिये भगवान् वार्षगण्य ने कहा है—'अविद्या पांच प्रकार की होती है) ॥ ४७ ॥

४७वीं कारिका की व्याख्या

वाचस्पति के अनुसार विपर्यय के पाँच भेद वे ही हैं जो योगदर्शनोक्त पांच क्लेश (२।३-९) हैं- अविद्या (तमः), अस्मिता (मोह), राग (महामोह), द्वेष (तामिस्र) तथा अभिनिवेश (अन्धतामिस्र) । यद्यपि अस्मिता आदि का स्वरूप अविद्या से भिन्न है, तथापि चूंकि अस्मिता आदि का निमित्तकारण अविद्या है, और वे विपर्यय-स्वभावक हैं, अतः वे विपर्यय कहलाते हैं । अस्मितादि गौण विपर्यय हैं । दूसरी दृष्टि यह भी है कि अविद्या के द्वारा अयथार्थ रूप से जिस वस्तु का ग्रहण होता है, अस्मिता आदि क्लेश भी उसको उसी रूप से अपना विषय बना लेते हैं, अतः अस्मितादि विपर्यय कहलाते हैं । कुछ लोग यह मानते हैं कि अस्मितादि विपर्ययरूप नहीं हैं, विपर्ययजन्य हैं—पर यह दृष्टि एकदेशी है ।

यदि योगसूत्रोक्त पञ्च क्लेश ही पाँच विपर्यय हैं, तो योगसूत्रोक्त क्लेशविषयक अन्यान्य मत भी स्वीकार्य ही होंगे। योगदर्शन के अनुसार विपर्ययज्ञान की वासना ही मुख्य अविद्या है, जो अस्मिता आदि चार क्लेशों की प्रसवभूमि है। अविद्या के चार लक्षणों में एक एक लक्षण एक एक क्लेश में प्रधानरूपेण रहता है। अनित्य में नित्यख्याति अभिनिवेश में; अशुचि में शुचिख्याति द्वेष में; दुःख में सुखख्याति राग में; अनात्मा में आत्मख्याति अस्मिता में। योगदर्शन में 'क्लेश' साधारण मिथ्याज्ञान या भ्रान्ति नहीं है—यह क्लेश, कर्माशय आदि से सम्बन्धित सूत्रों को देखने से ज्ञात होता है। परमार्थ-विषयक अज्ञान का संस्कार या वासना क्लेश है-यह कहना सर्वथा समीचीन है।

कारिका का विपर्यय प्रत्ययसर्गान्तर्गत है; अतः इसका सम्बन्ध चित्तवृत्ति या ज्ञान के क्षेत्र से ही है- संस्कार-वासना के क्षेत्र से इसका साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। विपर्यय अयथार्थ ज्ञानमात्र है—यह हमारा मत है। क्लेश परमार्थविषयक अज्ञान है, जो दुःखोत्पत्ति के मूल कारणों से संबन्धित है।

अविद्या आदि पांच क्लेशों (योगसूत्रीय) को उसी रूप में प्रत्यय-सर्गान्तर्गत मानने में एक बाधा है। प्रत्ययसर्ग नाम से ध्वनित होता है कि ये 'वृत्ति' या 'ज्ञान' के क्षेत्र के हैं; वस्तुतः ये 'अभीष्ट अर्थ के साधन के उपाय तथा अभीष्ट अर्थ की सिद्धि' रूप ही हैं। इस दृष्टि से विपर्यय आदि को उनके योगदर्शनोक्त रूपों में ही लेना कुछ कठिन है, क्योंकि योगसूत्र के क्लेश संस्कार रूप भी हैं, जो कर्माशय के मूल में हैं। हम समझते हैं कि सांख्यकारिका में विपर्यय को वृत्ति के रूप में लेना ही पर्याप्त होगा-संस्काररूप में लेना अनावश्यक है। योगसूत्रीय क्लेश कर्माशय का हेतु है तथा यह परमार्थविषयक ही है अर्थात् परमार्थज्ञान का प्रतिपक्ष है; प्रत्ययसर्गगत जो विपर्यय है, वह व्यवहारसिद्ध्यर्थ हैं। हम पुनः यह कहना चाहेंगे कि 'सिद्धि' की प्रकृति के अनुसार विपर्यय का स्वरूप निर्धारणीय है; सिद्धि का स्वरूप हमारे लिये सर्वथा स्पष्ट नहीं है ॥४७॥

(१) सम्प्रति पञ्चानां विपर्ययभेदानामवान्तरभेदमाह—

भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च दशविधो महामोहः ।
तामिस्रोऽष्टादशधा तथा भवत्यन्धतामिस्रः ॥४८॥

---

(१) अब अविद्या के पाँच भेदों के अवान्तर भेद (=अन्तर्गत विशेष) कहते हैं :—

तमः के आठ भेद, मोह के आठ भेद, महामोह के दस भेद और अन्धतामिस्र के अठारह भेद होते हैं ॥ ४८ ॥

(२) "भेदः" इति। भेदस्तमसोऽविद्याया, अष्टविधः, अष्टस्वव्यक्तमहद-हङ्कार-पञ्चतन्मात्रेष्वनात्मबुद्धिरविद्या तमः, अष्टविधविषयत्वात्तस्याष्टविध-त्वम्।

(३) "मोहस्य च" इति। अत्राप्यष्टविधो भेदश्चकारेणानुषज्यते। देवा ह्यष्टविधमैश्वर्यमासाद्यामृतत्वाभिमानिनोऽणिमादिकमात्मीयं शाश्वतिकमभि-मन्यन्ते। सोऽयमस्मिता मोहोऽष्टविधैश्वर्यविषयत्वादष्टविधः।

(४) "दशविधो महामोहः" इति। शब्दादिषु पञ्चसु दिव्यादिव्यतया दशविधविषयेषु रञ्जनीयेषु राग आसक्तिर्महामोहः, स च दशविधविषयत्वाद् दशविधः।

(५) तामिस्रो द्वेषोऽष्टादशधा। शब्दादयो दश विषया रञ्जनीयाः स्वरूपतः, ऐश्वर्यं त्वणिमादिकं न स्वरूपतो रञ्जनीयम्; किं तु रञ्जनीयशब्दाद्युपायाः। (६) ते च शब्दादय उपस्थिताः परस्परेणोपहन्यमानास्तदुपायाश्चाणिमादयः

---

(२) तमः अर्थात् अविद्या के आठ प्रकार होते हैं। अनात्म-स्वरूप प्रकृति, महान्, अहंकार और पञ्च तन्मात्रों में आत्मबुद्धि 'अविद्या' या 'तमः' कहलाती है। अपने विषयों (अव्यक्त, महान्, अहङ्कार और पांच तन्मात्र) के अष्टविध होने के कारण यह अविद्या आठ प्रकार की है। (३) 'मोहस्य च' इस वाक्य में प्रयुक्त 'च' पद के द्वारा अष्टविध भेद का अनुकर्षण मोह के साथ किया गया है। देवगण आठ प्रकार का ऐश्वर्य (अणिमा आदि) प्राप्त कर अपने अमरत्व का अभिमान (=मिथ्याज्ञान) करते हुए इन अणिमा आदि ऐश्वर्यों को आत्मसम्बद्ध और चिरस्थायी मानते हैं। यही 'अस्मिता' या 'मोह' है। इसका विषय अष्टविध ऐश्वर्य (=विभूति) है, अतः यह मोह भी आठ प्रकार का होता है।

(४) 'महामोह दस प्रकार का होता है'। दिव्य और अदिव्य (=लौकिक=साधा-रणजनवेद्य) रूप से दशविध होने वाले शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धरूप पांच रञ्जनीय (=रागोत्पादक)विषयों में राग या आसक्ति 'महामोह' है। अपने विषय के दशविध होने के कारण यह महामोह भी दस प्रकार का है। (५) द्वेष'तामिस्र' है, जो अठारह प्रकार का है। शब्द आदि (दिव्य-अदिव्य भेद से) दशविध विषय स्वरूप से ही रागोत्पादक हैं। पर अणिमा आदि ऐश्वर्य स्वरूपतः (=साक्षात्) रागोत्पादक नहीं, किन्तु रागोत्पादक शब्द आदि के उपाय हैं। (६) शब्द आदि विषय भोग्य रूप में उपस्थित होने पर एक-दूसरे से उप-हत होने के कारण (यथा—शब्द से स्पर्श और स्पर्श से शब्द का उपघात होना) उनके उपाय-भूत अणिमा आदि साक्षात् (=स्वरूपतः) क्रोध के विषय होते हैं। इस प्रकार (कोपनीय) शब्द आदि दस विषयों के साथ अणिमा आदि ऐश्वर्य मिलकर अठारह हो जाते हैं। इनमें

स्वरूपेणैव कोपनीया भवन्तीति शब्दादिभिर्दशभिः सहाणिमाद्यष्टकमष्टादशधेति, तद्विषयो द्वेषस्तामिस्रोऽष्टादशविषयत्वादष्टादशधेति ।

(७) "तथा भवत्यन्धतामिस्रः" । अभिनिवेशोऽन्धतामिस्रः, त्रासः[1] । तथेत्यनेनाष्टादशधेत्यनुषज्यते । देवाः खल्वणिमादिकमष्टविधमैश्वर्यमासाद्य दश शब्दादीन् विषयान् भुञ्जानाः 'शब्दादयो भोग्यास्तदुपायाश्चाणिमादयोऽस्माकमसुरादिभिर्मास्मोपघानिषते'ति बिभ्यति । (८) तदिदं भयमभिनिवेशोऽन्धतामिस्रोऽष्टादशविषयत्वादष्टादशधेति । (९) सोऽयं पञ्चविधविकल्पो[2] विपर्ययोऽवान्तरभेदाद् द्वाषष्टिरिति ।।४८।।

होने वाले द्वेष 'तामिस्र' हैं, जो अपने विषय के अठारह भेद होने के कारण स्वयं भी अठारह प्रकार का है ।

(७) 'अन्धतामिस्र' भी उसी प्रकार का होता है । अन्धतामिस्र अभिनिवेश=त्रास (अर्थात् अनिष्ट के आविर्भाव से भय का बोध) है । 'तथा' पद से इसके 'अष्टादशधा' अर्थात् 'अठारह प्रकार का होना' ज्ञात होता है । अणिमा आदि आठों ऐश्वर्यों को प्राप्त कर देवगण दस प्रकार के शब्दादिविषयों का भोग करते हुए यह सोचकर डरते रहते हैं कि हमारे शब्द आदि भोग तथा उनकी प्राप्ति के अणिमा आदि उपाय असुरों द्वारा विघ्नित न कर दिये जायँ । यही भय अभिनिवेश है, जो 'अन्धतामिस्र' कहलाता है । यह अपने विषय के अठारह प्रकार के होने से स्वयं भी अठारह प्रकार का होता है । इस प्रकार यह पञ्चविध विपर्यय अपने अवान्तर भेदों के कारण बासठ प्रकार का होता हैं ।। ४८ ।।

४८वीं कारिका की व्याख्या

तमः मोह आदि पांच क्लेशों (विपर्यय) के जो भेद यहाँ कहे गये हैं, वे इन पदार्थों के स्वगत गुणों के अनुसार नहीं हैं , बल्कि इनके विषयों के अनुसार हैं—यह वाचस्पति कहते हैं । जब तक सांख्यीय प्राचीन व्याख्यान न मिले तब तक इस विषय में हम कुछ नहीं कह सकते ।

वाचस्पति कहते हैं कि अविद्या (तमः) के भेदों का अर्थ है—अष्ट प्रकृतियों (अनात्मपदार्थों) में आत्मख्याति । वाचस्पति 'अनात्मा में आत्मख्याति' को तमः का स्वरूप कहते हैं । इससे स्पष्ट है कि 'अत्यन्तविरुद्ध किन्हीं दो पदार्थों का एक में अन्य का आरोप' यह अविद्या या तमः का लक्षण है—ऐसा वाचस्पति नहीं समझते हैं ।

---

१. त्रास इति क्वचिन्न पठ्यते ।
२. पञ्चविकल्पः इति कैश्चित् पठ्यते ।

उसी प्रकार 'अप्टविध ऐश्वर्य के प्रति देवों का जो अभिमान है' उसको ही वाचस्पति अप्टविध मोह समझते हैं। 'अशाश्वत को शाश्वत मानना मोह है' ऐसी दृष्टि वाचस्पति की नहीं है। इसी प्रकार शब्दादि पञ्च विषयों के जो दश भेद हैं (दिव्य-अदिव्य विभाग अनुसार) उन पर जो आसक्ति है, वही महामोह है; यह वाचस्पति कहते हैं। अतः वे महामोह को सुखानुशयी राग मात्र नहीं समझते। १० विषय और ८ ऐश्वर्य इन अठारह पदार्थों से सम्बन्धित जो द्वेष है (जैसा कि वाचस्पति ने दिखाया है) वही तामिस्र है। तथैव इन १८ पदार्थों से सम्बन्धित जो भय है वही अन्ध तामिस्र है—यह वाचस्पति कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि वाचस्पति तामिस्र को द्वेषमात्र तथा अन्धतामिस्र को अभिनिवेश मात्र नहीं समझते। युक्तिदीपिकाकार की व्याख्या भी वाचस्पति की व्याख्या की अनुरूप है। जब तक प्राचीन व्याख्या न मिले तब तक हम इस विषय में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कह सकते। वाचस्पति की व्याख्या हमारी दृष्टि में सन्दिग्ध है। एक उदाहरण लें। दिव्य और अदिव्य भेद से दशःविध जो शब्दादि विषय हैं उन पर आसक्ति महामोह है—यह वाचस्पति कहते हैं। शब्दादि बाह्य विपय ही हैं; यदि आन्तरविपय में (जिसमें शब्दादि नहीं हैं) किसी को आसक्ति हो तो क्या वह महामोह या राग नहीं होगा ? तथैव मोह (अस्मिता) क्या ऐश्वर्य-विषयक ही होता है ?

अष्ट प्रकृति रूप अनात्मा में आत्मबुद्धि तमः (अविद्या) है। इस विषय में कुछ बातें स्पष्टीकरणोय हैं। यथा—(१) अष्टप्रकृति में अव्यक्त, महत्, अहंकार और पांच तन्मात्र आते हैं। अव्यक्त असंवेद्य है, अतः उसमे आत्मबुद्धि (मैं अव्यक्त हूँ—इस प्रकार का मनोभाव) कैसे सम्भव है-यह न वाचस्पति समझाते है और न उनके व्याख्याकार। (२) तन्मात्र इन्द्रियग्राह्य विषय है- अतः उसमें आत्मबुद्धि कैसे हो सकती है ? शरीर में आत्मबुद्धि का तो होना सम्भव है-पर इन्द्रिय-शरीर-बाह्य तन्मात्र में आत्मबुद्धि की सम्भवना कैसे है—यह वाचस्पति ओर उनके टीकाकारों को दिखाना चाहिये था। तन्मात्र में आत्मबुद्धि यदि सम्भव हो तो पञ्चभूतों में भी आत्मबुद्धि होने की पूर्ण सम्भावना रहती है। भले ही प्रकृति में भूत न अन्तर्गत हो, पर भूत में आत्मबुद्धि होती है-इस मत का प्रतिपादन तो किसी व्याख्याकार को करना चाहिये था अथवा यह कह देना चाहिये था कि तन्मात्रों में ही आत्मबुद्धि होती है, भूतों में नहीं। तन्मात्र भूत का उपलक्षण हैं—यह यहां नहीं जा सकता। इन विषयों पर विशद विचार के लिये प्रसंख्यान भाष्य द्रष्टव्य है ॥४८॥

(१) तदेवं पञ्चविपर्ययभेदानुक्त्वाऽष्टाविंशतिभेदामशक्तिमाह—

एकादशेन्द्रियवधाः सह बुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा।
सप्तदश वधा बुद्धेर्विपर्ययात्तुष्टिसिद्धीनाम् ॥४९॥

(२) "एकादश" इति। इन्द्रियवधस्य ग्रहो बुद्धिवधहेतुत्वेन, न त्वशक्तिभेदपूरणत्वेन। (३) एकादशेन्द्रियवधाः—

वाधिर्यं कुष्ठिताऽन्धत्वं जडताऽजिघ्रता तथा।
मूकता कौण्यपङ्गुत्वे क्लैव्योदावर्त्तमन्दताः ॥

यथासंख्यं श्रोत्रादीनामिन्द्रियाणां वधाः। (४) एतावत्येव तु तद्धेतुका बुद्धेरशक्तिः स्वव्यापारे भवति। तथा चेकादशहेतुकत्वादेकादशधा बुद्धेरशक्तिरुच्यते। (५) हेतुहेतुमतोरभेदविवक्षया च सामानाधिकरण्यम्।

(६) तदेवमिन्द्रियवधद्वारेण बुद्धेरशक्तिमुक्त्वा स्वरूपतोऽशक्तीराह– "सह

---

(१) इस प्रकार विपर्यय के पाँचों भेदों का कथन करके अब कारिकाकार 'अशक्ति' के अट्ठाईस भेद कहते हैं :—

एकादश इन्द्रियवध (११ इन्द्रियों के नाशक ११ दोष) और बुद्धि के अपने स्वरूपगत उपघात–ये दो पदार्थ अशक्ति के रूप में कथित हुए थे। बुद्धि के अपने उपघात १७ हैं, जिनमें ९ तुष्टि के विपर्यय हैं और आठ सिद्धि के (इस प्रकार ११+१७=२८ अशक्तिभेद होते हैं ॥ ४९ ॥

(२) बुद्धिवधों के हेतु होने के कारण इन्द्रियवधों का ग्रहण किया गया है (अतः बुद्धिवध ग्यारह हैं-ऐसा समझना चाहिये)। इन्द्रियवध को अशक्ति के २८ भेदों की पूर्ति के लिये नहीं कहा गया है। (३) ग्यारह इन्द्रियवध ये हैं—वधिरता, कुष्ठरूप चर्मरोग, अन्धत्व, स्वादों का ज्ञान न होना, मूकता, हाथ की विकलता, पैर की विकलता, क्लीवता, गुदा-दोष (मलादिनिःसरण रोधक रोग) तथा विक्षिप्तता—ये क्रमशः श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, नासिका, वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ, पायु, तथा मन के वधरूप दोष हैं। (४) अपने अध्यवसाय रूप कार्य में बुद्धि की इन्द्रियदोषों से उत्पन्न अशक्ति भी ग्यारह प्रकार की होती है। (५) कारणभूत इन्द्रियवध और उसके कार्यभूत बुद्धिवध का समानाधिकरण रूप से जो कथन (=अभिन्न प्रतिपादन) है, वह हेतु और हेतुमान् में अभेद की कल्पना से है (कार्य और कारण की अभेदविवक्षा से इन्द्रियवध को बुद्धि की अशक्ति कही गई है)।

(६) इस प्रकार इन्द्रियवध (=इन्द्रिय की विकलता या अकर्मण्यता) के द्वारा उत्पन्न बुद्धि की अशक्ति को कहकर स्वरूपतः (=स्वकीय धर्मविशेष के अनुसार) अशक्तियों

बुद्धिवधै"रिति। (७) कति बुद्धेः स्वरूपतो वधा इत्यत आह—"सप्तदश वधा बुद्धेः"। कुतः—"विपर्ययात्तुष्टिसिद्धीनाम्"। तुष्टयो नवधेति तद्विपर्ययास्तन्निरूपणान्नवधा[1] भवन्ति। एवं सिद्धयोऽष्टाविति तद्विपर्ययास्तन्निरूपणादष्टौ भवन्तीति ॥४६॥

को कहते हैं—"बुद्धियों के साथ"। (७) स्वरूपतः बुद्धि के कितने दोष हैं—इसके लिये कहते हैं—"बुद्धि के सत्रह दोष हैं"। किस रूप से? "तुष्टि और सिद्धियों के विपर्यय के कारण"। तुष्टि नौ प्रकार की होती है, इसलिये उनके विपर्यय रूप अतुष्टि भी तुष्टि-भेदों से निरूपित होने के कारण (प्रत्येक तुष्टि का पृथक् पृथक् प्रतिवन्धक रूप) नौ प्रकार की होती है। इसी प्रकार सिद्धि आठ प्रकार की होती हैं, इसलिये उसकी विपर्ययरूपा असिद्धियाँ भी सिद्धिभेदों से निरूपित होने के कारण एक एक शक्ति की प्रतिबन्धक एक एक अशक्ति होती है। इस प्रकार आठ अशक्तियाँ होती हैं। [प्रतियोगी की संख्या के अनुसार अभाव की संख्या मानी जाती है। यहाँ तुष्टि-सिद्धि-रूप प्रतियोगी सत्तरह हैं, अतः तन्निरूपित विपर्यय भी १७ ही होंगे-यह युक्ति है] ॥ ४६ ॥

४९वीं कारिका की व्याख्या

सिद्धि के बाधक या निवारक तत्त्व अशक्ति (अकर्मण्यता, यथोपयोगी शक्ति का न होना; सर्वथा शक्त्यभाव नहीं; इन्द्रियों की शक्ति का अत्यन्त नाश संभव नहीं है; अन्ध भी तीव्र शक्तिशाली आलोक को देख सकता है—यह ज्ञातव्य है) है। यह अशक्ति जीव के प्रत्येक करण में हो सकती है—यह स्पष्ट है। आसन, प्राणायाम, आदि द्वारा अशक्ति का दूरीकरण किया जा सकता है (योगानुकूलता की दृष्टि से)।

इस इन्द्रियवध का संबंध केवल शारीर यन्त्ररूप इन्द्रियाधिष्ठान से ही नहीं है, जैसा कि वाचस्पति आदि समझते हैं। आहंकारिक इन्द्रिय में अनभीष्ट जड़ता-वृद्धि या चाञ्चल्यवृद्धि से भी वध (=अकर्मण्यता) उत्पन्न होता है। इन्द्रियों की अपटुता से अध्यवसाय रूप व्यापार का विपर्यास हो जाता है—यह ज्ञातव्य है। यही कारण है कि इन्द्रियवध को बुद्धिवध के अन्तर्गत माना गया है। इन्द्रियदोष-जनित जो भ्रम उत्पन्न होता है, वह इस अशक्तिक्षेत्र का ही विषय है—यह ज्ञातव्य है।

तुष्टि सिद्धि की निवारक है (का० ५१); अशक्ति भी सिद्धि की निवारक है। इस कारिका में तुष्टिविपर्यय को अशक्ति का अन्तर्गत माना गया है; अर्थात् तुष्टि और तुष्टि-

---

१. निरूपणात् तत्प्रतियोगिकत्वात् नवधा इति कैश्चित् पठ्यते।

विपर्यय (तुष्टिविरोधी भाव)—दोनों सिद्धि के निवारक तत्त्व हैं। सिद्धिविपर्ययरूप अशक्ति सिद्धि की निवारक ही हो सकती है—इसमें कोई संशय नहीं है। तुष्टिविरोधी भाव किस रूप से सिद्धिविरोधी होता है—यह ज्ञातव्य है। प्रकृतितः (=वस्तुस्वभाव से) सब कुछ सिद्ध होते हैं–प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं है—यह एक तुष्टि है। प्रकृति की अपेक्षा कथमपि नहीं करनी है, सब कुछ स्वकर्म द्वारा ही साध्य होते हैं—यह एक तुष्टिविपर्यय[1] है अर्थात् यह एक 'अशक्ति' है और सिद्धि का परिपन्थी है। अन्यान्य तुष्टियों में भी ईदृश विचार करणीय है। बाह्य तुष्टि की विरोधी अतुष्टि का उदाहरण लें। विषयार्जन में दोष देखकर विषय के प्रति वैराग्य (तत्त्वज्ञान से हीन होने के कारण यह वैराग्य कृत्रिम है) होना, जिससे निवृत्ति होती है, एक बाह्य तुष्टि है। इसकी विपरीत अतुष्टि होगा—अर्जन में दोष देखकर भी अर्जन के प्रति अनुरक्त होना। यह भी सिद्धि की विरोधिनी है, यह स्पष्ट है।

आठ सिद्धियों के विरुद्धभाव अशक्ति कहलाते हैं और ये अशक्तियाँ सिद्धि की अंकुशरूप हैं (का० ५१)—यह कहा गया है। इस पर यह प्रश्न होता है कि सिद्धि के विरोधी जो हैं वे तो स्वतः सिद्धि के अंकुश होंगे—इसके लिए पृथक्कर कहने की क्या आवश्यकता है? प्रत्ययसर्ग के प्राचीन व्याख्यान के बिना अशक्ति, तुष्टि और उनके विरुद्धभावों का यथार्थ स्वरूप जानना संभव नहीं है—हमें इनका प्राचीन व्याख्यान ज्ञात नहीं है।

तुष्टिविपर्यय के विषय में उपहासास्पद व्याख्या डा० व्रजमोहन की है। वे कहते हैं—(१) तुष्टि और सिद्धि की असफलता अशक्ति है। (२) जिसकी बौद्धिक क्षमता जितनी अधिक है उसे उतनी ही अधिक तुष्टियाँ और सिद्धियाँ मिलती हैं। (३) नौ प्रकार की तुष्टियों के विपरीत नौ प्रकार अतुष्टियाँ हैं। प्रधान नहीं है—यह प्रकृतितुष्टि की विपरीत एक अतुष्टि है (पृ० १६६)। इन मतों की असंगति यहाँ दिखाई जा रही है। (१) सिद्धि की असफलता को अशक्ति कहा गया है, पर कारिकाकार अशक्ति को सिद्धि की विरोधिनी कहते हैं। अशक्ति सिद्धि की असफलता भी है और सिद्धि को विरोधिनी भी है !! (२) डा० व्रजमोहन सिद्धि को 'ज्ञानप्राप्ति' (पृ० १५७), 'परम पुरुषार्थ की निष्पत्ति' (पृ० १५९) कहते हैं। उनके अनुसार सिद्धि की प्राप्ति बौद्धिकक्षमतासापेक्ष है। कारिका जब तुष्टि को सिद्धिविरोधिनी कहती है, तब यह कैसे कहा जा सकता है कि दो विरुद्ध पदार्थों की प्राप्ति एक ही हेतु से होती है? (३)

---

१. डा० मुगलगांवकर तुष्टिविपर्यय को तुष्टि का अभाव समझते हैं। हमारी दृष्टि में विपर्यय= विपरीत हैं। यह विपरीतता कैसी है—यह उदाहरणों से स्पष्ट किया गया है। तुष्टिविपर्यय यदि तुष्टि का अभाव है तो वह किस प्रकार से सिद्धि का अंकुश (=निवारक) होता है—यह दिखाना होगा।

डा० व्रजमोहन प्रकृतितुष्टि का विवरण इस प्रकार देते हैं—अपने विकासक्रम में प्रकृति स्वतः विवेकज्ञान करा देगी·········यह प्रकृतिनामक तुष्टि है (पृ० १६८)। डा० व्रजमोहन के अनुसार इस प्रकृतितुष्टि की विपरीत अतुष्टि इस प्रकार होगी—प्रधान (=मूलप्रकृति) नहीं है—इस प्रकार की प्रतीति (पृ० १६६)। क्या यह कहना तर्कसंमत है कि 'प्रकृति ही विवेकज्ञान करा देगी' इसका विपरीत है—'प्रकृति नहीं है'।

सारबोधिनी के अनुसार 'नास्ति प्रधानम्' 'नास्ति महत्तत्त्वम्' 'नास्ति अहंकारः' 'नैव सन्ति तन्मात्राणि'—ये चार आध्यात्मिक तुष्टियों के विपर्यय हैं। प्रकृति-उपादान-काल और भाग्यरूप चार तुष्टियों के विपर्यय उपर्युक्त चार कभी भी नहीं हो सकते। उपादान-काल-भाग्य के साथ महत्-अहङ्कार-तन्मात्र का सम्बन्ध किसी भी रूप से जोड़ा नहीं जा सकता। सारबोधिनी की यह व्याख्या सर्वथा हेय है।

सिद्धिविपरीत असिद्धि की व्याख्या में भी डा० व्रजमोहन की व्याख्या न्याय-दोषग्रस्त है। "सिद्धि के ठीक विपरीत उल्टा असिद्धि है" (पृ० १६६) यह कहकर वे अध्ययनरूप सिद्धि की विपरीत असिद्धि का विवरण इस प्रकार देते हैं—"विना अध्ययन के ही किसी तत्त्व का आविर्भाव" (अत्रैव)। इसमें असिद्धि क्या है? सिद्धि यदि ज्ञानप्राप्ति या परमपुरुषार्थ की निष्पत्ति हो तो असिद्धि 'अप्राप्तिविशेष' तथा 'अनिष्पत्तिविशेष' ही होगी। उपर्युक्त असिद्धि के उदाहरण में तो 'तत्त्व का आविर्भाव' ही कहा गया है ॥ ४९ ॥

---

(१) तुष्टिर्नवधेत्युक्तम्; ताः परिगणयति—

[1]आध्यात्मिकाश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः।
बाह्या विषयोपरमात् पञ्च च नव तुष्टयोऽभिमताः ॥५०॥

(२) "आध्यात्मिकाः" इति। आध्यात्मिकाः—'प्रकृतिव्यतिरिक्त आत्मास्ति' इति प्रतिपद्य, ततोऽस्य श्रवणमननादिना विवेकसाक्षात्काराय

---

(१) तुष्टि नव प्रकार की होती है, यह कहा जा चुका है। कारिकाकार गिनते हैं :—प्रकृति, उपादान, काल और भाग्य नाम के चार 'आध्यात्मिक' तुष्टियाँ होती हैं; तथा विषयों के प्रति वैराग्य होने के कारण पाँच 'बाह्य' तुष्टियाँ होती हैं—इस प्रकार नौ तुष्टियाँ (पूर्वाचार्यों द्वारा) मानी गई हैं ॥ ५० ॥

(२) प्रकृति से सर्वथा पृथक् आत्मा हैं, ऐसा समझकर भी जो व्यक्ति असत् उपदेश से सन्तुष्ट होकर आत्मा के श्रवण, मनन आदि द्वारा उसके विवेकज्ञान के लिये प्रयत्न नहीं

---

१. 'अध्यात्मिकाश्चतस्रः' इत्यस्मत्संमतः पाठः; द्र० व्याख्या।

त्वसदुपदेशतुष्टो यो न प्रयतते तस्याध्यात्मिकाश्चतस्रस्तुष्टयो भवन्ति। (३) प्रकृतिव्यतिरिक्तमात्मानमधिकृत्य यस्मात्तास्तुष्टयस्तस्मादाध्यात्मिकाः। (४) कास्ता इत्यत आह—"प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः"; प्रकृत्यादिराख्या यासां तास्तथोक्ताः।

(५) तत्र प्रकृत्याख्या तुष्टिर्यथा—कस्यचिदुपदेशे विवेकसाक्षात्कारो हि प्रकृतिपरिणामभेदस्तञ्च प्रकृतिरेव करोतीति कृतं ते ध्यानाभ्यासेन, तस्मादेवमेवास्व वत्स इति—येयमुपदेष्टव्यस्य तुष्टिः प्रकृतौ, सा प्रकृत्याख्या तुष्टिः 'अम्भः' इत्युच्यते

(६) या तु 'प्राकृत्यपि विवेकख्याति र्न सा प्रकृतिमात्राद् भवति, मा भूत् सर्वस्य सर्वदा, तन्मात्रस्य सर्वान् प्रत्यविशेषात्, प्रव्रज्यायास्तु सा भवति, तस्मात् प्रव्रज्यामुपाददीथाः, कृतं ते ध्यानाभ्यासेनायुष्मन्', इति उपदेशे[1] तुष्टिः सोपादानाख्या 'सलिलम्' उच्यते। (७) या तु—'प्रव्रज्यापि न सद्यो निर्वाणदेति सैव कालपरिपाकमपेक्ष्य सिद्धिं ते विधास्यति, अलमुत्ताप्ततया तव'

करता, उसकी चार आध्यात्मिक तुष्टियाँ होती हैं। (३) प्रकृति से पृथक् आत्मा का आश्रय करके उत्पन्न होने के कारण ये तुष्टियाँ 'आध्यात्मिक' कहलाती हैं। (४) ये कौन सी हैं, यह कहते हैं :—"प्रकृति, उपादान, काल, और भाग्य नामक"। प्रकृत्युपादान-काल-भागाख्या)—इस समस्तपद का विग्रह इस प्रकार होगा—'प्रकृति आदि आख्याएँ (=संज्ञा=नाम) हैं जिनकी, वे'।

(५) इनमें प्रकृति-नामक तुष्टि इस प्रकार है—'चूँकि विवेक का साक्षात्कार प्रकृति का ही परिणामविशेष है और प्रकृति ही उसे उत्पन्न करती है, इसलिये (पुरुषाधिगमार्थ) ध्यान का अभ्यास व्यर्थ है। अतः वत्स ! इसी प्रकार (श्रवण-मनन आदि-प्रयत्न से हीन होकर) रहो-किसी के ऐसे उपदेश से शिष्य को प्रकृतिविषयक जो तुष्टि होती है (अर्थात् प्रकृति स्वयमेव विवेक उत्पन्न कराकर कैवल्य प्रदान करेगी) वही प्रकृति नामक तुष्टि है, जो 'अम्भः' भी कहलाती है।

(६) 'प्रकृतिजात होकर भी विवेकज्ञान प्रकृतिमात्र से नहीं होता, अन्यथा सबके प्रति प्रकृति की समान रूप से प्रवर्तना होने के कारण सभी जीवों को सर्वदा विवेकज्ञान होने लगेगा; पर विवेकख्याति संन्यास से उत्पन्न होती है—इसलिये आयुष्मन्, प्रव्रज्या (=संन्यासाश्रम) ही ग्रहण करो, (क्लेशपूर्वक) ध्यान का अभ्यास करना व्यर्थ है[2]—ऐसे उपदेश से जो तुष्टि होती है, वह 'उपादान' नामक तुष्टि है, जो 'सलिल' भी कहलाती है।

(७) (सलिङ्ग) संन्यास भी शीघ्र मुक्ति देने वाला नहीं है; वह फलोत्पत्ति के

---

१. उपदेशे या तुष्टिः इति क्वचित् पठ्यते। अत्र 'या' इति संपातायातम्, अन्यथा उपक्रमे प्रयुक्तस्य 'या तु' इत्यस्य अनन्वयापत्ति रिति पूर्णिमाकारः।

इति उपदेशे[1] तुष्टि सा कालाख्या मेघ[2] उच्यते । (८) या तु 'न प्रकृतेर्न कालान्नाप्युपादानाद्विवेकख्यातिः, अपि तु भाग्यादेव; (९) अत एव मदालसा-पत्यान्यतिबालानि मातुरुपदेशादेव विवेकख्यातिमन्ति मुक्तानि बभूवुः, तस्माद् भाग्यमेव हेतुर्नान्यत्'—इति उपदेशे[3] तुष्टिः सा भाग्याख्या 'वृष्टि' रुच्यते ।

(१०) बाह्या दर्शयति—बाह्या तुष्टयो विषयोपरमात् पञ्च । याः खल्व-नात्मनः प्रकृतिमहदहङ्कारादीनात्मेत्यभिमन्यमानस्य वैराग्ये सति तुष्टयस्ता बाह्याः । आत्मज्ञानाभावे सत्यनात्मानमधिकृत्य प्रवृत्तेरिति । (११) ताश्च वैराग्ये सति सम्भवन्ति तुष्टय इति वैराग्यहेतुपञ्चविधत्वाद् वैराग्याण्यपि पञ्च, तत्पञ्चकत्वात् तुष्टयः पञ्चेति ।

(१२) उपरम्यतेऽनेनेत्युपरमो वैराग्यम्, विषयादुपरमो विषयोपरमः । विषया भोग्याः शब्दादयः पञ्च, उपरमा अपि पञ्च । (१३) तथाहि—अर्जन-

---

लिये कुछ काल की अपेक्षा कर ही तुम्हें सिद्धि (=मुक्ति) देगा, अतः तुम्हारे उद्विग्न होने से (तीव्र संवेग से युक्त होने से) लाभ नहीं है'—ऐसे (असत्) उपदेश से जो तुष्टि होती है, वह 'काल' नामक तुष्टि है, जो 'मेघ' भी कहलाती है ।

(८) विवेकज्ञान न प्रकृति से, न काल से और न प्रव्रज्याग्रहण से उत्पन्न होता है, बल्कि भाग्य से ही उत्पन्न होता है । (९) यही कारण है कि मदालसा के पुत्र अत्यन्त शिशु होने पर भी माता के उपदेश से ही विवेकज्ञान युक्त होकर मुक्त हो गए । इसीलिये भाग्य (=जन्मान्तरकृत-योगाभ्यासजनित-अदृष्ट) ही हेतु है, अन्य कुछ नहीं—ईदृश उपदेश से जो तुष्टि होती है, वह 'भाग्य' नामक तुष्टि है, जो 'वृष्टि' भी कहलाती है ।

(१०) बाह्य तुष्टियाँ दिखलाते हैं :—विषयों पर उपरति होने के कारण बाह्य तुष्टियाँ उत्पन्न होती हैं, जो संख्या में पाँच हैं । आत्मभिन्न प्रकृति, महान्, अहङ्कार आदि को आत्मस्वरूप समझते हुए जीव को वैराग्य होने पर जो तुष्टियाँ होती हैं, वे बाह्य हैं, क्योंकि ये तुष्टियाँ आत्मज्ञान न होने पर अनात्मभूत पदार्थों के विषय में होती हैं ।

(११) यतः वैराग्य उत्पन्न होने पर ही ये तुष्टियाँ उत्पन्न होती हैं और पाँच हेतुओं से उत्पन्न होने से वैराग्य भी पांच प्रकार का होता है, अतएव वैराग्य के पञ्च-विध होने से तुष्टियाँ भी पाँच प्रकार की होती हैं ।

(१२—१३) जिसके द्वारा (विषयोपभोग से) निवृत्ति प्राप्त होती है, वह 'उपरम' (=वैराग्य) है; विषय से उपरम='विषयोपरम'; 'विषय'=भोग्य शब्द आदि पाँच हैं; उनके प्रति 'उपरम' (=वैराग्य) भी उपार्जन, संरक्षण, क्षय, भोग और हिंसा—इन पाँच दोषों के दर्शन रूप हेतु से उत्पन्न होने के कारण पाँच प्रकार का है ।

१—३; या तुष्टि इति पाठे 'या' इति संपातायातम् ।

२. ओघः (पाठा०) ।

रक्षण-क्षय-भोग-हिंसा-दोषदर्शनहेतुजन्मानः पञ्चोपरमा भवन्ति। (१४) तथा हि—सेवादयो धनार्जनोपायाः, ते च सेवकादीन् दुःखा कुर्वन्ति—

दृप्यद्दुरीश्वरद्वाःस्थदण्डिचण्डार्धचन्द्रजाम्।
वेदनां भावयन् प्राज्ञः कः सेवास्वनुषज्जते॥

(१५) एवमन्येऽप्यर्जनोपाया दुःखा इति विषयोपरमे या तुष्टिः सैषा 'पारम्' उच्यते। (१६) तथार्जितं धनं राजैकागारिकाग्नि-जलौघादिभ्यो विनङ्क्ष्यतीति तद्रक्षणे महद् दुःखमिति भावयतो विषयोपरमे या तुष्टिः सा द्वितीया 'सुपारम्' उच्यते। (१७) तथा महताऽऽयासेनार्जितं धनं भुज्यमानं क्षीयत इति तत्प्रक्षयं भावयतो विषयोपरमे या तुष्टिः सा तृतीया 'पारापारम्' उच्यते। (१८) एवं शब्दादिभोगाभ्यासात् प्रवर्धन्ते कामाः, ते च विषयाप्राप्तौ कामिनं दुःखा कुर्वन्तीति भोगदोषं भावयतो विषयोपरमे या तुष्टिः सा चतुर्थी 'अनुत्तमाम्भः' उच्यते। (१९) एवं नानुपहत्य भूतानि विषयोपभोगः सम्भवतीति हिंसादोषदर्शनाद्विषयोपरमे या तुष्टिः सा पञ्चमी 'उत्तमाम्भः' उच्यते।

---

(१४) अर्जन आदि में जो दोष है, वह इस प्रकार है—धनोपार्जन के सेवा आदि उपाय सेवकों को बड़ा दुःख देते हैं, जैसा कि कहा गया है कि 'दर्पवान् दुष्ट स्वामी के द्वार पर स्थित दैवारिकों के असह्य अर्धचन्द्र (=गलप्रहार) से उत्पन्न पीड़ा की भावना करता हुआ कौन बुद्धिमान् पुरुष सेवा में प्रवृत होगा।' (१५) इसी प्रकार धनोपार्जन के अन्य (कृषि-वाणिज्यादि) उपाय भी दुःखद होते हैं। ईदृश विचार से विषयों के प्रति वैराग्य होने पर जो तुष्टि होती है, वह 'पार' कहलाती है।

(१६) इसी प्रकार 'राजा, चोर, अग्नि और बाढ आदि से उपार्जित धन विनष्ट हो जाएगा, इसलिये उसकी रक्षा करणीय है जिसमें महान् कष्ट होता है' ऐसी चिन्ता करते हुये जीव को विषयों से उपराम (=विराग) होने पर जो द्वितीय तुष्टि होती है, वह 'सुपार' कहलाती है।

(१७) इसी प्रकार 'अत्यन्त कष्ट से उपार्जित धन भोग करने पर नष्ट हो जाएगा', धनविनाश की ईदृश भावना करते हुए जीव को विषयों से उपराम (=विराग) होने पर जो तृतीय तुष्टि होती हैं, वह 'पारापार' कहलाती है।

(१८) इसी प्रकार शब्द आदि विषयों के बार बार भोग से कामनाएँ बढ़ती हैं और वे विषयों के प्राप्त न होने पर कामी पुरुष को दुःख देती हैं—इत्यादि विषयभोग के दोष का चिन्तन करते हुए पुरुष को विषयों से उपरति प्राप्त होने पर जो चतुर्थ तुष्टि होती है, वह 'अनुत्तमाम्भः' कहलाती है।

(१९) इसी प्रकार 'भूतों को पीड़ा न देकर विषयों का उपभोग नहीं हो सकता'-

(२०) एवमाध्यात्मिकीभिश्चतसृभिर्बाह्याभिश्च पञ्चभिः "नव तुष्टयोऽभिमताः" ॥५०॥

इस नियम के अनुसार हिंसा-दोष के परिदर्शन करने से विषयों से जो उपराम होता है, वह पञ्चमी तुष्टि है, जो 'उत्तमाम्भः' कहलाती है ।

(२०) इस प्रकार चार आध्यात्मिक और पाँच बाह्य भेदों से तुष्टियाँ नौ प्रकार की मानी गई हैं ॥ ५० ॥

५०वीं कारिका की व्याख्या

हमारी दृष्टि में कारिका के प्रथम चरण का पाठ 'अध्यात्मिका श्चतस्रः' है । इस पाठ में कोई छन्दोदोष नहीं है; 'आध्यात्मिक्यः'पाठ में छन्दोदोष होता है । 'आध्यात्मिका' शब्द च्युतसंस्कृतिदोष-दुष्ट भी है, क्योंकि व्याकरणानुसार 'आध्यात्मिकी' शब्द निष्पन्न होता है । हमारे द्वारा चिन्तित यह 'अध्यात्मिक' शब्द शिष्टप्रयुक्त है (द्र० अध्यात्मिकान् योगान्, आ० ध० सू० १।८।२२।१ तथा शंकरकृत व्याख्या) । हम 'पञ्च नव' ऐसा कारिकापाठ ही उचित समझते हैं । कारिका के कुछ सम्पादक 'पञ्च नव' ऐसा च-रहित पाठ ही पढ़ते है (द्र० S. S. Suryanarayana Sastri का संस्क०) । युक्तिदीपिका सहित कारिका के मुद्रित संस्करण में मूलपाठ में 'च' नहीं है, यद्यपि युक्तिदीपिका में कारिकागत चकार की व्याख्या की गई है (चकारोऽवधारणार्थः) । 'च' का पाठ न करने पर मात्राभङ्गरूप दोष होता है—अतः च पठनीय ही है ।

हमारी दृष्टि में प्रकृतितुष्टि यह है । जब कोई यह सोचता है कि चूँकि अभीष्ट अर्थ की सिद्धि प्रकृतितः=स्वभावतः ही होती है, अतः उपयोगी प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं है और यह सोचकर वह प्रयत्न करने से विरत हो जाता है, तब यह निवृत्ति—जो सर्वथा कृत्रिम निवृत्ति है—प्रकृतितुष्टि है । क्लेश के भय से कर्म का त्याग जिस प्रकार त्याग नहीं है, यह निवृत्ति भी वस्तुतः निवृत्ति नहीं है । फल में अनुपादेयता का बोध होने पर फलप्राप्ति की चेष्टा से जो ज्ञानपूर्वक निवृत्ति होती है, वह प्रकृत निवृत्ति है ।

हमारे व्याख्यान से यह स्पष्ट हो जाता है कि हम तुष्टि को मोक्षप्राप्ति-मात्र-विरोधी मनोभावविशेष नहीं समझते, जैसा कि वाचस्पति समझते हैं । कारिका के शब्दों में ईदृश कोई संकेत नहीं है जिससे हम तुष्टि का संबन्ध मोक्षविरोधी मनोभाव से ही है—ऐसा समझें ।[1] ४६वीं कारिका में प्रयुक्त सिद्धि शब्द मोक्षप्राप्ति का ही वाचक है—इसका कोई प्रमाण नहीं है ।

---

१. सिद्धि=अभीष्ट विषय की प्राप्ति या कर्म में सफलता—ऐसा कई विद्वान् समझते हैं । ईदृश विषय सांख्य में विचारित हुआ था—यह गीता १८।१३-१५ से ज्ञात होता है । इतिहास-पुराण में ऐसे अनेक सांख्यीय सन्दर्भ हैं जिनमें उपर्युक्त विषय की चर्चा मिलती है ।

उपादानतुष्टि का स्वरूप अस्पष्ट है। उपादानतुष्टि ग्रहणक्रिया से संबन्धित है—इतना ही जाना जाता है। वाचस्पति ने जो उदाहरण दिया है, उससे जान पड़ता है कि 'उप+दा' धातु का प्रयोग होना इस तुष्टि के क्षेत्र में अपरिहार्य है। यदि इसका पर्यायवाची शब्द प्रयुक्त हो तब क्या वह उपादानतुष्टि नहीं होगी? प्रकृति-काल-भाग्य वस्तुविशेष हैं; उपादान भी वस्तु विशेष ही होगा—ऐसा प्रतीत होता है। क्या इस तुष्टि का संबन्ध उपादान-कारण-संबन्धी किसी मतविशेष से है? बहिरंग साधनों का ग्रहण करने मात्र से ही फलोत्पत्ति होगी—प्रयत्नपूर्वक अन्तरंग क्रिया करना अनावश्यक है—ऐसा समझकर चेष्टा से निवृत्त होना उपादानतुष्टि है—यह संगततर प्रतीत होता है।

फलप्राप्ति के लिये उपयोगी प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं है; काल स्वयं ही फल को उत्पन्न करेगा–ऐसा सोचने पर जो कृत्रिम निवृत्ति होती है, वह कालाख्य तुष्टि है। इस प्रकार भाग्य से स्वतः फलप्राप्ति होगी, यह समझकर प्रयत्न करने से विरत होना रूप जो निवृत्ति है, वह भाग्य-नामक तुष्टि है।

वाचस्पति के अनुसार बाह्य तुष्टि का स्वरूप यह है—प्रकृति आदि अनात्मपदार्थों पर आत्मबुद्धि करने वाले व्यक्ति वैराग्यवान् होते हैं। वैराग्य के कारण इनमें तुष्टि होती है। वैराग्य के पाँच हेतु हैं, अतः तुष्टि भी पाँच प्रकार की है। विषयों के अर्जन रक्षण, क्षय, भोग और हिंसा में 'दोष-दर्शन' ही पाँच वैराग्य-हेतु हैं। विषयार्जन में दुःख है—यह समझकर विषयार्जन में जो अप्रवृत्ति है, वह एक प्रकार की बाह्य तुष्टि है। यह अप्रवृत्ति या निवृत्ति कृत्रिम है, क्योंकि अर्जन-जनित दुःख न रहने पर अर्जन में प्रवृत्ति होगी। यहाँ जिस दोषदर्शन की बात कही गई है, वह 'विषयदोषदर्शन' नहीं, अर्जनादिक्रिया में दोषदर्शन है—अर्थात् अर्जनादिक्रियाएँ दुःखकारक हैं—इतना ही दोष-दर्शन है। यही कारण है कि यह पञ्चधा वैराग्य प्रकृत वैराग्य नहीं है। यह अपर वैराग्य भी यथार्थतः नहीं है—परवैराग्य का तो कोई प्रसंग ही नहीं है। इस प्रकार का कृत्रिम वैराग्य तत्त्वज्ञानी में नहीं होता—अतत्त्वज्ञानियों में ही ईदृश कृत्रिम वैराग्य होता[1] है। अनात्मा में जिनको आत्मबुद्धि होती है, उनको ही ये बाह्य तुष्टियाँ होती हैं[2]—यह बात नहीं, क्योंकि अन्य प्रकार के अतत्त्वविदों में भी ये तुष्टियाँ हो सकती हैं।

---

१. कुछ व्याख्याकार यह सोचते हैं कि अहंकार आदि को आत्मा मानना संसार से विरक्ति होने का कारण है (डा० ब्रजमोहन, पृ० १७१)—यह सर्वथा असंगत दृष्टि है। ईदृश भ्रान्त लोगों में वस्तुतः प्रकृत विरक्ति होती ही नहीं है।

२. किसीकी दृष्टि में 'विषयोपरमात्' का अन्वय आध्यात्मिक एवं बाह्य—उभय के साथ करना ही उचित है; अर्थात् यह तुष्टि विषयविरागपूर्वक है; वैराग्य सन्तोष का हेतु है। यदि वैराग्य मात्र ही हो, तत्त्वज्ञान या युक्तियुक्त ज्ञान न हो तो यह वैराग्य अंशतः कृत्रिम होता है (क्योंकि उससे परा गति लब्ध नहीं होती) और तुष्टि भी व्यर्थ हो जाती है।

तत्त्वकौमुदी के पञ्चधा वैराग्य के व्याख्यान के विषय में तत्त्वकौमुदी के कुछ व्याख्याकारों में एक भ्रान्ति लक्षित होती है[1]। विषयसंबन्धी अर्जनादि पाँच पदार्थों में दोषदर्शन ही वैराग्य के पञ्चधा विभाग का हेतु है—इतना ही वाचस्पति का कहना है। विषय शब्दादि पाँच प्रकार का है—इस पञ्चधा विभाग से वैराग्य के पञ्चधा भेद का कुछ भी संबन्ध नहीं है। विषय का पञ्चप्रकारत्व एक प्रासंगिक कथन है। विषय एक, दो या तीन प्रकारों का भी हो तो भी अर्जनादि हेतु पाँच प्रकार का ही होगा। वैराग्य पाँच प्रकार होने के कारण तुष्टि भी तदनुरूप पाँच प्रकार की होगी, क्योंकि वैराग्य रूप उपरम होने पर चेष्टा करने से निवृत्ति होती है। ये तुष्टियाँ बाह्य हैं, क्योंकि यहाँ बाह्य विषय से वैराग्य का संबन्ध है—अर्जनादि यहाँ बाह्यविषयसंबद्ध ही हैं[2]।

यह ज्ञातव्य है कि जो अपरिग्रहरूप नियम का अनुष्ठान करते हैं, वे विषय का जो अस्वीकरण (विषयास्वामित्व, विषयासंग्रह) करते हैं, उसका हेतु है—विषयों में अर्जन, रक्षण, क्षय, संग और हिंसा रूप दोष का दर्शन (व्यासभाष्य २।३०)। यदि ईदृश दोष-दर्शनमात्र ही हो तो अपरिग्रह प्रतिष्ठित नहीं हो सकता, परिस्थिति या अवस्था बदलने पर ईदृश अपरिग्रही परिग्रह करने में स्वतः प्रवृत्त होगा। योग के प्रति दृष्टि रखकर विषय-दोष-दर्शनपूर्वक यदि अपरिग्रह किया जाये तो वह प्रतिष्ठित होता है। यह सोचकर कि उपर्युक्त दोषदर्शन से जनित अपरिग्रह ही सर्वोच्च मोक्षसाधन है—विवेक आदि का अभ्यास करना व्यर्थ है—यदि कोई उच्च साधन से निवृत्त हो जाता है तो यह एक भ्रम पूर्ण चिन्ता होगी। ध्यान देना चाहिये कि पाँच प्रकार का वैराग्य मात्र तुष्टि नहीं है, तुष्टि तो वैराग्य का फल है, वैराग्य-हेतुक है (द्र० विषयोपरमात्—पञ्चमन्त पद)। ईदृश वैराग्य होने पर जो कृत्रिम निवृत्ति होती है, वह बाह्य तुष्टि है। विषय की बाह्यता के कारण ही तुष्टि को बाह्य कहा गया है ॥५०॥

१. 'वैराग्य के हेतुभूत पाँच विषय हैं, इसलिये वैराग्य भी पाँच हैं' यह डा० मुसलगांवकर कहते हैं (पृ० २५७)। यदि बात ऐसी ही होती तो शब्दस्पर्शरूपरस-गन्ध विषयों के प्रत्येक के अर्जनादि भेद से २५ वैराग्यहेतु होते और २५ बाह्य तुष्टियाँ भी होतीं। सारबोधिनी टीका समझती है कि वैराग्य का पञ्चधा विभाग दो प्रकार का है—प्रथम शब्दादिभेद के अनुसार, द्वितीय—अर्जनादिदोष-दर्शन के अनुसार (पृ० ४३३)। तत्त्वकौमुदी के वाक्य से इस मत का अणुमात्र समर्थन नहीं मिलता। शब्दादि के पञ्चविधत्व का सम्बन्ध वैराग्य के पञ्चविधत्व के साथ है—ऐसा डा० आद्याप्रसाद के अनुवाद से भी प्रतीत होता है—जो एक भ्रान्त दृष्टि है। 'विषय···पञ्च' वाक्य प्रक्षिप्त है—ऐसी पर्याप्त संभावना है।

२. डा० आद्याप्रसाद कहते हैं कि ये तुष्टियाँ प्रकृति आदि बाह्य पदार्थों के विषय में होने के कारण बाह्य कहलाती हैं (पृ० २९९)। गुणों का अवैषम्यरूप प्रकृति क्या बाह्य है ? महत् या अहङ्कार क्या बाह्य है ? पुरुष की तुलना में ये बाह्य हैं—यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि त्रैगुणिक प्राकृत तुष्टि में पुरुष का प्रसंग ही क्या है ? पुरुषतत्त्व 'अबाह्य-अनन्तर' है, अतः उसकी तुलना में प्रकृति को बाह्य कहने का स्वारस्य क्या है ? इन्द्रियग्राह्य विषय को यहाँ बाह्य कहा गया है—यह स्पष्ट है।

(१) गौणमुख्यभेदैः सिद्धीराह—

ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः ।
दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः ॥५१॥

(२) "ऊहः" इति । विहन्यमानस्य दुःखस्य त्रित्वात्तद्विघातास्त्रय इतीमा मुख्यास्तिस्रः सिद्धयः; तदुपायतया त्वितरा गौण्यः पञ्च सिद्धयः, ता अपि हेतुहेतुमत्तया व्यवस्थिताः । (३) तत्राऽऽद्याऽध्ययनलक्षणा सिद्धिर्हेतुरेव । मुख्यास्तु सिद्धयो हेतुमत्य एव । मध्यमास्तु हेतुहेतुमत्यः । (४) विधिवद् गुरुमुखादध्यात्मविद्यानामक्षरस्वरूपग्रहणमध्ययनं प्रथमा सिद्धि'स्तार' मुच्यते । (५) तत्कार्यम्—"शब्दः" । शब्द इति पदं शब्दजनितमर्थज्ञानमुपलक्षयति, कार्ये कारणोपचारात् । सा द्वितीया सिद्धिः 'सुतार'मुच्यते । (६) पाठार्थाभ्यां तदिदं द्विधा श्रवणम् (७) ऊहः तर्कः, आगमाविरोधिन्यायेनागमार्थ-

---

(१) ग्रन्थकार गौण (=अप्रधान) तथा मुख्य (=प्रधान) भेदों के साथ सिद्धियाँ कहते हैं—

ऊह, शब्द, अध्ययन, त्रिविध दुःख-विनाश, सुहृत्प्राप्ति तथा दान (=शुद्धि)—ये आठ सिद्धियाँ हैं। पूर्वोक्त विपर्यय, अशक्ति और तुष्टि रूप त्रिविध प्रत्यय सिद्धि के निवारक हैं [तत्त्वकौ० में अध्ययन, शब्द, ऊह, सुहृत्प्राप्ति, दान, और दुःखविघात इस क्रम से व्याख्या की गई है] ॥ ५१

(२) विनष्ट किये जाते हुए दुःख के त्रिविध होने के कारण त्रिविध दुःख के विनाश भी तीन होते हैं; ये तीन सिद्धियाँ मुख्य हैं। इनके उपायभूत होने के कारण अन्य पाँच सिद्धियाँ गौण हैं। ये पाँच भी हेतु (=कारण) और हेतुमान् (=कार्य) के रूप में व्यवस्थित हैं। (३) इन आठ सिद्धियों में प्रथम 'अध्ययन' नामक सिद्धि केवल हेतु (=कारण) है। दुःखविघात रूप तीन मुख्य सिद्धियाँ केवल कार्य हैं और मध्यपठित शब्द आदि सिद्धियाँ हेतु और हेतुमान् दोनों हैं।

(४) शास्त्रविधिपूर्वक गुरुमुख से अध्यात्मविद्या (विद्याप्रतिपादक शास्त्र) के अक्षरों (=शब्दों) का ज्ञान 'अध्ययन' नामक प्रथम सिद्धि है, जो तार कहलाती है। (तार= संसारतरण हेतु)। (५) उसका कार्य 'शब्द' नामक सिद्धि है। कारिकास्थ 'शब्द' पद शब्दोत्पन्न अर्थज्ञान का उपलक्षण है। शब्दजनित ज्ञानरूप कार्य में कारणरूप शब्द का उपचार (लक्षणा द्वारा प्रयोग) कर के ऐसा कहा गया है। यह शब्द दूसरी सिद्धि है, जो 'सुतार' कहलाती है। (६) इस प्रकार 'अक्षरानुपूर्वीग्रहण' तथा 'अर्थज्ञान' रूप दो प्रकार का श्रवण सिद्ध हुआ।

(७) ऊह का अर्थ 'तर्क' अर्थात् शास्त्र के अविरोधी युक्ति से शास्त्रोक्त अर्थों की

परीक्षणम् । परीक्षणञ्च—संशयपूर्वपक्षनिराकरणेनोत्तरपक्षव्यवस्थापनम् । तदिदं मननमाचक्षत आगमिनः । सा तृतीया सिद्धि 'स्तारतार'मुच्यते ।

(८) स्वोत्प्रेक्षित मननममननमेवासुहृत्सम्मतमिति द्वितीयं मननमाह[1]—"सुहृत्प्राप्तिरिति"—न्यायेन स्वयं परीक्षितमप्यर्थं न श्रद्धत्ते, न यावद् गुरुशिष्यसब्रह्मचारिभिः सह संवाद्यते । अतः सुहृदां गुरुशिष्यसब्रह्मचारिणां संवादकानां प्राप्तिः सुहृत्प्राप्तिः । सा सिद्धिश्चतुर्थी 'रम्यकम्' उच्यते । (९) दानं च शुद्धिर्विवेकज्ञानस्य, दैप् शोधने[2] (धातुपाठ १।९५६) इत्यस्माद् धातोर्दानपदव्युत्पत्तेः । (१०) यथाह भगवान् पतञ्जलिः—"विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः" इति (योगसूत्र २।२६) । अविप्लवः शुद्धिः, सा च सवासनसंशयविपर्यासानां परिहारेण विवेकसाक्षात्कारस्य स्वच्छप्रवाहेऽवस्थापनम् ।

परीक्षा । परीक्षा का अर्थ है–संशय और पूर्वपक्ष के निराकरण द्वारा उत्तर-पक्ष (=सिद्धान्त पक्ष) की स्थापना । इसे ही आगमवादी 'मनन' (=युक्ति से आगमार्थ का दृढ़ीकरण) कहते हैं । यह तीसरी सिद्धि 'तारतार' कहलाती है ।

(८) जो मनन स्वयं ही किया गया है वह असम्यक् मनन है, क्योंकि वह सुहृदों द्वारा अनुमत नहीं हुआ है, इसलिये द्वितीय मनन (अर्थात् अन्य प्रकार का मनन) कहते हैं—"सुहृत्प्राप्ति" । साधक युक्तियों के द्वारा स्वयं परीक्षित (=सिद्धान्तित) सिद्धान्तों में तब तक कोई स्थिरनिश्चय नहीं कर पाता जब तक गुरु, शिष्य और सहाध्यायियों से एकवाक्यता नहीं होती; अतः सुहृदों=एकमतावलम्बी गुरुशिष्य-सतीर्थों की प्राप्ति 'सुहृत्प्राप्ति' है । यही चौथी सिद्धि 'रम्यक' कहलाती है ।

(९) शोधनार्थक 'दैप' धातु से निष्पन्न होने के कारण दान का अर्थ है—'शुद्धि' अर्थात् विवेक-ज्ञान की 'शुद्धि' । (१०) जैसा कि भगवान् पतञ्जलि ने कहा है—अविप्लवा (=अभग्ना=मिथ्याज्ञानसंस्कारशून्या) विवेकख्याति हान (सर्वदुःखविनाश रूप कैवल्य) का उपाय है (योगसू० २।२६) । सूत्रोक्त 'अविप्लव' का अर्थ है—'शुद्धि' (विप्लव रूप अशुद्धि का अभाव); इस 'शुद्धि का स्वरूप है—संशय, विपरीतज्ञान तथा उनके वासनाओं (=संस्कारों) का परिहारपूर्वक विवेक-ज्ञान का स्वच्छ-प्रवाह

---

१. वाक्यमिदं क्वचिन्न पठ्यते ।

२. तत्त्वकौमुदी के कुछ प्रचलित संस्करणों में 'दैप् शोधने' पर संपादक पाणिनि के ६।४।६८ सूत्र लक्षित करते हैं । यह सूत्र है—'वान्यस्य संयोगादेः' । लिङ्प्रत्यय परे रहते इस सूत्र से कुछ कार्य होते हैं—घुसंज्ञक धातु, मा धातु आदि कुछ धातुओं को छोड़कर । दानशब्द की व्युत्पत्ति के साथ (ल्युट् प्रत्ययान्त दान शब्द) इस सूत्र का क्या संबन्ध है—यह मैं जान न सका । वाचस्पति का तात्पर्य दैप् धातु को दिखाना है । अतः किसी एक धातुपाठ के अनुसार धातुसंख्या का निर्देश करना ही उचित है । मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि सिद्धान्तकौमुदी के 'अद्युत्वाद् एत्वसिज्लुकौ न' इस वाक्य के आधार पर (दैप् धातु पर यह वाक्य है) किसी ने उपर्युक्त पाणिनिसूत्र की कल्पना की है; प्रकृतस्थल में इसकी कुछ भी उपयोगिता नहीं है ।

(११)सा च न विनाऽऽदरनैरन्तर्यदीर्घकालसेविताभ्यासपरिपाकाद् भवतीति दानेन विवेकख्यात्या कार्येण सोऽपि संगृहीतः। सेयं पञ्चमी सिद्धिः 'सदामुदितमु'च्यते। (१२) तिस्रश्च मुख्याः सिद्धयः प्रमोद-मुदित-मोदमाना इत्यष्टौ सिद्धयः।

(१३) अन्ये व्याचक्षते—विनोपदेशादिना प्राग्भवीयाभ्यासवशात्तत्त्वस्य स्वयमूहनं यत्सा सिद्धि'रूहः'। (१४) यस्य सांख्यशास्त्रपाठमन्यदीयमाकर्ण्य तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते सा सिद्धिः शब्दः शब्दपाठानन्तरभावात्। (१५) यस्य शिष्याचार्यसम्बन्धेन सांख्यशास्त्रं ग्रन्थतोऽर्थतश्चाधीत्य ज्ञानमुत्पद्यते साऽध्ययनहेतुका सिद्धिरध्ययनम्। (१६) "सुहृत्प्राप्तिरि"ति—यस्याधिगततत्त्वं सुहृदं प्राप्य ज्ञानमुत्पद्यते सा ज्ञानलक्षणा सिद्धिस्तस्य सुहृत्प्राप्तिः। (१७) दानञ्च सिद्धिहेतुः, धनादिदानेनाराधितो ज्ञानी ज्ञानं प्रयच्छति। (१८) अस्य च युक्तायुक्तत्वे सूरिभिरेवावगन्तव्ये—इति कृतं परदोषोद्भावनेन नः सिद्धान्तमात्रव्याख्यानप्रवृत्तानामिति।

———

में अवस्थापन। (११) यह 'शुद्धि' आदर (=निष्ठाबुद्धि) और नैरन्तर्य के साथ दीर्घ काल तक अनुष्ठान किए गए अभ्यास (=अनुशीलन) के परिपाक के बिना निष्पन्न नहीं होती, अतः दान अर्थात् विवेकख्याति-रूप कार्य के साथ अभ्यास का परिपाक भी संगृहीत हुआ है। यह पञ्चमी सिद्धि 'सदामुदित' कहलाती है।

(१२) दुःखत्रय के विनाशक तीनों मुख्य सिद्धियाँ प्रमोद, मुदित और मोदमान कहलाती हैं। इस प्रकार गौण-मुख्य-भेद से आठ सिद्धियाँ होती हैं।

(१३) अन्य व्याख्याकार इस कारिका की व्याख्या इस प्रकार करते हैं:—गुरु के उपदेश आदि के बिना पूर्व जन्म के अभ्यास के बल पर स्वयं (=स्वप्रतिभा से) तत्त्व का जो ऊहन (=तर्करूप मनन) होता है, वह ऊह नामक सिद्धि है। (१४) दूसरों के द्वारा सांख्यशास्त्र के किये गये पाठ को सुनने से जो तत्त्वज्ञान होता है, वह 'शब्द' नामक सिद्धि है, क्योंकि वह सिद्धि शब्द-पाठ के अनन्तर संजात होती है। (१५) शिष्य होकर आचार्य से शब्दग्रहण और अर्थज्ञानपूर्वक सांख्यशास्त्र का अध्ययन कर जो ज्ञान प्राप्त करता है, वह (ज्ञान) अध्ययन से उत्पन्न होने के कारण 'अध्ययन' नामक सिद्धि है। (१६) तत्त्वसाक्षात्कार किए हुए सुहृदों के संपर्क से जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह 'सुहृत्प्राप्ति'-नामक तत्त्वज्ञानरूप सिद्धि है। (१७) 'दान' भी सिद्धि का हेतु है क्योंकि धन आदि के दान द्वारा सत्कृत ज्ञानवान् पुरुष ज्ञान देता है (यहाँ कारण और कार्य में अभेद मानकर 'दान' को सिद्धि कहा गया है)।

(१८) इस व्याख्यान की युक्तता और अयुक्तता विद्वज्जन ही समझ सकते हैं। सिद्धान्तमात्र के व्याख्यान में प्रवृत्त हुए हमारे लिये दूसरों की व्याख्या में दोष का उद्भावन करना व्यर्थ है।

(१९) सिद्धितुष्टिविपर्ययेणाशक्तिर्बुद्धिवधस्सप्तदशधा द्रष्टव्यः । (२०) अत्र प्रत्ययसर्गे सिद्धिरुपादेयेति प्रसिद्धमेव । तन्निवारणहेतवस्तु विपर्ययाशक्तितुष्टयो हेया इत्याह—"सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः" इति । (२१) पूर्व इति विपर्ययाशक्तितुष्टीः परामृशति । ताः सिद्धिकरिणीनामङ्कुशो निवारकत्वात् । अतः सिद्धिपरिपन्थित्वाद् अङ्कुश इवेति विपर्ययाशक्तितुष्टयो हेया इत्यर्थः ॥५१॥

---

(१९) इस प्रकार (अष्टधा) सिद्धि और (नवधा) तुष्टि के विपर्यय से उत्पन्न होने वाली 'अशक्ति' अर्थात् बुद्धि के उपघात सत्तरह होते हैं—ऐसा जानना चाहिए । (२०) इस प्रत्ययसर्ग में सिद्धि उपादेय है, यह सर्वविदित है । प्रत्ययसर्ग (जो बुद्धि-परिणाम है)-गत 'सिद्धि' के विघातक होने के कारण विपर्यय, अशक्ति और तुष्टि हेय (=त्याज्य) हैं, इस तथ्य को कहने के लिये कारिकाकार कहते हैं—"पूर्वपठित तीन सिद्धि की अंकुश (=विरोधिनी) हैं" ।

(२१) कारिकार 'पूर्व' शब्द से विपर्यय, अशक्ति और तुष्टि का ग्रहण करते हैं । ये तीन ही 'सिद्धि' रूपी हस्तिनियों के (मार्ग में स्वच्छ विहार के) निवारक होने के कारण अंकुश कहलाते हैं । इसलिए अंकुश के निवारक होने की तरह सिद्धियों के विरोधी होने से विपर्यय, अशक्ति और तुष्टियाँ हेय (=त्याज्य) हैं—यह तात्पर्य है ॥५१॥

५१वीं कारिका की व्याख्या

ऊह आदि सिद्धियों का तात्पर्य बहुत कुछ अस्पष्ट हो गया है । इस विषय में इतना ही ज्ञात है कि सिद्धि के तीन विरोधी हैं—विपर्यय, अशक्ति और तुष्टि । यह भी ज्ञात है कि मनुष्य प्राणी में सिद्धि प्रधानतया व्यवस्थित है । इसका लक्षण है—यथेष्टस्य साधनं सिद्धिः (युक्तिदी०) ।

यह 'अभीष्ट सिद्धि करना' आठ प्रकार का है, यह कारिकाकार कहते हैं । इन सिद्धियों की जो व्याख्या वाचस्पति आदि ने की है, वह:व्याख्या बहुत कुछ काल्पनिक प्रतीत होती है । इनके समय इन भेदों की प्राचीन व्याख्या लुप्त हो गई थी—ऐसा ज्ञात होता है ।

गुरुमुख से अक्षरानुपूर्वीग्रहण रूप अध्ययन या अर्थज्ञान रूप शब्द आदि को 'सिद्धि' कहने का स्वारस्य क्या है—यह ज्ञात नहीं होता । अध्ययन आदि शब्द के अन्य अर्थ भी थे, जो अब सर्वथा अप्रचलित हो गये हैं—ऐसा प्रतीत होता है । शान्तिपर्व में 'तत्र ध्यानेन संयुक्तम् एकाग्रं धारयेन्मनः' (१९५।५) कहा गया है । नीलकण्ठ कहते हैं कि इसका 'तत्राध्ययनसंश्लिष्टम्' रूप प्राचीन पाठ था । लक्ष्य करना चाहिये कि इस पाठ में

अध्ययन का वह अर्थ नहीं हो सकता, जो वाचस्पति कहते हैं। उसी प्रकार अष्टाङ्ग मार्ग में एक 'सम्यक् अध्ययनागम' है (वनपर्व २।७७-७९)। यहाँ भी अध्ययन का वही अर्थ है जो प्रचलित है—ऐसा प्रतीत नहीं होता। न्यायसूत्र में 'तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः' (१।१।४१) कहा गया है। यह ऊह यहाँ प्रयोज्य है—ऐसा प्रतीत नहीं होता।

डा० व्रजमोहन अध्ययन के लक्षण में कहते हैं—पुरुषतत्त्व का गुरुमुख से विधिवद् ग्रहण (पृ०१७३)। क्या तत्त्व का ऐसा ग्रहण सम्भव होता है? 'अध्ययन पद अक्षरतत्त्व के ग्रहण का बोधक है' (पृ० १७३) वाक्य में अक्षरतत्त्व क्या है ? डा० व्रजमोहन कहते हैं कि ऊहसिद्धि का नामान्तर जो 'तारतार' है, उसमें तार शब्द में प्रकार अर्थ में द्वित्व हुआ है (पृ० १७३)। **यह असङ्गत प्रतीत होता है,** क्योंकि 'प्रकारे गुण-वचनस्य (अष्टा० ८।१।१२) सूत्र में जो प्रकार शब्द है, उसका अर्थ है—सादृश्य; पटुपटुः=पटुसदृशः, अर्थात् ईषत् पटुः। इस दृष्टि से 'तारतारम्' का अर्थ होगा—तारसदृश=ईषत् तार। क्या इस तारसदृश को हिन्दी में 'तरने का प्रकार' कहा जा सकता है—जैसाकि डा० व्रजमोहन कहते हैं ? (तार=तारयतीति)।

हमने यह पहले ही कहा है कि इन आठ सिद्धियों का स्वरूप बहुत कुछ अस्पष्ट है। हमें कभी कभी ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य रूप करणप्रकृति में ऊह आदि आठ भावों की प्रबलता है, अन्य प्रकार के प्राणियों में इन भावों की अत्यन्त अल्पता है। ऊह आदि से सिद्धि उत्पन्न होती है, यह बात नहीं; बल्कि ऊह आदि ही सिद्धियाँ हैं। तात्पर्य यह है कि मनुष्य की करणप्रकृति में ऊह आदि धर्म असाधारण विकशित रूपेण रहते हैं—अन्य प्रकार की करणप्रकृतियों में ऊह आदि सिद्धियाँ यथायथरूप से अस्फुट या अत्यल्प रूपेण हो रहती हैं।

हमारी दृष्टि के अनुसार ऊह=परोपदेशनिरपेक्ष होकर सोचने की शक्ति है। शब्द=भाषाव्यवहार द्वारा मनोभावज्ञापन करने को शक्ति। अध्ययन=अन्य के विचारों को समझने की शक्ति या अन्य में स्वविचार का आधान करने की शक्ति (इस सिद्धि का स्वरूप कुछ अस्पष्ट है)। दुःखविघात=त्रिविध अनागत दुःखों का परिज्ञान पूर्वक यथायथ रूप से प्रतिविधान करने की सामर्थ्य। सुहृत्प्राप्ति=स्वव्यवहार द्वारा उदासीन या शत्रुभावापन्न व्यक्ति को स्वानुकूल बनाने की शक्ति। दान=अपने पास जिस विषय का उत्कर्ष या आधिक्य है, उसके अंश विशेष का विचारपूर्वक दान करना जिससे अन्य का इष्टसाधन हो सके। सिद्धि-सम्बन्धी विशदविचार प्रसंख्यानभाष्य में द्रष्टव्य है ॥५१॥

(१) स्यादेतत्—पुरुषार्थप्रयुक्ता सृष्टिः, स च पुरुषार्थः प्रत्ययसर्गाद्वा तन्मात्रसर्गाद्वा सिद्ध्यतीति कृतमुभयसर्गेणेत्यत आह—

(१) यह सब कथन ठीक है; अब विचारणीय यह है कि सृष्टि भोग अथवा अपवर्ग रूप

न विना भावैर्लिङ्गं न विना लिङ्गेन भावनिर्वृत्तिः ।
लिङ्गाख्यो भावाख्यस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः ॥५२॥

(२) "न विना" इति । लिङ्गम् इति तन्मात्रसर्गमुपलक्षयति, भावैरिति च प्रत्ययसर्गम् । एतदुक्तं भवति—तन्मात्रसर्गस्य पुरुषार्थसाधनत्वं स्वरूपञ्च न प्रत्ययसर्गाद्विना भवति; (३) एवं प्रत्ययसर्गस्य स्वरूपं पुरुषार्थसाधनत्वञ्च न तन्मात्रसर्गादृते, इत्युभयथा सगप्रवृत्तिः । (४) भोगः पुरुषार्थो न भोग्यान् शब्दादीन् भोगायतनं शरीरद्वयञ्चान्तरेण सम्भवतीत्युपपन्नस्तन्मात्रसर्गः ।

(५) एवं स एव भोगो भोगसाधनानीन्द्रियाण्यन्तःकरणानि चान्तरेण न सम्भवति । न च तानि धर्मादीन् भावान् विना सम्भवन्ति । (६) न चापवर्ग-हेतुर्विवेकख्यातिरुभयसर्गं विना इत्युपपन्न उभयविधः सर्गः । (७) अनादि-त्वाच्च बीजाङ्कुरवन्नान्योन्याश्रयदोषभाव इति[1]। (८) कल्पादावपि प्राचीन-

---

पुरुषार्थ से प्रयुक्त होती है । वह पुरुषार्थ भी प्रत्ययसर्ग (धर्मादि-भाव सर्ग) से या तन्मात्रसर्ग (लिङ्ग) से सिद्ध होता है, अतः द्विविध सर्ग को मानना अनावश्यक है (एक ही पर्याप्त है); कारिकाकार इसका उत्तर देते हैं—

न भाव (बुद्धि के धर्मादि-परिणाम) के विना लिङ्ग (=तन्मात्र-परिणाम) सम्भव है और न लिङ्ग (तन्मात्र-परिणाम विशेष) के बिना भाव (=बुद्धि-परिणाम) ही । इसलिये लिङ्गनामक और भावनामक दो प्रकार के सर्ग प्रवृत्त होते हैं ॥५२॥

(२) कारिकागत 'लिङ्ग' पद तन्मात्रसर्ग का उपलक्षण है और भाव शब्द प्रत्यय-सर्ग (बुद्धि-परिणाम) का । प्रत्ययसर्ग के विना तन्मात्र-सर्ग न (भोगरूप) पुरुषार्थ में साधन ही होता है और न उसका स्वरूप ही सिद्ध होता है । (३) इसी प्रकार तन्मात्र परिणाम के विना प्रत्ययसर्ग (बुद्धिपरिणाम विशेष) भी न स्वरूपतः ही होता है और न वह पुरुषार्थ का साधन ही बनता है । इसलिये दोनों ही पदार्थ सृष्ट होते हैं ।

(४) 'भोग' नामक पुरुषार्थ शब्द आदि भोग्य विषय तथा भोगायतन रूप द्विविध (स्थूल और सूक्ष्म) शरीर के विना असम्भव है, इसलिये तन्मात्र-सर्ग सिद्ध होता है । (५) इसी प्रकार वही भोग स्वसाधन-भूत इन्द्रियों तथा त्रिविध अन्तःकरणों के विना असम्भव है; और इन्द्रिय एवं अन्तःकरण भी धर्मादि भावों के विना असम्भव हैं । (६) अपवर्गरूप पुरुषार्थ की साधन-भूत विवेक-ख्याति भी इस द्विविध (भाव एवं तन्मात्र) सर्ग के विना नहीं हो सकती । इस प्रकार लिङ्ग और भाव नामक द्विविध सर्ग (परिणाम) युक्तियुक्त है ।

(७) भाव और लिङ्ग की यह सृष्टि (प्रवाहरूप से) अनादि है, और इसीलिये बीजाङ्कुरन्याय से अन्योन्याश्रयरूप दोष की आपत्ति नहीं होती । (८) पूर्वकल्प में उत्पन्न भाव और लिङ्ग के संस्कार के अनुसार इस कल्प के आरम्भ में उत्पद्यमान

---

१. दोषमावहतीति कैश्चित् पठ्यते ।

कल्पोत्पन्नभावलिङ्गसंस्कारवशाद् भावलिङ्गयोरुत्पत्तिर्नानुपपन्नेति सर्वमवदातम् ॥५२॥

—००:०:००—

भाव और लिङ्ग की उत्पत्ति असङ्गत मानी नहीं जा सकती। इस प्रकार यह विषय निर्दोष हो जाता है ॥५२॥

५२वीं कारिका की व्याख्या

कारिकागत लिङ्ग शब्द का अर्थ वाचस्पति के अनुसार 'तन्मात्रसर्ग' है, जो हमारी दृष्टि में सर्वथा सांशयिक है। पहली बात तो यह कि लिङ्ग का इस अर्थ में प्रयोग न सांख्य में और न योग में दृष्ट होता है। तत्त्वसर्ग[1]-लिङ्गसर्ग–भावसर्गरूप एक सर्गत्रय की कल्पना सांख्यशास्त्र में है। इस विभाग में लिङ्ग का अर्थ तन्मात्र हो नहीं सकता, क्योंकि तत्त्वसर्ग में तन्मात्र का अन्तर्भाव निश्चित है। लिङ्ग को तन्मात्र के उपलक्षण के रूप में लेने का हेतु यह है—बुद्ध्यादिकरण जब तन्मात्र (=सूक्ष्म)-घटित होता है, तब वह लिङ्गशरीर (=सूक्ष्मशरीर) कहलाता है (वाचस्पति के अनुसार); अतः लिङ्गशरीर को तन्मात्र का उपलक्षक माना जा सकता है (लक्षणा के बल पर)। यह बात वैसी ही है कि जैसा कि कोई कहे कि राजपुत्र अभिषेक-संस्कृत होने पर राजा कहलाता है, अतः 'राजा' यह शब्द अभिषेकक्रिया का उपलक्षक हो सकता है (वाक्य-विशेष में)। हमारी दृष्टि में ऐसा कभी नहीं होता; ईदृश उपलक्षण का कोई उदाहरण नहीं है।

हमारी दृष्टि में इस कारिका में लिङ्ग (द्र० का० २०) और अष्टधा भावों का जैसा सम्बन्ध है वह दिखाया गया है। इसका उद्देश्य है। आगामी कारिका में जीवों का जो भेद कहना है, वह भेद मूलतः अन्तःकरणगत भावों के विकासतारतम्य पर आधृत है—इसको दिखाने के लिये ही यहाँ ऐसा कहा गया है।

तन्मात्र और अष्टधा भावों के सम्बन्ध पर वाचस्पति ने जो कहा है (एतदुक्तं भवति·········) वह कोई सुदृढ़ युक्ति नहीं है। प्रत्ययसर्ग के बिना तन्मात्रसर्ग का भोगापवर्ग-साधनत्व और स्व-स्वरूप सिद्ध नहीं होते—यह मत बहुत कुछ शिथिल है। प्रत्ययसर्ग को वाचस्पति धर्मादि आठ भाव ही समझते हैं, जो बुद्धिस्थ हैं। तन्मात्र का साक्षात् उपादान बुद्धि नहीं है, अहंकार का तामस रूप भूतादि है। किंच पुरुषार्थ-साधन

---

१. तत्त्वसर्गं भूतसर्गं भावसर्गं तथैव च (अवन्तीक्षेत्र० ४।७७; सृष्टिप्रसंग में)। तत्त्वसर्गो महदादिः, भावसर्गस्तु धर्मादिः, भूतसर्गश्च ब्रह्मादिः (युक्तिदी० का० २१); 'तत्त्व-भूत-भावाख्यः'।

सप्तलोकविशिष्ट ब्रह्माण्ड की अभिव्यक्ति होने पर ही संभव होता है। ब्रह्माण्ड पाञ्चभौतिक है, अतः पुरुषार्थसाधन में तन्मात्र (जो सुख-दुःख-मोह बोध उत्पन्न नहीं करता अपने साक्षात्कारी के चित्त में) का सांक्षात् योग भी नहीं है। इसी प्रकार हम देखते हैं कि धर्मादि आठ भाव (प्रत्ययसर्ग) बुद्धि में तब भी हैं, जब प्रलयावस्था है अर्थात् जब तन्मात्र सर्ग नहीं है (इस अवस्था में ये भाव निरुद्धावस्थ होकर ही रहते है)। इससे यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि तन्मात्र से धर्मादि आठ भावों का जो सम्बन्ध है (सम्बन्ध अवश्य ही है) वह इस प्रकार का नहीं है कि हम इन दोनों को अविनाभावी कह सकें (जैसा कि वाचस्पति कहना चाहते हैं) ॥५२॥

(१) विभक्तः प्रत्ययसर्गः; भूतादिसर्गं विभजते—

अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति।
मानुष्य[1]श्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः ॥५३॥

(२) "अष्टविकल्पः" इति। ब्राह्मः, प्राजापत्यः, ऐन्द्रः, पैत्र्यः[2] गान्धर्वः, याक्षः, पैशाचः, इत्यष्टविधो दैवः सर्गः। (३) "तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति" पशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावराः। (४) "मानुष्यश्चैकविधः" इति, ब्राह्मणत्वाद्यवान्तरजातिभेदाविवक्षया; संस्थानस्य चतुर्ष्वपि वर्णेष्वविशेषात्। (५) इति समासतः संक्षेपतः। भौतिकः सर्गः। (६) घटादयस्त्वशरीरत्वेऽपि स्थावरा एवेति ॥५३॥

(१) प्रत्ययसर्ग (धर्म, ज्ञान आदि बुद्धिकार्य) का विभागपूर्वक प्रतिपादन हो गया है। अब भूतादिसर्ग (=तन्मात्र-परिणाम) का विभाजन (विशेष धर्म से प्रतिपादन) कारिकाकार कर रहे हैं—

देव-सृष्टि (देवयोनि) आठ प्रकार की है, तिर्यक्सृष्टि (तिर्यग्योगि) पाँच प्रकार की है तथा मनुष्यसृष्टि (मानवजाति) एक प्रकार की है। यही संक्षेप में भौतिक सृष्टि है ॥५३॥

(२) ब्रह्मा, प्रजापति, इन्द्र, पितृ (पितृयोनि), गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और पिशाच यह आठ प्रकार का दैवसर्ग (देवयोनि) है। (३) तिर्यक्सृष्टि पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप (सर्पणशील सर्प-कीटादि) तथा स्थावर (तरु-गुल्म आदि) रूप से पाँच प्रकार की होती है। (४) चारों वर्णों के संस्थान (=अवयवव्यूह) समान होने के कारण ब्राह्मणादि वर्णों के अवान्तर भेद की विवक्षा न करके 'मनुष्यसृष्टि एक प्रकार की है' ऐसा कहा गया है। (५) यही संक्षेप में भौतिक (=पञ्चभूतविकारात्मक) सृष्टि है। (६) घट

१. मानुषक इति पाठः कैश्चिद् व्याख्यातः।
२. सौम्यः (पाठा०)।

आदि पदार्थों के शरीर न होने पर भी (क्योंकि वे चेष्टावान् अन्त्यावयवी नहीं हैं; अन्त्यावयवी=वह अवयवी जो किसी का अवयव नहीं है) वे स्थावर (=स्थितिशील=अचल) ही हैं (अर्थात् 'स्थावर' पद शरीरपरक नहीं है ।।५३।।

५३वीं कारिका की व्याख्या

कारिका का अर्थ यह है कि भूतों[1] (=प्राणी=जीव=शरीर-इन्द्रिय-युक्त-उपाधिमान् पुरुष=सोपाधिक पुरुष) से संवन्धित सर्ग (विभिन्न जातियों में जो प्रादुर्भाव होते हैं वे सशरीर प्राणी) त्रिविध है—देवजाति के प्राणी जो आठ भागों में विभक्त हैं; तिर्यक् जाति के प्राणी जो पाँच भागों में विभक्त हैं; मनुष्यजाति के प्राणी जो एक ही प्रकार का है। [मानुष+क=मानुषक (पाठा०); मनुष्य शब्द से भी मानुषक शब्द वन सकता है] ।

सभी प्राणियों को जो तीन जातियों में बाँटा गया है, यह विभाग त्रिगुणानुसारी है। देव जाति में सत्त्वगुण की, तिर्यक् जाति में तमोगुण की तथा मनुष्यजाति में रजोगुण की प्रधानता है। रजोगुण की प्रधानता के कारण ही मनुष्य वहुत दूर तक स्वबुद्धि द्वारा विचार पूर्वक पुरुषकार का प्रयोग करने में समर्थ होता है। अपने इन्द्रियों पर जितना नियन्त्रण मनुष्यजाति के प्राणियों में देखा जाता है, उतना नियन्त्रण अन्य जाति के प्राणियों में संभव नहीं है। पुराणों में मनुष्य को जो 'साधक' कहा गया है (सृष्टि प्रकरण में देव-तिर्यक्-उद्भिद् जाति की तुलना में) उसका भी यही तात्पर्य है।

देवजाति और तिर्यक्जाति (मनुष्यजाति भी) करणों की प्रकृति के विभाग के अनुसार हैं; शरीर का स्थान इस विभाग में गौण ही है। पर चूंकि प्राणरूप करण-शक्ति बाह्य उपादान को शरीर रूप से व्यूहित करती है, अतः शरीर-भेद भी करण-प्रकृति के भेद के अनुसार होते ही हैं। शरीरभेद से करणों के अधिष्ठानों में भी भेद होते हैं और बाह्य व्यवहार्य द्रव्यों के भेद से भी शरीर के स्थूल भेद चिरकाल होते

१. कारिकोक्त भौतिक शब्दान्तर्गत जो भूत शब्द है, उसका अर्थ प्राणी ही हो सकता है। भूत=भूततत्त्व नहीं है (प्राणियों के शरीर भूत द्वारा निर्मित होने पर भी)। यह चतुर्दशधाविभाग भूततत्त्व का नहीं हो सकता। यही कारण है कि हम भौतिक का elemental अर्थ करना संगत नहीं समझते। कुछ व्याख्याकार भौतिकः=तन्मात्रकृतः कहते हैं, यह सर्वथा अशुद्ध है। प्राणी-विभाग के प्रसङ्ग में तन्मात्रकृतता का क्या प्रसङ्ग है? भूत का प्राणी रूप अर्थ अत्यन्त प्रसिद्ध है (आधिभौतिक आदि शब्द द्रष्टव्य हैं)। तैर्यग्योन=तिर्यग्योनिजात; यह प्राणी का ही विशेषण हो सकता है—प्राणिनिवासभूत लोक का नहीं। वाचस्पति ने तैर्यग्योन के जिन पाँच भेदों का उल्लेख किया है वे पृथ्वी में ही रहते हैं—यह देखा जाता है।

रहेंगे। शरीर का ईदृश भेद सांख्यशास्त्र का मुख्य विचार्य विषय नहीं है—करणप्रकृति ही प्रधानतः विचार्य है।

यह अवश्य ही स्मरणीय है कि हम देवजाति के इन भेदों का रहस्य यथावत् नहीं जानते हैं[1]। इन भेदों के अतिरिक्त और भी कोई भेद है या नहीं, यह भी अज्ञात है। प्रत्येक का स्वरूप भी पूर्णतः ज्ञात नहीं है। अयोगी टीकाकारों ने इस विषय को स्पष्ट करने की कुछ भी चेष्टा नहीं की है। नारकी प्राणी, विदेहलीन, प्रकृतिलययुक्त प्राणी किस भेद में आयेंगे—यह सर्वथा स्पष्ट नहीं है। मनुष्यजाति की करणप्रकृति का अवान्तर भेद कारिकाकार ने नहीं माना। यहाँ ब्राह्मणत्वादि भेद का कोई स्वारस्य नहीं है। स्वकालोचित संस्कार से ही वाचस्पति ने ऐसा कहा है। मनुष्य-करण की प्रकृति में जो सामंजस्य है उसमें ऐसा कोई भेद होने की संभावना नहीं है, जिससे अवान्तर जाति बनती हो—ऐसा सामान्यतया प्रतीत होता है। सांख्यीय दृष्टि में प्राणी की जाति पर विशद विचार प्रसंख्यानभाष्य में द्रष्टव्य है।

वाचस्पति तिर्यक् जाति में पशु, पक्षी, मृग, सरीसृप और स्थावरों को गिनते हैं। स्थावरों की गणना पश्वादि के साथ एक जाति में करने का स्वारस्य क्या है—यह स्पष्ट नहीं है[2]।

---

१. मोक्षकाण्ड (पृ० १०९) में उद्धृत देवल के वचनों में देव-मनुष्य-तिर्यक् जाति के स्वभावादि का स्पष्ट विवरण दिया गया है। पुराणों में सृष्टिप्रकरण में ब्रह्मा के नव सर्गों के प्रसंग में मुख्यस्रोत (=मुख्यसर्ग) रूप स्थावर, ऊर्ध्व स्रोत रूप देव, तिर्यक्स्रोत रूप पशुपक्षी और अर्वाक् स्रोत रूप मनुष्य के लक्षण स्पष्ट भाषा में दिये गये हैं। इस कारिका के विषय में यह भी लक्षणीय है कि मनुष्ययोनिज और देवयोनिज प्राणी के लिये जिस प्रकार पृथक् पृथक् लोक स्वीकृत हुये हैं तिर्यक् योनिज प्राणी के लिये भी तथैव पृथक् लोक विशेष होना चाहिये था यदि यह माना जाये कि एक ही लोक में तिर्यक्जाति और मनुष्यजातियों के लोग रह सकते हैं तो देवजाति के लोग भी वहाँ रह सकेंगे—इसमें संशय नहीं है। पर इन तीन जाति के व्यक्तियों का एक लोक में अवस्थान दृष्ट नहीं होता। टीकाकारों ने प्राणियों के इन १४ भेदों के स्वरूप पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। प्राणी के भेद सम्बन्धी सांख्यीय दृष्टिकोण पर विस्तृत विचार प्रसंख्यानभाष्य में द्रष्टव्य है।इस विषय में टीकाकारो का ज्ञान अत्यन्त विपर्यस्त है।

२. 'पश्वादिस्थावरान्त' रूप गणना दार्शनिकों में सुप्रसिद्ध रहा है; शंकराचार्य ने भी इस गणना का उल्लेख बहुशः किया है। धर्ममार्ग का अतिक्रम करके जिन प्राणियों ने कष्टकर गति प्राप्त की है, उनकी एक त्रिविध गणना ऐतरेय आरण्यक (२।१) में है, जिनमें 'वयांसि, वङ्गावगधाः इरपादाः' गणित हुये हैं। वयांसि=पक्षिसमूह। इरपादाः=उरःपादाः (सर्पादयः)। वङ्गाविगधाः=वङ्गाः (वनगाःवृक्षाः) अवगधाः (व्रीहयाद्योषधयः);-यह समस्त पद है। इस वङ्ग शब्द का 'वङ्ग नामक देश के निवासी व्यक्ति' रूप अर्थ संस्कृतभाषा तथा ग्रन्थप्रकरण में सर्वथा अज्ञ इतिहासविद्गण करते हैं। वेदमन्त्र में अक्सिजेन-हाइड्रोजेन आदि प्रतिपादित हुये हैं—यह चिन्ता जैसी निन्द्य है, उपर्युक्त ऐतिहासिक दृष्टि भी वैसी ही निन्द्य है।

४६ वीं कारिका में हमने कहा है कि स्थावरों में विपर्यास प्रधानतया है और तिर्यक् जाति में अशक्ति प्रधानतया है; ऐसी स्थिति में तिर्यक् और स्थावरों को पुनः तिर्यक् रूप एक जाति में रखना क्या संगत है ? पुराणों में तिर्यक् और स्थावर नामक दो प्रकार के प्राणी स्वीकृत हुये हैं (सृष्टि-प्रसंग में)। प्रत्येक जाति के पृथक् पृथक् लक्षण भी दिये गये हैं। आयुर्वेद आदि में भी तिर्यक्, स्थावर (वृक्ष आदि) और पश्वादि को एक साथ तिर्यक् जाति में रखा नहीं गया है। ऐसी स्थिति में हम तिर्यक् जाति के वाचस्पति-दर्शित पञ्चधा विभाग को असमचीन ही समझते हैं।

'समासतः' के दो तात्पर्य हो सकते हैं—(१) इन १४ प्रकारों के अतिरिक्त अन्य प्रकार भी हैं, तथा (२) इन १४ प्रकार के अवान्तर भेदों का जो उल्लेख नहीं किया गया, उसका हेतु है—ग्रन्थकार का संक्षेप में प्रतिपादन करने की इच्छा। द्वितीय अर्थ में किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती। प्रथम अर्थ कारिकाकार को अभीष्ट नहीं हो सकता है। 'समासतः' कहने का यह भी अभिप्राय हो सकता है कि प्रदर्शित पद्धति से पृथक् अन्य पद्धतियों से भी प्राणियों के जो वर्गीकरण किये गये हैं, वह इस ग्रन्थ में नहीं कहे गये हैं।

' घटादयस्तु अशरीरत्वेऽपि स्थावरा एव' यह वाचस्पतिवाक्य विचार्य है। घट, पट आदि (वाचस्पति के अनुसार) किसी प्रकार के शरीर नहीं हैं; ऐसा होने पर भी घट आदि स्थावर रूप प्राणी के अन्तर्गत हैं—यह वाचस्पति कहना चाहते हैं। प्राणियों के विभाग में घटादि को रखने का औचित्य ही क्या है ? यदि यह कहा जाये कि स्थावर = 'स्थितिशील पदार्थ मात्र', तो घट स्थावर होता है, पर प्राणी नहीं होता—इस प्रकार अर्थभेद कर समाधान देना असंगत है। प्राणीविशेष का वाचक स्थावर शब्द को जड़ वस्तुमात्र का वाचक मानकर उत्तर देना 'छल' ही है। चक्षुवाची नयन रूप वस्तु को लेकर किसी शङ्का का कोई समाधान यदि नयन शब्द को क्रियाविशेष का वाचक मानकर किया जाये तो जो दोष होगा—वही दोष यहाँ भी होता है ॥५३॥[1]

---

१. जो व्यवहारतः शरीरी प्राणी नहीं है, पर स्थावर रूप प्राणी विशेष के रूप में जिसको माना जाता है—ऐसी किसी वस्तु का नाम ही वाचस्पति ने लिया था; यह वस्तु घट नहीं हो सकती, पट भी नहीं, क्योंकि इनको वाचस्पति स्वदृष्ट्या प्राणी नहीं मानते; क्या यह सम्भव है कि तत्त्वकौमुदीवाक्य का पाठ 'वटादयस्तु……'हो ? स्थूलदृष्ट्या वट आदि वृक्ष शरीरी प्राणी नहीं हैं (वृक्ष में शरीरधर्म का अभाव ही स्थूलदृष्टि से ज्ञात होता है), तथापि वट आदि स्थावररूप प्राणी-भेद में गिने जाते हैं। 'वटादयस्तु' पाठ मानने पर किसी भी क्लिष्ट-कल्पना की (जो कल्पनायें विभिन्न टीकाओं में दृष्ट होती हैं) आवश्यकता नहीं रह जाती—यह द्रष्टव्य है। यह वाक्य स्थानच्युत हो गया है। इसका पाठ 'पशुमृगपक्षिसरीसृपस्थावराः' के बाद ही होना उचित है। हमारा यह मत अभी सन्दिग्धकोटि में ही है।

(१) भौतिकस्यास्य सर्गस्य चैतन्योत्कर्षनिकर्षतारतम्यामूर्ध्वाऽधोमध्यभावेन त्रैविध्यमाह—

ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमोविशालश्च मूलतः सर्गः।
मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः ॥५४॥

(२) "ऊर्ध्वं सत्त्वविशालः" इति। द्युप्रभृतिः सत्यान्तो लोकः सत्त्वबहुलः। (३) "तमोविशालश्च मूलतः सर्गः" पश्वादिः स्थावरान्तः सोऽयं मोहमयत्वात्तमोबहुलः। (४) भूर्लोकस्तु सप्तद्वीपसमुद्रसन्निवेशो मध्ये रजोविशालो धर्माधर्मानुष्ठानपरत्वाद् दुःखबहुलत्वाच्च। (५) तामिमां लोकसंस्थितिं संक्षिपति—ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः। स्तम्बग्रहणेन वृक्षादयः संगृहीताः ॥५४॥

---

(१) चैतन्य के उत्कर्ष और अपकर्ष के अनुसार ऊर्ध्व, अधः और मध्यम लोकों में विभक्त इस भौतिक सृष्टि की त्रिविधता कही जा रही है—

ऊर्ध्व लोकों में सत्त्वप्रधान और अधोलोकों में तमः-प्रधान सृष्टि होती है। मध्य में रजः-प्रधान सृष्टि होती है। यही ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब (=क्षुद्रतृण विशेष) पर्यन्त सृष्टि है ॥५४॥

(२) ऊर्ध्वलोक सत्त्वविशाल है—'द्यु' लोक से लेकर सत्यलोक पर्यन्त (अर्थात् भुवः, स्वः, महः, जन, तपः और सत्य) लोक सत्त्व-प्रधान होते हैं। (३) पशुओं से लेकर स्थावर (वृक्ष आदि) तक की सृष्टि मोहमय होने के कारण तमः-प्रधान होती है। (४) सात द्वीपों और सात समुद्रों से युक्त यह मध्यवर्ती भूर्लोक रजःप्रधान है अर्थात् यहाँ धर्म, अधर्म का अनुष्ठान बहुलतया होता है तथा यह दुःखमय है। (५) इस लोक-संस्थान (विभिन्न लोकों के विन्यास) को संक्षेपतः 'ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब (तृण-विशेष) पर्यन्त' ऐसा कहा गया है। स्तम्ब-शब्द के ग्रहण से वृक्ष आदि का भी ग्रहण किया गया है ॥५४॥

५४वीं कारिका की व्याख्या

इस कारिका में कथित लोकरूप विषय पर टीका में कुछ भी नहीं कहा गया है, अतः सांख्ययोगविद्या में इस विषय से सम्बन्धित जो मत हैं, उनका प्रतिपादन किया जा रहा है। एक एक ब्रह्माण्ड एक एक प्रजापति द्वारा व्यक्तीकृत और विधृत है। त्रैगुणिक होने के कारण ब्रह्माण्ड में भी सत्त्वबहुल स्तर, रजोबहुल स्तर और तमोबहुल स्तर होते हैं। प्रत्येक स्तर के अनेक स्वगत भेद भी हैं। जिस प्राणी में यादृश शरीरग्रहण का संस्कार (मृत्यु के

समय) उद्बुद्ध होता है, वह प्राणी तादृश शरीर-ग्रहणोपयोगी लोक में प्राकृतिक नियम से आकृष्ट होकर, अवश होकर, उपस्थित होता है। चूँकि बहुलोकों तथा बहुप्रकार के शरीरों का समष्टिभूत यह ब्रह्माण्ड प्रजापति का चित्त-प्रतिष्ठ है, अतः लोकों में प्राणियों के गमनागमन अबाध रूप से होते रहते हैं।

ब्रह्माण्डान्तर्गत लोकसंस्थान हमारे लिये अनुमानगम्य नहीं है, क्योंकि अस्मादृश व्यक्ति उपयोगी लिङ्गों का परिदर्शन करने में असमर्थ हैं। कोई भी व्यक्ति अपने चित्त में योगज स्थैर्य का उद्भावन कर लोकसंस्थान का प्रत्यक्षज्ञान कर सकता है, पर उस ज्ञान को यथायथ रूप से प्रकटित करना (प्रचलित भाषा के माध्यम से) असम्भव ही है। लोकसंस्थानसाक्षात्कारी योगियों का एतद्विषयक विवरण शिष्यपरम्परा में दीर्घकाल तक सुरक्षित रहकर बाद में इतिहास-पुराणादि में उपनिबद्ध हुआ है—ऐसा प्रतीत होता है। पुराणादि के रचयिताओं ने उस योगज साक्षात्कार के विवरण को यथावत् कहा ही है—ऐसा हम नहीं समझते। मोक्षसाधन के लिये अनुपयोगी इन विषयों के जो विवरण विभिन्न ग्रन्थों में मिलते हैं, वे सम्यक् शुद्ध नहीं हैं—यह हमारी धारणा है। इन विषयों में भ्रान्ति रहने पर भी योगसाधन में बाधा नहीं होती, क्योंकि इन विषयों के भ्रान्त विवरणों को शुद्ध करना न अनुमानसाध्य है और न इन ग्रन्थों के लेखकों द्वारा प्रत्यक्षसाध्य है। लोकसंस्थान, स्वर्ग, नरक आदि से सम्बन्धित अनेक 'शास्त्रीय' विवरण पल्लवित ही हैं, जो साधारण श्रोताओं को लक्ष्य कर रोचकता लाने के लिये लिखे गये हैं।

इस कारिका में लोक और लोकवासी प्राणी का अविशेष रूप से प्रतिपादन है। 'ब्रह्मा से शुरू कर स्तम्भ पर्यन्त' का लक्ष्य प्राणी ही हो सकता है। 'ऊर्ध्वं सत्त्वविशालः' का तात्पर्य 'लोक' से है–यह वाचस्पति कहते हैं। इस कारिका का विषय लोकसंस्थिति है–यह भी वे कहते हैं। तत्त्वकौमुदीगत लोक का लक्ष्य है 'लोकवासी जीव'—यह सारबोधिनी में कहा गया है।

ब्रह्माण्ड का जो सत्त्वबहुल अंश है, उसमें सत्य-तपः-जन-स्वः–भुवः लोक हैं;[1] रजोबहुल अंश में भूः; तमोबहुल अंश में नरक। यह भी कहा जाता है कि सत्य-तपः-जन सत्त्वबहुल; स्वः- महः- भूः रजोबहुल (पाताल भूः का ही स्थूलांश विशेष है); नरक तमो-बहुल या पाताल-नरक तमोबहुल हैं।

---

१. सप्त लोकों के नामों के प्रातिपदिकरूप हैं—भूस्, भुवस्, स्वर् (यह रकारान्त है), महस्, जन, तपस् और सत्य। कुछ व्याख्याकार जन को जनस् समझते हैं (तपस् की तरह), जैसा कि निम्नोक्त वाक्यों से ज्ञात होता है—जनस्तपःसत्यलोकपर्यन्तः (किरणावली), जनस्तपः—समाख्यानाम् (सारबोधिनी)। गजानन शास्त्री जी भी जनस् ही समझते हैं (पृ० २७१)। भूर्लोक के लिये भूलोक का प्रयोग भ्रामक है, क्योंकि भूलोक शब्द बाहुल्येन पृथिवीपिण्ड (सम्बद्ध देश सहित) के लिये प्रयुक्त होता है।

धर्माचरण द्वारा प्राणियों की करणप्रकृतियों में सत्त्व का आधिक्य हो जाता है, अतः मरणोपरान्त सत्त्वाधिक्ययुक्त लोक में ही ईदृश प्राणी उपस्थित होकर तत्रत्य विशेष रूप उपादान से शरीरों का निर्माण करते हैं। उस लोक तक पहुँचने के लिये जो शरीर आवश्यक होता है, वह है—आतिवाहिक शरीर। पुनः यह स्मरणीय है कि चूँकि ये लोक सूक्ष्म हैं, अतः दैशिक दूरी का कोई प्रश्न यहाँ नहीं है। विषयों के स्वभाव के अनुसार ही प्रश्न करना चाहिये। उदाहरणके लिये यदि ऐसा कोई द्रव्य हो जिसमें लम्बाई मात्र है, मोटाई, चौड़ाई नहीं हैं, तो परिमाण-सम्बन्धी प्रचलित ज्ञान को यथावत् रखकर हम उस विषय में प्रश्न नहीं पूछ सकते।

'तमोविशालश्च मूलतः सर्गः' में वाचस्पति ने जो 'पश्वादिस्थावरान्तः' (लोक के परिचय में लोकवासी का उल्लेख) कहा है, वह हमारी दृष्टि के अनुसार नहीं है। ब्रह्माण्ड में तमः प्रधान अंश है, जिसमें तमःप्रधान शरीरधारी प्राणी भी हैं। यों प्रत्येक लोक में अवान्तर गुणभेद हैं ही। तदनुसार पृथ्वी में तामस प्राणो पश्वादि हैं (मनुष्य की तुलना में)। मनुष्यों में सत्त्वादिभेदानुसार भेद हैं।

इस प्रसंग में एक गूढ़ बात की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। त्रिगुण जाति में भी है, व्यक्ति में भी है। जिस प्रकार ब्रह्माण्ड के तीन भाग हैं-सत्त्वबहुल, रजोबहुल और तमोबहुल, उसी प्रकार प्रत्येक भाग में भी सत्त्व-रजस्तमोबहुलता से युक्त भाग हैं। उन भागों में भी ईदृश तीन भाग हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक लोक में प्राणियों की अवान्तर जातियाँ होंगी। उदाहरण के लिये रजोबहुल भूर्लोक में मनुष्य की तुलना में पशु में तामस भाव प्रबल होगा। पशुओं की तुलना में स्थावरों में तामस भाव प्रबल होगा। गुणों के इस प्राबल्य का फल अन्तःकरण में या बाह्यकरण में ही दृष्ट होता है-यह बात नहीं, शरीररचना में भी दृष्ट होता है। तामस भाव के साथ पार्थिवभाव, संहनन, गन्धयुक्तता, काठिन्य बढ़ते हैं; यही कारण है कि वृक्षरूप प्राणी का शरीर अत्यन्त दृढ़-स्थिर है, पशु में मनुष्यापेक्षया तमोगुण की अधिकता के कारण पशु का शारीर बल मनुष्यशरीर के बल की अपेक्षा अधिक है। मनुष्यों की अपेक्षा पशुओं में तमःप्रधान इन्द्रियों की शक्ति अधिक है। प्राणतामस है; वृक्षगत प्राणशक्ति मनुष्यशरीर और पशुशरीर में स्थित प्राणशक्ति से अनेक गुण अधिक है। उद्भिद् में प्राणशक्ति के प्राबल्य के कारण ही उद्भिद् स्वस्वरूप में ही किसी न किसी प्राणो के लिये प्राणधारणोपयोगी द्रव्य के रूप में विद्यमान है। वृक्षगत प्राणशक्ति के आधिक्य का ही फल है कि वृक्ष बाह्य प्रकृति से साक्षात् अपना खाद्य बना लेता है—उच्चश्रेणी के प्राणी वृक्षवत् पार्थिव वस्तु को सहजतया खाद्य नहीं बना सकते।

'ऊर्ध्वं सत्त्वविशालः' में जो ऊर्ध्वता है, उससे दिक् का कोई सम्बन्ध नहीं है, यह स्पष्ट है। अन्तःकरणगत तामस भाव हट कर जब सात्त्विक भाव की वृद्धि होती है, तब करणादि में जो प्रसाद-लाघव होते हैं; उनको लक्ष्यकर ही 'ऊर्ध्वम्' शब्द दिया गया

है, ऐसा नहीं कि सत्यादि सत्त्वबहुल लोकों के साथ पृथिवी-दृष्टया ऊँचाई का कोई सम्बन्ध है ।

ब्रह्माण्डसर्जक प्रजापति हिरण्यगर्भ ब्रह्मा सत्त्वगुण के सर्वोच्च भाव में अवस्थित हैं, अतः उनका निवास यदि कहना हो हो तो सत्यलोक रूप सर्वोच्च सत्त्वबहुल लोक को ही निवास के रूप में कहना होगा । वस्तुतः सत्यलोक ब्रह्माण्ड का सूक्ष्मतम केन्द्र का नाम है, अन्य लोक क्रमशः स्थूल होते गये हैं—राजस-तामस भावों की वृद्धि के साथ । प्रत्येक प्राणी के शरीर में उसका मन या आत्मभाव जिस प्रकार सर्वव्यापी है, ब्रह्माण्डान्तर्गत सभी पदार्थों के साथ प्रजापति का मन भी (ऐश संस्कार के कारण) तथैव सर्वव्यापी है । मेरे अपने मन के साथ जिस प्रकार दूर-निकटत्व का कोई प्रश्न नहीं है प्रजापति के अहंकार के विकारभूत इस ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु के साथ प्रजापति का भी दूरत्व का कोई प्रश्न नहीं है । ब्रह्माण्ड प्रजापति के अहंकार का स्थूल रूप है—इस ज्ञान का अभ्यास करने के लिये शास्त्र में ब्रह्माण्डसंस्थान, ब्रह्माण्डसृष्टि आदि विषय मुख्यतया उपदिष्ट हुये हैं। सृष्टिक्रम को सृष्टिक्रम के रूप में जानने से कोई लाभ (आत्मलाभ की दृष्टि से नहीं होता ।

'भूर्लोकस्तु सप्तद्वीपसमुद्रसन्निवेशः' वाक्य आंशिक सत्य है क्योंकि यह सन्निवेश भूर्लोक का एक वाह्य प्रदेश है । भूपिण्ड का यह विवरण सामान्यतया ठीक ही है यद्यपि वर्तमान में ईदृश सन्निवेश दृष्ट नहीं होता; अथवा इस सन्निवेश का तात्पर्य हम नहीं जानते हैं । यह ज्ञातव्य है कि भूपिण्ड और भूर्लोक एक पदार्थ नही हैं । जिस प्रकार भोग-लोक रूप चन्द्रलोक और यह चन्द्र नामक पिण्ड अत्यन्त भिन्नपदार्थ हैं, उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये । चन्द्रलोकसम्बन्धी शास्त्रीय मत चन्द्रपिण्ड पर कभी भी नहीं घट सकते ।

सप्तसमुद्र लवण, इक्षु, सुरा, सर्पिः, दधि, दुग्ध, जल से पूर्ण हैं । व्यासभाष्य (३।२६) में लवणोदधि :का नाम लेने के बाद अन्य वाक्य में 'इक्षुरस-सुरा-सर्पि-र्दधिमण्ड-क्षीर-स्वादूदकाः' कहा गया है । कोई कोई 'इक्षु,…'आदि वाक्य को ही सप्त समुद्र नामों के ज्ञापक वाक्य के रूप में समझते हैं और दधि, मण्ड, ऐसा दो नाम समझते हैं । कुछ लोग लवण नाम रखते है, पर स्वादूदक को छोड़ देते हैं और दधि-मण्ड को दो नाम समझते हैं। वस्तुतः लवण, इक्षुरस, सुरा, सर्पिः, दधि, दुग्ध, जल—ये ही सात समुद्रों के आधेय तरल पदार्थों का परिचय है । इस विषय का विशेष ज्ञान प्रचलित परम्परा मेंसुरक्षित नहीं है। कैवल्य लोकातीत है, अतः इन लोकों में अवस्थित कोई भी जीव कैवल्यप्राप्तिकारी नही है; उच्च विवेक ज्ञान का साधक उच्च-उच्चतर लोक में रहते हैं—यह स्पष्ट है ॥५४॥

(१) तदेवं सर्गं दर्शयित्वा तस्यापवर्गसाधनवैराग्योपयोगिनीं दुःखहेतुतामाह—

तत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः ।
लिङ्गस्याविनिवृत्तेस्तस्माद् दुःखं स्वभावेन ॥५५॥

(२) "तत्र" इति । तत्र शरीरादौ । यद्यपि विविधा विचित्रानन्दभोगभागिनः प्राणभृद्भेदाः, तथापि सर्वेषां जरामरणकृतं दुःखमविशिष्टम् । (३) सर्वस्य खलु कृमेरपि मरणत्रासो 'मा न भूवम् भूयासम्' इत्येवमात्मकोऽस्ति । दुःखं च भयहेतुरिति दुःखं मरणम् ।

(४) स्यादेतत्—दुःखादयः प्राकृता बुद्धिगुणाः, तत्कथमेते चेतनसम्बन्धिनो भवन्तीत्यत आह—"पुरुषः" इति । 'पुरि लिङ्गे शेते' इति पुरुषः, लिङ्गं च तत्सम्बन्धीति चेतनोऽपि तत्सम्बन्धी भवतीत्यर्थः ।

(५) कुतः पुनर्लिङ्गसम्बन्धिदुःखं पुरुषस्य चेतनस्येत्यत आह—'लिङ्गस्याविनिवृत्तेः"—पुरुषाद्भेदाग्रहाल्लिङ्गधर्मानात्मन्यध्यवस्यति पुरुषः ।

---

(१) इस प्रकार सृष्टि का विवरण देकर उसकी दुःखहेतुता को कहते हैं जो मोक्ष के साधन-भूत वैराग्य के लिये उपयोगी है ।

लिङ्ग और पुरुष का भेदज्ञान न रहने के कारण (अथवा लिङ्ग की विनिवृत्ति न होने तक) चेतन पुरुष शरीरादि में उत्पन्न जरा-मरण-हेतुक दुःख भोगता है । अतः यह सिद्ध होता है कि स्वभाव से ही दुःख होता है ॥५५॥

(२) कारिकोक्त 'तत्र' का तात्पर्य है शरीर आदि में । यद्यपि प्राणधारी (जीव) विचित्र सुख-भोग भोगने वाले होने से विविध हैं, तथापि जरा और मरण से उत्पन्न दुःख सभी को समान रूप से प्राप्त होता है । (३) मैं न रहूँ ऐसा न हो, अपितु सदा रहूँ—इस प्रकार का मृत्युभय सभी में यहाँ तक कि कृमि में भी रहता है । भय का हेतु दुःख ही है, अतः मृत्यु दुःख (=दुःखद) है ।

(४) यह मत ठीक है परन्तु दुःख आदि तो प्रकृतिजात होने से बुद्धि के गुण हैं । ये सब चेतन पुरुष से सम्बद्ध कैसे होते हैं ? इसके उत्तर में कारिकाकार कहते हैं (पुरुष दुःख पाता है ।) 'पुरुष' शब्द का अर्थ है—'पुरि शेते' अर्थात् वह लिङ्गशरीर (=पूः) में रहनेवाला (=शेते) है, और 'लिङ्ग' दुःखादि से सम्बद्ध है, अतः चेतन पुरुष भी बुद्धि और दुःखादि गुणों से सम्बद्ध होता है ।

(५) लिङ्गशरीर संबद्ध दुःख चेतन पुरुष से कैसे सम्बद्ध हो जाता है—इसके उत्तर में कारिकाकार कहते हैं—'लिङ्गस्याविनिवृतेः' पुरुष से लिङ्ग का भेदज्ञान न होने से

(६) अथवा दुःखप्राप्ता ववधिराङा कथ्यते, लिङ्गं यावन्न निवर्तते तावदिति । ५५ ॥

लिङ्ग के धर्मों को पुरुष अपने में आरोप कर लेता है । (६) 'अनिवृत्तिः' पद में आङ् (आ) उपसर्ग है, जिसके द्वारा दुःखभोग की अवधि बताई गई है, अर्थात् जब तक लिङ्गशरीर की निवृत्ति (=विनाश) नहीं होती तब तक दुःख का भोग होता रहता है ॥५५॥

५५वीं कारिका की व्याख्या

वाचस्पति ने 'तत्र' का अर्थ 'शरीरादौ' (=शरीरादि में) किया है । आदि=विषय । सामान्यतया इसमें कोई दोष नहीं है, पर हमारी दृष्टि में तत्र= 'लोकेषु' संगततर है, क्योंकि ब्रह्माण्ड की अभिव्यक्ति होने पर इसके अन्तर्गत प्राणी (अर्थात् सोपाधिक पुरुष) अपनी करणप्रकृति के अनुरूप किसी न किसी लोक में ही रहते हैं (तत्र तिष्ठन् पुरुषः···) ५४वीं कारिका की व्याख्या में वाचस्पति सत्त्वविशाल विशेषण का विशेष्य 'लोक' ही कहते हैं, अतः 'तत्र' से लोक लक्षित हो तो कोई भी दोष नहीं होता । लोक में रहना और शरीरी रहना अविनाभावी है । जब तक (स्थूल-सूक्ष्म) शरीर के साथ सम्बन्ध रहेगा, तब तक दुःखभोग अवश्यंभावी है । शरीर को लक्ष्य कर जरा-मरण शब्द प्रयुक्त हुये हैं; यहाँ मरणत्रास का जो उल्लेख वाचस्पति ने किया है, वह सर्वथा उचित है ।

'चेतनः पुरुषः दुःखं प्राप्नोति' वाक्य में यह ध्यान देने योग्य है कि अपार्थिव विषय सम्बन्धी मतों के प्रतिपादन में भाषा कितनी असमर्थ होती है ! प्राप्नोति=प्राप्त करता है; पर चिद्रूप पुरुष में इस क्रिया का कोई भी योग नहीं है । पुरुषसंयोग के कारण बुद्धिस्थ दुःख प्रकाशित होता है (यही प्राप्ति है)—यह प्रकाशन भी पुरुष (तत्त्व) का इच्छा-संकल्प-चेष्टा मूलक नहीं है (पुरुष अपरिणामी, असंग, कुटस्थ है), तथापि 'प्राप्नोति' रूप क्रियापद एक दार्शनिक ग्रन्थ में प्रयुक्त हुआ है । वृत्तिसारूप्य को लक्ष्य कर ही 'पुरुषः दुःखं प्राप्नोति' कहा गया है । पुरुष चेतन=अपरिणामी, स्वप्रकाश, स्वयंज्योति है । चेतन परप्रकाश नहीं होता । अत्रत्य पुरुष लिङ्गस्थ पुरुष है, सशरीर पुरुष है । लिङ्ग जब तक व्यक्त रहेगा, तब तक वह राजस क्रिया द्वारा तापित होता रहेगा और चेतन संयोग के कारण वह दुःख ज्ञात होता रहेगा । कुछ विचारक यह समझते हैं कि पुरुष (२५वां तत्त्व) वस्तुतः दुःख से पीड़ित होता है–poor puruṣa suffers for no faults of its own (C.S.I.P. p. 166) । इस वाक्य में पुरुष का अर्थ जीव नहीं है, पर पुरुषतत्त्व है । निर्गुण, निधर्मक, अपरिणामी पदार्थ के विषय में यह कहना कि वह वस्तुतः पीड़ित होता है—अज्ञता की परा काष्ठा है । किसी में परिणाम उत्पन्न किये बिना किसीको पीड़ित नहीं किया जा सकता; क्या निर्गुण पुरुष को परिणामित करने की

सामर्थ्य गुणत्रय में है ? इस प्रकार की बालोचित धारणाओं को लेकर सांख्यमत में असंगति दिखाने की चेष्टा करना उपहासास्पद ही होता है । सांख्य का मत है कि सत्त्व की तप्यता के द्वारा पुरुष अनुतप्त की तरह (अज्ञों की दृष्टि में) प्रतिभात होता है; परमार्थतः वह तप्त नहीं होता । शारीरकभाष्य २।२।१० में इस मत पर दोषारोपण करने की चेष्टा शंकराचार्य ने की है; पर स्वपक्ष में उनका जो समाधान है, वही सांख्यपक्ष का भी समाधान है—यह उनको प्रतीत नहीं हुआ-यह आश्चर्य की बात है !

लिङ्ग की विनिवृत्ति जब तक न हो तब तक यह 'दुःखप्राप्ति' चलती रहेगी (आ विनिवृत्तेः पदच्छेद है) । लिङ्ग जब तक व्यक्त रहेगा-तब तक वह वैषयिक चाञ्चल्य द्वारा चञ्चल होता रहेगा—यह चाञ्चल्य ही दुःख का मौलिक स्वरूप है । विषय की प्रकृति और सूक्ष्मता-स्थूलता के अनुसार दुःख भी नाना प्रकार के होते है, यह ज्ञातव्य है ।[1]

'तस्माद् दुःखं स्वभावेन' का तात्पर्य विशेष रूप से ज्ञातव्य है । कोई कहते हैं कि 'सर्गः स्वत एव दुःखरूपः' (सारबोधिनी) । स्वभाव को आत्मा का औपाधिक धर्म मान कर कोई कहते हैं कि इस वाक्य से ध्वनित होता है कि बुद्धिगत दुःख बुद्धिसम्बन्ध से आत्मा में प्रतीत होता है (डा० गजानन शास्त्री तथा किरणावली) । कोई कहते हैं कि संसार में दुःख स्वभावतः है (डा० ब्रजमोहन)—यह इसका तात्पर्य है ।

हम समझते हैं कि व्याख्याकारों ने 'तस्मात्' शब्द के स्वारस्य के प्रति ध्यान नहीं दिया । हमारी दृष्टि में इस वाक्य का अर्थ है—'यही कारण है कि (तस्मात्) दुःखं स्वभावेन (प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम् वार्तिक से तृतीया) भवति-अर्थात् लिङ्ग ईदृश पदार्थ है कि वह अपनी सम्यक् निवृत्ति होने से पहले स्वगत धर्म के कारण दुःख भोग से विकृत होता ही रहता है (लिङ्गस्थ सत्त्व राजस क्रिया द्वारा संभिन्न होता ही रहता है) । लिङ्गगत गुणसन्निवेश ऐसा है कि वह सम्यक् निरुद्ध होने से पहले व्यक्त रहेगा; व्यक्त रहने के कारण उसमें 'विषयत्व' 'सामान्यत्व' आदि रहेंगे, अतः लिङ्गान्तर के साथ या अन्य पदार्थों के साथ उसका योग प्रतिकूलरूप से (जो दुःखकारक होगा) होता ही रहेगा । कोई (ईश्वरादि) जीवों को इसलिये दुःख दे रहे हैं कि दुःख पाने से जीवों में अध्यात्मतत्त्वज्ञान के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न होगी—ईदृश बालोचित दृष्टि सांख्य में नहीं है । विषय और इन्द्रियों का उपादान ही ऐसा है कि उनका योग सदैव अनुकूलतया हो ही नहीं सकता । किसी को प्रयत्नपूर्वक दुःख को प्राप्त नहीं करना पड़ता; प्रयत्नपूर्वक दुःख का परिहार किया जा सकता है । अनादिकर्मवासना से-युक्त प्राणी का कर्माशय सुखदुःखभोग का नियामक

---

१. सारबोधिनी टीका में 'लिङ्गस्य अविनिवृत्तेः' रूप पदच्छेद भी माना गया है और कहा गया है कि लिङ्ग की अविनिवृत्ति (=नाशाभाव) दुःखप्राप्ति का हेतु है । यद्यपि सिद्धान्ततः यह ठीक है, पर कारिका की शब्दावली से यह भाव नहीं निकलता ।

है। संस्कारगत कारणों से हम दुःखकारक कर्म करते हैं-इस प्रकार व्यवहारतः भी दुःख-प्राप्ति में स्वगत कारण ही बलिष्ठ है।

ब्रह्माण्ड के स्वगत विकारों द्वारा भी जीव में पीड़ा उत्पन्न होती है। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि इस दुःख का कारण स्वगत नहीं है, पर आधिभौतिक और आधिदैविक दुःखों की प्राप्ति का कारण भी स्वगत है—ऐसा हम सोचते हैं। देहधारण की वासना के कारण ही तो देहधारण होता है; देहधारण का अर्थ ही है–किसी लोक में रहना, लोक में रहने पर ही अन्य से सम्बन्धित होने पर दुःख होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यदि हम देहधारण की वासना को योगबल से दग्ध कर दें तो देहधारण नहीं होगा-हम लोकातीत पद को प्राप्त करेंगे। अतः सिद्ध होता है कि हमारे दुःखबोध का मूल कारण हम ही हैं—हमारे स्वभाव में ही दुःखोत्पत्ति का बीज है।

'लिङ्गधर्मान् अध्यवस्यति पुरुषः' इस वाक्य को वाचस्पति ने जिस रूप से लिखा है उससे यह सिद्ध होता है कि वाचस्पति समझते थे कि पुरुष (तत्त्व) वस्तुतः अध्यवसाय करता है (कहीं कहीं अध्यस्यति पाठ भी है)। यदि वे अध्यवसाय को बुद्धि का ही धर्म समझते ते वे 'अध्यवस्यति इव' कह सकते थे। वाचस्पति की यह दृष्टि सर्वथा असंगत है; निर्गुण पुरुष (जो लिङ्ग-प्रकाशक,लिङ्ग-सम्बन्ध-युक्त हैं) के लिये इच्छा करना, संकल्प करना, कोई भी व्यापार करना, लाभान्वित होना, दुःखित होना आदि कथमपि संभव नहीं हैं। ये सब चैत्तिक व्यापार हैं, जिनका अपरिणामी प्रकाशक पुरुष हैं। वाचस्पति के इस वाक्य से अनेक विद्वानों को यह भ्रम हुआ है कि पुरुष जब अध्यवसाय कर सकता है, तब वह इच्छा-संकल्पादि भी कर सकता है। ये दृष्टियाँ पूर्णतः भ्रान्त हैं[1] ॥५५॥

---

१. अपरिणामी पुरुष के विषय में निम्नोक्त भ्रान्त मत विद्वत्समाज में सुप्रचलित हैं—'प्रकृति के कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि धर्म पुरुष पर आरोपित होने से उन्हें वह अपने ही मानकर स्वयं को बद्ध समझता है × × × विवेकख्याति द्वारा उसे अपनी असंगता का अनुभव होने लगता है और अपने को केवली समझने लगता है' (डा० गजाननशास्त्री, पृ० १); 'चूँकि पुरुष के पूर्वकृत कर्मों के भोग तथा तत्त्वज्ञान द्वारा पुरुष के अपवर्ग की सिद्धि के लिये······' (डा० आद्याप्रसाद, पृ० ५६ भूमिकांश; यहाँ पुरुष=पुरुषतत्त्व है, यह पूर्वापर-सन्दर्भ से स्पष्ट है); प्रकृति से अपने को भिन्न न समझने के कारण पुरुष शब्द आदि प्रकृतिपरिणामों को 'ये मेरे हैं' ऐसा अभिमान करता हुआ उन्हें भोगता है' (वहीं, पृ० ६७; यहाँ भी पुरुष=पुरुषतत्त्व है); 'वस्तुतः पुरुष को अपने स्वरूप के यथार्थ बोध से ही कैवल्य की प्राप्ति संभव हो जाती है, तथापि उसे अपने स्वरूप का बोध इसलिये नहीं हो, पाता······' (डा० व्रजमोहन, भूमिकांश, पृ० ९८); It is only when it [i.e. the puruṣa principle] mistakes its reflection in the buddhi for itself and identifies itself wrongly with the internal organ.........when the

(१) उक्तस्य सर्गस्य कारणविप्रतिपत्तीर्निराकरोति—

इत्येष प्रकृतिकृतो महदादिविशेषभूतपर्यन्तः ।
प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः ॥५६॥

(२) "इत्येषः" इति । आरभ्यते इति आरम्भः सर्गो महदादिभूतान्तः प्रकृत्यैव कृतो नेश्वरेण, न ब्रह्मोपादानो नाप्यकारणः । (३) अकारणत्वे ह्यत्यन्ताभावोऽत्यन्तभावो वा स्यात् । (४) न ब्रह्मोपादानः, चितिशक्तेरपरिणामात् । (५) नेश्वराधिष्ठित-प्रकृतिकृतः, निर्व्यापारस्याधिष्ठातृत्वासम्भवाद् । न हि निर्व्यापारस्तक्षा वास्याद्यधितिष्ठति ।

---

(१) पूर्वोक्त सृष्टि के कारण विषय से संबन्धित विरुद्ध मतों का निराकरण कारिकाकार कहते हैं—

प्रत्येक पुरुष के मोक्ष के लिये महत्तत्व से लेकर महाभूतों तक की सृष्टि प्रकृति द्वारा की गई है । यह सृष्टि अपने लिये की गई है—ऐसा प्रतीत होने पर भी वस्तुतः दूसरे के लिये ही है क्योंकि प्रत्येक पुरुष का मोक्ष होना इसका फल है ॥५६॥

(२) 'जो किया जाये, वह है—'आरम्भ'=आ+रभ+घञ् (कर्म में) अर्थात् सर्ग; (महत्तत्व से लेकर स्थूलभूत पर्यन्त) यह सृष्टि प्रकृति द्वारा की गई है, ईश्वर द्वारा नहीं । यह सृष्टि ब्रह्म-रूप उपादान-कारण का परिणाम नहीं है और न बिना किसी कारण के ही यह सृष्टि हुई है । (३) यदि यह सृष्टि अकारण (बिना किसी कारण के ही) मान ली जाए तो या तो यह नित्य (सदैव) होगी या कभी होगी ही नहीं । (४) इसी प्रकार यह सृष्टि ब्रह्म-रूप उपादान का परिणाम भी नहीं हो सकती क्योंकि चितिशक्तिरूप निर्विकार ब्रह्म परिणामी होता ही नहीं । (५) यह सृष्टि ईश्वर द्वारा अधिष्ठित प्रकृति से भी नहीं हो सकती, क्योंकि जो व्यापारहीन होता है वह किसी का अधिष्ठाता नहीं होता । निष्क्रिय बढ़ई बसूले आदि का प्रयोग किसी कार्य में नहीं कर सकता (वह इनका आश्रय नहीं करता) ।

Puraṣa realizes its own nature (C. S. I. P. p. 163); The puruṣa identifies itself with the act of prakṛti through ahaṁkara (I.P. vol II, p. 269); When prakṛti withdraws itself from puruṣa, the latter realizes the absurdity of attributing the adventures of prakṛti itself (I. P. II, p, 312); When the desire of all puruṣas require that there should be a temporary cessation of all experience......(I. P. II, P. 279),—जो पुरुष (तत्त्व) अपरिणामी, स्वप्रकाश, प्रत्यक्, अखण्ड, असंग, नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव है, उसके विषय में उपर्युक्त मतों की संगति होती है या नहीं—यह पाठकों को विचारना चाहिये ।

(६) ननु प्रकृतिकृतश्चेत्, तस्या नित्यायाः प्रवृत्तिशीलाया अनुपरमात् सदैव सर्गः स्यादिति न कश्चिन्मुच्येतेत्यत आह—"प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः" इति। (७) यथौदनकाम ओदनाय पाके प्रवृत्तः ओदनसिद्धौ निवर्तते, एवं प्रत्येकं पुरुषान् मोचयितुं प्रवृत्ता प्रकृति र्यं पुरुषं मोचयति तं प्रति पुनर्न प्रवर्तते। (८) 'स्वार्थ इव'–स्वार्थे यथा तथा परार्थे आरम्भ इत्यर्थः ॥ ५६ ॥

---

(६) पर यह प्रश्न है कि यदि सृष्टि प्रकृतिकृत ही है तो प्रकृति के नित्य प्रवृत्तिशील होने के कारण उसका व्यापार कभी अवरुद्ध न होगा जिससे सृष्टि सदैव होती ही रहेगी और कोई पुरुष कभी मुक्त ही नहीं हो सकेगा—इसके उत्तर में कारिकाकार कहते हैं—'प्रत्येक पुरुष के मोक्ष के लिये ही यह सृष्टि है, जो स्वार्थ प्रतीत होती हुई भी वस्तुतः परार्थ ही है'।

(७) जिस प्रकार ओदन का इच्छुक व्यक्ति तदर्थ पाक रूप कर्म में प्रवृत्त होता है और पाक की सिद्धि हो जानेपर उस कर्म से निवृत्त हो जाता है, उसी प्रकार प्रत्येक पुरुष को बन्धन से मुक्त करने के लिये प्रवृत्त प्रकृति जिस पुरुष को मुक्ति प्राप्त करा देती है, उसके विषय में फिर प्रवृत्त नहीं होती। इसी बात को 'स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः' वाक्य द्वारा प्रकटित किया गया हैं; अर्थात् कोई जिस प्रकार पर के प्रयोजन के लिये प्रवृत्त होता है प्रकृति उसी प्रकार पर के लिये प्रवृत्त ही होती है—यह तात्पर्य हैं ॥५६॥

५६वीं कारिका की व्याख्या

इस कारिका में प्रयुक्त आरम्भ शब्द पर कुछ कहना है। यह शब्द कर्म में निष्पन्न हुआ है (यः आरभ्यते) और सर्ग का समार्थक है। अतः यह निश्चित है कि सर्ग का अर्थ है—सर्जनरूप क्रिया का कर्म, सर्जनरूप क्रियामात्र नहीं। ५२,५३,५४वीं कारिकाओं में जो सर्ग शब्द है, उसका भी अर्थ सर्जनक्रिया नहीं, वलिक सर्जनक्रिया का विषय (यः सृज्यते) है।

यह कारिका विशेषतः विचार्य है क्योंकि इस कारिका के 'प्रकृतिकृत' शब्द के आधार पर सांख्यीय दृष्टि के विषय में कई भ्रान्त मत उद्भूत हुये हैं। वाचस्पति का यह कहना कि सांख्यानुसार महदादिभूतान्त सर्ग प्रकृतिकृत ही है—ईश्वरकृत नहीं—अज्ञातप्रसूत मत है, जैसा कि यहाँ दिखाया जा रहा है।

इस कारिका में कहा गया है कि महत्ततत्व से शुरू कर विशेष नामक भूत-तत्व पर्यन्त जितने अनात्म-पदार्थ हैं, वे प्रकृति द्वारा कृत हैं; अर्थात् सत्व-रजः-तमः इन

पदार्थों के उपादान हैं। इस कारिका का तात्पर्य पुरुषतत्त्व के निषेध में नहीं है; न ही यह कारिका त्रैगुणिक-अन्तःकरणरूप-उपाधियुक्त सोपाधिक पुरुषों (जिनमें ईश्वरादि भी अन्तर्भूत हैं) का प्रतिषेध करती है। उपादान-दृष्टि से महदादि प्रकृति द्वारा ही कृत हैं —इतना ही कारिकाकार का कहना है।

इससे इतना तो सिद्ध होता है कि प्रकृति (गुणत्रय) से अतिरिक्त कोई पदार्थ महदादि का उपादान नहीं है। पर इस मत से 'प्राकृत उपाधि से विशिष्ट कोई पुरुष' (=प्रजापति ईश्वर) ब्रह्माण्ड का सर्जक है—इस मत का कोई भी विरोध नहीं है, क्योंकि ब्रह्माण्ड-सृष्टिकारी ईश्वर भी प्रकृति-पुरुष का समाहारभूत प्राणी है (इनमें ईश्वरतारूप बुद्धिधर्म का असाधारण उत्कर्ष है, पर इससे इनका पुम्प्रकृति-संहतरूपत्व व्याहत नहीं होता)।

जो यह कहते हैं कि इस कारिका में सृष्टिकर्ता ईश्वर का उल्लेख न होने से सांख्य निरीश्वर है, उनको यह भी कहना चाहिये कि इस कारिका में पुरुषतत्त्व का उल्लेख न होने से सांख्य निःपुरुष-वादी है। ईश्वरता-धर्म के विषय में जितनी अज्ञतापूर्ण धारणाएँ प्रचलित हैं, उनको सांख्य नहीं मानता; इससे यदि सांख्य ईश्वरवादी न होता है, तो सांख्य अवश्य ही ईश्वरवादी नहीं है।

महदादि उपादान दृष्टि से जब प्रकृतिकृत (गुणत्रय के सन्निवेशविशेष) ही हैं तो महदादिरूप परिणाम और परिणामक्रम की समाप्ति भी प्रकृति के निजी विषय हुये। पर चूँकि महदादि-परिणामक्रम की निवृत्ति ही अन्तिम स्थिति है (यह पुनरुत्थान-शून्य निवृत्ति है) और चूँकि केवल निवृत्ति निवृत्त वस्तु के लिये है' ऐसा कहना अर्थहीन है, और चूँकि इस निवृत्ति का फल है 'पुरुष की अस्वरूप स्थितता-रूप (बुद्धि की) भ्रान्ति का अत्यन्त नाश', अतः यह कहा ही जा सकती है कि महदादिक्रम परार्थ है। इसका यह अर्थ नहीं है कि 'मैं पुरुष को मुक्त करूंगी, ऐसा समझकर प्रकृति महदादि को उत्पन्न करती है'—जैसा कि सांख्य के अज्ञ आलोचक कहते रहते हैं।

पूर्वोक्त दृष्टि से यह कहना उपपन्न होता है कि चूंकि महदादिक्रम परार्थ है, अतएव यह कहना उचित है कि यह क्रम स्वार्थ नहीं है; पर चूंकि महदादि का सर्वथा अभाव नहीं होता, अतः कहना पड़ता है—'स्वार्थः इव'।

प्रत्येक पुरुष की महदादि उपाधि पृथक्-पृथक् है, अतः 'प्रतिपुरुष' शब्द प्रयुक्त हुआ है। जब यह सर्ग उपादानदृष्टि से प्रकृतिकृत है, तब यह स्वार्थ ही है, ऐसी बात नहीं—क्योंकि महदादि की अभिव्यक्ति पुरुषोपदर्शन सापेक्ष है और महदादिसर्ग भोगापवर्ग के चरितार्थ होने पर विलीन भी हो जाता है। प्राकृत महदादि चूंकि विलीन हो जाते हैं, अतः प्रकृति की कृति परार्थ है—ऐसा कहना होगा, क्योंकि गुणविकार जब गुण में लीन

होता है तो यह स्वार्थसाधकता का उदाहरण नहीं हो सकता; कहना होगा—स्वार्थः इव परार्थः आरम्भः।

'स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः' वाक्य में 'स्वार्थः' 'परार्थः' ये दो पद प्रथमान्त हैं; कुछ व्याख्याकार भ्रमवश 'स्वार्थे,' 'परार्थे' ऐसा मूलपाठ समझते हैं—प्रतिपुरुषविमोक्षार्थम् एव प्रकृतिकृतः आरम्भः; [स च] परार्थः, अतएव स्वार्थ इव [इति विज्ञेयम्]—यह हमारे अनुसार अर्थ है। इसमें कई बातें लक्षणीय हैं—(१) महदादिरूप करणत्रय 'परार्थः स्वार्थ इव' है; (२) बाह्यकरण भी 'परार्थः स्वार्थः इव' है; (३) तन्मात्र-भूत अहंकारमूलक हैं, अहंकार यदि 'परार्थः स्वार्थ इव' हो तो यह दृष्टि तन्मात्रादि पर भी घटेगी। अन्तःकरण में यदि परार्थतास्वभाव सिद्ध हो जाये तो बाह्यकरणों में भी यह स्वभाव सिद्ध होगा। अतः मुख्य विचार्य विषय यह है कि महदादि परार्थ होकर 'स्वार्थः इव' किस प्रकार हैं।

जिस प्रकार 'पठनार्थं गच्छति' की ध्वनि यह है कि गमनक्रिया तबतक चलती रहेगी जबतक न पठनक्रिया शुरू हो जाये अर्थात् पठनक्रिया के आरम्भ और गमनक्रिया का शेष—ये दो अव्यवहित पूर्वापरसंबंध-विशिष्ट हैं, ठीक उसी प्रकार महदादि सर्ग (वस्तुतः महदादि का परिणामक्रम) की समाप्ति होने मात्र ही पुरुष में वृत्तिसारूप्य का अभाव रूप मोक्ष हो जाता है (वस्तुतः क्रमसमाप्ति और मोक्ष में कालव्यवधान नहीं है; परमार्थतः ये दो एक ही हैं)।

वाचस्पति का 'नेश्वराधिष्ठित-प्रकृतिकृतः' वाक्य सांख्यीय दृष्टि के अनुसारी नहीं है। चाहे ब्रह्माण्डसर्जक प्रजापति हो चाहे अन्य किसी प्रकार का ईश्वर हो, सभी ईश्वर ऐश्वर्ययुक्तान्तःकरणरूप प्राकृत उपाधि से युक्त पुरुष ही हैं—अतः वे सोपाधिक पुरुष कहलाते हैं। 'ईश्वर के द्वारा अधिष्ठित प्रकृति' कहने का अभिप्राय यदि यह है कि ईश्वर प्रकृति से सम्यक् पृथक् कोई पदार्थ है तो यह सर्वथा असांख्यीय दृष्टि है। वैष्णवादि संप्रदायों की इस दृष्टि को अज्ञ लोग सांख्यमत के रूप में भी कभी कभी कहते हैं। ईश्वर प्रकृति पुरुष-समाहारभूत है। ईश्वर=प्राकृत ऐश अन्तःकरण+पुरुषतत्त्व; ईश्वरता के स्वगत-भेद से ईश्वर रूप सोपाधिक पुरुष भी कई प्रकार के होते हैं; ईश्वरता अन्तःकरण-धर्म है; यही कारण है कि ईश्वरता की सर्वोच्च अवस्था भी कैवल्य से नीचस्थ अवस्था है।

सांख्यीय दृष्टि से ईश्वराधिष्ठित प्रकृति का अर्थ है—ईश्वर रूप सोपाधिक पुरुष की बुद्धि आदि, जो प्रकृति-विकृतियों में अन्यतम हैं। ये प्रकृतियाँ गुणों की अवैषम्यावस्था नहीं हैं, बल्कि गुणवैषम्यरूप हैं। ईश्वर की अहंकाररूप प्रकृति ही ब्रह्माण्ड का उपादान है। वाचस्पति के वाक्य से यह स्पष्ट होता है कि वे ईश्वर को प्रकृति से पृथक् एक पदार्थ के रूप में समझते थे—यह महती भ्रान्ति है। इस मत का आधार शंकराचार्य का 'इतरेतर-विलक्षणाः प्रधानपुरुषेश्वराः (शारीरक २।२।३७) यह सांख्यपरक वाक्य है।

यहाँ सृष्टि का तात्पर्य स्वाभाविक परिणाम नहीं, यह संकल्पमूलक-सृष्टि (=ब्रह्माण्ड-सृष्टि) है। ब्रह्माण्ड का मूल है—अहंकारगत भूतादि। अतः सृष्टि और प्रलय का तात्पर्य है—ऐश अहंकार का सक्रिय रहना और निरुद्ध होना। इस तथ्य को लोग प्रायः नहीं समझते और समझते हैं कि ब्रह्माण्ड के सृष्टि-प्रलय और प्राजापत्य अन्तःकरण के व्युथान-निरोध दोनों भिन्न भिन्न विषय हैं। स्थूल दृष्टि से ऐसा होने पर भी सूक्ष्म दृष्टि से ऐसा नहीं है तथा सांख्यप्रसंग में सृष्टि-प्रलय का तात्पर्य 'सोपाधिक पुरुष रूप जो प्रजापति हैं, उनके अहंकार के तामस अंश का उनके ही संकल्प से ग्राह्यीभूत होना'(=सृष्टि) 'तथा उस ग्राह्यीभूतता का रोध होना' (=प्रलय) है। यह प्रलय अवस्था भी प्रजा-प्रजापति की दृष्टि से व्यक्तावस्था है, क्योंकि उनका अहंकार स्वकीय कार्य को उप-संहृत करने मात्र पर अपने कारण में लीन नहीं हो जाता। इसीलिये ब्रह्माण्ड की प्रल-यावस्था को जो वादी गुणसाम्यावस्था समझते हैं, वे असंगत चिन्ता करते हैं। गुण-साम्यावस्था से ब्रह्माण्ड की सृष्टि नहीं होती—गुण का विकारभूत अहंकार ही ब्रह्माण्ड का उपादान है, जो अव्यक्त नहीं है, व्यक्त है। खेद है कि अद्वैत आदि सभी संप्रदायों के विद्वान् इस अज्ञतापूर्ण धारणा को सांख्यीय मत समझते हैं और इस धारणा का खण्डन करके (चूँकि यह धारणा अयथार्थ है, अतः यह अवश्य खंडित होगी) अपने को सांख्य-खण्डन करने में समर्थ समझते हैं। इस प्रसंग में यह स्पष्टीकरणीय है कि सांख्य यह नहीं मानता कि कोई एक ही ईश्वर अनादिकाल से सृष्टिव्यापार में लिप्त हैं। सृष्टिकर्ता प्रजा-पति के संकल्पमूलक ब्रह्माण्ड का स्थितिकाल क्षणमात्र है (प्रजापति की दृष्टि में) और स्वचित्त का संहरण कर प्रजापति चिरकाल के लिये बुद्धि का रोध कर के मोक्षावस्था को प्राप्त करते हैं ॥५६॥

(१) स्यादेतत्—"स्वार्थं परार्थं वा चेतनः प्रवर्तते। न च प्रकृतिरचेतनैवं भवितुमर्हति, तस्मादस्ति प्रकृतेरधिष्ठाता चेतनः। (२) न च क्षेत्रज्ञाश्चेतना अपि प्रकृतिमधिष्ठातुमर्हन्ति, तेषां प्रकृतिस्वरूपानभिज्ञत्वात्। तस्मादस्ति सर्वार्थदर्शी प्रकृतेरधिष्ठाता, स चेश्वरः—इत्यत आह—

वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥५७॥

---

(१) यह मत ठीक है कि अपने अथवा दूसरे के लिये चेतन प्रवृत्त होता है, पर अचेतन प्रकृति इस प्रकार प्रवृत्त नहीं हो सकती। अतः प्रकृति का कोई चेतन अधिष्ठाता है (ऐसा मानना चाहिए)। (२) क्षेत्रज्ञ चेतन होते हुए भी प्रकृति के स्वरूप से अनभिज्ञ होने के कारण उनके अधिष्ठाता नहीं हो सकते; कोई सर्वार्थदर्शी ही अधिष्ठाता हो सकते हैं और वही 'ईश्वर' है—इस मत को ध्यान में रखकर कारिकाकार कहते हैं :—

(३) 'वत्सविवृद्धिनिमित्तम्' इति । दृष्टमचेतनमपि प्रयोजनं प्रति प्रवर्तमानम्, यथा वत्सविवृद्धयर्थं क्षीरमचेतनं प्रवर्तते, एवम्प्रकृतिरचेतनापि पुरुषविमोक्षणाय प्रवर्तिष्यते ।

(४) न च क्षीरप्रवृत्तेरपीश्वराधिष्ठान-निबन्धनत्वेन साध्यत्वान्न साध्येन व्यभिचार इति साम्प्रतम् । प्रेक्षावतः प्रवृत्तेः स्वार्थकारुण्याभ्यां व्याप्तत्वात् । (५) ते च जगत्सर्गाद् व्यावर्तमाने प्रेक्षावत्प्रवृत्तिपूर्वकत्वमपि व्यावर्तयतः । (६) न ह्यवाप्तसकलेप्सितस्य भगवतो जगत् सृजतः किमप्यभिलषितं भवति । (७) नापि कारुण्यादस्य सर्गे प्रवृत्तिः, प्राक् सर्गाज्जीवानामिन्द्रियशरीरविषयानुत्पत्तौ दुःखाभावेन कस्य प्रहाणेच्छा कारुण्यम् । (८) सर्गोत्तरकालं दुःखिनोऽवलोक्य कारुण्याभ्युपगमे दुरुत्तरमितरेतराश्रयत्वम्—कारुण्येन सृष्टिः सृष्ट्या च कारुण्यम् इति ।

जिस प्रकार बछड़े की पुष्टि के लिये अचेतन दुग्ध (स्वतः) निःसृत होता है, उसी प्रकार पुरुष के मोक्ष के लिये (अचेतन) प्रकृति भी (स्वतः) प्रवृत्त होती है ॥५७॥

(३) अचेतन भी प्रयोजन की सिद्धि के लिये प्रवृत्त होता है, ऐसा देखा जाता है, जैसे बछड़े की पुष्टि के लिये अचेतन दुग्ध (स्तन से) निकल आता है । इसी प्रकार अचेतन प्रकृति भी पुरुष के मोक्ष के लिये प्रवृत्त होती है ।

क्षीरप्रवृत्ति का भी ईश्वरधिष्ठान-निबन्धनत्वेन उपपाद्य होने के कारण चेतनप्रयुक्तत्व रूप साध्य के साथ प्रवृत्तिमत्त्व रूप साधन का व्यभिचार नहीं है—ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि प्रेक्षावान् की प्रवृत्ति स्वार्थं (=प्रयोजन) और करुणा (=परदुःखप्रहाणेच्छा) से व्याप्त है (अर्थात् यत्र-यत्र प्रवृत्तिः तत्रतत्र स्वार्थकारुण्ये—यह व्याप्ति है) । (५) और जगत् की सृष्टि में इनमें से कोई भी कारण न होने से, 'चेतन की प्रवृत्ति से जगत् का उत्पन्न होना' असिद्ध हो जाता है । (जहाँ-जहाँ स्वार्थ-कारुण्य नहीं है', वहाँ वहाँ प्रेक्षावत्-प्रवृत्ति भी नहीं है—इस व्यतिरेक व्याप्ति के अनुसार) । (६) जगत् की सृष्टि में ऐश्वर्यशील सृष्टिकारी ईश्वर की कोई कामना नहीं हो सकती, क्योंकि वे आप्तकाम हैं । (७) सृष्टि करने में उनकी कोई करुणा नहीं हो सकती क्योंकि सृष्टि के पूर्व जीवों के इन्द्रिय, शरीर और विषयों की उत्पत्ति न होने से उनको दुःख का बोध नहीं होता, अतः किस दुःख को दूर करने की इच्छा ईश्वर को होगी; और ईदृश ईच्छा ही करुणा कहलाती है । (८) 'सृष्टि के बाद आविर्भूत जीवों को देखकर करुणा होती है'—ऐसा मानने पर, 'करुणा से सृष्टि होती है और सृष्टि होने पर करुणा-रूप मनोभाव उत्पन्न होता है' इस प्रकार का अन्योन्याश्रय दोष दुरुत्तार्य (=असमाधेय) हो जाएगा ।

(९) अपि च करुणया प्रेरित ईश्वरः सुखिन एव जन्तून् सृजेन्न विचित्रान् । (१०) कर्मवैचित्र्याद्वैचित्र्यम् इति चेत्—कृतमस्य प्रेक्षावतः कर्माधिष्ठानेन, तदनधिष्ठानमात्रादेवाचेतनस्यापि कर्मणः प्रवृत्त्यनुपपत्तेस्तत्कार्यशरीरेन्द्रिय-विषयानुत्पत्तौ दुःखानुत्पत्तेरपि सुकरत्वात् ।

(११) प्रकृतेस्त्वचेतनायाः प्रवृत्तेर्न स्वार्थानुग्रहो न वा कारुण्यं प्रयोजक-मिति नोक्तदोषप्रसङ्गावतारः । (१२) पारार्थ्यमात्रं तु प्रयोजनमुपपद्यते । तस्मात् सुष्ठूक्तम्—"वत्सविवृद्धिनिमित्तम्" इति ॥ ५७ ॥

---

(९) इसके अतिरिक्त यह भी जानना है कि यदि ईश्वर करुणा से प्रेरित होकर सृष्टि करते हैं तो उन्हें केवल सुखी प्राणियों की ही सृष्टि करनी चाहिए, विचित्र (वहुविध-सुख-दुःखोत्पादक कर्माशय युक्त) प्राणियों की नहीं । (१०) यदि यह कहा जाये कि 'कर्म की विचित्रता होने से उसके फल भी विचित्र (=शुभाशुभ) हो जाते हैं; तो बुद्धि-पूर्वक कार्यकारी ईश्वर को अधिष्ठाता मानने की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि (आपके कथन के अनुसार) उनके अधिष्ठाता (=नियामक) न होने पर भी अचेतन कर्म प्रवृत्त न हो सकेगा और तव उससे उत्पन्न होने वाले शरीर, इन्द्रिय एवं विषय की उत्पत्ति न हो सकेगी । इस प्रकार दुःख का परिहार भी सुकर हो जाएगा (अतः सृष्टि-कर्त्ता ईश्वर की करुणा का कोई अवकाश नहीं रह जाता) ।

(११) विपरीत पक्ष में अचेतन प्रकृति की प्रवृति में स्वार्थ या करुणाभाव की अपेक्षा नहीं होती, अतः उपर्युक्त दोष का प्रसंग नहीं होता । (१२) अचेतन प्रकृति की प्रवृत्ति का प्रयोजन (=प्रयोजक) परार्थमात्र होता है, जो न्यायसंगत है । इसलिये कारिका में जो 'वत्सविवृद्धिनिमित्त' कहा गया है, वह ठीक है ॥५७॥

५७वीं कारिका की व्याख्या

दार्शनिक जगत् में यह कारिका अत्यन्त प्रसिद्ध रही है । इस कारिका की प्रचलित व्याख्या सांख्यीय मूल दृष्टि की अनुगामिनी नहीं है, जिसके कारण अनेक भ्रान्त धारणाएँ उत्पन्न हुई हैं । वाचस्पति की व्याख्या सांख्यीय दृष्टि को विशद रूप से प्रकटित नहीं करती, अतः कुछ विस्तार के साथ इस कारिका की व्याख्या की जा रही है । कारिका-कार कहते हैं—प्रधानस्य प्रवृत्तिः पुरुषविमोक्षनिर्मित्त (भवति) । प्रधान कहने का तात्पर्य है—'गुणत्रयमात्र' । 'पुरुषविमोक्षनिर्मित्तम्' का अर्थ है-पुरुष के विमोक्ष (=विमोचन) रूप निमित्त के लिये । निमित्त=फल; हेतु नहीं । निमित्त शब्द की फलवाचिता प्रसिद्ध हो

है। कारिका का अर्थ है—गुणत्रय की जो प्रवृत्ति[1] (=परिणामशीलता) है (जिसका फल है—महदादि रूप में सन्निविष्ट होना) उसका फल है—पुरुषविमोक्ष। 'पुरुषविमोक्ष' को फल कहने का अभिप्राय यह है—पुरुषविमोक्ष होने पर यह महदादि अपने स्वरूप में नहीं रह सकते, अव्यक्त हो जाते हैं—योगदर्शन की भाषा में 'महदादिक्रम की समाप्ति हो जाती है' (४।३२)।

इस कारिका का यह जो व्याख्यान है कि 'पुरुष' को मोक्ष देने के उद्देश्य से अचेतन (जड़) प्रधान की प्रवृत्ति (=विचारपूर्वक कर्म करना या संकल्प करना) होती है—वह सर्वथा उच्छास्त्र है। 'अपरिणामी निर्धर्मक पुरुष की मुक्ति के लिये' यह वाक्य भी स्वतः व्याहत है। पुरुष को स्वरूपतः अपरिणामी, नित्य-मुक्त-स्वभाववान् भी मानना और यह भी मानना कि उसकी मुक्ति के लिये कोई चेष्टा करता है—असंगत चिन्ता की परा काष्ठा है।

पुरुष के नित्य शुद्ध मुक्त होने पर भी पुरुष का मोक्ष होना प्रधानप्रवृत्ति का फल है—ऐसा कहना आवश्यक है। चूँकि प्रवृत्तिमात्र का फल देखा जाता है, अतः प्रधान को प्रवृत्ति का भी फल होना चाहिये। सांख्यीय दृष्टि में यह फल उपादान-रूप नहीं है, हान-रूप है। महदादि का परिणामक्रम विवेक ज्ञान की पराकाष्ठा में समाप्त हो जाता है; अनादि काल से जो वृत्तिसारूप्य चला आ रहा था, वह नष्ट हो जाता है।

महदादि-क्रम का समाप्त होना और मोक्ष होना अविनाभावी है—मध्य में कोई कालव्यवधान नहीं है, अतः यह कहने में कोई दोष नहीं है कि प्रधान-प्रवृत्ति (=महदादि रूप में परिणामक्रम) का फल पुरुषविमोक्ष है, क्योंकि पुरुषविमोक्ष के प्राक्क्षण पर्यन्त ही यह क्रम व्यक्त रहता है। फलप्राप्ति के साथ निवृत्ति का नियत सम्बन्ध सांख्य में स्वीकृत है; तुल० कुम्भवत् प्रधानं पुरुषार्थं कृत्वा निवर्तते। वस्तुतः वृत्तिसारूप्य का अभाव होना और पुरुष का स्वरूपावस्थान—ये दो पृथक् तथ्य नहीं हैं; एक ही स्थिति को दो कल्पित विभागों में व्यक्त किया गया है। ईदृश विभाग की जो आवश्यकता है, वह पूर्वाचार्यों द्वारा स्पष्टतया कहा गया है।

'अचेतन क्षीर की प्रवृत्ति' की जो उपमा यहाँ दी गई है, अज्ञ दार्शनिकों ने उसका तात्पर्य न समझकर सांख्यमत पर दूषण किया है। पहले ही जानना चाहिये कि यह उपमा है, दृष्टान्त (जिससे व्याप्ति का निर्धारण होता है) नहीं है [दृष्टान्त को कभी कभी उदाहरण भी कहा जाता है और उपमादि तीन शब्दों का संकीर्ण प्रयोग भी प्रचुर मात्रा

---

१. प्रवृत्ति को 'इच्छामूलक चेष्टा' के रूप में कई विद्वान् लेते हैं और सांख्य को अमर्यादित करते हैं। प्रवृत्ति=परिणाम, परिणत होना, परिणामशीलता। यह प्रवृत्ति त्रिविध है—आविर्भाव, तिरोभाव और स्थिति; द्र० प्रवृत्तिरिति सामान्यं लक्षणं तस्य कथ्यते। आविर्भावतिरोभावः। स्थितिश्चेत्यथ भिद्यते······(वाक्यपदीय ३।१४।२२३ इत्यादिश्लोक)।

में मिलता हैं, यह ज्ञातव्य है] । उपमा किसी बात को प्रमाणित नहीं करती, हेतु द्वारा पूर्वसिद्ध मत को स्थूलतया समझाती है—यह समझाना भी बहुत सूक्ष्म नहीं होता—यह जान कर ही उपमा को लेकर विचार करना चाहिये । यह 'इच्छाशून्य परिणाम' की उपमा है ।

अचेतन क्षीर का गोस्तन से जो क्षरण होता है, उस क्षरण का फल है—गोवत्स की पुष्टि (यदि वह दुग्ध वत्स द्वारा पीत हो) । पर गोवत्स की पुष्टि हो—इस उद्देश्य को लेकर इच्छापूर्वक क्षीर गोस्तन से प्रसृत नहीं होता, यद्यपि वत्सपुष्टि की इच्छा के बिना प्रसृत होने पर भी क्षीर से वत्स की पुष्टि होती ही है । जिस प्रकार क्षीर का प्रसृत होना निरुद्देश्य है, पर उससे फल तो होता ही है (फल=वत्सपुष्टि), उसी प्रकार प्रधान (सत्त्व-रजस्तमः) की प्रवृत्ति (=महदादि रूप में परिणत होना) किसी उद्देश्य-पूर्ति की इच्छा से नहीं होती, यद्यपि इस परिणाम (रूप प्रवृत्ति) का भी एक फल (=निमित्त) माना जा सकता है, जो पुरुषविमोक्ष है । यह अवश्य ही फल है क्योंकि पुरुष का विमोक्ष होने पर महदादि-परिणाम समाप्त हो जाता है ।

यह यहाँ अवश्य ही ज्ञातव्य है कि 'नित्यमुक्त अपरिणामी पुरुष का मोक्ष' यह कथन सर्वथा गौणार्थक ही है । प्रश्न यह होता है कि प्रधान-प्रवृत्ति का कोई फल है—ऐसा कहने की आवश्यकता ही क्या है ? उत्तर—'महदादिक्रम की समाप्ति' कहने से ही पूरी बात नहीं हो जाती, आचार्य को यह भी बताना है कि महदादिक्रम की समाप्ति से 'चितिशक्ति का वृत्तिसारूप्य' नहीं रहता; दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि 'इस अवस्था में चितिशक्ति स्वरूपप्रतिष्ठ होती है' ।'

क्षीर-प्रवृत्ति को उपमारूप से न लेकर दृष्टान्तरूप में लेकर दार्शनिकों ने सांख्यपक्ष में जो दोष दिया है, उसके लिये उनकी अज्ञता ही कारण है । सांख्य को अच्छी तरह से ज्ञात है कि क्षीर गोप्राणी के शरीरस्थधातु का विकार है, शरीर धातु तन्मात्र का विकार है, तन्मात्र अहंकार का विकार है और यह अहंकार गोप्राणी का अपना नहीं है, ब्रह्माण्डसर्जक प्रजापति का है । गो प्राणी के भी दो भाग हैं—गोवासना युक्त त्रैगुणिक अन्तःकरण तथा अन्तःकरण का अधिष्ठाता चिद्रूप पुरुष । गोदुग्ध के क्षरण में भी गोप्राणी के सक्रिय कर्माशय की हेतुता है । यही कारण है कि प्रत्याहार के बल पर या अन्य किसी उपाय से गोशरीर का ऐसा रोध किया जा सकता है कि दुग्ध कदापि क्षरित न हो (चेष्टा करने पर भी) । इन बातों को जानने के बाद कोई भी समझ सकता है कि 'गोदुग्ध के क्षरण' को लेकर जिन लोगों ने इस क्षरण पर चेतनाधिष्ठितता का आरोप कर सांख्य पर दोष दिया है, वे कहाँ तक सांख्य को समझ सकते हैं । गोशरीर का उपादान जब सोपाधिक पुरुषविशेष का भूतादिनामक तामस अहंकार है और गो का अन्तःकरण जब चिदधिष्ठित गुणविकार है, तब क्षीर को अचेतन मानना किस दृष्टि से है—यह सहजतया समझ में आ सकता है । न क्षीर ही शुद्धजड है, न गोशरीर ही शुद्ध जड़ है । पुरुषाधिष्ठान-शून्य त्रिगुणमात्र जड़ है—ईदृश जड़ अप्राप्य है ।

'जगत्-सर्जक ईश्वर' को लेकर वाचस्पति ने यहाँ जो भी कुछ कहा है, वह सर्वथा असांख्यीय मत है और ईश्वरता रूप बुद्धिधर्म का स्वभाव जिसको ज्ञात है, वह वाचस्पति की इस तर्कप्रणाली (ये तर्क मीमांसकों में भी दृष्ट होते है) को अज्ञोचित ही कहेगा। निम्नोक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट होगी। कोई भी सांख्याचार्य इन युक्तियों को कह नहीं सकता—यह हमारी मान्यता है।

वाचस्पति सांख्याचार्य के कथन के रूप में यह तर्क उपस्थापित करते हैं—"प्रेक्षावान् की प्रवृत्ति स्वार्थ से होती है या करुणा से; जगत् की सृष्टि में सृष्टिकारी ईश्वर का न कोई स्वप्रयोजन है और न जीवानुग्रह ही। वे आप्तकाम हैं। सृष्टि से पहले जीव शरीरहीन रहते हैं, अतः वे दुःखशून्य रहते हैं। सुतरां दुःखप्रहाणेच्छारूप कारुण्य भी अनावश्यक है। किंच यदि करुणा से ही सृष्टि की जाती तो सुखी प्राणी ही सृष्ट होते। प्राणी के कर्मवैचित्र्य की अपेक्षा से सृष्टिकारी सृष्टि करते हैं—यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि तब तो धर्माधर्म को ही प्रवृत्ति का प्रयोजक मानने से काम चल जायेगा—ईश्वर मानने की आवश्यकता नहीं है।"

हमारे पाठकों को यह सोचना चाहिये कि जो सांख्य भूतादि अहंकार को ब्रह्माण्ड का उपादान मानता है, जो सांख्य तामस भूतादि का ही सूक्ष्म रूप अभिमान धर्मक अहंकार को मानता है, जो सांख्य अहंकार के कारण के रूप में बुद्धितत्त्व को मानता है, जो सांख्य ऐश्वर्य (=ईश्वरता) को बुद्धिधर्म के रूप में मानता है, जो सांख्य बुद्धि को सदैव द्रष्टा से प्रकाश्य समझता है, जो सांख्य जानता है कि वृत्ति का उद्भव (जगत् जब भूतादि-अहंकार का ग्राह्यीभूत रूप है तब वह तत्त्वतः अन्तःकरण की एकजातीय वृत्ति ही है) और विकाश के लिये स्वार्थ और कारुण्य अपरिहार्य हेतु नहीं है, जो सांख्य जानता है कि जिस ऐश्वर्यसंस्कारवान् अहंकारी पुरुष में जगत्सर्जन का संस्कार और संकल्प हैं, वह मुक्तचित्त नहीं है, उसमें अविवेक है (यही कारण है कि प्रजापति की कैवल्यप्राप्ति की बात शास्त्रों में मिलती है), वह आप्तकाम पूर्णतया नहीं है, जो सांख्य जानता है कि जिस प्रकार प्रजापति की बुद्धि में धर्मादि आठ भाव हैं, उसी प्रकार प्रत्येक प्राणी की बुद्धि में ये भाव हैं—जो सांख्य जानता है कि प्रलयकाल में प्राणी शरीरहीन होने पर भी शरीरधारण-संस्कार से युक्त होकर शरीरग्रहणोन्मुख रहता है, (प्रलयकाल भी क्षणमात्रव्यापी है) उस सांख्य के मुख से वाचस्पति ने उपर्युक्त बातों को कहाया है। वाचस्पति के इस सन्दर्भ को विद्वानों ने वस्तुतः सांख्यीय मत के रूप में ही समझा और सांख्य के विषय में नितान्त भ्रान्त धारणाओं को अपनाया।

प्रजापति रूप सोपाधिक पुरुष के ईश्वरता-बहुल अन्तःकरण में जो सृष्टिसंकल्प उद्गत होता है, उससे स्वार्थ-कारुण्य के सम्बन्ध की बात करना बालोचित है। प्राणी की सभी प्रवृत्तियाँ स्वार्थ-कारुण्य से नहीं उठतीं। हमारे मन में जो क्रोधवृत्ति क्रोधसंस्कार में थी, वह उद्बोधक हेतु से उदित होती है। उस क्रोधवृत्ति से हम जो कुछ करेंगे, या हमारे अन्दर

जो कुछ परिणाम होगा, उससे अन्य प्राणी को लाभ या हानि हो सकती है—होती ही है; पर इस लाभ और हानि को उत्पन्न करने के लिये मुझमें क्रोधवृत्ति जागरित हुई थी—यह नहीं कहा जा सकता है। वृत्ति जागरित होती है जागरण के हेतुओं से, जिन हेतुओं से इन प्राणियों की लाभ-हानि का कुछ भी संवन्ध नहीं है। संस्कार-अभिव्यक्ति के जो भी हेतु हैं, वे प्रजापति के क्षेत्र में भी लागू होते हैं। जब तक वे हेतु प्रजापति के अन्तःकरण में विद्यमान रहेंगे, तब तक प्रजापति सृष्टि करने के लिये—स्वगत भूतादि-अहंकार को ग्राह्यीभूत करने के लिये—बाध्य हैं। यह बाध्यता स्वगत हेतु (प्राजापत्य मन के स्वभाव के अनुसार) पर निर्भरशील है। ब्रह्माण्ड के व्यक्त हो जाने पर अन्य प्राणी उस ब्रह्माण्ड में रहकर सुखी होंगे या दुःखी होंगे या कैवल्य लाभ करेंगे—इससे जगत्सर्जन-संकल्प का सम्बन्ध नहीं है। कारुण्यपूर्वक सृष्टि नहीं होती; चूँकि प्रजापति स्वगत सृष्टिसंकल्प को रुद्ध नहीं कर सकते, इसलिये वे सृष्टि करने के लिये प्राकृतिक कारणों से बाध्य हो जाते हैं। सांख्यीय दृष्टि में प्रजापति वस्तुतः आप्तकाम नहीं हैं, क्योंकि उनमें विवेकज्ञान पूर्णतः निष्पन्न नहीं हुआ है; यदि होता तो उनका चित्त अत्यन्त निवृत्त हो जाता और तब सृष्टि की कोई बात ही नहीं रहती।

चैत्र, मैत्र आदि प्राणी के शरीरों में ऐसे अनेक कीट हैं, शरीरगत रसादि जिसके खाद्य द्रव्य हैं। क्या इससे यह कहा जायेगा कि इन कीटों को अन्न देने के लिये करुणा-पूर्वक चैत्रादि प्राणियों ने देह-परिग्रह किया है? मन को बहिर्मुख करने के लिये जो हेतु होते हैं, उनमें से कोई उपयोगी हेतु ही सृष्टिसंकल्प के व्यक्तीकरण का हेतु है। ब्रह्माण्ड सृष्ट होने पर प्राणी अपने संस्कारानुरूप कर्म कर के भोग या अपवर्ग की सिद्धि कर सकते हैं। प्रलयकाल में प्राणी पुरुषकार नहीं कर सकते, व्यक्त ब्रह्माण्ड में ही पुरुषकार पूर्वक भोग या अपवर्ग मार्ग में वे चल सकते हैं, और केवल अपवर्ग मार्ग में जाकर कैवल्य को प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार ब्रह्माण्ड की अभिव्यक्ति प्राणियों की कैवल्यप्राप्ति में सहायक होती है, भोगप्राप्ति में भी सहायक होती है—यह देखकर भ्रान्तिवश कोई यह कह ही सकता है कि प्राणी को भोगप्राप्त कराने के लिये या कैवल्य प्राप्त कराने के लिये प्रजापति ने ब्रह्माण्ड को रचा है। यह कथन तत्त्वतः सत्य नहीं है।

स्वार्थ और करुणा के विषय में वाचस्पति[1] ने जो कुछ कहा है, उससे यह सिद्ध होता है कि ऐश करणों के स्वभाव के विषय में वाचस्पति अज्ञ थे। मानवकर्माशयोचित प्रवृत्तियों को ऐशकर्माशय में समान रूप से घटाना अदार्शनिक मनोवृति है।

---

१. ५७ कारिका की टीका में वाचस्पति ने जो जो युक्तियाँ दी हैं सारतः वही युक्तियाँ सांख्य-सूत्र १।९२-९५ में भी मिलती हैं। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि वस्तुतः ये युक्तियाँ किसी सांख्याचार्य की हैं। प्रचलित षडध्यायी अतिप्राचीनतर, प्राचीन···इस प्रकार विभिन्न काल के आचार्यों के वचनों का एक अस्वच्छ संग्रहमात्र है, जो सायणादि से कुछ वर्ष पहले किसी विद्वान् ने किया था। ये युक्तियाँ कल्पनापूर्वक दी गई हैं—ऐसा मुझे प्रतीत होता है, न कि विन्ध्यवासी आदि ने ऐसी युक्तियाँ दी थीं। ये युक्तियाँ अगभीर हैं, अतः कोई योगसाधकव्यक्ति ऐसी साधारण कोटि की युक्तियाँ नहीं दे सकते।

सांख्यानुसार ऐश्वर्य रूप बुद्धिधर्म के बहुविध स्वगत भेद हैं, अतः ऐश्वर्यबहुल सोपाधिक पुरुषों के (जो ईश्वर-पद-वाच्य होते हैं) अनेक भेद होते है । ईश्वर मुख्यतः (सांख्यीय दृष्टि से) तीन प्रकार के होते हैं—(१) आभिमानिक देव (ऐश्वर्यधर्म के साथ वैराग्यप्राधान्य इनमें हैं), (२) ब्रह्माण्डसर्जक प्रजापति हिरण्यगर्भ (ऐश्वर्यधर्म के साथ धर्म का प्रधान्य इनमें हैं) तथा (३) क्लेशादि-अपरामृष्टचित्त, विवेकज्ञानमात्रप्रकाशक, योगसूत्रोक्त ईश्वर (इनमें ज्ञान का इतना अधिक प्राधान्य है कि ऐश्वर्य के सर्वविध कार्य रुद्ध हो गये हैं)। ऐश्वर्य का साधारण उत्कर्ष प्रत्येक साधक में है क्योंकि ऐश्वर्य के विकाश हुये विना चित्त-वृत्तियों पर विजय प्राप्त नहीं की जा सकती ।

सांख्योय दृष्टि में भूत-तन्मात्र-अभिमानी देवों का कार्य यह है—प्रजापति के संकल्प से भूतादि की जो व्यक्तता होती हैं, वह इतनी सूक्ष्म होती है कि उस व्यक्त पदार्थ को विषय के रूप में व्यवहार करने की सामर्थ्य अस्मदादि की इन्द्रियों में नहीं होती । अत्यधिक विकशित करण से युक्त ऐश्वर्यशाली सोपाधिक जीव ही उस सूक्ष्म भूतादि को विषय के रूप में प्राप्त कर सकते हैं और इन ऐश्वर्यशाली जीवों के अभिमान से संयुक्त होकर प्राजापत्य भूतादि क्रमशः स्थूल होता रहता है । इनमें जो ऐश्वर्यशाली जीव पूर्वकल्प में तन्मात्र के साक्षात्कारी थे, उन जीवों के द्वारा तन्मात्रभाव स्थूलतः व्यक्त होता है; पूर्वकल्प मेंजा भूत-साक्षात्कारी थे उनके द्वारा भूत-भाव स्थूलतः व्यक्त होता है और इस प्रकार स्थूल रूप प्राप्त भूतादि हमारी इन्द्रियों का ग्राह्य विपय होता है ।

प्रजापति के विषय में यह विशेषतः ज्ञातव्य है कि ब्रह्माण्डगत प्राणियों के इष्टानिष्ट के साथ उनका कुछ भी स्वार्थ-सम्बन्ध नहीं है प्रजापति का योगैश्वर्य चूँकि 'कर्मानुसार अनुरूप फल की प्राप्ति' रूप नियम के अधीन हैं; अतः तद्विसृष्ट ब्रह्माण्ड में भी यही नियम (उनके ऐश्वर्य की सहायता से) अवाधित रूप से चलता रहता है । 'सृष्टिकर्ता प्रजापति पदार्थधर्मों का विपर्यास नहीं कर सकते हैं' यह जो सांख्यीय मत हैं, उसका तात्पर्य यही है कि जिन नियमों के आधार पर उनका दिव्य शरीर तथा ऐश करणों का विकाश होता है, उन मूलभूत नियमों द्वारा नियन्त्रित जो पदार्थधर्म हैं, उनका विपर्यास वे नहीं कर सकते । कोई योगी कुछ काल के लिये अग्नि को शीतल वना दें तो इससे मूल नियम की हानि नहीं होती—ईदृश परिवर्तन मूलनियमानुसारी ही है ॥५७॥

(१) स्वार्थं इवेति दृष्टान्तिततम् (कारिका ५६- ५७); तद्विभजते—

---

(१) ५६वीं कारिका में 'स्वार्थं इव' (दूसरों के लिये की गई सृष्टि मानो अपने लिये ही की गई है, ऐसा प्रतीत होता है) कहा गया है, जिसका दृष्टान्त भी दिया गया है । अब विशेष रूप से इसका प्रतिपादन किया जा रहा है—

औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः।
पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम् ॥५८॥

(२) "औत्सुक्ये" ति। औत्सुक्यमिच्छा, सा खल्विष्यमाणप्राप्तौ निवर्तते। इष्यमाणश्च स्वार्थः, इष्टलक्षणत्वात्फलस्य। (३) दार्ष्टान्तिके योजयति-"पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम्" इति ॥ ५८ ॥

जिस प्रकार उत्सुकता की निवृत्ति (=स्वेच्छा की पूर्ति) के लिये कोई व्यक्ति कार्यों में प्रवृत्त होता है, उसी प्रकार प्रकृति पुरुष के मोक्ष के लिये प्रवृत्त होती है ॥५८॥

(२) कारिकोक्त 'औत्सुक्य' का अर्थ है—इच्छा। अभीष्ट की प्राप्ति हो जाने पर इच्छा निवृत्त हो जाती है। स्वार्थ (=प्रयोजन) ही इष्यमाण (=अभीष्ट, जो चाहा जाता है) होता है; क्योंकि जो फल होता है, वह इच्छा-विषयरूप ही होता है। (३) पूर्वोक्त दृष्टान्त को दार्ष्टान्तिक (=जिसके लिये दृष्टान्त दिया जाता है; यहाँ प्रकृति की प्रवृत्ति का विषय) में घटाते हैं—'उसी प्रकार अव्यक्त (=प्रकृति) पुरुष के मोक्ष के लिये प्रवृत्त होता है ॥५८॥

५८वीं कारिका की व्याख्या

५६ का० में 'प्रतिपुरुष-विमोक्षार्थम्', ५७ का० मे 'पुरुषविमोक्षनिमित्तम्' और ५८ का० में 'पुरुषस्य विमोक्षार्थम्' कहा गया है। इनमें पुनरुक्ति दृष्ट हो रही है, अतः इस कारिका का तात्पर्य विशेषतः विचार्य है।

इस कारिका से सम्वन्धित यह प्रचलित मत बहुत ही अयुक्त है कि अव्यक्त या प्रधान सोच विचार कर कुछ करता है या पुरुष को कुछ लाभ देने के लिये चेष्टा करता है या स्वेच्छया किसी कार्य में प्रवृत्त होता है। सोचना, विचारना, इच्छा करना आदि सोपाधिक पुरुष के व्यापार हैं (उपाधिस्थ पुरुष निष्क्रय है), गुणमात्र या गुण-विकारमात्र चिन्तन-विचारादि नहीं कर सकता। सत्त्वगुण के रहने पर भी गुणमात्र के द्वारा सोच विचार करना या ज्ञान की प्राप्त करना असंभव है जब तक न पुरुषाधिष्ठित बुद्धि-आदि उपाधि का आविर्भाव हो। त्रैगुणिक उपाधियुक्त कोई पुरुष (सोपाधिक पुरुष) ही सर्वज्ञ या अल्पज्ञ हो सकता है। ज्ञान और शक्ति प्रधान-पुरुष के संयोगजात पदार्थ हैं[1]।

---

१. सत्त्वगुण के आधिक्य के कारण प्रधान सर्वज्ञ है—यह सांख्य का मत है—ऐसा शंकराचार्य ने कहा हैं (द्र० शारीरकभा० १।१।५)। ज्ञानरूप व्यक्त पदार्थ पुरुषाधिष्ठित प्रधान का विकारविशेष है, केवल प्रधान में ज्ञान ज्ञानरूपेण नहीं रहता, अतः प्रधान को कथमपि सर्वज्ञ नहीं कहा जा सकता और न ही सांख्य के किसी वचन से ऐसा मत प्रतिभात भी होता है। उपर्युक्त मत सांख्यीय है—यह शंकराचार्य को कैसे ज्ञात हो गया—यह जानने की इच्छा है।

५६वीं कारिका की ध्वनि यह है कि एक एक महदादिसर्ग (महत्-अहंकार-मन-इन्द्रियों की समष्टि) एक एक पुरुष द्वारा अधिष्ठित है तथा महदादिसर्ग-क्रम की समाप्ति एक एक पुरुष के लिये पृथक् पृथक् है; अर्थात् एक पुरुष के उपाधिभूत महदादिक्रम की समाप्ति हो जाने पर भी अन्य पुरुष में महदादिक्रम रह ही जाता है। ५७वीं कारिका की ध्वनि यह है कि ऐसा नहीं समझना चाहिये कि 'पुरुषविमोक्ष' रूप फल को उद्देश्य कर महदादि-परिणाम होता है। किसी प्रकार के उद्देश्य की कोई बात नहीं है। उद्देश्य तो सोपाधिक पुरुष में होता है—केवल उपाधि में नहीं। ५८वीं कारिका का कथन यह है—क्रिया की प्रवृत्ति कर्त्ताके औत्सुक्य की समाप्ति होने पर स्वयम् निरुद्ध हो जाती है—यह देखा जाता है। यह माना नहीं जा सकता कि प्रवृत्ति सदैव चलती ही रहेगी—कभी निवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि देखा जाता है कि व्यक्ति की प्रवृत्ति उसके औत्सुक्य की निवृत्ति हो जाने पर अपने आप ही निरुद्ध हो जाती है (किसी के उपदेश या इच्छा से या किसी के द्वारा वलपूर्वक प्रयुक्त होकर नहीं, वल्कि स्वतः ही वह निरुद्ध हो जाती है)।

इस 'अपने आप निरुद्ध होना' रूप तथ्य को कहने के लिये (अर्थात् महदादि का परिणामक्रम भोगापवर्ग के चरितार्थ होने पर अपने आप समाप्त हो जाता है—पृथक्रूप से अन्य किसी कारण की आवश्यकता नहीं है [जैसा कि अन्य संप्रदाय के आचार्य कहते हैं]) ही यह कारिका कही गई है।

ध्यान देना चाहिये कि इन कारिकाओं में 'आरम्भः' (५६) 'प्रवृत्तिः' (५७) और 'प्रवर्तते' (५८) पद प्रयुक्त हुये हैं। इन कारिकाओं में प्रधान के परिणामों का स्वभाव दिखाया गया है। यह परिणाम ऐसा है जो स्वभावतः निरुद्ध होगा—यह भी कारिकाकार ने दिखाया है। [विमोक्षार्थं प्रवर्तते—कहने पर भी इच्छायुक्त प्रवृत्ति का कोई प्रसंग यहाँ नहीं है—यह ज्ञातव्य है। प्रवृत्ति=परिणाम, परिणत होना]।

प्रधानजात बुद्धि की प्रवृत्ति अनापेक्षिक प्रवृत्ति नहीं है; वह ऐसी प्रवृत्ति है, जिसके गर्भ में निवृत्ति भी सूक्ष्मरूपेण अवस्थित है। वस्तुतः प्रवृत्ति दो प्रकार की है; एक शब्दादिविषय की ओर तथा दूसरा ज्ञाता की ओर। एक की वृद्धि से अपर का क्षय होता है। ज्ञाता की ओर प्रवृत्ति को निवृत्ति शब्द से भी कहा जाता है, क्योंकि किसी दिन उस प्रवृत्ति (अर्थात् निवृत्ति) की समाप्ति होगी (मोक्षाधिगम में); पर विषय की ओर प्रवृत्ति का कोई अन्त नहीं है। प्रवृत्ति के दो प्रकारों में एक प्रकार को जो निवृत्ति नाम दिया गया है, उसका हेतु यही है। यह निवृत्ति भी मोक्षावस्था में नहीं रहती—विवेक और अविवेक दोनों उस अवस्था में चिरकाल के लिये अव्यक्त हो जाते हैं।

प्रधान सोच-विचारकर कुछ कार्य करता है—ऐसे समझने वालों में शंकराचार्य प्रधान हैं। इसी कारिका में व्याख्यात विषय को लेकर वे कहते हैं— न च औत्सुक्य-निवृत्त्यर्था प्रवृत्तिः। नहि प्रधानस्याचेतनास्यौत्सुक्यं संभवति···(शारीरक० २।२।६)। व्यक्त-पदार्थ-विशेष (लिङ्ग, महत्, अहंकार आदि) के लिये सांख्यकारिका (तथा

अन्य ग्रन्थ) 'त्रैगुणिक' 'प्राधानिक' 'प्राकृत' आदि शब्दों का ही प्रयोग न करके त्रिगुण, प्रकृति, प्रधान शब्दों का भी प्रयोग करती है, अतः जिन वाक्यों में प्रकृति आदि शब्दों के बुद्धि आदि पुम्प्रकृतिसंघात रूप अर्थ ही लेने चाहियें वहाँ गुणत्रयमात्र रूप अर्थ लेकर अविशेषज्ञ व्यक्ति भ्रम में पतित हो जाते हैं। जहाँ 'पुरुषसाक्षिकगुणविकार विशेष' अर्थ लेना चाहिये वहाँ 'गुणत्रयमात्र' रूप अर्थ लेकर सांख्यपक्ष में दोष देना दोषज्ञ का कार्य नहीं है ॥ ५८ ॥[1]

(१) ननु भवतु पुरुषार्थः प्रकृते प्रवर्तकः, निवृत्तिस्तु कुतस्त्या प्रकृतेः ? इत्यत आह–

रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्।
पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः ॥५९॥

(२) "रङ्गस्य" इति। स्थानेन स्थानिनः पारिषदानुपलक्षयति। आत्मानं शब्दाद्यात्मना पुरुषाद्भेदेन च प्रकाश्येत्यर्थः ॥ ५९ ॥

(१) माना कि प्रकृति की प्रवृत्ति में पुरुषार्थ कारण है, पर उस प्रवृत्ति (=व्यापार) से उसके निवृत्त होने में क्या हेतु है ? इसके उत्तर में कारिकाकार कहते हैं—

जिस प्रकार कोई नर्तकी रङ्गस्थ (=नाट्य-स्थान-स्थित) दर्शकों के समक्ष नृत्य कर चुकने बाद फिर नृत्य नहीं करती, उसी प्रकार प्रकृति पुरुष के समक्ष अपने को प्रकाशित कर देने के बाद निवृत्त हो जाती है ॥ ५७ ॥

(२) स्थानविशेष के वाचक रङ्ग से रङ्स्थानीय पारिषद (दर्शक) उपलक्षित होते हैं (=लक्षणा से बोध्य होते हैं)। 'आत्मानम् प्रकाश्य'=प्रकृति अपने को शब्दादि स्वरूप द्वारा और पुरुष से भिन्न रूप में प्रकट कर निवृत्त हो जाती है—(ऐसा तात्पर्य समझना चाहिए) ॥५९॥

५९वीं कारिका की व्याख्या

तत्वकौमुदी से इस कारिका का तात्पर्य भली भांति समझ में नहीं आता, अतः स्पष्ट रूप से इसकी व्याख्या करने की चेष्टा की जा रही है—

१. उपनिषद्भाष्यों में तथा ब्रह्मसूत्रभाष्य में (विशेषकर २ अ० में) सांख्यीय मूलभूत मतों के विषय में शंकराचार्य की जो अज्ञता दृष्ट होती है (अर्थात् शंकरोक्त सांख्यमत प्रायः सांख्यमत नहीं हैं) उससे मुझे कभी कभी ऐसा बोध होता है कि कहीं ऐसा तो नहीं कि बौद्धसंप्रदायविशेष में सांख्यमत का जो विकृत रूप था (बौद्धदार्शनिक सांख्यमत के विषय में अत्यधिक अज्ञ थे) उसी मत को शंकराचार्य सांख्यमत के रूप में समझते थे।

इस कारिका में प्रकृति (प्रधान) अर्थात् प्राकृत बुद्धि की निवृत्ति (भोगापवर्ग की चरितार्थता होने पर जो स्वतः निवृत्ति हो जाती है वह) विचारित हुई है। प्रवृत्त और निवृत्त होने का स्वभाव प्रधान में है; यथायोग्य हेतु से ये दो निष्पन्न होते हैं। पूर्वकारिका में इतना ही कहा गया है कि प्रधानप्रवृत्ति (=महदादि क्रम) की निवृत्ति अवश्य होती है, जिस निवृत्ति का फल है मोक्ष (वस्तुतः बुद्धि-आदि की आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है)।

प्रस्तुत कारिका कहती है कि यह निवृत्ति तव तक नहीं होगी (या प्रवृत्ति तव तक चलती रहेगी, अर्थात् महदादिक्रम व्यक्त रहेगा) जब तक न भोग (विषयज्ञान या ज्ञान में द्रष्टा और दृश्य:के पार्थक्य का अवधारण न होना) और अपवर्ग (दृश्य से पृथक् द्रष्टा के अस्तित्व का अवधारण) पूर्ण हो जाये। यह ज्ञातव्य है कि भोग की चरितार्थता विषय में उपेक्षाबुद्धि होने पर होती है। विषयज्ञान में व्यर्थता का बोध होना ही चरितार्थता है। बुद्धि की अन्तर्मुखता की परिपक्वता के साथ-साथ यह उपेक्षा भी पूर्णता की ओर जाती है। पुरुषसत्ता का अवधारण जब सम्यक् हो जाता है तब भोग की चरितार्थता भी पूर्ण हो जाती है।

'नर्तकी की निवृत्ति' उपमामात्र है, कोई दृष्टान्त नहीं है। चूँकि नर्तकी निवृत्त होती है; अतः बुद्धि भी निवृत्त होगी—ऐसी चिन्ता असंगत है। प्रकृति की जो निवृत्ति होती है, उसका पृथक् हेतु है। वह हेतु है—गुणस्वभाव, त्रिगुणगत रजः जो व्युत्थान का भी सहायक है। हेतु के भेद से प्रवृत्ति और निवृत्ति होती है। निवृत्ति भी प्रवृत्ति-विशेष ही है। पुरुषाभिमुख प्रवृत्ति से महदादिक्रम की समाप्ति हो जाती है, अतः यह प्रवृत्ति निवृत्ति कहलाती है। प्रवृत्ति यहाँ इच्छापूर्वक चेष्टा करना रूप नहीं है। परिणामशीलता, परिणत होना, परिणाम उत्पन्न करना ही प्रवृत्ति है।

प्रकृति की यह निवृत्ति (अर्थात् महदादिक्रम की समाप्ति) तभी हो सकती है जब भोग और अपवर्ग चरितार्थ हो जायें। जब ज्ञात होता है कि अशेष वैचित्र्यमय विषय त्रिगुण के सन्निवेशविशेषों से और कुछ नहीं हैं तथा बुद्धि आदि भी उपादानदृष्टि से त्रैगुणिक ही हैं ('गुणा गुणेषु वर्तन्ते'—यह बोध जब दृढ़ हो जाता है), तभी विषयज्ञान के प्रति व्यर्थता-बोध उद्भूत होता है और शाश्वत रोध के लिये बुद्धि आदि स्वतः प्रचेष्ट होते हैं।

हमारी दृष्टि में यहाँ योगदर्शनोक्त 'प्रज्ञा की कार्याविमुक्ति का प्रतिपादन है (द्र० २।२७ भाष्य)। हेय हेयहेतु-हान-हानोपाय का पूर्ण ज्ञान होना ही यह अवस्था है। 'आत्मानं प्रकाश्य' की ध्वनि यह है कि भोग या अपवर्ग सम्बन्धी सभी विशेषों का पूर्ण ज्ञान हो जाना। यह चतुर्विध प्रज्ञा बुद्धिस्थित ही है—बुद्धिकृत ही है—पुरुषतत्त्व में इस प्रज्ञा के कारण कोई संस्कारविशेष उत्पन्न नहीं होता—यह तथ्य अगली कारिका में कहा जायेगा; ६१वीं कारिका से चित्तविमुक्ति (पञ्चम-षष्ठ-सप्तम प्रकार की प्रज्ञा) का विवरण दिया जायेगा।

कारिका के वर्ण्य विषय से यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ प्रकृति सत्त्व रजस्तमः का अवैषम्यावस्था न होकर वैषम्यावस्था-विशेष है। वैषम्यावस्था और महदादि रूप उपाधि (जिससे पुरुष सोपाधिक कहलाता है) अविनाभावी हैं ॥५९॥

---

(१) स्यादेतत्—प्रवर्ततां प्रकृतिः पुरुषार्थम्। पुरुषादुपकृतात् प्रकृति र्लप्स्यते कञ्चिदुपकारम्, आज्ञासम्पादनाराधिताद् इवाज्ञापयितुर्भुजिष्या। (२) तथा च न परार्थोऽस्या आरम्भ इत्यत आह—

नानाविधैरुपायैरुपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः।
गुणवत्यगुणस्य सतस्तस्यार्थमपार्थकं चरति ॥६०॥

(३) "नाना" इति। यथा गुणवानप्युपकार्यपि भृत्यो निर्गुणेऽत एवानुपकारिणि स्वामिनि निष्फलाराधनः, एवमियं प्रकृतिस्तपस्विनी गुणवत्युपकारिण्यनुपकारिणि पुरुषे व्यर्थपरिश्रमेति पुरुषार्थमेव यतते न स्वार्थमिति सिद्धम् ॥६०॥

---

(१) पूर्वोक्त दृष्टान्त से यह माना जा सकता है कि प्रकृति पुरुष के लिये प्रवृत्त होती है; पर उपकृत पुरुष के द्वारा प्रकृति भी प्रत्युपकृत होती होगी, जैसे आज्ञा-पालन द्वारा प्रसन्न हुए आज्ञाकारी स्वामी से किंकरी प्रत्युपकृत होती है। (२) और ऐसा होने पर प्रकृति की प्रवृत्ति दूसरे (=पुरुष) के लिए होती है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसके उत्तर में कारिकाकार कहते हैं—

गुणवती (=त्रिगुणमयी) एवं उपकारिणी प्रकृति व्यर्थं ही निर्गुण एवं अनुपकारी (=उपकारहीन) पुरुष का अर्थ (=भोगापवर्गरूप पुरुषार्थ) अनेक उपायों(=फलसाधनों) द्वारा सम्पादित करती है ॥६०॥

(३) जिस प्रकार कोई गुणसम्पन्न एवं उपकारी सेवक निर्गुण सुतरां प्रत्युपकार-विहीन स्वामी से अपनी सेवा का कुछ भी फल नहीं पाता, उसी प्रकार यह गुणवती एवं उपकारिणी उदार प्रकृति अनुपकारी पुरुष के लिये भोगापवर्गनिष्पादनरूप जो कार्य करती है, वह श्रम विफल हो होता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि पुरुष के लिये ही यह प्रकृति प्रवृत्त होती है, अपने लिये नहीं ॥६०॥

६०वीं कारिका की व्याख्या

'अपार्थकं चरति' का तात्पर्य टीका में स्पष्टतः दिखाया नहीं गया। हम समझते हैं कि इस कारिका में एक गम्भीर प्रश्न का उत्तर दिया गया है—यद्यपि हेतु नहीं दिया गया है; हेतु का ऊहन करणीय है। यह जानने पर कि बुद्धि की ही निवृत्त होती है, बुद्धि ही प्रवृत्त होती है, पर बुद्धिस्थ नानाविध विषयों का प्रकाशक पुरुष हैं ; यह बुद्धि पुरुष-संयुक्त है; साथ ही बुद्धि (गुणविकार) के साथ पुरुष का अत्यन्त सन्निकर्ष है, क्योंकि गुण

'सन्निधिमात्रोपकारी है' (सन्निधिमात्रोपकारिणः, व्यासभाष्य २।१८) यह प्रश्न उठता है कि बुद्धि के ईदृश परिवर्तन होने पर भी तथा विषयों के प्रकाशक होने पर भी क्या बुद्धिसन्निहित पुरुष में कुछ भी वैलक्षण्य या परिणाम नहीं होता ? सांख्य का मत है कि किसी भी बौद्ध परिवर्तन के साथ बुद्धिद्रष्टा पुरुष की कुछ भी अवस्थान्तरता नहीं होती। जब सन्निहित बुद्धि के परिणामों के साथ पुरुष का कुछ भी परिणाम नहीं होता तो कहना ही पड़ता है कि बुद्धि वस्तुतः पुरुष के लिये (पुरुष में कुछ आधिक्य हो, लाभ हो, इस उद्देश्य से) कुछ भी नहीं करती। चूँकि पहले 'पुरुषविमोक्ष-निमित्तम्' (का० ५७) और 'पुरुषस्य विमोक्षार्थम्' (का० ५८) कहा गया है, अतः किसी को यह भ्रम हो सकता है कि बुद्धि वस्तुतः पुरुष में कुछ उपादेय, अभीष्ट परिणाम उत्पन्न करती है अथवा बुद्धि पुरुष के साथ ऐसा कुछ पदार्थ संयुक्त कर देती है, जो पुरुष का अभीष्ट हो। पर चूँकि ऐसा कुछ भी नहीं होता, अतः यह कहना उचित नहीं है कि निर्गुण निर्धर्मक पुरुष के भोग-अपवर्ग रूप अर्थ का संपादन प्रकृति वस्तुतः करती है। भोग और अपवर्ग के साथ पुरुष के कुछ भी हानि-लाभ नहीं हैं। भोग या अपवर्ग का चरितार्थ होना या न होना व्यक्त बुद्धि का ही व्यापार है। पौरुष सत्ता की दृष्टि से भोगापवर्ग का सम्पादन व्यर्थ (=अपार्थक) है, अतः 'अपार्थकं चरति' कहा गया है।

इस कारिका की भाषा काव्यगन्धि है। पुरुष का उपकार त्रिगुणरूप प्रकृति करती है, अतः पुरुष से प्रकृति को कुछ प्रत्युपकार मिलना चाहिये—ईदृश चिन्ता सर्वथा बालोचित है। निर्गुण पुरुष के लिये यह सोचना कि वह कुछ चाहता है, या उसमें कुछ कमी है जिसकी पूर्ति प्रकृति करती है—एक उच्छृङ्खल चिन्ता है। भोगापवर्ग का दान देकर प्रकृति पुरुष का उपकार करती है—यह मत सर्वथा काल्पनिक है। सन्निधिमात्रोपकारित्व ही उपकार है। यह सन्निधान दैशिक या कालिक नहीं है—यह पहले ही कहा गया है। पुरुष को भोगापवर्ग देने में प्रकृति का कुछ स्वार्थ है—यह कथन (जैसा विभिन्न टीकाओं में मिलता है) सर्वथा अज्ञोचित है।

इस कारिका के वर्णित विषय को वस्तुस्थिति का यथावत् वर्णन समझकर बहुत लोग भ्रान्त हुये हैं। कारिका का उद्देश्य यह है कि प्रधान, प्रकृति, अव्यक्त की जिस प्रवृत्ति और निवृत्ति की बात पूर्व कारिकाओं में कही गई है, वे वस्तुतः प्रकृति के ही व्यापार हैं—महदादि चाहे व्यक्त रहें अथवा चरितार्थ होकर अव्यक्त ही जाएँ, निर्गुण निर्धर्मक पुरुष का कुछ भी अन्यथाभाव उससे नहीं होता। कर्तृत्व गुणों में है, गुणविकारों में है, क्रिया भी इनमें ही हैं, पुरुष तो सदैव निर्विकार साक्षी ही है। प्रकृति की इस प्रवृत्ति और निवृत्ति से पुरुष का कुछ भी अन्यथात्व नहीं होता ॥६०॥

(१) स्यादेतत्—नर्तकी नृत्यं परिषद्भ्यो दर्शयित्वा निवृत्तापि पुनस्तद्दृष्टृकौतूहलात् प्रवर्तते यथा, तथा प्रकृतिरपि पुरुषायाऽऽत्मानं दर्शयित्वा निवृत्तापि पुनः प्रवर्त्स्यति, इत्यत आह—

प्रकृतेः सुकुमारतरं न किंचिदस्तीति मे मतिर्भवति ।
या दृष्टास्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥६१॥

(२) "प्रकृते"रिति। सुकुमारताऽतिपेशलता, परपुरुषदर्शनासहिष्णुतेति यावत्। (३) असूर्यम्पश्या हि कुलवधूरतिमन्दाक्षमन्थरा प्रमादाद्विगलितसिचयाञ्चला चेदालोक्यते परपुरुषेण, तदाऽसौ तथा प्रयतते, अप्रमत्तां यथैनां परपुरुषान्तराणि न पुनः पश्यन्ति। एवं प्रकृतिरपि कुलवधूतोऽप्यधिका दृष्टा विवेकेन न पुनर्द्रक्ष्यत इत्यर्थः ॥ ६१ ॥

---

(१) (प्रकृति अपने लिये नहीं, प्रत्युत पुरुष के लिये प्रवृत्त होती है—यह माना जा सकता है) पर जिस प्रकार नर्त्तकी पारिषदों (=दर्शकों) को अपना नृत्य दिखाने के बाद निवृत्त होने पर भी दर्शकों के कौतूहल के कारण फिर नृत्य में प्रवृत्त हो सकती है, उसी प्रकार प्रकृति भी पुरुष के प्रति अपने को दिखाकर निवृत्त होने के बाद पुनः प्रवृत्त हो सकती है—इस प्रश्न का उत्तर कारिकाकार देते हैं :—

मेरी (कारिकाकार की) यह धारणा है कि प्रकृति से अधिक सुकुमार (=अतिकोमल) कोई अन्य पदार्थ नहीं है, क्योंकि यह ज्ञात होते ही कि 'पुरुष ने मुझे देख लिया है' यह प्रकृति उसकी दृष्टि में पुनः नहीं आती । [हमारी दृष्टि में कारिका का प्रचलित पाठ भ्रष्ट है; इसके संभाव्य पाठ और उसके अर्थ के विषय में व्याख्या द्रष्टव्य है] ॥६१॥

(२) 'सुकुमारतरता' का अर्थ है—अत्यधिक कोमल होना अर्थात् पर पुरुष दर्शन की असहिष्णुता । (३) जिस प्रकार असूर्यम्पश्या, अत्यन्त लज्जा के कारण मन्थरगति वाली किसी कुलाङ्गना के अनवधानवश मस्तकस्थित वस्त्र के खिसक जाने पर यदि वह किसी पुरुष द्वारा देख ली गई तो वह सावधान रहकर ऐसी चेष्टा करती है कि अन्य कोई पुरुष उस अप्रमत्ता को फिर न देख सके । इसी प्रकार कुलाङ्गना से भी अधिक सुकुमार प्रकृति एकबार किसी पुरुष द्वारा विवेकपूर्वक देख ली जाने पर पुनः उसकी दृष्टि में नहीं आती है ॥६१॥

६१वीं कारिका की व्याख्या

तत्त्वकौमुदी में कारिका का अभिप्राय स्पष्टीकृत नहीं हुआ है । हमारी दृष्टि में इस कारिका का प्रतिपाद्य विषय व्युत्थानहीन निरोध है। महदादि परिणाम यदि एक बार चरितार्थ होकर निरुद्ध हो जाये तो पुनः उसकी व्यक्तता नहीं होती । यह प्रान्तभूमि प्रज्ञा की पञ्चम या षष्ठ अवस्था हैं (द्र० योगसूत्र २।२७) । ध्यान देना चाहिये कि व्युत्थानसंस्कार से हीन होकर रुद्ध होने पर ही निरोध शाश्वत होता है, अन्यथा निरोध कालावच्छिन्न ही होगा और निरोधसंस्कार का क्षय होने पर चित्त व्युत्थित होगा ।

इस शाश्वत निरोध के लिये तत्त्वज्ञान चाहिये; विशेषतः दृश्यधर्मातीत अविषय, निर्गुण अपरिणामी पुरुषतत्त्व के अवधारण के बिना निरोध शाश्वत नहीं होता, प्रकृति-लय का हेतुभूत निरोध ही हो सकता है।

'या दृष्टा' का तात्पर्य है—भोग और अपवर्ग रूप दो पुरुषार्थों की चरितार्थता। दृश्य भोगरूप से या अपवर्गरूप से ही उपस्थित होता है–इसलिये 'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्' (यो०सू० २।१८) कहा गया है। भोग और अपवर्ग यदि चरितार्थ हो जाये तो दृश्य स्वभावतः अव्यक्त होता है। यह इस प्रसंग में ज्ञातव्य है कि पुरुष की उपाधिभूत महदादिरूप करणसमष्टि ही अव्यक्त होती है—यही यहाँ कहा गया है (प्रकृति=प्राकृत उपाधि)। स्थूल-सूक्ष्म-शरीर के अव्यक्त भाव का कोई प्रसंग यहाँ नहीं है। शरीर लिङ्गान्तर्गत नहीं है। महदादि चरितार्थ होकर, अव्यक्त होने पर, पुनः क्यों नहीं व्यक्त होंगे—इसका समीचीन हेतु कारिका में नहीं कहा गया। 'सुकुमारतरत्व' रूप जो हेतु कारिका में दिया गया है, उसकी ध्वनि यह है कि सुकुमारता (अर्थात् लज्जाशीलता) के कारण कोई महिला जिस प्रकार पुरुष द्वारा दृष्ट होने पर छिप जाती है, और उसके पास पुनः उपस्थित नहीं होती—प्राकृत उपाधि भी उसी प्रकार व्युत्थानसंस्कारहीन होकर एकवार अव्यक्त हो जाने पर पुनः व्यक्त नहीं होती। इस कथन में 'स्त्री की सुकुमारता' उपमामात्र है।[1]। यह कारिका प्रकृति की व्युत्थानशून्य निवृत्ति के हेतु का प्रदर्शन नहीं करती, पर हम परम्परागत रूप से जानते हैं कि वह हेतु है—व्युत्थानसंस्कार का क्षय। इस 'संस्कारक्षय' की उपमा 'सुकुमारता' है; इन दोनों में कौन सा सादृश्य है; यह दुरवबोध है।

कारिकागत 'मे मतिर्भवति' वाक्य का स्वारस्य प्रतीत नहीं होता। ग्रन्थकार यहाँ कहते हैं–'ऐसा मेरा मत है'; पर ऐसा एक वाक्य कहने का अभिप्राय क्या है—यह समझ में

---

१. हमें छात्रजीवन के वे दिन इस समय स्मृतिपथ में आ रहे हैं जब सांख्यीय तत्त्वज्ञान में अज्ञ अध्यापक प्रकृति के लजीलापन—रसीलापन आदि पर रोचक भाषण देते थे और यह समझाते थे कि चूँकि कोई लज्जाशीला महिला पुरुष-दृष्ट होने पर भाग जाती है और लौटकर उनके पास नहीं आती अतः प्रकृति भी पुरुष (तत्त्व) द्वारा दृष्ट होने पर पुरुष से हट जाती है। पुरुष जब प्रकाशक है तब प्रकृति क्यों नहीं दृष्ट होगी? अव्यक्त प्रकृति देशकालातीत है; उसका हटना रूप क्रिया कैसे संभव है? अज्ञ लोग यह नहीं समझते कि महिला की निवृत्ति उपमा है, दृष्टान्त (=व्याप्तिसंवेदनस्थान) नहीं है; उपमा होने के कारण उसका एकदेश ही ग्राह्य है; लौटकर न आना ही दृष्टान्त का वह एकदेश है जो दार्ष्टान्तिक में 'महदादि उपाधि का पुनः व्यक्त न होना' है। योग और वियोग शब्द के जो प्रचलित अर्थ हैं, उन अर्थों में ये दो शब्द पुरुष-प्रकृति में कभी भी प्रयोज्य नहीं हो सकते। संयुक्त-वियुक्त होना आलंकारिक दृष्टि से है, वस्तुस्थिति नहीं है। सांख्य के अध्यापकों की अज्ञतापूर्ण धारणाओं के कारण सांख्यविद्या बहुत कुछ कलुषित हो गई है।

नहीं आता। ऐसा वाक्य तो अन्यत्र भी कहा जा सकता था, केवल सुकुमारता के प्रसंग में ही ऐसा क्यों कहना पड़ा—इसका रहस्य हमें ज्ञात न हो सका। 'मे'=पुरुष (तत्व) का—यह अर्थ नहीं हो सकता। 'लिङ्ग' परक भी यह वाक्य नहीं हो सकता, क्योंकि 'मे' का स्वारस्य नहीं रहता। 'मे गति र्भवति' पाठ की संगति दुश्चिन्त्य है।

६१ वीं कारिका के पूर्वार्ध के मूल पाठ के विषय में मेरी एक कल्पना है। हम समझते हैं कि इसका मूल पाठ ईदृश था—'प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदित्यन्तिमा मति र्भवति'—अन्तिमा मतिः भवति(=जायते) इस अर्थों में 'भवति' अस्त्यर्थक न होकर (जिस अर्थ की कोई आवश्यकता किसी भी कारिका में शायद ही होती हो) उत्पत्त्यर्थक है, अतः इसका प्रयोग आवश्यक है। 'अन्तिमा मतिः' सप्तभूमि प्रज्ञा की षष्ठ भूमिका है मति =मनन की दृष्टि में षष्ठ भूमिका ही अन्तिम है। अथवा यह भी हो सकता है प्रज्ञा का अन्य कोई विभाग ऐसा था, जिसमें योगदर्शनोक्त षष्ठ भूमि उस विभाग में अन्तिम भूमि थी। मति=प्रज्ञा है ॥६१॥

(१) स्यादेतत्-पुरुषश्चेदगुणोऽपरिणामी, कथमस्य मोक्षः, मुचेर्बन्धनविश्लेषार्थत्वात्, सवासनक्लेशकर्माशयानां च बन्धनसंज्ञितानां पुरुषेऽपरिणामिन्यसम्भवात्। (२) अत एवास्य च पुरुषस्य न संसारः, प्रेत्यभावापरनामाऽस्ति, निष्क्रियत्वात्। तस्मात् 'पुरुषविमोक्षार्थम्' इति रिक्तं वचः—इतीमां शङ्कामुपसंहारव्याजेनाभ्युपगच्छन् अपाकरोति—

तस्मान्न बद्ध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥६२॥

---

(१) किन्तु यदि पुरुष गुणहीन और अपरिणामी है, तो उसका मोक्ष कैसे सम्भव है? क्योंकि मोक्ष शब्द के प्रकृतिभूत मुच् धातु का अर्थ है—'बन्धन से विच्युति', और बन्धन जो वासना तथा क्लेश के सहित कर्माशयों का ही नाम है, अपरिणामी पुरुष में सम्भव ही नहीं है; (२) इसलिये पुरुष का प्रेत्यभाव (=मरने के बाद जन्मग्रहणरूप) नामक संसरण भी नहीं हो सकता, क्योंकि पुरुष क्रियाहीन है, तब 'पुरुष के मोक्ष के मोक्ष के लिये' अव्यक्त प्रधान प्रवर्तित होता है, यह कहना निरर्थक है—इस शङ्का को उपसंहार-छल से स्वीकार करते हुए (पुरुष में स्वतः बन्धन नहीं है, ऐसा मानकर) कारिकाकार उसका निराकरण करते हैं:—

(अपरिणामित्व एवं निर्गुणत्व के कारण) किसी पुरुष का न तो (वस्तुतः) बन्धन और न मोक्ष ही होता है, न संसरण ही है; अनेक पुरुषों के आश्रय में रहने वाली प्रकृति का ही संसरण और मोक्ष होते हैं ॥ ६२ ॥

(३) "तस्मादि"ति । अद्धा न कश्चित् पुरुषो बध्यते, न कश्चित् संसरति, न कश्चिन्मुच्यते, प्रकृतिरेव तु नानाश्रया सती बध्यते संसरति मुच्यते चेति । (४) बन्धमोक्षसंसाराः पुरुषेषूपचर्यन्ते । यथा जय पराजयौ भृत्यगता वपि स्वामिनि उपचर्येते । तदाश्रयेण भृत्यानां तद्भागित्वात् तत्फलस्य च शोक-लाभादेः स्वामिनि संबन्धात् । (५) भोगापवर्गयोः प्रकृतिगतयोरपि विवेकाग्रहात् पुरुषसम्बन्ध उपपादित इति सर्वं पुष्कलम् ॥६२॥

(३) यह निश्चित है कि न किसी पुरुष का बन्धन होता है; न संसरण या मोक्ष; अनेक पुरुष के आश्रय में रहने वाली प्रकृति का ही बन्धन होता है, संसरण भी, और मोक्ष भी; (४) पुरुष में वे बन्धनादि) केवल आरोपित होते हैं, जैसे विजय और पराजय अधी-नस्थ भृत्य की होने पर भी स्वामी में आरोपित होती हैं क्योंकि स्वामी के आश्रय से ही तदधीन भृत्य जय-पराजय के कार्यों में भाग लेते हैं और, लाभ, शोक आदि फल स्वामी से संबद्ध होते हैं । (५) प्रकृति-पुरुष का भेद-ज्ञान न रहने के कारण प्रकृतिगत भोग और अपवर्ग पुरुष से संबद्ध होते हैं, इस प्रकार सभी सिद्धान्त प्रशस्य या निर्विवाद होते हैं ॥ ६२ ॥

६२वीं कारिका की व्याख्या

जब यह निश्चित हुआ कि महदादि क्रम के आरम्भ और समाप्ति से निर्गुण निर्धर्मक नित्यमुक्त पुरुष का कोई भी वास्तव सम्बन्ध नहीं है, तब स्वाभाविक रूप से प्रश्न उठता है कि बन्ध-मोक्ष-संसरण का सम्बन्ध किसके साथ है । सांख्य का इस विषय से स्पष्ट उत्तर है—प्रकृति अर्थात् महदादि रूप प्राकृत उपाधि (यह पुरुषोपदृष्ट है—यह दूसरी बात है) के साथ ही बन्धादि का साक्षात् संबन्ध है ।[1]

जो यहाँ प्रकृति का अर्थ सत्त्वरजस्तमोमात्र लेते हैं, वे भ्रान्त हैं, क्योंकि अचेतन प्रकृतिमात्र के विषय में बन्ध-मोक्ष-संसरण का कोई प्रसंग हो ही नहीं सकता; अतः प्रकृति

१. पं० उदयवीरशास्त्रीजी कहते हैं कि मध्यकाल के दार्शनिक द्वारा यह कारिका रचित है और इन दार्शनिकों ने किसी अभिप्राय की सिद्धि के लिये इस मत का प्रतिपादन किया तथा कपिल या सांख्यशास्त्र के साथ इत मत को संयुक्त कर दिया । उनका निर्णय है कि सांख्य-संमत आत्मा का बन्धन और मोचन वास्तव हैं और इस कारिका में आत्मा के स्थान में बुद्धि को तथा बुद्धि के स्थान में आत्मा को मध्यकालिक विद्वानों ने रख दिया है । वे स्पष्ट शब्द में कहते हैं कि बन्धन और मोच चेतन आत्मा के हैं, तथा प्रत्येक विषय की अनुभूति होना आत्मा के अपरिवर्तनशील होने का द्योतक है (सांख्यसिद्धान्त, पृ० १८५-१८७) । हमारी दृष्टि इस की पूर्णतया विरोधिना है ।

का तात्पर्य 'प्राकृत उपाधि' है जो सत्त्व-रजस्तमः का वैषम्यरूप है। चूँकि वैषम्य-अवस्था में गुणस्वभाव में विपर्यय नहीं होता, अतः प्राकृत उपाधि प्रकृति शब्द से अभिहित हो सकती है।

कुछ लोग यह भी समझते हैं कि विवेकाग्रह होने के कारण पुरुष (तत्त्व) बद्ध होता है। निर्गुण पुरुष में विवेक-अग्रह है—यह चिन्ता सर्वथा हेय है। विवेक, अविवेक आदि का सम्बन्ध सोपाधिक पुरुष से ही होता है—न केवल पुरुष से और न केवल गुणवैषम्यभूत उपाधि से (उपाधि सदैव पुरुषोपदृष्ट ही रहता है) पर उपाधि की स्वतन्त्र सत्ता मानकर यह कहा गया है कि केवल उपाधि के साथ विवेक-अविवेक का कोई प्रसंग नहीं किया जा सकता है।

'नानाश्रया प्रकृतिः' का अर्थ है—प्रकृति (=प्राकृत उपाधि) अनन्त हैं तथा प्रत्येक उपाधि एक एक पुरुष द्वारा उपदृष्ट है। नाना का अर्थ है-पृथक्[1]। पृथक् पृथक् आश्रय है, यह कहने का तात्पर्य यह भी होता है कि स्वप्रतिष्ठ असंख्य पुरुष हैं—निर्गुण निधर्मक असंग अपरिणामी कोई पुरुष (तत्त्व) न किसी पुरुष का अंश है, और न तत्त्वतः किसी का अधीन है। प्रत्येक पुरुष सर्वथा तुल्य है।

इस कारिका के तृतीय चरण में यतिदोष है। अन्यत्र यतिदोष की चर्चा करने वाले व्याख्याकारों का ध्यान इस यतिदोष पर आकृष्ट नहीं हुआ—यह आश्चर्य है। चतुर्थ चरण में 'च' का पाठ किसी किसी संस्करण में नहीं मिलता। 'च' का पाठ न करने से मात्रा में कमी होती है।

---

(१) नन्ववगतम्—प्रकृतिगता बन्धसंसारापवर्गाः पुरुषे उपचर्यन्ते इति। किंसाधनाः पुनरेते प्रकृतेरित्यत आह—

रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः।
सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण ॥६३॥

---

(१) बन्धन, संसरण और मोक्ष के प्रकृतिगत होने पर भी वे पुरुष में उपचरित होते हैं-यह ज्ञात हुआ; किन्तु प्रकृति के ये सब धर्म किन उपायों से साधित होते हैं—इसके उत्तर में कारिकाकार कहते हैं:—

(भोग और अपवर्ग रूप पुरुषार्थद्वय की सिद्धि के लिये) प्रकृति ही अपने सात रूपों

---

१. पाणिनी कहते हैं—विनञ्भ्यां नानाञौ न नसह (५।२।२७) नसह रूप संघात का अर्थ है—पृथक्त्व। पृथक्त्व अर्थ में वर्तमान 'ना' शब्द से 'अना' प्रत्यय स्वार्थ में होता है। अतः नाना का अर्थ होगा—पृथक्।

(२) "रूपैरि" ति । तत्त्वज्ञानवर्जं बध्नाति धर्मादिभिः सप्तभी रूपैर्भावैरिति पुरुषार्थं प्रति भोगापवर्गं प्रति । (३) आत्मना आत्मानम् एकरूपेण तत्त्वज्ञानेन विवेकख्यात्या विमोचयति, पुनर्भोगापवर्गौ न करोतीत्यर्थः ॥ ६३ ॥

द्वारा स्वयं अपने को बाँधती है (भोग) और वही अपने एक रूप (=ज्ञान) द्वारा स्वयं को मुक्त करती है (अपवर्ग) ॥६३॥

(२) सात रूपों में अर्थात् तत्त्वज्ञान के अतिरिक्त धर्मं आदि सात रूपों (=भावों) से प्रकृति अपने को बाँधती है । पुरुषार्थ प्रति=पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष और अपवर्ग के लिये। (३) एक रूप से अर्थात् तत्त्वज्ञान रूप विवेकख्याति द्वारा स्वयं ही अपने को मुक्त करती है। यह ज्ञातव्य है कि प्रकृति पुनः उसी पुरुष के प्रति) भोग और मोक्ष उत्पन्न नहीं करती है ॥ ६३ ॥

६३वीं कारिका की व्याख्या

'प्रकृतिः सात रूपों द्वारा अपने आपको बाँधती है,' वाक्य का तात्पर्य यह है कि लिङ्गरूप या बुद्धिरूप प्राकृत उपाधि का जो बन्धन देखा जाता है वह न निर्गुण पुरुष द्वारा कृत है (पुरुष इच्छा-संकल्प-हीन है) और न ऐश्वर्यवान् प्रजापति ईश्वर या अन्य किसी द्वारा कृत है। एक सोपाधिक पुरुष (चाहे वह उपाधि ईश्वरत्व धर्म विशिष्ट ही क्यों न हो) अन्य सोपाधिक पुरुष (जीवविशेष) का संसार-बन्धनकृत् नहीं हो सकता—यह सांख्यीय दृष्टि है । बुद्धि-पुरुष-संयोग प्रत्येक जीव में समान है, चाहे अन्तःकरणरूप उपाधि का कैसा ही विकाश क्यों न हो । अतः एक जीव के लिये जीवान्तर में बुद्धि-पुरुष-संयोग को निष्पन्न करना सर्वथा असंभव है । चूंकि बुद्धिरूप प्राकृत उपाधि की बद्धावस्था का कोई कारक नहीं मिलता, अतः मानना पड़ता है कि यह 'स्वयं द्वारा बन्धन' है—मानों एक हाथ ने अन्य हाथ को पकड़कर रखा है ।

चूंकि यह बन्धन अनादि है और चूंकि एक जीव का यह संसारबन्धन जीवान्तर का प्रयत्नमूलक या संकल्पमूलक नहीं है, अतः स्वीकार करना होगा कि बन्धन का कारण स्वगत है । जब स्वगत है, तब कारण का प्रश्न ही क्यों उठता है—यह शङ्का की जा सकती है । उत्तर यह है कि चूंकि इस बन्धन का उन्मोचन देखा जाता है, अतः यह अनुमान किया जाता है कि अनादि होने पर भी यह बन्धन सहेतुक है, अतः हेतु विचार्य है ।

वह हेतु क्या हैं ? जब यह देखा गया कि (विवेक) ज्ञान से मोक्ष होता है, तब यह मानना पडता है कि बुद्धि का ज्ञान से पृथक् जो अन्य रूप हैं (२३ कारिका में उक्त) वे जब

तक व्यक्त रहेंगे, तब तक बन्धन चलता रहेगा। धर्मादि सात बुद्धिरूप जब तक बुद्धि में रहेंगे, तब तक बन्धन विद्यमान रहेगा और यह बन्धन अन्तवान् है—ये दो तथ्य यदि निश्चित हो जायें तो कहना ही पड़ेगा कि अनादि प्राकृत उपाधि अपने आपको स्वयं पूर्वोक्त सात रूपों से बांधती है।

बन्धन के साथ मोचन का प्रश्न भी नित्य संबन्धित है। बन्धन यदि प्राकृत उपाधि का है तो मोक्ष भी उपाधि का ही है। यह बन्धन-मोचन सनिमित्तक है; यह निमित्त है बुद्धिस्थ ज्ञान (=विवेकज्ञान)। ज्ञान से अन्य ज्ञान न लेकर विवेकज्ञान ही लेना चाहिये; इसीलिये मुख्यवाची 'एक' शब्द का प्रयोग किया गया है (एकरूपेण)। ध्यान देना चाहिये कि यह विवेकज्ञान और अन्य सप्त रूप बुद्धिस्थ ही हैं—और इन दोनों को ही यथाक्रम मोक्ष और बन्धन के साधक के रूप में कहा गया है, अतः यह सिद्ध होता है कि बुद्धि के बन्धन और मोचन स्वगत हेतु से होते हैं। बुद्धि अनादि है, ये हेतु भी अनादि हैं।

'पुरुषार्थं प्रति' का अन्वय 'बध्नाति' के साथ भी होगा, 'विमोचयति' के साथ भी। भोग रूप पुरुषार्थ का संबन्ध बन्धन के साथ और अपवर्गरूप पुरुषार्थ का संबन्ध बन्धनमोचन के साथ है—यह स्पष्ट तात्पर्य है। अतः She releases herself for the benefit of the Spirit रूप अनुवाद (Suryanarayana Sastri) असंगत है। Spirit रूप निर्गुण अपरिणामी पदार्थ benefited होता है, यह चिन्ता सर्वथा अलीक है ॥६३॥

(१) अवगतमीदृशं तत्त्वम्, ततः किमित्यत आह—

एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम् ।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥६४॥

(२)"एवमि"ति। तत्त्वेन विषयेण विषयि ज्ञान मुपलक्षयति। उक्तरूपप्रकार-[1] तत्त्वविषयज्ञानाभ्यासादादर-नैरन्तर्य-दीर्घकाल-सेवितात् सत्त्वपुरुषान्यतासाक्षा-

---

(१) तत्त्वविषय में जो जानना था, वह ज्ञात हो गया। उस ज्ञान से क्या लाभ है? (ज्ञान का उपयोग किस क्रिया में करना है)—इस प्रश्न के उत्तर में कारिकाकार कहते हैं—

पूर्वोक्त प्रकार से तत्त्वविषयक ज्ञान के अभ्यास से 'नास्मि' (मैं क्रियावान् नहीं हूँ), 'न मे' (मेरा स्वामित्व नहीं है) और 'नाहम्' (मैं कर्ता नहीं हूँ) इत्याकार ज्ञान उत्पन्न होता है। यह ज्ञान अपरिशेष (=सर्वविषयक), विपर्ययाभाव हेतु विशुद्ध और केवल (=मिथ्याज्ञान से अविप्लुत) है ॥ ६४ ॥

(२) 'तत्त्व' रूप विषय से विषयी ज्ञान लक्षित होता है। उपर्युक्त प्रकार के तत्त्व-विषयक ज्ञान का आदर-पूर्वक निरन्तर दीर्घकाल तक अभ्यास करने से बुद्धि-पुरुष-भेद-

---

१. उक्तप्रकारेति क्वचित् पठ्यते।

त्कारि ज्ञानमुत्पद्यते । (३) यद्विषयश्चाभ्यासस्तद्विषयकमेव साक्षात्कारमुपजनयति, तत्त्वविषयश्चाभ्यास इति तत्त्वसाक्षात्कारं जनयति । अत उक्तम्–"विशुद्धम्" इति । (४) कुतो विशुद्धमित्यत आह–"अविपर्ययात्" इति । संशयविपर्ययौ हि ज्ञानस्याविशुद्धी, तद्रहितं विशुद्धम् । तदिदमुक्तम्—"अविपर्ययाद्" इति । (५) नियतमनियततया गृह्णन् संशयोऽपि विपर्ययः, तेन 'अविपर्ययाद्' इति संशय-विपर्ययाभावो दर्शितः । तत्त्वविषयत्वाच्च संशयविपर्ययाभावः ।

(६) स्यादेतत्—उत्पद्यतामीदृशाभ्यासात् तत्त्वज्ञानम्, तथाप्यनादिना मिथ्याज्ञानसंस्कारेण मिथ्याज्ञानं जनयितव्यम् । तथा च तन्निबन्धनस्य संसारस्यानुच्छेदप्रसङ्ग इत्यत उक्तम्—"केवलम्" इति । विपर्ययेणासम्भिन्नम् । (७) यद्यप्यनादिर्विपर्ययवासना तथापि तत्त्वज्ञानवासनया तत्त्वविषयसाक्षात्कारमादधत्याऽऽदिमत्यापि शक्या समुच्छेत्तुम् । तत्त्वपक्षपातो हि धियां स्वभावः । (८) यदाहु र्बाह्या अपि—

प्रकाशक ज्ञान उत्पन्न होता है । (३) जिसके विषय में अभ्यास किया जाता है, वह उसी विषय का साक्षात्कार उत्पन्न कराता है, अतः तत्त्व के विषय में होने वाला अभ्यास तत्त्वसाक्षात्कार को उत्पन्न करता है । इसलिये कारिकाकार ने ज्ञान का 'विशुद्ध' यह विशेषण दिया है ।

(४) यह ज्ञान 'विशुद्ध' क्यों होता है—इसके उत्तर में कहते हैं—अविपर्यय= विपर्यय से विहीन होने के कारण । संशय (=एक धर्मी में अनेक धर्मों का ज्ञान) और मिथ्याज्ञान ही ज्ञानविषयक अशुद्धियाँ हैं; इन दोषों से रहित होने के कारण उपर्युक्त ज्ञान विशुद्ध होता है । इसी बात को प्रकटित करने के लिये 'विपर्ययाभावहेतु' ऐसा कहा गया है । (५) निश्चित पदार्थ को अनिश्चित रूपेण ग्रहण करने के कारण संशय भी विपर्यय कहलाता है, अतः कारिकागत अविपर्यय शब्द से संशय और विपर्यय इन दोनों का ही अभाव कहा गया है । चूँकि कारिकोक्त ज्ञान तत्त्वविषयक (=यथार्थविषयक) है, इसलिये उसमें संशय और विपर्यय का अभाव है ।

(६) पूर्वोक्त रूप तत्त्वविषयक अभ्यास से तत्त्वज्ञान भले ही उत्पन्न हो, फिर भी मिथ्याज्ञान के अनादि संस्कार से मिथ्या-ज्ञान ही उत्पन्न होगा; और इस प्रकार उस मिथ्याज्ञान से होने वाले संसार (=जन्म-मरण-परम्परा) का उच्छेद कभी न होगा । इसके उत्तर में कारिकाकार कहते हैं कि वह ज्ञान 'केवल' है अर्थात् मिथ्याज्ञान रूप विपर्यय से अमिश्रित होता है । (७) यद्यपि विपर्यय (=मिथ्याज्ञान) की वासना (=अविद्यासंस्कार) अनादि है, तथापि तत्त्व का साक्षात्कार तत्त्वज्ञानजन्य संस्कार से होता है, अतः उसके आदिमान् होने पर भी उससे मिथ्याज्ञानजन्य संस्कार का उच्छेद हो सकता है; क्योंकि तत्त्वपक्षपात (=तत्त्व की ओर झुकाव) ही बुद्धि का स्वभाव है । (८) जैसा कि

निरुपद्रवभूतार्थस्वभावस्य विपर्ययैः ।
न बाधो यत्नवत्त्वेऽपि बुद्धेस्तत्पक्षपाततः ॥ इति[1] ॥
(प्रमाणवार्त्तिक ३।२२२)

(९) ज्ञानस्वरूपमुक्तम्– "नास्मि न मे नाहम्" इति । नास्मि इत्यात्मनि क्रियामात्रं निषेधति । यथाहुः:–"कृभ्वस्तयः क्रियासामान्यवचनाः[2]" इति (महाभाष्य ३।३।१८) । (१०) तथा चाध्यवसायाभिमानसङ्कल्पालोचनानि चान्तराणि बाह्याश्च सर्वे व्यापारा आत्मनि प्रतिषिद्धानि बोद्धव्यानि । (११) यतश्चात्मनि व्यापारावेशो नास्त्यतो "नाहम्" । अहमिति कर्तृपदम्, अहं जानाम्यहं जुहोम्यहं ददे इति सर्वत्र कर्त्तुः परामर्शात् । निष्क्रियत्वे च सर्वत्र कर्तृत्वाभावः । ततः सुष्ठूक्तम्—"नाहम्" इति । (१२) अतएव "न मे" । कर्ता हि स्वामितां लभते, तदभावात्तु कुतः स्वाभाविकी स्वामितेत्यर्थः ।

बाह्यों (वेदबाह्य बौद्धों) ने भी कहा है:—वस्तुस्वरूप के अवभासक संशयादिदोषहीन ज्ञान का चेष्टा करने पर भी विपर्यय (=मिथ्याज्ञान) द्वारा बाध नहीं हो सकता, क्योंकि बुद्धि (विपर्यय पर अनादर करती हुई) स्वभावतः तत्त्वज्ञानोन्मुखी होती है ।

(९) 'नास्मि' (मैं क्रियावान् नहीं हूं), 'न मे' (मेरा भोक्तृत्व नहीं है), 'नाहम्' (मैं कर्त्ता नहीं हूँ)—इस प्रकार ज्ञान का स्वरूप कहा गया है । 'नास्मि' (न+अस्मि) वाक्य से आत्मा में क्रियामात्र का निषेध किया गया है । जैसा कि वैयाकरण कहते हैं—"कृ, भू तथा अस् धातु क्रिया-मात्र के वाचक हैं' । (१०) इस प्रकार आन्तर अध्यवसाय (बुद्धिधर्म), अभिमान (अहंकारधर्म), संकल्प (मनोधर्म) एवं आलोचन (इन्द्रियकार्य) तथा सभी बाह्य क्रियाओं का 'पुरुष' में निषेध समझना चाहिए । (११) चूंकि पुरुष में क्रिया का सम्बन्ध नहीं है, इसलिये मूल में 'नाहम्' (=मैं कर्ता नहीं हूँ) ऐसा कहा गया है । 'मैं जानता हूँ', 'मैं हवन करता हूँ', मैं देता हूँ, 'मैं भोग करता हूँ' आदि सभी वाक्यों में'अहम्' (=मैं) से कर्त्ता का बोध होने के कारण 'नाहम्' (=न मैं) इस वाक्य में भी अहम् पद कर्त्ता का बोधक है; चूंकि क्रिया का अभाव होने पर कर्तृत्व का सार्वत्रिक अभाव होता है, इसलिये कारिकाकार ने जो 'नाहम्' (=मैं कर्त्ता नहीं हूँ) कहा है वह ठीक ही है । (१२) इसलिये 'न मे' (=मेरा कुछ भी नहीं है) यह भी ठीक ही कहा गया है; चूँकि कर्त्ता ही स्वामी बनता है, इसलिये (कर्तृत्व के अभाव में) पुरुष का स्वामित्व स्वभावसिद्ध कैसे हो सकता है ?

---

१. तत्त्ववैशारद्याम् (१।५०) उद्धृतोऽयं श्लोकः; अत्र 'न बाधोऽनादिमत्त्वेऽपि' इति पाठः । मुद्रिते प्रमाणवार्त्तिके 'न बाधा' इति पठ्यते । आह च वृत्तिकारो मनोरथनन्दी—निरुपद्रवस्य दोषराशेरुद्वेजकस्य प्रहाणात् । भूतार्थस्य प्रमाणपरिदृष्टार्थविषयत्वात्, स्वभावस्यानारोपितत्वात् । मार्गसात्म्यस्य विपक्षेण न बाधा; यत्नवत्त्वेऽपि यत्न एव तावन्न संभवति, विपक्षाभ्यासे दोषदर्शनात् । यत्नवत्त्वेऽपि तु बुद्धेस्तत्र मार्गसात्म्येऽभिरुचिविषयत्वेन पक्षपाततो न बाधा । नहि रज्ज्वां निवृत्तसर्पभ्रमः सर्पं भावयितुं यतते भूतार्थस्य दर्शनात् ।

२. महाभाष्ये क्रियासामान्यवाचिन इति पाठः ।

(१३) अथ वा नाऽस्मि इति, पुरुषोऽस्मि इति, न प्रसवधर्मा। अप्रसवधर्मित्वाच्चाकर्तृत्वमाह–"नाहम्" इति। अकर्तृत्वाच्च न स्वामितेत्याह 'न मे' इति।

(१४) ननु एतावत्सु ज्ञातेष्वपि कश्चित् कदाचिदज्ञातो विषयोऽस्ति तदज्ञानं च जन्तून् बन्धयिष्यति, इत्यत आह—'अपरिशेषम्'' इति। नास्ति किञ्चिदस्मिन् परिशिष्टं ज्ञातव्यं यदज्ञानं बन्धयिष्यतीत्यर्थः ॥ ६४ ॥

---

(१३) अथवा 'नास्मि' का अर्थ यह है—ना+अस्मि; (नृ शब्द के प्रथमा-एकवचन में 'ना' पद होता है)। 'मैं (अपरिणामी) पुरुष हूँ', परिणामी (प्रधान आदि) नहीं', और परिणामी होने के कारण ही 'नाहम्' के द्वारा पुरुष का अकर्तृत्व कहा गया है; एवं अकर्तृत्व के कारण 'न मे' वाक्य के द्वारा पुरुष में स्वामित्व का अभाव कहा गया है।

(१४) परन्तु इन सब तत्त्वों के ज्ञात होने पर भी यदि कोई विषय अज्ञात रह गया हो, तब उस विषय का अज्ञान प्राणियों को बन्धन में डालेगा। इसके उत्तर में 'अपरिशेष' रूप विशेषण दिया गया है। तात्पर्य यह है कि इस (उपर्युक्त तत्त्वज्ञान) के अधिगत हो जाने पर ऐसा कुछ भी ज्ञातव्य अवशिष्ट नहीं रह जाता, जिसके विषय में रहने वाला अज्ञान प्राणियों को बन्धन में डालने वाला हो ॥६४॥

६४वीं कारिका की व्याख्या

जिस ज्ञान की चर्चा ६३ कारिका में की गई है, उस ज्ञान के विषय में यह कारिका है। 'यह ज्ञान उत्पन्न होता है,' इस प्रकार उत्पत्ति का जो उल्लेख किया गया है, उसका गूढ अभिप्राय है, जो इस प्रकार है—**जो ज्ञान साक्षात् रूप से मोक्षहेतु है वह किसी एक जीव में पहले कभी उत्पन्न नहीं हुआ था। यह ज्ञान प्रथम बार ही उत्पन्न होता है—यह ज्ञातव्य है।** मोक्ष का हेतुभूत यह ज्ञान उस असंप्रज्ञात समाधि से जनित है, जो उत्पन्न होने पर परिपक्व होकर अवश्य ही मोक्ष का अधिगम करायेगा। अन्यान्य प्रकार के योगज ज्ञान विलुप्त हो सकते हैं, पर यह असंप्रज्ञात-समाधि-जात ज्ञान (क्रमशः परिपक्व होकर) शरीरपात के अनन्तर मुक्ति का अवश्य अधिगम कराता है। बुद्धिस्थ ज्ञान का यह परिणाम एक ही बार होता है; उसके बाद चूंकि बुद्धि का शाश्वत प्रलय होता है, अतः इस ज्ञान के द्वितीय बार उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं है; अन्यान्य प्रकार के ज्ञान वासना-वृत्ति-संस्कार-चक्र के रूप में आते जाते रहते हैं—एक जन्म में या विभिन्न जन्मों में।

यद्यपि हमने शरीरपात के अनन्तर मुक्ति होने की बात कही है, पर शरीरपात और **मोक्षावस्था की प्राप्ति इन दोनों के मध्य में कोई कालव्यवधान (क्षणमात्र भी) नहीं है।**

जबतक शरीरपात और मोक्ष रूप दोनों पदार्थों की धारणा की जाती है, तबतक हमें कालव्यवधान को लेकर ही सोचना पड़ता है—यह हमारी चिन्तन-प्रक्रिया की दुर्बलता है। ईदृश चिन्तन विकल्पवृत्ति का उदाहरण ही है। यह शरीरपात स्थूलशरीरपातमात्र नहीं है, यह शरीरपात वस्तुतः लिङ्ग का भङ्ग होना (=लिङ्ग की अव्यक्तावस्थाप्राप्ति) है। असंप्रज्ञात समाधि द्वारा साक्षात् आत्मज्ञान का अधिगम होने के बाद क्या ऐसा हो सकता है कि उस ज्ञान की परिपक्वता होने से पहले ही किसी बाह्य निमित्तवश योगी का शरीर मृत हो जाये और इस प्रकार शरीरपात होने पर भी मुक्ति न हो और ज्ञान की परिपक्वता के लिये योगी को अन्य शरीर ग्रहण करना पड़े—इस प्रश्न पर विचार के लिये प्रसंख्यान-भाष्य द्रष्टव्य है। यह ज्ञान विक्षेप-प्रहाण से होता है—किसी नूतन विषय के उपादान से नहीं। इस ज्ञान से चित्त का जो परिणाम होता है—वह अनुभूतपूर्व नहीं है। निवृत्त चित्त की वासना पहले से चित्त में नहीं रहती। चित्त को अव्यक्त करने के लिये तदनुरूप 'वासना' की प्रकृति का उपादान नहीं करना पड़ता—विक्षेप के प्रहाण से ही चित्त निवृत्त हो जाता है। विवेक द्वारा साक्षात् रूप से लिङ्ग की अव्यक्तता नहीं होती। विवेक के द्वारा व्यक्तता के कारण का अभाव होता है और गुणवैषम्यरूप लिङ्ग स्वतः अव्यक्तीभूत हो जाता है।

यह ज्ञान अपरिशेष है, विशुद्ध है और केवल है। इस ज्ञान का कोई आन्तरबाह्य विषय नहीं है, अतः केवल है। अविद्यादि पांच विपर्ययों से शून्य होने के कारण यह ज्ञान विशुद्ध है। इस ज्ञान के उदय होने पर यह बोध होता है कि और कुछ ज्ञातव्य अवशिष्ट नहीं है—ज्ञेय का ज्ञान समाप्त हो गया है—और कूटस्थ ज्ञाता को लक्ष्य कर ज्ञेय-ज्ञान का अत्यन्त रोध करना ही अवशिष्ट है। चित्तेन्द्रिय के विकारकारी जो विषय हैं वे गुणविकार हैं—ऐसा बोध होने पर 'मेरा कोई ज्ञातव्य नहीं है'—ऐसा आन्तरबोध प्रकटित होता है। जो भी ज्ञेय है, वह न हेय है (क्योंकि हेयबोध के साथ द्वेष अन्वित है) और न उपादेय है (क्योंकि उपादेयबुद्धि के साथ राग अन्वित है)—इस प्रकार ज्ञेय से चित्त का हटना (औत्सुक्यहीन होकर) ही ज्ञान का 'अपरिशेष' होना है। विषयों को एक एक कर जानते रहने पर अपरिशेष ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि विषय (विषयाधार ब्रह्माण्ड) असंख्य हैं। विषय शान्त-उदित-अव्यपदेश्य त्रैगुणिक धर्मों का समाहारभूत ही है—ईदृश ज्ञान सार्वज्ञ्य है। त्रिगुणविकार के रूप में विषय का जो ज्ञान है, उससे अधिक सूक्ष्मज्ञान संभव नहीं है। विषयगत सभी वैचित्र्यों का कारण भी ईदृश ज्ञान से जाना जाता है, अतः विषय के प्रति औत्सुक्य, राग, द्वेष आदि उद्भूत नहीं होते। चूंकि निवृत्ति के मूल में चरितार्थता है, अतः विषयज्ञान के प्रति जो निवृत्ति होती है (अयोगियों में यह निवृत्ति संभव नहीं है; यह निवृत्ति चित्तेन्द्रिय की अशक्तिजन्य नहीं है) उससे सिद्ध होता है कि ज्ञान चरितार्थ (=पूर्ण) हो गया है। यही कारण है कि सर्वज्ञ पुरुष का चित्त रुद्धप्राय रहता है।

तत्त्व (तत्त्वज्ञान) का अभ्यास किस रूप से किया जायेगा—यह 'नास्मि न मे

नाहम्' वाक्य से दिखाया गया है। इस विषय में वाचस्पति की दृष्टि से हमारी दृष्टि ईषत् पृथक् है। इन तीन अभ्यासों द्वारा अन्तःकरणत्रय से उपरत होने की (या उसको निरुद्ध करने की) चेष्टा की जाती है। प्रथमतः—न मे–'मे' से विषयचाञ्चल्य का सर्व-निम्नस्थ ग्राहक अर्थात् 'संकलक मन' को लेना ही संगततर है—मैं मन नहीं हूं। ततः 'नाहम्'-मैं अहंकार नहीं हूँ; ततः नास्मि (मैं बुद्धि या महत् नहीं हूँ)। यहाँ विचारना चाहिये कि ऐसी चिन्ता या चेष्टा स्वयं महत्, अहंकार और मन कर नहीं सकते। हमारी दृष्टि में इन तीन करणों का जो प्रयोक्ता है–अहम्=पुरुषाकारा बुद्धि–वही ऐसी चिन्ता कर सकता है।

निरन्तर इस तत्त्वज्ञान के अभ्यास से 'केवल' और 'विशुद्ध' ज्ञान उत्पन्न होता है। यह ज्ञान कैसा है, इस पर विशेष विचार अपेक्षित है। हमारी दृष्टि में यह 'पुरुषविषया प्रज्ञा' है। **कोई 'न मे नाहम् नास्मि' का अभ्यास तभी सफलरूप से कर सकता है, यदि अहम् आदि से अतिरिक्त किसी पदार्थ का सत्तानिश्चय हो।** पौरुष-सत्ता की धारणा जडविलक्षणता के आधार पर निरन्तर करते रहने पर पुरुष-स्वरूप-विषयक प्रज्ञा प्रकटित होती है। ध्यान देना चाहिये कि ईदृश प्रज्ञा से पहले जो भी ज्ञान होता है, चाहे वह कितना ही शुद्ध हो–वह विपर्यय-युक्त अवश्य होता है। **दृश्यविषयक सभी ज्ञान चित्तेन्द्रिय-सापेक्ष ही होने के कारण तथा विषय और चित्तेन्द्रिय को प्रतिक्षण परिणम्यमानता के कारण कभी-भी सम्यक् शुद्ध नहीं हो सकते—प्रत्येक ज्ञान में मिथ्या का अंश है,** यद्यपि व्यवहार में इस मिथ्यारूप अंश से कोई हानि नहीं होती—व्यवहार में बाधा नहीं होती। स्थूल व्यवहार सुचारु रूप से चल रहा है—इससे ज्ञान की यथार्थता सिद्ध नहीं होती। **स्थूल विषयव्यवहार में ज्ञान का मिथ्यांश बाधक नहीं है, पर विषयज्ञान जैसा-जैसा सूक्ष्म होता जायेगा, ज्ञान का मिथ्यांशयुक्तता उतना ही स्पष्ट होता जायेगा।** परवैराग्य द्वारा आप्यायित बुद्धि पौरुष प्रज्ञा के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की प्रज्ञा का संचय करती ही नहीं। इस स्थिति को लक्ष्यकर 'केवल' ज्ञान की उत्पत्ति कही गई है॥६४॥

—०ः॥ः०—

(१) किं पुनरीदृशेन तत्त्वसाक्षात्कारेण सिध्यतीत्याह—

तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्ताम् ।
प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वस्थः[1] ॥६५॥

---

(१) इस प्रकार के तत्त्व-साक्षात्कार से क्या सिद्ध होता है, इस प्रश्न के उतर में कारिकाकार कहते हैं—

इस तत्त्वज्ञान से अपने स्वरूप में स्थित एवं प्रेक्षक (=उदासीन) की तरह शान्त होकर पुरुष विवेकज्ञानरूप सामर्थ्य से धर्म, अधर्म आदि सात रूपों से रहित तथा निवृत्त-

---

१. 'स्वच्छः','सुस्थः' इति पाठौ बहुषु संस्करणेषु दृश्यते। पदस्यास्य यादृशो व्याख्या कृता वाचस्पतिना तया अस्य स्वरूपं किमिति न स्फुटं विज्ञायते।

(२) "तेन" इति । भोगविवेकसाक्षात्कारौ हि प्रकृतेः प्रसोतव्यौ । तौ च प्रसूताविति नास्याः प्रसोतव्यमवशिष्यत इति निवृत्तप्रसवा प्रकृतिः । (३) विवेकज्ञानरूपो योऽर्थः, तस्य वशः सामर्थ्यं तस्मात् । (४) अतत्त्वज्ञानपूर्वकाणि खलु धर्माधर्माज्ञानवैराग्यावैराग्यैश्वर्यानैश्वर्याणि । वैराग्यमपि केवलतौष्टिकानामतत्त्वज्ञानपूर्वकमेव । (५) तत्र तत्त्वज्ञानं विरोधित्वेनातत्त्वज्ञानमुच्छिनत्ति । कारणनिवृत्त्या च सप्तरूपाणि निवर्तन्त इति सप्तरूपविनिवृत्ता प्रकृतिः । (६) "अवस्थितः" इति निष्क्रयः, "स्वस्थः" इति रजस्तमोवृत्तिकलुषया बुद्धयाऽसंभिन्नः । (७) सात्त्विक्या तु बुद्धया तदाप्यस्य मनाक् संभेदोऽस्त्येव, अन्यथैवंभूतप्रकृतिदर्शनानुपपत्तेरिति ॥ ६५ ॥

प्रसव (=पुनः नवीन कार्योत्पादन से निवृत्त) प्रकृति को देखता है ॥६५॥

(२) भोग और विवेक का ज्ञान—ये दो प्रकृति के परिणाम के द्वारा निष्पादनीय हैं, और वे सम्पन्न हो गये। इसलिये अब प्रकृति को कुछ भी करना अवशिष्ट नहीं रहा, और यही कारण है कि प्रकृति परिणाम (=कार्योत्पादन) से रहित हो गई। (३) 'अथर्वशात्' का अर्थ है—विवेकज्ञानरूप अर्थ (=प्रयोजन) के सामर्थ्य से। (४) धर्म, अधर्म, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य तथा अनैश्वर्य-प्रकृति के ये सात रूप निश्चित ही तत्त्वज्ञानपूर्वक नहीं होते। केवल तौष्टिकों (तुष्टिमात्रयुक्त; तुष्टिस्वरूप के लिये ५० तम कारिका द्रष्टव्य) का वैराग्य भी अज्ञान-जन्य ही होता है। (५) अज्ञान का विरोधी होने के कारण तत्त्वज्ञान उसे नष्ट कर देता है, और इस प्रकार कारण (अर्थात् अज्ञान) के विनष्ट हो जाने से (उसके कार्यभूत) सप्तविध प्रकृति-परिणाम भी निवृत्त हो जाते हैं। इस दृष्टि से ही 'सात रूपों से विहीन प्रकृति' ऐसा कहा गया है।

(६) कारिकागत 'अवस्थित' पद का अर्थ है—निष्क्रिय; 'स्वस्थ' का अर्थ है—राजस (रजःप्रधान) और तामस (तमःप्रधान) वृत्तियों से मलिन हुई बुद्धि के सम्पर्क से शून्य। (७) सात्त्विक बुद्धि के साथ चेतन पुरुष का ईषत् सम्पर्क तो उस अवस्था में बना रहता है, अन्यथा ईदृश प्रकृति-दर्शन भी असम्भव हो जाएगा ॥ ६५ ॥

६५वीं कारिका की व्याख्या

अभ्यस्यमान विवेकख्याति जब पूर्णकल्प हो जाती है, तब जो स्थिति होती है, उसका विवरण इस कारिका में दिया गया है। इस अवस्था में प्रकृति (=प्राकृत महदादि-उपाधि) निवृत्तप्रसवा हो जाती है—जो नानाविध परिणाम लिङ्ग में होते हैं (संस्कार, वृत्ति आदि के उदय के कारण) वे नहीं होते हैं या निरोधवेग के कारण अभिभूत हो जाते हैं। यह वही अवस्था है, जिसका वर्णन व्यासभाष्य में 'तदेवंभूतं चित्तम् अवसिताधिकारम् आत्म-

कल्पेन व्यवतिष्ठते' (११५) कह कर दिया गया है (प्रलयं वा गच्छति—वाक्य के इस अन्तिमांश द्वारा प्रतिपादित विषय बाद में 'प्रधानविनिवृत्ति' शब्द द्वारा उक्त होगा; द्र० का० ६८)। इस समय बुद्धि विशुद्ध सत्त्वरूप हो जाती है (पहले सत्त्व-बहुल थी)। जितनी मात्रा में रजः और तमः रहने से बुद्धि की ईदृश स्थिति में व्यक्त रहना संभव है, रजः-तमः की उतनी मात्रा ही इस अवस्था में रहती है, उससे अधिक नहीं। कोई कोई इस अवस्था को 'विशुद्ध सत्त्व' की अवस्था कहते हैं। (वैष्णवादि संप्रदायों में रजस्तमोहीन विशुद्धसत्त्व का उल्लेख मिलता है; यह एक काल्पनिक चिन्ता है—यह सांख्य का कहना है)।

धर्म आदि सप्त रूपों की जो विनिवृत्ति इस अवस्था में होती है, वह अपवर्ग रूप अर्थ के कारण ही संभव होती है। भोक्ता के दृश्यविलक्षण स्वरूप का अवधारण जैसा जैसा स्फुट होता जायेगा, धर्म आदि सात रूपों की निवृत्ति भी तदनुसार बढ़ती ही जायेगी। विवेकज्ञान की पूर्णावस्था में धर्मादि का कोई संस्पर्श उसके साथ नहीं रहता; 'ज्ञान के साथ कर्म का कोई समुच्चय नहीं है' यह मत इस स्थिति को लक्ष्य कर कहा गया है। इससे स्थूलतर ज्ञान के साथ कर्म का सहावस्थान संभव है। प्रान्तभूमि प्रज्ञा के प्रारम्भिक रूपों के साथ कर्म का योग अवश्य ही रहता है। ज्ञान का एक ही ऐसा रूप है, जिसके साथ कर्म का समुच्चय होना संभव नहीं है।

प्रकृतिं पश्यति पुरुषः···का तात्पर्य यह है—पूर्वोक्त अवस्था में बुद्धि में यह निश्चय अभग्न रूप में उद्भुत होता है कि मेरा द्रष्टा असंग (प्रेक्षकवत् कहने का तात्पर्य यही है), अवस्थित (प्रतिक्षण परिणामों से शून्य) तथा स्वस्थ (निरन्तर अवस्थान्तरताओं से अन्वित चित्तवृत्तियों का द्रष्टा होने पर भी दुःख से अस्पृष्ट) पुरुष है। पौरुष-सत्ता-सम्बन्धी जो अस्फुटप्रज्ञा थी, वह इस अवस्था में पूर्णतः विकसित हो जाती है।

जो यह समझते हैं कि इस अवस्था में ही पुरुष प्रकृति को पूर्ण रूप से देखता है[1] (पश्यति=देखता है—ऐसा कहना दार्शनिक दृष्टि से सर्वथा अनुचित है), वे भ्रान्त हैं; पुरुष सर्वाज्ञ ता है। चित्त तथा बुद्धि के व्यक्त और अव्यक्त परिणामों का वह सम नरूप से निर्विकार प्रकाशक है ॥६५॥

---

(१) स्यादेतत्–निवृत्तप्रसवामिति (६५ का० द्र०) न मृष्यामहे–"संयोगकृतो हि सर्गः" इत्युक्तम् (द्र० २१ का०)। योग्यता च संयोगः।

---

(१) पूर्वकारिका में प्रकृति को जो निवृत्तप्रसवा (=कार्योत्पत्तिरहित) कहा गया है,

---

१. पश्यति क्रिया की व्याख्या में डा० गजानन शास्त्री कहते हैं-देखने की क्रिया के अतिरिक्त समस्त क्रिया शून्य (पृ० २९८)। देखने की क्रिया होने पर पुरुष निष्क्रिय या अपरिणामी नहीं हो सकता है, अतः यह व्याख्या असंगत है। यहाँ पुरुष=पुरुषतत्त्व है, जीव नहीं है—यह तो स्पष्ट ही है।

(२) भोक्तृत्वयोग्यता च पुरुषस्य चैतन्यम्, भोग्यत्वयोग्यता च प्रकृतेर्जडत्वं विषयत्वञ्च (३)। न चैतयोरस्ति निवृत्तिः। (४) न च करणीयाभावान्निवृत्तिः तज्जातीयस्यान्यस्य करणीयत्वात्, पुनः पुनः शब्दाद्युपभोगवत्; इत्यत आह–

दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाहमित्युपरमत्यन्या ।
सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य ॥६६॥

(५) "दृष्टा" इति। करोतु नाम पौनःपुन्येन शब्दाद्युपभोगं प्रकृतिर्यया विवेकख्याति र्न कृता, कृतविवेकख्यातिस्तु शब्दाद्युपभोगं न जनयति। (६) अविवेकख्यातिनिबन्धनो हि तदुपभोगो निबन्धनाभावे न तद्भवितुमर्हति, अङ्कुर इव बीजाभावे। (७) प्राकृतान् हि सुखदुःखमोहात्मनःशब्दादींस्तदविवेकान्

वह हमें मान्य नहीं है, क्योंकि ये पहले (२१ कारिका में) कहा गया है कि पुरुष-प्रकृति-संयोग से सर्ग (=सृष्टि) होता है और यह संयोग पुरुष और प्रकृति की (परस्पर भोक्ता और भोग्य बनने की) योग्यतामात्र है। (२) यह योग्यता दोनों में उनके क्रमशः चेतन (पुरुषस्वरूप) और जड़ एवं विषय (भोग्य, ज्ञेय) होने के कारण है; (३) और यह चैतन्य एवं जड़ता कभी नष्ट नहीं होती है। (अतएव परिणाम की निवृत्ति नहीं ही होगी)। (४) यदि यह कहा जाये कि कर्त्तव्य (अर्थात् भोग और अपवर्ग) के सम्पन्न हो जाने पर किसी अन्य अर्थ के अवशिष्ट न रहने के कारण उसके प्रति योग्यता की निवृत्ति हो जाती है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसी प्रकार के अन्य (भोग और अपवर्ग) कार्य अवशिष्ट हो ही सकते हैं; जैसे शब्द, स्पर्श आदि का पुनः पुनः भोग होता ही है— इस शङ्का के उत्तर में कारिकाकार कहते हैं—

एक (चिद्रूप पुरुष) 'मैंने उसे देख लिया'—ऐसा विचार कर उदासीन हो जाता है, और अन्य (प्रकृति) 'उसने मुझे देख लिया'—ऐसा सोचकर कार्योत्पादन रूप व्यापार से शून्य हो जाती है। इस प्रकार दोनों का संयोग रहने पर भी (=प्रकृति-पुरुष की भोग्यता-भोक्तृता रहने पर भी) सृष्टि (=प्रकृति-व्यापार) का कोई प्रयोजक नहीं रह जाता ॥ ६६ ॥

(५) जिस प्रकृति ने विवेकख्याति को उत्पन्न नहीं किया है, वह शब्द आदि विषयों का बार-बार उपभोग भले ही करे, परन्तु एक बार विवेकख्याति उत्पन्न कर चुकने पर वह पुनः भोग उत्पन्न नही करती; (६) क्योंकि अविवेक के कारण ही उपभोग होता है; अविवेक के अभाव में नहीं, जैसे बीज के अभाव में (उसका कार्यभूत) अङ्कुर उत्पन्न नहीं होता। (७) प्रकृति से अपने को भिन्न न समझने के कारण पुरुष सुख-दुःख-

'ममैते' इत्यभिमन्यमान आत्मा भुञ्जीत। (८) एवं विवेकख्यातिमपि प्राकृतोमविवेकादेवात्मा 'मदर्थेयम्' इति मन्यते। (९) उत्पन्नविवेकख्यातिस्तु तदसंसर्गाच्छब्दादोन्नोपभोक्तुमर्हति, (१०) नापि विवेकख्यातिं प्राकृतीमपि ततो विविक्त आत्मा स्वार्थमभिमन्तुमर्हति।

(११) पुरुषार्थौ च भोगविवेकौ प्रकृत्यारम्भप्रयोजकावित्यपुरुषार्थौ सन्तौ न प्रकृतिं प्रयोजयतः। तदिदमुक्तम्—"प्रयोजनं नास्ति सर्गस्ये"ति। (१२) अथ 'प्रयुज्यते सर्गे प्रकृतिरनेने'ति प्रयोजनम्, तदपुरुषार्थत्वे नास्तीत्यर्थः ॥६६॥

मोहात्मक शब्द आदि-परिणामों को 'ये मेरे हैं'—ऐसा अभिमान करता हुआ उन्हें भोगता है। (८) इसी प्रकार प्रकृतिजन्य विवेकख्याति को भी पुरुष अविवेक के कारण समझता है कि 'यह मेरे लिये है।' (९) परन्तु विवेकख्याति उत्पन्न हो चुकने पर अविवेकरहित हो जाने के कारण वह पुरुष न तो शब्द आदि का भोग ही करता है, (१०) और न प्रकृति या विवेकख्याति से पृथक्भूत आत्मा प्रकृतिजात विवेकज्ञान को अपने लिये उपकारक ही समझता है।

(११) भोग एवं विवेक-ज्ञान रूप दो पुरुषार्थ प्रकृतिकृत सर्ग में हेतुभूत बनते हैं। अतः जब ये पुरुषार्थ नहीं रहते, तब ये प्रकृति-कृत सर्ग के प्रयोजक नहीं रह जाते। इसीसे कारिका में कहा गया है कि (बुद्ध्यादिरूप) सर्ग का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। (१२) 'प्रयोजन=वह पदार्थ जिसके द्वारा प्रकृति इस सर्ग में प्रवर्तित होती है (प्रयोजन=प्रयोजक); अपुरुषार्थ-अवस्था में कोई प्रयोजक नहीं है—यह तात्पर्य है ॥ ६६ ॥

६६वीं कारिका की व्याख्या

इस कारिका में पूर्ण विवेकख्याति का अधिगम (अर्थात् धर्ममेघसमाधि) वर्णित हुआ है। इस कारिका की भाषा काव्यमय है, अतः पर्याप्त सावधानी के साथ इसका तात्पर्य विशदीकरणीय है। खेद है कि व्याख्याकारों ने इस कारिका की व्याख्या अदार्शनिकोचित रीति से की है। 'पुरुष का यह सोचना कि उन्होंने प्रकृति का पूर्णतः अनुभव कर लिया है तथा गुणरूप प्रकृति का यह सोचना कि वह पुरुष द्वारा दृष्ट (=उपभुक्त) हो चुकी है'—सर्वथा बालोचित व्याख्यान है। क्या निर्गुण पुरुष (तत्त्व) सोचता विचारता रहता है? क्या गुणमात्र सोच-विचार कर सकता है? एक और एका (अन्या) पुम्-प्रकृति रूप तत्त्वमात्र नहीं हो सकते, क्योंकि इन दोनों के पृथक् पृथक् अवस्थान का कोई प्रसंग ही यहां नहीं है। विवेकख्याति से युक्त पुरुषाकारा बुद्धि में जो व्यापार होता है, वह व्यापार यहाँ वर्णित हुआ है। वह व्यापार यह है—

भोग की चरितार्थता होने पर भोग्य वस्तु पर जो परवैराग्य होता है, वह पुरुष-ख्याति-हेतुक है (द्र० तत् परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्, योगसूत्र १।१६)। 'पुरुषख्याति-पूर्वक जो परम उपेक्षा है वह पुरुष की ओर से है (आलङ्कारिक भाषा मे)। इस दृष्टि से कारिकाकार ने 'एकः (अर्थात् पुरुषः) उपेक्षकः' कहा है। विवेक भी त्रैगुणिक है,—ज्ञान-विशेष है, अतः विवेकज्ञान के प्रति भी बुद्धि की उपेक्षा हो जाती है। (द्र० अतस्तस्यां विरक्तं चित्तं तामपि ख्यातिं निरुणद्धि, व्यासभाष्य १।२)। यह निवृत्ति प्रकृति-उपादानक बुद्धि की है, अतः 'उपरमति अन्या' वाक्य के द्वारा यह विरक्ति कही गई है। विवेककाल में भी संयोग रहता है, अतः 'सति संयोगेऽपि तयोः' कहा गया है। संयोग रहने पर भी अविवेकमूलक कोई भी कार्य नहीं होता, अतः 'प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य' कहा गया है। 'प्रयोजन=प्रयोजक[1]=प्रेरक, अर्थात् सर्गप्रवाह को व्यक्त रखने के लिये जो भोग या अपवर्ग रूप प्रयोजक है, वह इस काल में सक्रिय नहीं रहता। 'प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य' की ध्वनि यह भी है कि इस अवस्था के बाद पुनरावृत्ति नहीं होती। यदि किसी कारण से वर्तमान देह का त्याग करना पड़े तो ब्रह्मलोक में अवशिष्ट साधन का अभ्यास करके योगी परम मुक्ति को प्राप्त कर सकते हैं।

हम समझते हैं कि इस कारिका में जो द्विविध निवृत्ति कही गई है, वह योगदर्शन की भाषा में सत्त्व और पुरुष का शुद्धिसाम्य है (३।५५)। पुरुषविषया प्रज्ञा की स्फुटता ही बुद्धि की शुद्धि है; तथैव वृत्तिसारूप्य रूप विपर्यय का भंग होना पुरुष की शुद्धि है (यह शुद्धि औपचारिक है)—इस प्रकार यह द्विविध शुद्धि ही कारिकोक्त 'उपेक्षा' और 'उपराम' है। वस्तुतः यहाँ एक ही व्यापार है, जिसके दो कल्पित भेद किये गये हैं[2]। पूर्ण विवेकख्याति, परवैराग्य और निरोध अविनाभावी हैं ॥६६॥

(१) स्यादेतत्—उत्पन्नतत्त्वसाक्षात्कारान्मुक्तश्चेत्तदनन्तरमेव मुक्तस्य तस्य देहपातः स्यादिति कथमदेहः प्रकृतिं पश्येत्। (२) अथ तत्त्वज्ञानेऽपि न मुच्यते

(१) प्रश्न यह है कि तत्त्वज्ञान के होते ही यदि कोई (जीव) मुक्त हो जाता है, तो मुक्त होने के अनन्तर तो उसके शरीर का विनाश हो जाना चाहिए। फिर देहहीन हो जाने पर प्रकृति को वह (मुक्त पुरुष) किस साधन से देखेगा ? (२) यदि कहा जाये कि

१. प्रयोक्ता या प्रवर्तक के अर्थ में प्रयोजन शब्द पुलिङ्ग है और फल के अर्थ में नपुंसकलिङ्ग है—ऐसी प्रसिद्धि है। अतः कारिका का पाठ 'प्रयोजनो नास्ति सर्गस्य' होना चाहिये। वाचस्पति-संमतपाठ 'प्रयोजनम्' ही है—ऐसा कहा नहीं जा सकता। यह संपादकीय प्रमादपाठ भी हो सकता है।

२. ईदृश कल्पित भेद-प्रदर्शन दर्शनशास्त्र में प्रसिद्ध है। व्यासभाष्य में 'ग्रहणाकारपूर्वा बुद्धिः' कही गई है (१।१२ स्मृतिविचार में); यहाँ बुद्धि और ग्रहण (=विषयीकरण) का भेद वैकल्पिकवृत्ति का उदाहरण है—ऐसा वाचस्पति ने कहा है।

कर्मणामप्रक्षीणत्वात्; तेषां कुतः प्रक्षयः। भोगादिति चेत्, हन्त भोः, तत्त्वज्ञानं न मोक्षसाधनम् इति–व्यक्ताव्यक्तज्ञानजन्मना तत्त्वज्ञानेनापवर्ग इति (द्र० का० २) रिक्तं वचः। (३) भोगेन चापरिसंख्येयः कर्माशयप्रचयोऽनियत-विपाककालः क्षेतव्यः, ततश्चापवर्गप्राप्तिरित्यपि मनोरथमात्रम् इत्यत आह—

सम्यग्ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ।
तिष्ठति संस्कारवशाच् चक्रभ्रमिवद् धृतशरीरः ॥६७॥

(४) "सम्यक्" इति। तत्त्वसाक्षात्कारोदयादेवानादिरप्यनियतविपाक-कालोऽपि कर्माशयप्रचयो दग्धबीजभावतया न जात्यायुर्भोगलक्षणाय फलाय कल्पते। (५) क्लेशसलिलावसिक्तायां हि बुद्धिभूमौ कर्मबीजान्यङ्कुरं प्रसुवते। तत्त्वज्ञाननिदाघनिपीतसकलक्लेशसलिलायामूषरायां कुतः कर्मबीजानामङ्कुर-

---

तत्त्वज्ञान के हो जाने पर भी कर्मों के क्षीण न होने के कारण साधक मुक्त नहीं होता, तो उन कर्मों का क्षय किससे होता है? यदि कहा जाए कि भोग से कर्मों का क्षय होगा, तब तो यह भी कहना पड़ेगा कि तत्त्वज्ञान मोक्ष का साधन नहीं होता और ऐसा होने पर सांख्यशास्त्र का यह मत कि 'व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ (=चेतन पुरुष) के पार्थक्यज्ञान से उत्पन्न होने वाले तत्त्वज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है' निरर्थक हो जाता है। (३) इसके अतिरिक्त जिनके विपाककाल का कोई नियम नहीं है—इस प्रकार के असंख्य कर्माशय समूहों का क्षय भोग द्वारा होने पर अपवर्ग होगा—यह कथन भी मनोरथमात्र है (अर्थात् संभव नहीं है)। इसके उत्तर में कारिकाकार कहते हैं—

तत्त्वज्ञान के अधिगम होने के कारण धर्म, अधर्म आदि की कारणता (भोगादि-उत्पादकत्व) नष्ट हो जाती है; (प्रारब्ध कर्मों के) संस्कारों के बल से (पुरुष) उसी प्रकार शरीर धारण किए रहता है, जिस प्रकार दण्ड से चलाया गया कुम्हार का चक्र (दण्ड का चालन न होने पर भी) संस्कार (=वेग) से (कुछ काल पर्यन्त) घूमता रहता है॥ ६७॥

(४) तत्त्वज्ञान के साक्षात्कार से ही उत्पादक शक्ति के विनष्ट हो जाने के कारण अनादिकाल से सञ्चित होने पर भी अनियतविपाककाल कर्माशयप्रचय जाति, आयु एवं (सुख-दुःख) भोग रूप फल नहीं देता; (५) जिस प्रकार भूमि में जल के सेचन होने पर ही उसमें पड़े हुए बीज अङ्कुर उत्पन्न करते हैं, उसी प्रकार बुद्धि में अविद्या आदि क्लेशों के रहने पर ही कर्म जाति-आयु-भोगरूप फल उत्पन्न करते हैं; और जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतु द्वारा समस्त जल सूख जाने पर ऊषर भूमि में बीज अङ्कुरित नहीं होते, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान से अविद्या आदि क्लेशों के नष्ट हो जाने पर कर्म फलोत्पादक नहीं होते। (६) यही बात 'धर्मादीनामकारणप्राप्तौ' (=धर्मादि के कारण न रह जाने

प्रसङ्गः ? (६) तदिदमुक्तम्—"धर्मादीनामकारणप्राप्तौ" इति। अकारणत्व-प्राप्तावित्यर्थः।

(७) उत्पन्नतत्त्वज्ञानोऽपि च संस्कारवशात् तिष्ठति; यथोपरतेऽपि कुलाल-व्यापारे चक्रं वेगाख्यसंस्कारवशाद् भ्रमत्तिष्ठति। कालपरिपाकवशात्तूपरते संस्कारे निष्क्रियं भवति। (८) शरीरस्थितौ च प्रारब्धपरिपाकौ[1] धर्माधर्मौ संस्कारौ। (९) तथा चानुश्रूयते[2]—"भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते" (ब्रह्मसू० ४।१।१९) इति; "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये"[3] इति च (छान्दोग्य० ६।१४।२)। (१०) प्रक्षीयमाणाविद्या-विशेषश्च संस्कारस्तद्वशात् तत्सामर्थ्याद् धृतशरीरस्तिष्ठति॥ ६७॥

पर) इस वाक्य द्वारा कहीं गई है। कारिकोक्त 'अकारणप्राप्ति' का अर्थ 'अकारणत्व-प्राप्ति' अर्थात् 'कारण-रूप में न हो जाना' है।

(७) तत्त्वज्ञान के हो जाने पर भी साधक कर्म के संस्कार से उसी प्रकार शरीर धारण किये करता है, जिस प्रकार कुम्हार के 'दण्डचालन' व्यापार के रुक जाने पर भी चक्र वेगनामक संस्कार से चलता रहता है और समय आने पर वेगसंस्कार के नष्ट हो जाने से रुक जाता है। (८) शरीर की स्थिति में प्रारब्ध-परिपाक (जिनका फल-भोगरूप परिपाक प्रारब्ध अर्थात् फल प्रदान में उन्मुख है, वे) धर्म और अधर्म को ही संस्कार के रूप में जानना चाहिए।

(९) इस विषय में पूर्वाचार्यों का एक वचन सुना जाता है—'भोग से आरब्ध-कार्य पुण्य-पापों का क्षय होने पर तत्त्वज्ञानी मुक्त हो जाते हैं'। 'आचार्यवान् पुरुष को मोक्ष होने में तभी तक देर रहती है, जब तक कि वह शरीर के बन्धन से मुक्त नहीं हो जाता; शरीरपात के अनन्तर तो वह सत्सम्पन्न (=सत् स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त) हो जाता है'। (१०) (विवेक ज्ञान से) नष्ट होती हुई अविद्या-विशेष ही संस्कार है (जो इस कारिका में उक्त हुआ है); उस संस्कार की सामर्थ्य से पुरुष शरीर धारण किए रहता है। (यही जीवन्मुक्त अवस्था है) ॥ ६७ ॥

---

१. तौ च भोगेन क्षेतव्यौ इत्यधिकं पठ्यते क्वचित्।

२. डा० आद्याप्रसादसम्पादिते संस्करणे पठ्यते—तथा चानुश्रूयते तस्य तावदेव चिरं···(पृष्ठ. ३३०)। कथं खलु छान्दोग्योपनिषद्-वचनम् 'अनुश्रूयते' इति पदेन लक्षितं भवेत्—इति न चिन्तितं सम्पादकेन। अस्मत्संमतः पाठ एव सर्वेषु तत्त्वकौमुदीसंस्करणेषु पठ्यते। कुछ सम्पादक ब्रह्मसू० में 'अथ संपद्यते' पढ़ते हैं, जो अशुद्ध है।

३. उपनिषद्वाक्य में 'अथ संपत्स्ये' है; 'अथ' के आनन्तर्य रूप अर्थ होने पर भी यहाँ शरीरबन्धननाश और सत्-सम्पत्तिरूप मोक्ष में कालभेद नहीं है। शांकरभाष्य में यह मत स्पष्टतया उक्त हुआ है। यह मत सांख्यानुमोदित है।

६७वीं कारिका की व्याख्या

यह कारिका उस अवस्था की प्रतिपादिका है, जिसे 'जीवन्मुक्ति' कहा जाता है। यान देना चाहिये कि ६५ वीं कारिका में 'धर्म आदि सात रूपों की विनिवृत्ति' कही ई है और यहाँ धर्मादि की 'अकारणत्व-प्राप्ति' की बात कही जा रही है। 'निवृत्ति ी ओर अभिमुख होना' एक स्थिति है और 'निवृत्तिभाव का सुप्रतिष्ठित होना' अन्य स्थिति है। प्रथम की पूर्णता द्वितीय में है। वस्तुतः ये दो कारिकाएँ एक ही अवस्था ी प्रतिपादिका हैं। धर्मादि से धर्मादि सात (६५ कारिकोक्त) ही ग्राह्य हैं, क्योंकि ान (सम्यक् ज्ञान) कारिका के प्रथम चरण में उक्त हुआ है। धर्मादि की प्राप्ति अनायास हो जाती है (डा० ब्रजमोहन)—इस रूप से अकारणत्वप्राप्ति की व्याख्या ाल्पनिक भी है, असंगत भी, क्योंकि तत्त्वतः यह अवस्था धर्मादि की अतिक्रमकारिणी है।

यह लक्षणीय है कि धर्म, अधर्म आदि सात रूप अपने कार्योत्पादक सामर्थ्य से हीन तब होते हैं जब सम्यक्ज्ञान का अधिगम होता है। **विवेकज्ञान की सामर्थ्य यह है कि वह धर्म आदि की फलप्रसव-शक्ति को निरुद्ध कर सकता है।** यह तभी हो सकता है जब हम ज्ञान (अर्थात् विवेकज्ञान) के साथ धर्म आदि का विरोध माने। विवेकज्ञान से ही धर्मादि का विरोध है, अन्य ज्ञानों के साथ नहीं—यह ज्ञातव्य है।[1]

धर्म आदि की भ्रष्टबीजवत् स्थिति होने पर भी योगी की मुक्ति नहीं हो जाती—वह प्राकृतिक नियम से ही कुछ काल तक शरीरधारण कर रहता ही है, क्योंकि देह-धारण का संस्कार तत्त्वज्ञान के अधिगम होने पर भी नष्ट नहीं होता।

संस्कारनाश के लिये यह जो कुछ काल तक अपेक्षा करने की बात कही जा रही है, उसका हेतु है। क्यों न सर्वसंस्कारनाशपूर्वक ही धर्ममेघ समाधि प्रकटित हो? उत्तर–ज्ञान सत्त्वबहुल है, देहधारणकार्य प्राण का है—जो तमोबहुल है। तामस कार्य का अति-क्रमण करने के लिये जितना राजस बल चाहिये, वह बल केवल सत्त्वप्रधान ज्ञान में नहीं है, अतः ज्ञान उदित होकर ही देहधारणसंस्कार के बल को क्षीण नहीं कर सकता। यह संस्कारबल—अपनी पुष्टि न कर सकने के कारण (क्योंकि संस्कार को जीवित रखने के लिये कर्मरूप अन्न चाहिये, यह अन्न जब नहीं मिलेगा तब संस्कार का पुष्ट होना रुद्ध हो जायेगा)—स्वभावतः ही क्षय की ओर चलता हुआ एकदिन नष्ट हो

---

१. ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद पर विचार के समय यह जानना चाहिये कि ज्ञान और कर्म शब्द एकाधिक अर्थों में प्रयुक्त होते हैं; उन अर्थों पर ध्यान न देकर 'ज्ञान' 'कर्म' शब्द मात्र पर ही निर्भर कर पूर्वाचार्यों के मतों को समझने पर बहुधा भ्रान्त निर्णय ही होता है। ज्ञान=विवेकज्ञान की परिपाकावस्था यदि हो तो उसके साथ कर्म (=संस्काराधीन होकर कर्म करना) का अवश्य ही विरोध है।

जाता है। यही कारण है कि प्रायः सभी को ज्ञानाधिगम के बाद कुछ काल तक देहधारण कर रहना पड़ता है। इस नियम का अपवाद है, पर इस अपवाद के उदाहरण अत्यल्पसंख्यक ही हैं।

चक्रभ्रमिवत् उपमा है। इसकी ध्वनि यह है कि जिस प्रकार कुलाल का व्यापार समाप्त होने पर भी चक्र कुछ काल तक घूमता रहता है—वेगसंस्कार के कारण, उसी प्रकार यहाँ भी देहधारण-संस्कार के कारण शरीर का नाश नहीं होता। जिस दिन यह संस्कार-बल नष्ट हो जाता है, उस दिन शरीर का नाश (=मृत्यु) हो जाता है। शरीरनाश ज्ञापित करता है कि देहधारण-संस्कार नष्ट हो गया है। देहधारण का तात्पर्य स्थूल देहधारण से ही नहीं है (जैसा कि कुछ लोग समझते हैं), बल्कि सर्वविध देहधारण से है।

चक्रभ्रमि उपमा की ध्वनि है—काल की अल्पता तथा नूतन कर्म न करने का संकल्प। सांख्यानुसार मुख्य जीवन्मुक्ति अवस्था अल्पकाल के लिये होती है। यह कहना सहेतुक है क्योंकि शरीर को जीवित रखने के लिये कुछ तदनुकूल कर्म करने पड़ते हैं। जिसप्रकार चक्र में नया वेग नहीं दिया जाता, तथैव यहाँ भी नूतन कर्मसंकल्प का अकरण होता है। जब संकल्प नहीं रहेगा तब अन्यान्य देहधारणानुकूल आनुषङ्गिक कर्म भी नहीं होंगे—इस प्रकार जीवन्मुक्त का जीवन बहुत कुछ निस्तैल प्रदीप की तरह होता है—वह बूझता हुआ ही चलता रहता है। अपने परम मूल निष्क्रिय आत्मा में बद्धधृति होने पर चित्तेन्द्रियप्राणों के बाह्य कर्म भी क्षीयमाण होते रहेंगे, अन्तः कर्म भी एकाग्रता के आधिक्य से रुद्धप्राय होते जायेंगे। इस प्रकार प्रकृत जीवन्मुक्त का शरीरपात निर्गुण आत्मावधारण के बाद थोड़े दिनों में ही हो जाता है। हमारा अनुमान है कि जीवन्मुक्त व्यक्ति में जातिरूप और भोगरूप विपाक समाप्तप्राय हो जाते हैं; आयुरूप विपाक ही सक्रिय रहता है। इस विपाक की समाप्ति होने पर देहत्याग हो जाता है और नूतन शरीर का ग्रहण नहीं होता (देहत्याग का अभिप्राय लिङ्ग की अव्यक्तावस्था-प्राप्ति भी है)।

जीवन्मुक्त के साथ उस सामाजिक कर्म[1] का कोई सम्बन्ध नहीं है जिसको हम असिद्ध प्राणी सामाजिक कर्म के रूप में समझते हैं। हम समाजोन्नयन को जिस दृष्टि से समझते हैं, वह दृष्टि जीवन्मुक्तों में हो ही नहीं सकती। स्थूल अतीन्द्रिय ज्ञान प्राप्त होने पर ही चित्त में बाह्य कर्मादि के प्रति अत्यन्त उपेक्षाबुद्धि हो जाती है; अतः जिस चित्त में पौरुष सत्ता की प्रख्याति है, उसमें अन्य विषय की चिन्ता या स्मरण हो ही नहीं सकता, कर्म करना तो दूर की बात है। किन्हीं जीवन्मुक्तों में ज्ञानोपदेश करना रूप कर्म का अत्यल्प संस्कार अत्यल्प काल के लिये उद्गत हो सकता है। मोक्षविद्या के मुख्य उपदेष्टा ईदृश जीवन्मुक्त पुरुष ही हैं। कर्तव्यता, उपादेयता आदि का बोध चित्तस्तर-सापेक्ष है; अतः

---

1. Dr. C.K. Raja कहते हैं–But is there not a prayojana (purpose) in the form of social service ? Can there not be an evolution for this purpose ? (p. 193).

क्लेशादिवशीभूत अस्मदादि के चित्त को प्रकृति को देखकर जीवन्मुक्त के चित्त की प्रकृति का अवधारण नहीं करना चाहिये। जीवन्मुक्त के द्वारा ऐसा कुछ भी नहीं किया जा सकता जो नूतन रूप से कर्माशय को उत्पन्न कर सके। उनके द्वारा निर्मित निर्माण-चित्त (ज्ञानधर्मोपदेशार्थं) अनाशय है—यह ज्ञातव्य है।

जीवन्मुक्त का कर्म उनकी चित्त स्थिति के अनुसार होता हैं; उनकी दृष्टि में 'समाज' का जो स्वरूप प्रतिभात होता है, उस स्वरूप के अनुसार ही वह तदनुकूल कर्म करते हैं। जीवन्मुक्त के चिन्तन-स्वरूप को असिद्ध प्राणी सोच भी नहीं सकता ॥६७॥

(१) स्यादेतत्—यदि संस्कारविशेषाद्[1] धृतशरीरस्तथापि कदास्य मोक्षो भविष्यति, इत्यत आह—

प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ।
ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति ॥६८॥

(२) "प्राप्ते" इति ॥ अनारब्धविपाकानां तावत् कर्माशयानां तत्त्वज्ञानाग्निना बीजभावो दग्धः। प्रारब्धविपाकानां तूपभोगेन क्षये सति प्राप्ते शरीरभेदे शरीरविनाशे। (३) "चरितार्थत्वात्" इति कृतप्रयोजनत्वात्, प्रधानस्य तं पुरुषं प्रति विनिवृत्तौ—ऐकान्तिकम् अवश्यंभावि आत्यन्तिकम् अवि- नाशि—इत्युभयं कैवल्यं दुःखत्रयविगमं प्राप्नोति पुरुषः ॥ ६८ ॥

(१) प्रश्न उठता है कि (चक्रभ्रमिवत् शरीरधारण की संभावना होने पर) अवशिष्ट संस्कार से पुरुष यदि शरीर धारण किए रहता है, तो फिर उसका मोक्ष कब होगा ? इसके उत्तर में कारिकाकार कहते हे :—

शरीरपात के अनन्तर भोग एवं अपवर्ग रूप अर्थ सम्पन्न हो जाने के कारण प्रकृति विवेकज्ञानवान् के प्रति निवृत्त हो जाती है [प्रकृति के परिणामक्रम की समाप्ति हो जाती है], एवं (पुरुष) ऐकान्तिक (=अवश्यंभावी) और आत्यन्तिक (=अविनाशी) कैवल्य (=केवलीभाव) को प्राप्त कर लेता है ॥ ६८ ॥

(२) जिनका फल-भोग आरब्ध नहीं हुआ है, उन कर्माशयों की फलोत्पादन-सामर्थ्य तत्त्वज्ञान द्वारा नष्ट हो जाती है। किन्तु जिनका फलभोग प्रारम्भ हो गया है, भोग द्वारा उनके क्षीण हो जाने पर जब (आयुः की समाप्ति होने पर) शरीर का विनाश हो जाता है, तब (३) भोग और अपवर्गरूप द्विविध प्रयोजन की सिद्धि हो जाने के कारण पुरुष के प्रति प्रकृति की निवृत्ति हो जाती है, अतः वह (पुरुष) 'ऐकान्तिक' (=अवश्य होने वाला) और 'आत्यन्तिक' (=अविनाशी) इन दोनों रूपों से युक्त (दुःखप्रशमरूप) कैवल्य प्राप्त कर लेता है ॥६८॥

१. संस्कारशेषादपि (पाठ०)।

६८वीं कारिका की व्याख्या

यह कारिका विदेहकैवल्य की प्रतिपादिका है। कारिकोक्त शरीरभेद का अर्थ स्थूल शरीर (मातापितृज, जरायुज आदि) मात्र नहीं है; सर्वविध शरीर ही ग्राह्य हैं।

चरितार्थ होना प्रधान (=प्रधानजात महदादि प्राकृत उपाधि) की विनिवृत्ति का हेतु है। चरितार्थता के साथ निवृत्ति का अविनाभाव संबन्ध है। भोग और अपवर्ग की समाप्ति होने पर बुद्धिआदि पुनः भोगादि में प्रवृत्त नहीं होते हैं—फलतः उनकी निवृत्ति हो जाती है। चरितार्थता यदि सम्यक् हो तो निवृत्ति भी सम्यक् होगी—इसमें संशय नहीं है। चरितार्थता की व्याख्या पहले की गई है। तत्त्वज्ञान का उत्कर्ष दुःखनिवृत्ति के उत्कर्ष को देखकर जाना जाता है। चूँकि अपवर्गरूप ज्ञान पूर्ण होने पर मोक्ष होने के कारण दुःख का एकान्त और अत्यन्त नाश होता है, अतः विवेकख्याति को ही सर्वोच्चज्ञान माना जाता है।

बुद्धि आदि की शाश्वत निवृत्ति हो जाने पर वृत्तिसारूप्य का अभाव हो जाता है, अतः (गौण दृष्टि से) कहा जाता है कि पुरुष को केवलीभाव रूप कैवल्य प्राप्त हुआ। तत्त्वतः पुरुष को कुछ भी प्राप्त नहीं होता। पुरुष को कुछ भी प्राप्त न होने पर भी जो प्राप्ति की बात कही जाती है, उसका कारण है—लौकिक दृष्टि का अनुसरण। लोक में देखा जाता है कि प्रत्येक घटना का कुछ न कुछ फल होता है, जो किसी न किसी पर अवश्य ही व्यपदिष्ट होता है। बुद्धि आदि की शाश्वत निवृत्ति रूप घटना का जो फल होगा उसे चूँकि अत्यन्तनिवृत्त बुद्धि आदि पर न्यायतः संबन्धित नहीं किया जा सकता, अतः पुरुष को ही फलभोक्ता के रूप में माना जाता है। 'पुरुषः कैवल्यम् आप्नोति' कहा गया है। ध्यान देना चाहिये कि यह कैवल्य ऐकान्तिक और आत्यन्तिक है। ऐकान्तिक इसलिये कि बुद्ध्यादि की निवृत्ति पूर्ण है, जो वृत्तिसारूप्य का प्रकृत निरोध है, अतः पुरुष का स्वरूपावस्थान होता है। आत्यन्तिक इसलिये कि आगामी काल में इस केवलीभाव की विच्युति नहीं होगी—स्वरूपावस्थान ही रहेगा; 'तस्याः सदा तथैवावस्थानं कैवल्यम्' (व्यासभाष्य ४।३४)।

कैवल्य होने पर लिङ्ग या जीव के मूल रूप की क्या स्थिति होती है—यह एक बहुत ही आवश्यक प्रश्न है। प्रधान (=प्रधानोपादानक महत्) की विनिवृत्ति (=आत्यन्तिक निवृत्ति=शाश्वत रोध) होने पर कैवल्य होता है—इतना ही कारिका में कहा गया है। इससे इतना तो निश्चित होता है कि विनिवृत्ति मात्र कैवल्य नहीं है। कैवल्य तो पुरुष का स्वभाव है (द्र० का० १९), अतः ज्ञानहेतुक कैवल्य पुरुष को हुआ—यह एक गौणार्थक वाक्य ही है। प्रधान की विनिवृत्ति न होने पर भी पुरुष अपने

रूप में ही स्थित रहता है (अप्रच्युत-स्वभाव होकर), अतः प्रधान की विनिवृत्ति का फल मुख्य दृष्टि से किसको मिलता है—यह प्रश्न होता है।

इसका प्रसिद्ध उत्तर है—जीव को मिलता है। पर जीव न महत् है और न पुरुष है—जीव सूक्ष्मतम 'चिज्जडग्रन्थि' है—अतः महदादि-करणों की अत्यन्त निवृत्ति होने पर इस ग्रन्थि की स्थिति क्या होती है—यह प्रश्न है। 'क्या होता है' का अर्थ है—किस अवस्था में रहता है। यदि इसका यह तात्पर्य है कि किसी देश में या किसी काल में रहता है—तो प्रश्न ही असंगत है, क्योंकि तन्मात्रक्षेत्र से सूक्ष्म स्तर में देश की सत्ता रहती ही नहीं; और महत् की निवृत्ति होने पर काल की सत्ता भी समाप्त हो जाती है (गुणों का वैषम्य-भाव न रहने के कारण), अतः यही न्यायतः प्राप्त उत्तर है कि उस अवस्था में जीव देश और काल-संबन्ध का अतीत हो जाता है।

महत्-तत्त्वरूप सर्वोच्च करण की अत्यन्त निवृत्ति होने पर अहम्-रूप जीव दार्शनिक दृष्टि के अनुसार 'अव्यक्त हो जाता है' अथवा अदार्शनिक दृष्टि के अनुसार 'बुझ जाता है'। अहम् स्वयं ही यह जानकर कि जब तक मैं व्यक्त रहूँगा—त्रिताप से तप्त होता रहूँगा—अपने को ही अपनी अभिव्यक्ति के मूल हेतु पुरुष को लक्ष्यकर निरुद्ध कर लेता है—यह अहम् न चित् है, न अचित् है, और न चित्-अचित्-जात एक पृथक् स्वप्रतिष्ठ पदार्थ है। अनादि काल से यह एक चित्-जडमिश्रण रूप पदार्थ कर्ता होकर भी स्वयं ही करण रूप में रहता है, और करणों की निवृत्ति करके स्वयं भी निवृत्त हो जाता है। इस अवस्था में जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति नहीं रहतीं, अतः यह तुरीय शब्द से अभिहित होती है। अस्मदादिव्यक्तियों के द्वारा इस अवस्था का और अधिक स्पष्टीकरण संभव नहीं है।

इस विषय में सर्वाधिक जटिल प्रश्न है—कैवल्यावस्था में अत्यन्त निवृत्त बुद्धि (जीव या अहम्) के साथ पुरुष का क्या सम्बन्ध रहता है ? क्या इस अवस्था में पुरुष के साथ कोई योग बुद्धि का या जीव का रहता है ? यदि नहीं तो क्या पुरुष-बुद्धि का वस्तुतः वियोग (=विभाग) हो जाता है ? क्या ईदृश विभक्त होना संभव है ? यदि कहा जाये कि विभाग नहीं होता, तो प्रश्न होगा—क्या कारण है कि पुरुषसंयोग रहने पर जो शाश्वत निवृत्ति पहले नहीं हुई थी वह अब हो जाती है ? यदि पुरुष-बुद्धि के संबन्ध में मोक्षावस्था में कोई परिवर्तन नहीं होता तो मोक्ष को प्राप्त होकर बुद्धि पूर्ववत् सर्ग की कर्त्री क्यों नहीं बनती है ?

उत्तर—'अहम्' में जब तक यह बोध रहता है कि मेरी विषयप्रकाशनसामर्थ्य मेरी अपनी शक्ति है (जो वस्तुतः नहीं है) तब तक विषयप्रकाशन-कार्य में वह प्रवृत्त ही रहता है और गुणस्वभाव के कारण कर्ता, अधिष्ठाता आदि रूपों में परिणत होता रहता है। जिस क्षण 'अहम्' को यह बोध होता है कि यह प्रकाशनसामर्थ्य मेरी स्वगत शक्ति पर निर्भर

नहीं है, उसी क्षण वह निवृत्तचक्षु होने की चेष्टा करता हुआ प्रत्यगात्मा के ध्यान के मार्ग में पदार्पण करेगा, और अन्त में अपनी व्यक्त सत्ता का मूलभूत पुरुष (जिससे अहम् चेतन होता है) को लक्ष्य कर अपने को रुद्ध करेगा। इस प्रकार यह चित्-जड़-ग्रन्थि रूप 'अहम्' अपने व्यक्त स्वरूप को खोकर अव्यक्त स्वरूप होकर निताप से मुक्त होता है। व्युत्थानसंस्कार न रहने से वह पुनरुत्थित नहीं होता है। पुरुष के विषय में उसका जो भ्रान्तज्ञान था, उसका नाश होकर विवेकज्ञान की उत्पत्ति होती है और यह ज्ञान भी अव्यक्तीभूत अहम् के साथ अव्यक्त हो जाता है। जो पुरुष पहले व्यक्त बुद्धि का द्रष्टा था, वह अब अव्यक्तीभूत बुद्धि (अहम्) के द्रष्टा के रूप में रहता है। यह अवस्था राजस तापक्रिया की अतीत है, अतः 'त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्ति' हो जाती है। भूलना नहीं चाहिए कि लिङ्ग की बद्धावस्था का कालपरिमाण परमार्थतः क्षणमात्र है

कैवल्यावस्था में दुःखोत्पादक हेतु दुःख को उत्पन्न नहीं कर सकता, क्योंकि बोद्धा बुद्धि उस समय शाश्वत काल के लिये निरुद्ध हो जाती है (इसका स्पष्टीकरण यथास्थान द्रष्टव्य है)। कोई भी व्यक्त क्रिया अव्यक्तीभूत बुद्धि को विकृत नहीं कर सकती—अतः यह दुःख-निरोध एकान्त और अत्यन्त है। (दुःखभोग की व्यक्तता जब भविष्य में नहीं होगी तो अभाव शब्द का भी प्रयोग करना दोषावह नहीं है)।

ध्यान देना चाहिये कि 'दुःखोत्पादक क्रिया से पीड़ित न होना' यह फल है—यह कैवल्य का वस्तुतः स्वरूप नहीं है। उपमा देकर यह कहा जा सकता है कि किसी भार-युक्त रबड़ खण्ड (भार के कारण जो लम्बा हो गया था) भार से मुक्त होने पर हेतुजन्य इस लम्बाई को खोकर अपने स्वरूप में स्थित होता है (अर्थात् भार के कारण उसकी जो लम्बाई थी, वह नहीं रहती है)। अब इस स्व-स्वरूपस्थ रबड़ खण्ड का मुख्यतः यह परिचय देना कि 'रबड़ खण्ड की यह स्थिति हेतुजन्य भार का वियोगरूप है' असंगत है। रबड़ की लम्बाई सहेतुक थी; 'वह हेतु हट गया—रबड स्वरूप में स्थित हो गया'। रबड़ की यह स्वरूपस्थिति 'भारापसारणजनित लम्बाई का अभाव'—ऐसा अभावरूप वस्तुतः नहीं है। अभाव कहना गौणार्थक है। इस प्रकार कैवल्य को दुःखत्रयाभावरूप कहना गौण दृष्टि से भले ही संगत हो, दुःखाभाव कैवल्य का लक्षण नहीं है। प्राचीन ग्रन्थों में कहीं-कहीं श्लथ भाषा में भी लक्षण किये गये हैं—वस्तुस्थिति को जानकर कौन लक्षण किस प्रकार का है—इसका परिज्ञान करना चाहिये।

पुरुष का यह कैवलीभाव अभावात्मक नहीं है—यह सहजतः समझ में आ सकता है। यद्यपि औपचारिक दृष्टि से दुःखनिवृत्ति रूप अभाव पदार्थ को कैवल्य का स्वरूप भी कहा जा सकता है, पर इस प्रकार के कथनमात्र से कैवल्य दुःखाभावरूप नहीं हो जाता; कैवल्य का स्वरूप जैसा है तदनुसार ही 'कैवल्य दुःखाभावरूप है'—इस मत का अभिप्राय

जानना चाहिये। दुःख जब बुद्धिस्थ है, तब दुःखाभाव को कैवल्यस्वरूप कहने पर वह औपचारिक कथन होता है। दृष्टिभेद से कोई सांख्याचार्य कैवल्य को सुखरूप भी कह सकते हैं। देवल ने कहा भी है—परमसुखमैकान्तिकमधिगच्छति (मोक्षकाण्ड, पृ० ७ में उद्धृत)। दुःखाभाव को कोई 'सुख' मान सकता है, इसलिये कि दोनों में ही इष्टत्व है—अतः कैवल्य को परमसुखरूप भी कहा जा सकता है। सत्त्वविकार रूप सुख के साथ कैवल्य का कोई सम्बन्ध ही नहीं है; अतः या तो पूर्वोक्त दृष्टि से 'कैवल्यं परमसुखम्' कहा जा सकता है, या सुख को पारिभाषिक शब्द मानकर 'द्रष्टा का स्वरूपावस्थान' इस स्वाभीष्ट अर्थ में उसका प्रयोग करके कैवल्य को सुखस्वरूप कहा जा सकता है।

सांख्यीय कैवल्य को यथार्थरूप से न जानने के कारण अनेक अज्ञतापूर्ण धारणाएँ प्रचलित हो गई हैं। उदाहरणार्थ डा० चन्द्रधर शर्मा का मत है कि कैवल्य uninspiring है तथा it must be substituted by an ideal of positively blissful eternal existence in the bosom of the Absolute[1] [C.S.I.P., P. 168]। अनात्म-विषय-संस्कार की प्रवणता के कारण ही uninspiring भाव की प्रतीति होती है। पुरुष स्वरूप और आत्यन्तिक निवृत्ति का स्वरूप ज्ञात होने पर द्वितीय मत की संभावना दिनकर-स्पृष्ट नीहारवत् विलीन हो जाती है।

'ऐकान्तिक मात्यन्तिकमुभयं कैवल्यम् आप्नोति' वाक्य पर मुझे एक विशिष्ट बात कहनी है। इसका जो प्रचलित व्याख्यान है, उसमें 'उभयम्' पद का कुछ भी सार्थक्य नहीं है, क्योंकि उसके बिना भी 'ऐकान्तिकम् आत्यन्तिकं कैवल्यम् आप्नोति' कहने पर कोई दोष नहीं होता। (टीकाकारों के अनुसार 'पुरुषः' कर्तृपद है)। जिस वाक्य में एक विशेष्य के दो विशेषण प्रयुक्त हुये हैं, उसमें 'उभय' रूप सर्वनाम पद का प्रयोग किस उद्देश्य से किया गया है, यह स्पष्ट नहीं है। क्या 'उभयम्' पद न रहने से कैवल्य के ये दो विशेषण युगपत् प्रवृत्त नहीं होते? क्या हम 'कुब्जं खञ्जम् उभयं नरं पश्य' ऐसा वाक्य बना सकते हैं—एक नर को देखो जो कुब्ज और खञ्ज है—इस अर्थ में?

'उभयम्'—इस प्रयोग की विचित्रता के कारण हम समझते हैं कि इस कारिका में 'उभयम्' का अर्थ है—पदार्थद्वयम्; अर्थात् ६६ वीं कारिका में जिन दो पदार्थों का उल्लेख

---

१. उपर्युक्त वाक्य में Susbtitute क्रियापद का प्रयोग अप्रशस्त है; द्र० Fowler कृत Modern English Usage, Partridge कृत Usage and Abusage, Concise Oxford Dictionary, Gowers कृत The Complete Plain Words Rowe एवं Webb कृत Hints on the Study of English ग्रन्थों में संबन्धित शब्द पर टिप्पणियाँ।

(एकः और अन्या शब्द के प्रयोग के द्वारा) किया गया है, वे ही दो पदार्थ यहाँ 'उभयम्' पद द्वारा परामृष्ट हुये हैं। हमारा कहना है कि कैवल्य का सम्बन्ध दोनों से है—पुरुष का कैवल्य है तथा लिङ्ग या पुरुषाकारा बुद्धि का भी कैवल्य है; यही पदार्थद्वय 'कैवल्यम् आप्नोति'। वृत्तिसारूप्य का न रहना पुरुष का कैवल्य है और लिङ्ग की अव्यक्तावस्था-प्राप्ति लिङ्ग का कैवल्य है।

हमारी इस कल्पना में 'सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्' (३।५५) यह सूत्र सहायक है। यहाँ भी हम समझते हैं कि कैवल्य का सम्बन्ध सत्त्व से भी है, पुरुष से भी। सत्त्व और पुरुष के स्वभाव के अनुसार कैवल्यसंबन्धी विचार में भेद होगा, पर 'दुःखसम्बन्धातीतता' दोनों प्रकार के कैवल्य में समान है। देशकालातीतता आदि भी दोनों की कैवल्य-स्थिति में समान रूप से प्रयोज्य हैं। यही कारण है कि एक ही कैवल्य शब्द पुरुष के स्वरूपावस्थान के लिये तथा पुरुषाकारा बुद्धिरूप लिङ्ग की अव्यक्तीभूतता के लिये प्रयुक्त हुआ है। लिङ्ग की अव्यक्तावस्थाप्राप्ति होने पर पुरुष के द्रष्टृत्व में कोई परिवर्तन नहीं होता—अव्यक्त लिङ्ग के द्रष्टा के रूप मे पुरुष रहता है। यह अवस्था देशकालातीत है, अतः देश-काल का आश्रय करके कोई भी प्रश्न नहीं किया जा सकता। 'उभयम्' का जो तात्पर्य यहाँ कहा गया है, उस पर अभी और विचार की आवश्यकता है। अभी इसको एक सुझाव के रूप में ही लेना चाहिए ॥ ६८ ॥

---

(१) प्रमाणेनोपपादितेऽप्यत्यन्तश्रद्धोत्पादनाय परमर्षिपूर्वकत्वमाह—

पुरुषार्थज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातम् ।
स्थित्युत्पत्तिप्रलयाश्चिन्त्यन्ते यत्र भूतानाम् ॥६९॥

(२) "पुरुषे" ति। गुह्यं—गुहानिवासि, स्थूलधियां दुर्बोधमिति यावत्। (३) परमर्षिणा कपिलेन। (४) तामेव श्रद्धामागमिकत्वेन द्रढयति—"स्थित्यु-

---

(१) प्रमाणों द्वारा शास्त्रीय अर्थों के सिद्ध हो जाने पर भी उसमें आत्यन्तिक श्रद्धा उत्पन्न करने के लिये 'यह शास्त्र परमर्षि कपिल के द्वारा प्रवर्तित हुआ है' (परमर्षि की प्रामाणिकता के कारण तदुक्त शास्त्र प्रमाणभूत है)—यह कहते हैं—

पुरुषार्थ (=भोग और अपवर्ग) को ज्ञापित करने वाला यह गुह्य (गोपनीय; रहस्य) शास्त्र परमर्षि (कपिल) के द्वारा सम्यक् रूप से कहा गया है; इस ज्ञान के निमित्त ही भूतों (अर्थात् प्राणियों) की सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय विचारित हुए हैं ॥६९॥

(२)गुह्य का अर्थ है—गुहा (अर्थात् निर्जन स्थान) में रहने वाला; तात्पर्य यह है कि यह शास्त्र स्थूलबुद्धि वालों के लिये दुर्बोध है। (३) 'परमर्षि' इस शब्द से कपिल मुनि लक्षित हुए हैं। (४) महर्षि कपिल द्वारा प्रोक्त होने के कारण जो श्रद्धा इस ज्ञान

त्पत्ति-प्रलयाश्चिन्त्यन्ते यत्र भूतानाम्" इति। (५) यत्र=ज्ञाने=यदर्थम्, यथा 'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति' इति (द्र० महाभाष्य २। ३। ३६)। (६) भूतानाम् प्राणिनां स्थित्युत्पत्तिप्रलया आगमैः चिन्त्यन्ते ॥ ६९ ॥

पर उत्पन्न होती है, उसकी आगमाद्दतता के कथन से उसे और दृढ़ करते हैं— 'जिसके लिये प्राणियों (=भूतों) की सृष्टि, स्थिति तथा विनाश का निरूपण (आगमों द्वारा) किया गया है'। (५) 'जिसके लिये' (यत्र) अर्थात् 'जिस (पुरुषार्थ) ज्ञान के निमित्त'; 'यत्र' में सप्तमी विभक्ति (सप्तम्या त्रल् सूत्र द्रष्टव्य) का प्रयोग 'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति' की भाँति 'निमित्त' (=फल) अर्थ में हुआ है। (६) भूत अर्थात् प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश आगमों द्वारा विचारित होते हैं ॥६९॥

६९वीं कारिका की व्याख्या

कुछ लोग इस कारिका के प्रथमार्ध का पाठ 'पुरुषार्थार्थमिदं गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातम्' समझते हैं। युक्तिदीपिका के सम्पादक ने इसी पाठ को मूलपाठ के रूप में माना है। इस पाठ में पूर्वार्ध में २८ मात्राएँ होती हैं, जबकि ३० होनी चाहिये। युक्तिदीपिका के वाक्य से तत्-संमत पाठ का रूप प्रस्फुटरूप से जाना नहीं जाता, यद्यपि हम समझते हैं कि शायद युक्तिदीपिका के अनुसार मूलपाठ 'पुरुषार्थमिदं शास्त्रम्' अथवा 'पुरुषार्थं शास्त्रम्' होगा। कारिकापाठसम्बन्धी विशदविचार प्रसंख्यानभाष्य में द्रष्टव्य है।

कारिका में सांख्यज्ञान का परिचय 'पुरुषार्थज्ञान' शब्द द्वारा दिया गया है। अन्य किसी का प्रयोग न करके इस शब्द का प्रयोग करना सहेतुक है। हम समझते हैं कि पुरुषार्थज्ञान शब्द द्वारा पारमर्ष उपदेश को लक्षित करने का गूढ़ उद्देश्य है। भोग और अपवर्ग की सिद्धि सांख्यीय तत्त्वज्ञान के यथार्थ प्रयोग से होता है—यह जनाने के लिये ही इस रूप से कहा गया है। भोग और अपवर्गरूप द्विविधज्ञान के अतिरिक्त और अन्य प्रकार का कोई ज्ञान नहीं है, यह सांख्य की मान्यता है। क्रिया, साधन आदि सब दृश्यभाव के अन्तर्गत हैं; यह दृश्य भोगापवर्गार्थ है (२।१८)—यह योगसूत्रीय मत इस प्रसंग में मननीय है। 'इदं पुरुषार्थज्ञानम् समाख्यातम्'—यह समाख्यात शब्द चक्षधातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है—व्यक्ता वाक् (=गूढार्थ का स्पष्ट प्रतिपत्त्यर्थ विवरण); (यहाँ चक्ष के स्थान पर ख्या-आदेश हुआ है)। इस विवरण का अन्वय ज्ञानविशेष के साथ ही हो सकता है। पुरुषार्थज्ञान को शास्त्रविशेष माना जा सकता है। वाक्य की सहायता न लेकर भी ज्ञान का आधान किया जा सकता है। आगामी कारिका में 'परमर्षिकृत ज्ञानप्रदान' का स्वरूप आलोचित होगा।

भूतों(=प्राणियों) के स्थित्यादि-विषय इस शास्त्र में चिन्तित होते हैं। प्राणी का प्रत्यगात्मा अनुत्पन्न पदार्थ है—निर्विकार है; इनके विषय में जो भी कुछ कहा जाता है, वह किसी की अपेक्षा से ही कहा जाता है। जिसमें परिणाम और वैचित्र्य नहीं हैं, उसका कोई वर्णन नहीं किया जा सकता; जिसमें धर्मधर्मिभाव नहीं है, उसका वस्तुतः कोई लक्षण नहीं किया जा सकता है। प्रत्यक् चेतन के अतिरिक्त जो भी कुछ पदार्थ हैं—वह त्रैगुणिक है, उसकी स्थिति आदि को लेकर विचार किया ही जा सकता है।

इस प्रसंग में यह ज्ञातव्य है कि निर्विकार, निर्गुण पदार्थ का स्वरूप अवश्य अचिन्त्य होता है, पर 'निर्विकार वस्तु है' यह मत अचिन्त्य नहीं होता; प्रत्येक मत चिन्त्य ही नहीं होता, परीक्षणीय भी होता है, चाहे वह मत अपरिणामी पदार्थविषयक ही क्यों न हो।

अनात्म पदार्थ के विषय में ये तीन ही मुख्यतः ज्ञातव्य हैं—उत्पत्ति (उपादान और निमित्त), स्थिति (लक्षण, स्वरूप तथा उसके कार्य एवं स्थिति का हेतु) तथा प्रलय (प्रलय का हेतु भी)। कारिकाकार का यह कहना महत्त्वपूर्ण है कि पुरुषार्थज्ञान के लिये ही स्थिति आदि की चिन्ता की जाती है।[1] इससे ध्वनित होता है कि स्थित्यादि-परक जो चिन्ता की गई है वह भोगापवर्ग को चरितार्थ करने में सहायक है। सृष्टिआदि-परक सांख्यीय विचार जड़विज्ञानशास्त्रीय विचार का सदृश नहीं है—यह इससे ज्ञात होता है। यह जानना चाहिये कि त्रैगुणिक पदार्थों का सांख्यशास्त्रीय विश्लेषण अपवर्ग-दृष्टि से है अर्थात् इस दृष्टि से बाह्याभ्यन्तर-विषयों पर विचार किया गया है जिस दृष्टि को जानने से विषय-वैराग्य-पूर्वक चित्त-निरोध हो सकता है; सांख्यीय विश्लेषण भोगदृष्टि से नहीं है, अर्थात् उपादेय बुद्धि से बाह्याभ्यन्तर-विषयों के उपभोग करने का उपाय कहना इस शास्त्र का उद्देश्य नहीं है

'चिन्त्यन्ते' का अर्थ है—कार्य-कारणपरम्परा का विचार, अनुमान द्वारा अतीन्द्रिय पदार्थों का सत्तानिश्चय तथा उनकी उपलब्धि के सोपपत्तिक उपाय का चिन्तन ॥६९॥

---

१. 'यत्र' में निमित्त सप्तमी है; अर्थात् 'इस ज्ञान के लिये' (निमित्त=फल)। यह ज्ञान रूप फल उत्पन्न हो—इस उद्देश्य से स्थित्यादि पर विचार किया गया है। प्रतीत होता है कि डा० ब्रजमोहन निमित्त सप्तमी का तात्पर्य नहीं समझ सके, क्योंकि 'यत्र में निमित्त सप्तमी है' यह कहकर भी उन्होंने (१) 'येन ज्ञानेन भूतानां स्थित्युत्पत्तिप्रलयाः…चिन्त्यन्ते विचार्यन्ते', तथा (२) 'इसमें प्राणियों की उत्पत्ति एवं विनाश का विचार किया गया है' कहा है। 'यत्र' में निमित्त सप्तमी मानने पर उपर्युक्त वाक्य कहे नहीं जा सकते।

(१) स्यादेतत्-यत् परमर्षिणा साक्षात्कथितं तच्छ्रद्दधीमहि, यत्पुनरीश्वरकृष्णेन कथितं तत्र कुतः श्रद्धा ? इत्यत आह—

एतत्पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ ।
आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन बहुधा कृतं तन्त्रम् ॥७०॥

(२) "एतत्" इति । एतत् पवित्रम् पावनम् दुःखत्रयहेतोः पाप्मनः पुनातीति । "अग्र्यम्" सर्वेभ्यः पवित्रेभ्यो मुख्यम् । (३) मुनिः कपिल आसुरयेऽनुकम्पया प्रददौ, आसुरिरपि पञ्चशिखाय, तेन बहुधा कृतं तन्त्रम् ॥ ७० ॥

---

(१) पूर्वोक्त परम्परा मान लेने पर भी यह शंका उठती है कि साक्षात् परमर्षि कपिल के द्वारा कहे गए शास्त्र में भले ही हम श्रद्धा करें, परन्तु ईश्वरकृष्ण द्वारा प्रणीत शास्त्र में हम क्यों श्रद्धा करें ? इसके उत्तर में कारिकाकार कहते हैं—

मुनि कपिल ने अनुकम्पापूर्वक आसुरि को इस पवित्रताकारक तथा श्रेष्ठ ज्ञान दिया था; आसुरि ने पञ्चशिख को (यह ज्ञान) दिया और उन्होंने इस तन्त्र का नाना प्रकार से प्रतिपादन किया ॥७०॥

(२) यह 'पवित्र' पावन है अर्थात् दुःखत्रय के कारण-भूत पाप (अर्थात् अविद्या) को दूर कर (साधक को) पवित्र करने वाला है । यह ज्ञान 'अग्रच' अर्थात् सभी पवित्रों में श्रेष्ठ है । मुनि कपिल ने अनुकम्पा कर आसुरि को यह ज्ञान दिया तथा आसुरि ने पञ्चशिख को दिया और पञ्चशिख ने इस तन्त्र (शास्त्र) का बहुधा प्रवचन किया ॥७०॥

७०वीं कारिका की व्याख्या

इस कारिका के चतुर्थ चरण का बहुल प्रचलित पाठ यद्यपि 'तेन च' है, पर यह भ्रष्ट है—'तेन' ही होगा; 'आसुरिरपि पञ्चशिखा' । 'य तेन बहुधा कृतं तन्त्रम्' (दो चरणों मे यथाक्रम १२,१५ मात्राएँ होंगी)। 'च' का कोई सार्थक्य भी नहीं है और न किसी व्याख्याकार ने 'च' की कोई व्याख्या ही की है । खेद है कि सम्पादकों ने इस मात्राभङ्ग पर कोई ध्यान नहीं दिया । यह आश्चर्य है कि उदासीन जी कृत संस्करण में 'च'–रहित ही पाठ है, पर जिन सम्पादकों ने उदासीनकृत टीका का प्रचुर उपयोग किया है, वे 'तेन च' ही पढ़ते हैं ।[1]

---

१. 'तेन च' पाठ कई संस्करणों में है—महामहोपाध्याय पञ्चाननतर्करत्नकृत पूर्णिमाटीकायुक्त संस्क० डा० आद्याप्रसाद का संस्क०; डा० मुसलगाँवकरकृत संस्क०; गुरुप्रसादशास्त्रिकृत संस्क०; S. S. Suryanarayana Sastri का संस्क०; C. Kunhan Raja का संस्क०; युक्तिदीपिका सहित संस्क०; Radhanath Phukan का संस्क०; Dr. Ganganath Gha का संस्क०, आदि ।

इस कारिका में परमर्षि कपिल को लिये जो 'प्रददौ' क्रिया कही गई है और पञ्चशिख के लिये जो 'तेन कृतम्' कहा गया है, वह साभिप्राय है। हमारी परम्परागत मान्यता यह है कि परमर्षि कपिल ने निर्माणचित्त पर अधिष्ठित होकर सांख्यज्ञान आसुरि को दिया था (१।२५ व्यासभाष्यधृत पञ्चशिख के एतद्विषयक ऐतिहासिक वाक्य में भी 'प्रोवाच' पद है)। जो ज्ञान-प्रदान-पद्धति निर्माणचित्ताश्रित है, वह पद्धति कैसी होगी—यह निर्माणचित्त की प्रकृति को समझने से स्पष्ट होगा। यह निर्माणचित्त मन्त्र आदि द्वारा अभिनिर्वृत्त नहीं है, बल्कि ध्यानज है; अतएव इस चित्त की शक्तिमत्ता कैसी और कितनी है—यह सहजतया समझ में आ सकती है। ब्रह्मचर्यादि का दृढ़तम पालन करने से ज्ञानाधान करने की शक्ति इतनी बढ़ जाती है कि मनीषी श्रोता अभिभूत होकर उपदेष्टा की बातों को सुनता है और वाक्य के विषयीभूत अर्थ पर निस्संशय हो जाता है। जब साधारण तप से ज्ञानाधान-शक्ति इतनी बलशाली हो जाती है तब ध्यानज निर्माणचित्त की शक्ति कितनी अधिक होगी—यह समझकर परमर्षि की उपदेशक्रिया की प्रकृति को समझना चाहिये।

हमारा परम्परागत मत यह है कि कपिल ने अपनी चिन्ताओं को साक्षाद्रूप से आसुरि[1] के चित्त में आहित किया था—वाक्यप्रयोग करने की कुछ भी आवश्यकता नहीं हुई थी। एक चित्तस्थित चिन्ताओं को अन्य चित्त में इस प्रकार आहित (वाक्य के माध्यम के विना) किया जा सकता है—इसपर संशय करना मानस स्वभाव के विषय में अपनी अज्ञता का प्रदर्शन करना है। उपर्युक्त 'प्रोवाच' पद में वच धातु है; पर इतने मात्र से यह नहीं सिद्ध होता है कि कपिल ने वाक्यप्रयोग-पूर्वक आसुरि को ज्ञान प्रदान किया था।

---

१. गजानन शास्त्रीजी कहते हैं—असुरः=कपिलः (अस्यति क्षिपति पापानि तत्त्वज्ञानेन इति); तस्य शिष्यः आसुरिः। शिष्य या अन्तेवासी के अर्थ में इञ् प्रत्यय अननुशिष्ट है। लक्षणा के बल पर या अन्य किसी उपाय से यदि ऐसी व्युत्पत्ति करना कथंचित् सिद्ध हो तो भी यह दृष्टि परम्परा द्वारा असमर्थित ही मानी जायेगी। 'तत्त्वज्ञान द्वारा पापक्षयकारी' इस अर्थ में असुर शब्द अननुशिष्ट है। बोधायन धर्मसूत्र में 'प्राह्लादिर्ह वै कपिलो नाम असुर आस' कहा गया है। यह असुर शब्द 'असुर जाति का व्यक्तिविशेष' इस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। पर इससे सांख्यवक्ता परमर्षि कपिल असुर पद के अभिधेय नहीं हो जाते। कभी कभी जातिवाची शब्द से भी इञ् प्रत्यय होता है, जैसे (लोमहर्षण) सूत से सौति शब्द। लोमहर्षण सूत जाति के नहीं थे; लक्षणावृत्ति से पुराणप्रवक्ता लोमहर्षण को सूत कहा जाता था। प्रतीत होता है कि बाद में यह सूत शब्द लोमहर्षण के लिये रूढ़ हो गया था—ऐसा होना स्वाभाविक था। यही कारण है कि अपत्यार्थ में सूत से सौति शब्द निष्पन्न होता है। असुर शब्द कपिल के लिये रूढ़ हो गया था—इसका कोई प्रमाण नहीं है।

आसुरि ने सांख्यशास्त्र पर क्या कार्य किया था—यह अज्ञात है। इतिहास-पुराणादि में इस विषय में जो सामग्री मिलती है, उससे कुछ भी स्फुट धारणा नहीं होती। हमारा निश्चित मत है कि जो व्यक्ति निर्माणचित्तके माध्यम से प्रदेय उपदेश को यथावत् धारण करने की शक्ति रखता है, वह भी परमोच्चकोटि का योगी होगा। ईदृश व्यक्ति के द्वारा विपुल परिमाण में उपदेशादि देना संभव नहीं होता। ईदृश व्यक्ति के उपदेश में अर्थ की जो सूक्ष्मता रहती है, उतनी सूक्ष्मता को ग्रहण करने में समर्थ अधिकारी दुर्लभ ही होते हैं। 'प्रददौ' यह क्रिया आसुरि से भी संबन्धित है (आसुरिः पञ्चशिखाय प्रददौ), अतः प्रतीत होता है कि आसुरि का भी कोई ग्रन्थनिर्माणरूप कार्य नहीं था, यदि था भी तो अत्यल्प मात्रा में ही था।[1]

आसुरि के विषय में माठरवृत्ति से 'आसुरिसगोत्रं ब्राह्मणविशेषम्' वाक्य है (पृ० २)। डा० आद्याप्रसाद का कहना है कि 'आसुरिसगोत्र' शब्द में सगोत्र शब्द है—'समानं गोत्रं यस्य सः' अर्थ में; अतः इस वाक्य का अर्थ होगा—'आसुरि का जो गोत्र है, उस गोत्र से युक्त किसी ब्राह्मणविशेष को कपिल ने ज्ञान दिया (सांख्यदर्शन का इतिहास, पृ० ११७)। डा० आद्याप्रसाद जी का यह विचार स्मृतिशास्त्रीय परम्परा द्वारा समर्थित नहीं है। जिसका गोत्र आसुरि है, उसे 'आसुरि-सगोत्र' कहा जाता है।[2]

'आसुरिरपि पञ्चशिखाय' में यतिदोष है यह उदासीनकृत टीका (वस्तुतः यह विचार पं० रामावतारशर्मा जी का है, जो इस टीका के अन्तिमांश के पूर्तिकर्ता हैं) में कहा गया है। छन्द में यति न मानने का भी एक पक्ष है—पर हमारे अनुसार यह एकदेशी मत है।

---

१. 'तथा चासुरिः' कहकर आसुरि का एक वाक्य षड्दर्शनसमुच्चय की गुणरत्नसूरिकृत टीका में उद्धृत है (पृ० १०४)। हमारे अनुसार यहाँ पाठ भ्रष्ट है; पाठ होगा—'तथा च सूरिः'। सूरि-उपाधि-युक्त किसी जैन विद्वान् ने सांख्यीय भोगविषयक इस कारिका की रचना की थी—यह हम समझते हैं।

२. आजकल ब्राह्मणगण यह प्रायः भूल गये हैं कि गोत्रोल्लेख में यदि ईदृश प्रयोग किया जाये तो 'स' जोड़कर कहना पड़ता है। मेरा गोत्र गार्ग्य है, मैं 'गोत्रेण गार्ग्यः' कह सकता हूँ 'गार्ग्यसगोत्रोऽहम्' भी कहा जा सकता है; पर गार्ग्यसगोत्र का यह अर्थ नहीं है कि गार्ग्य नामक व्यक्ति का जो गोत्र है, वह गोत्र जिसका है, वह व्यक्ति। यह भ्रम दूरीकरणीय है।

द्र० In modern times the Brāhmaṇas have nearly forgotton their śākhā or sabrahmacariship, and if they remember their gotra they do not know that they have to add स to it when mentioning it along with their name (C. V. Vaidya : The Pristine History of the Rajputs. P. 175).

'पञ्चशिख ने तन्त्र को बहुधा किया'—इसका तात्पर्य यह है कि परमर्षिप्रोक्त ज्ञान को (जो उनको आसुरि से मिला था) उन्होंने विषयानुसार बाँटकर (विस्तार के साथ) विशदीकृत किया। बहुधा=बहुप्रकारेण; जैसे 'चतुर्धा गच्छति'='चतुष्प्रकारा गमनक्रिया' है, तथैव बहुधा कृतम्=तन्त्र-करण रूप क्रिया जो बहु प्रकार से की गई है। मूल ज्ञान को विषयानुसार बांटकर प्रत्येक विभाग की सविस्तार व्याख्या करने के अतिरिक्त यह बहुधाकरण और क्या हो सकता है ? ज्ञानवैशद्यार्थ शास्त्र के विषयों का विभागपूर्वक प्रतिपादन करना पूर्वाचार्यों की एक मान्य पद्धति है।

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि पञ्चविंशति तत्त्वों में ही सभी बाह्याभ्यन्तर पदार्थों का सर्वप्रथम विश्लेषण लोकविज्ञात रीति से भगवान् पञ्चशिख ने किया था; तथैव अव्यक्त-पुरुष आदि पदार्थों की सिद्धि के लिये लौकिक युक्तियों का व्यवस्थित प्रयोग इन्होंने ही किया था ॥७०॥

शिष्यपरम्परयाऽऽगतमीश्वरकृष्णेन चैतदार्याभिः ।
संक्षिप्तमार्यमतिना सम्यग्विज्ञाय सिद्धान्तम् ॥७१॥

(१) "शिष्ये"ति। आराद् याता तत्त्वेभ्य इत्यार्या, आर्या मतिर्यस्य सोऽयमार्यमतिरिति ॥ ७१ ॥

आर्यमति (तत्त्वज्ञानी) ईश्वरकृष्ण ने सांख्यसिद्धान्त को सम्यक् जानकर शिष्य-परम्परा से आये हुए इस तन्त्र को आर्या छन्दों में संक्षिप्त (=अल्पावयवत्व में सम्यक् सज्जीकृत) किया ॥७१॥

(१) 'आर्यमति' शब्दान्तर्गत 'आर्या' का अर्थ है—तत्त्वों के समीप गई हुई (अर्थात् तत्त्वज्ञानवती); जिसकी मति एतादृश तत्त्वज्ञानवती है, वह पुरुष आर्यमति कहलाता है ॥७१॥

७१वीं कारिका की व्याख्या

कारिका की टीकाओं में इस शिष्यपरम्परा के कुछ उदाहरण मिलते हैं। ईदृश परम्पराओं को केवल इस रूप से माना जा सकता है कि उनमें प्राचीन सांख्याचार्यों के नामों का स्मरण है। इन नामों में जो क्रम है, वह क्रम भी पूर्णतः कालक्रमानुसार है, ऐसा सोचना आवश्यक नहीं है। ऐतिहासिक कालक्रम के ज्ञान को (विशेषतः अध्यात्मविद्या से संबद्ध) इतनी सूक्ष्मता से सुरक्षित रखने की कोई प्रवणता हमारे पूर्वाचार्यों में दृष्ट नहीं होती। अनेक संवादों के आधार पर यह निश्चित होता है कि

कपिल-आसुरि-पञ्चशिख रूप क्रम ही ऐतिहासिक क्रम है; अन्य आचार्यों का काल-क्रम प्रबल ऐतिह्य द्वारा सिद्ध होने पर ही सर्वथा विश्वसनीय हो सकता है।

इस ग्रन्थ के आर्याछिन्दस्क श्लोकों में कहीं कहीं पाठभ्रष्टता दिखाई पड़ती है, यह हमने स्थान-स्थान पर दिखाया है। आर्याछन्द भरतनाट्यशास्त्र सदृश प्राचीन ग्रन्थ में प्रयुक्त हुआ है। यज्ञीययूप से सम्बन्धित एक आर्याछन्दोबद्ध श्लोक शाबरभाष्य (४।४।२४) में है।

कारिका का 'एतत् संक्षिप्तम्' वाक्य ध्यान देने योग्य है। मुख्यतः पञ्चशिख के ग्रन्थ का और गौणतः वार्षगण्य आदि के ग्रन्थों का यह मतसंक्षेप है; अर्थात् इन ग्रन्थों में दी गई युक्तियों का उल्लेखमात्र इस ग्रन्थ में प्रधानतः किया गया है; तथा तत्त्व और तत्त्वनिर्मित प्रमेय पदार्थों के गुण-कर्म-स्वरूप-परक विचार इस ग्रन्थ में अत्यल्प हैं; तत्त्वनिर्मित अनेक स्वीकृत पदार्थों का स्पष्ट कथन भी इस ग्रन्थ में नहीं है।

कारिका के शब्दप्रयोगों को देखने पर यह विज्ञात होता है कि **कारिका का स्रोत एकाधिक ग्रन्थ हैं**। हमें यह भी प्रतीत होता है कि कारिकाकार ने पहले यह निश्चय कर लिया था कि ७० कारिकाओं में उनको यह ग्रन्थ लिखना है। इतने अल्प परिसर में सांख्यीय ज्ञान को कहने के लिये उनको अवश्य ही यह सोचना पड़ा था कि किस रूप से किन विषयों का प्रतिपादन किया जाये और किन विषयों का प्रतिपादन न किया जाये। इस ग्रन्थ में युक्तियों का उल्लेख इस रूप में किया गया है कि अनेक अनुक्त रहस्यों का ज्ञान उनसे हो जाता है। आत्मज्ञानसंबन्धी युक्तियों का आविष्कार ही परमर्षि का मुख्य कार्य था—यह हम पहले ही कह चुके हैं।

इस अल्प परिसर में लिखने के कारण ही हमें कारिका की अनेक बातें अस्पष्ट और अपूर्ण प्रतीत होती हैं। परम्परा जीवित रहने पर वाक्यगत अस्पष्टता या विचारगत अपूर्णता हानिकारक नहीं होती। हमें यह स्वीकार करने में कुछ भी संकोच नहीं है कि दीर्घकाल से सांख्यपरम्परा के प्रायः उच्छेद हो जाने के कारण कारिकाकार के संक्षिप्त वाक्यों के तात्पर्य को समझाने में हमें बहुत ही कठिनता होती है।

ईश्वरकृष्ण ने अपना विशेषण में 'आर्यमति' दिया है। इससे यह अनुमान करना कि वे अनार्यवंशीय थे (द्र० अभिनवराजलक्ष्मी टीका) किसी भी न्यायशास्त्रीय नियम से सिद्ध नहीं होता। आर्यशब्द मनुष्यजाति की किसी अवान्तर जाति को लक्ष्य करता है—यह संस्कृतभाषा-साहित्य-इतिहास से सिद्ध नहीं होता, अतः 'आर्य' विशेषण से 'अनार्य' रूप जाति (मानववंशविशेष) में उद्भूत होना ध्वनित होता है—ऐसा सोचना एक उच्छृङ्खल-**तापूर्ण चिन्ता है**। कभी कभी लोग 'अज्ञो विज्ञयशःप्रार्थी गमिष्यत्युपहास्यताम्' उक्ति के अभिनव उदाहरण बन जाते हैं! कभी राजेन्द्रलाल मित्र ने कहा था कि 'ओम्' शब्द हिब्रू

Amen शब्द पर आधृत है। इस मत पर टिप्पणी करते हुये मैक्समूलर ने कहा था कि वे स्वयं ऐसा सोचने में संकोच का अनुभव करते हैं कि ओम् Amen–मूलक है (S.S.I.P., p. 23)। अभिनवराजलक्ष्मी-टीकाकार पूर्वोक्त वाक्य को कोष्ठक में देकर तथा इस मत पर कुछ भी न कहकर क्या सूचित करना चाहते हैं, यह वे ही जाने। ईश्वरकृष्ण के विषय में अन्यान्य बातें ७२वीं कारिका की व्याख्या में द्रष्टव्य हैं ॥७१॥

(१) एतच्च शास्त्रं सकलशास्त्रार्थसूचकत्वात्, न तु प्रकरण मित्याह–

सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य ।
आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चेति ॥७२॥

(२) "सप्तत्यामि"ति। तथा च राजवार्त्तिकम्[1]–

---

(१) यह (कारिकाग्रन्थ) समस्त सांख्यशास्त्रीय विषयों के सूचक होने के कारण शास्त्र है, प्रकरण (अर्थात् निर्दिष्ट कुछ विषयों का ज्ञान कराने वाला ग्रन्थ) नहीं। इस तथ्य को आचार्य कहते हैं—

इस 'सप्तति' (सत्तर कारिकाओं से युक्त ग्रन्थ) में जो विषय निरूपित हुए हैं, वे निश्चित ही समस्त 'षष्टितन्त्र' नामक शास्त्र के ही विषय हैं। (यहाँ) ये विषय आख्यायिका एवं परमतखण्डन को छोड़कर कहे गऐ हैं [अर्थात् षष्टितन्त्र में पदार्थ-प्रतिपादन के साथ साथ उपदेशगर्भ आख्यायिकाएँ एवं परमतखण्डन भी थे, जो इस ग्रन्थ में संगृहीत नहीं हुए हैं] ॥७२॥

(२) सांख्य-प्रतिपाद्य विषयों के विषयमें राजवार्त्तिक' में कहा गया है—(प्रधान-पुरुष) का अस्तित्व, प्रधान का एकत्व, प्रधान की भोगापवर्गरूप अर्थवत्ता, प्रधान से पुरुष की भिन्नता, प्रधान का पारार्थ्य (=अपने से भिन्न पुरुष के लिये होना), पुरुष का अनैक्य (=असंख्य) होना, प्रकृति और पुरुष का वियोग, इन दोनों का संयोग, शेषवृत्ति अर्थात् प्रधान का स्थूल तथा सूक्ष्म रूप से वर्तमान होना एवं पुरुष का अकर्तृत्व—ये दस विषय मौलिक (=पुरुष-प्रकृति रूप मूलतत्त्वसम्बन्धी) हैं। पाँच प्रकार के विपर्यय (अविद्या), नौ प्रकार की तुष्टियाँ, करणों (=इन्द्रियों) की अट्ठाईस प्रकार की अशक्तियाँ तथा आठ प्रकार की सिद्धियाँ—ये ५० तथा पूर्वोक्त १० पदार्थ मिलकर ६० पदार्थ होते हैं।

---

१. सांख्यकारिकामूलकः कश्चिद् वार्त्तिकग्रन्थोऽयम्; राजशब्दः श्रैष्ठ्यसूचक इति। वार्त्तिकग्रन्थोऽयं गद्यपद्यमयः सूत्रबद्धवाक्यमयश्च विज्ञायते। सूत्रबद्धवाक्येषु सौत्रपदानामनुवृत्ति रपि दृश्यते, यथा कात्यायनीयवार्त्तिकेषु। इमं वार्त्तिकग्रन्थ माश्रित्य युक्तिदीपिका प्रणीता; युक्तिदीपिकामङ्गलाचरणश्लोकगता इमे श्लोका वार्त्तिकग्रन्थत आहृताः। काललुप्तोऽयं ग्रन्थः।

प्रधानास्तित्वमेकत्वमर्थवत्त्वमथान्यता ।
पारार्थ्यं च तथाऽनैक्यं वियोगो योग एव च ॥
शेषवृत्तिरकर्तृत्वं मौलिकार्थाः स्मृता दश ।
विपर्ययः पञ्चविधस्तथोक्ता नव तुष्टयः ॥
करणानामसामर्थ्यमष्टाविंशतिधा स्मृतम् ।
इति षष्टिः पदार्थानामष्टाभिः सह सिद्धिभिः ॥

(३) सेयं षष्टिपदार्थी कथितेति सकलशास्त्रकथनान्नेदं प्रकरणमपि तु शास्त्रमेवेदमिति ।

(४) एकत्वमर्थवत्त्वं पारार्थ्यं च प्रधानमधिकृत्योक्तम् । अन्यत्वमकर्तृत्वं वहुत्वं चेति पुरुषमधिकृत्य। अस्तित्वं योगो वियोगश्चेत्युभयमधिकृत्य। (५) वृत्तिः[1] स्थितिरिति स्थूलसूक्ष्ममधिकृत्य ॥ ७२ ॥

मनांसि कुमुदानीव बोधयन्ती सतां मुदे[2] ।
श्रीवाचस्पतिमिश्राणां कृतिस्तात्तत्त्वकौमुदी ॥

इति[3] श्रीवाचस्पतिमिश्रकृता साङ्ख्यतत्त्वकौमुदी समाप्ता ॥

---

(३) इस ग्रन्थ में ये साठ पदार्थ उक्त हुए हैं, अतः सांख्यशास्त्र के समस्त प्रमेयों का निरूपण करने के कारण यह ग्रन्थ शास्त्र ही है, प्रकरण नहीं—यह सिद्ध है ।

(४) राजवार्त्तिकगत एकत्व, अर्थवत्ता और परार्थत्व प्रधान के विषय में हैं; अन्यत्व, कर्तृत्व तथा अनेकता पुरुष के विषय में हैं, अस्तित्व, वियोग तथा योग—दोनों तत्त्वों के विषय में हैं; (५) शेषवृत्तिशब्दगत वृत्ति' का अर्थ है—स्थिति या वर्तमानता जो शेष (=प्रधान-पुरुष से अन्य) के स्थूल और सूक्ष्म अवस्थाओं के विषय में कहीं गई है ॥ ७२ ॥

जिस प्रकार कौमुदी (=चन्द्रिका) कुमुदों को विकसित करती है, उसी प्रकार श्रीवाचस्पतिमिश्रविरचित यह 'तत्त्वकौमुदी' सज्जनों के मन को विकसित करती हुई आनन्द के लिये विराजमान रहे ॥

श्री रामशंकर भट्टाचार्यकृत 'तत्त्वकौमुदी'-भाषाटीका समाप्त ।

---

१. क्वचिद् वृत्तिपदं न पठ्यते इति पूर्णिमाकारः ।

२. मुदा (पाठा०); रुदेति पाठोऽर्वाचीनैः कल्पितः ।

३. इत्यखिलतन्त्रापरतन्त्रप्रतिभद्वादशदर्शनटीकाकृत् (पाठा०) । षड्दर्शनटीकाकृद् वाचस्पतिमिश्रविरचिता (पाठा०) ।

७२वीं कारिका की व्याख्या

हमारे अनुसार ग्रन्थ के अन्तिम अंश का मूल पाठ है—परवादविवर्जिताश्चेति (चापि नहीं); इति पद ग्रन्थसमाप्तिद्योतनार्थ है। वाचस्पति के अनुसार कौन पाठ मौलिक है, इसका निर्धारण नहीं हो सकता। हाँ, जो 'अपि' पद को वाचस्पतिसंमत मूल पाठ समझते हैं—वे इसके लिये कोई प्रमाण नहीं दे सकते। वाचस्पति ने न प्रतीक के रूप में 'अपि' को पढ़ा है और न 'अपि' की व्याख्या ही की है। प्रतीत होता है कि 'नेदं प्रकाणमपि तु शास्त्रम्' इस तत्त्वकौमुदी के वाक्य से किसी अज्ञ लिपिकर को यह भ्रम हुआ होगा कि कारिका में भी 'अपि' पद है, और वह गत्यन्तराभाव से 'अपि' को कारिका के अन्तिम पद के रूप में ही समझा। माठरवृत्ति के अनुसार 'इति' ही अन्तिम पद है। जो 'अपि' पाठ को रखते हैं, वे इसका सार्थक्य दिखाने में असमर्थ होते हैं। हिन्दी-अनुवादकारियों ने भी 'अपि' का अनुवाद नहीं किया, यद्यपि उन्होंने 'अपि' को मूलपाठ के रूप में रख दिया है। कारिका के प्रत्येक पद की व्याख्या करने वाली सारबोधिनी टीका भी कारिकाशब्द-व्याख्यान के समय 'अपि' पद को छोड़ दिया है, यद्यपि मूल पाठ में 'अपि' ही रखा गया है। डा० गजानन शास्त्री जी भी कारिका के भावार्थ में 'अपि' का कोई स्वारस्य नहीं दिखाया; हाँ, उन्होंने कारिका में अपठित 'किल' पद को अन्वय में जोड़ दिया है। डा० ब्रजमोहन चतुर्वेदी के अनुसार कारिका के पदों का अन्वय यह है—"ते [अर्थाः] आख्यायिकाविरहिताः अपि च परवादविर्जिताः"। कोई भी देख सकता है कि इस रूप से कहने पर भी 'अपि' का कोई सार्थक्य सिद्ध नहीं होता—'च' से ही उद्देश्य सिद्ध हो जाता है। प्रतीत होता है कि डा० ब्रजमोहन 'और भी' इस अर्थ के लिये 'अपि च' का उपयोग करना चाहते हैं, और इसलिये वे कारिकागत 'च अपि' को 'अपि च' के रूप में पढ़ते हैं। डा० ब्रजमोहन की यह चेष्टा अशास्त्रीय है।। 'अपि च' का जो अर्थ है, वह 'अपि च' इस संघात (अपि के बाद च का पाठ रूप संघात) में है, न कि 'च अपि' रूप संघात में है (कारिका में 'च अपि' रूप पाठ है—उनके अनुसार)। जिस प्रकार 'तथाहि', 'प्रत्युत' 'खल्वपि' के जो अर्थ होते हैं, वे हितथा, उतप्रति, अपिखलु रूप शब्दों के नहीं होते, पर उस संघात के ही होते हैं, इस प्रकार 'अपि च' का अर्थ 'च अपि' का नहीं होता—यह ज्ञातव्य है। संघात का अर्थ संघात के परिवर्तित रूप का नहीं होता (संघात समस्त पद नहीं है)—यह ज्ञातव्य है। छन्द मिलाने के लिये कारिकाकार ने ऐसा पाठ रखा है-यह कहना व्यर्थ है। मूल पाठ 'च अपि' है—यही अभी साध्य है; अतः 'च अपि' को मूल पाठ मानकर छन्द मिलाने की बात सोचना असंगत है।

आख्यायिका के विषय में हमें यह कहना है कि प्राचीन सांख्याचार्यों द्वारा भावित इन आख्यायिकाओं के कुछ उदाहरण प्रचलित सांख्यसूत्र (अ० ४) में सुरक्षित हैं। ये आख्यायिकाएँ इतिहास-पुराणादि में भी मिलती हैं।

वाचस्पति ने आख्यायिका के स्वरूप के विषय में कुछ नहीं कहा। सांख्यसूत्र के चतुर्थाध्याय को देखने से ज्ञात होता है कि परम्परागत कहानियाँ (ऐतिहासिक घटना पर अल्पाधिक मात्रा में आवृत) 'आख्यायिका'-पदवाच्य हैं। इस अध्याय में कुछ ऐसे भी उदाहरण हैं, जो ऐतिहासिक नहीं हैं; द्र० श्येनवत् (श्येनपक्षी का उदाहरण ४।५), षट्पदवत् (भ्रमर का उदाहरण ४।१३) आदि। यदि ये भी आख्यायिकाएँ हैं तो आख्यायिका का स्वरूप पूर्वोक्त प्रकार का नहीं होगा। यह भी हो सकता है (और हमारी दृष्टि में ऐसा होना ही अधिकतर संभव है) कि षट्पदवत् आदि सांख्याचार्य–भाषित आख्यायिकाएँ नहीं हैं; पुराणादि में उक्त घटनाएँ आख्यायिकाएँ हैं। सांख्यसूत्रकार ने सादृश्य के आधार पर श्येन आदि का उल्लेख इस अध्याय में कर दिया है। षट्पद आदि वस्तुतः उपमाएँ हैं; उपमा के लिये आख्यायिका का प्रयोग पूर्वाचार्यों ने किया है—यह प्रतीत नहीं होता। आख्यायिका=ऋषि आदियों के वंशचरितादि की कथाएँ—ऐसा डा० गजानन शास्त्री का मत है। जान पड़ता है कि पुराणोक्त वंश-वंश्यानुचरित पर दृष्टि रखकर यह कहा गया है। आख्यायिका के अर्थ में ईदृश संकोच करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

सतति परवाद-विवर्जित है—इसकी ध्वनि यह है कि प्राचीन सांख्याचार्यों के ग्रन्थों में परमतों का खण्डन था। यदि कारिकोक्त षष्टितन्त्र शब्द ग्रन्थविशेष का नाम है तब तो यही कहना होगा कि इस ग्रन्थ में (जो कारिका का मुख्य आधार है) परवाद-खण्डन प्रचुर मात्रा में था। पञ्चशिखरचित षष्टितन्त्र ग्रन्थ में परवाद का खण्डन कैसा था, या नहीं ही था—इस विषय में ग्रन्थाभाव के कारण हम कुछ भी कहने में असमर्थ हैं।

हम यह अधिक युक्त समझते हैं कि ७० कारिकागत 'बहुधा कृतं तन्त्रम्' वाक्य पञ्चशिख के प्रयत्न (उपदेश करना) के स्वरूप मात्र को दिखाता है। सांख्यविद्या (जो शायद तन्त्रपदवाच्य थी) का उपबृंहण पञ्चशिख के द्वारा आरब्ध हुआ था(आसुरि ने ईदृश कोई कार्य नहीं किया)—इतना ही इस वाक्यांश का तात्पर्य है। यह निश्चित है कि पञ्चशिख के उपदेश सुसंहत रूप से सज्जीकृत थे।

प्रस्तुत कारिका में जो षष्टितन्त्र शब्द है वह किसी ग्रन्थविशेष का नाम है—यह हम नहीं मानते, क्योंकि ऐसा होने पर 'कृत्स्नस्य' यह विशेषण निरर्थक हो जाता है। जब पूर्वकारिका (७१) में कारिकाकार ने कहा है कि उन्होंने 'एतत्' (अर्थात् 'पुरुषार्थ-ज्ञान' जो परमर्षिभाषित था और जिसको मुनि ने आसुरि को दिया था, द्र० ६९-७० कारिका) को—जो शिष्यपरम्परागत है—संक्षिप्त किया है (का० ७१), तब पुनः इस कथन का क्या स्वारस्य होता है कि प्रस्तुत सांख्यकारिका-नामक ग्रन्थ में जितने अर्थ(= प्रतिपाद्य विषय) हैं, वे 'कृत्स्नस्य षष्टितन्त्र-नामक-ग्रन्थ-विशेषस्य' हैं? हमारी दृष्टि

में 'कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य' की ध्वनि यह है कि कारिकाकार से बहुत पहले ही सांख्यीय प्रमेयों (तत्त्व तथा तत्त्वनिर्मित वस्तु) को साठ विभागों में विभक्त कर उन पर विचार करनेवाले ग्रन्थ रचित हो गये थे। सांख्यविद्या के इस षष्टि-अवयव-विशिष्ट रूप पर ही ईश्वरकृष्ण का लक्ष्य है—किसी एक ग्रन्थविशेष पर नहीं। षष्टितन्त्र यह शब्द ग्रन्थकार-प्रदत्त कोई ग्रन्थनाम नहीं है, यद्यपि यह हो सकता है कि सांख्यविषयक ग्रन्थ (चाहे संख्या में एक हो या एकाधिक हों) का व्यवहार षष्टितन्त्र-नाम से चलता था।

हम समझते हैं कि कभी इस देश में ऐसा काल था जब ग्रन्थकार स्वरचित ग्रन्थ का कोई कृत्रिम नाम (मेघदूत, रघुवंश आदि की तरह) नहीं देते थे। व्यवहार में अव्यवस्था और संशय न हो इसलिये अध्येतृगण ग्रन्थविशेष का उल्लेख (उसकी रचना-प्रकृति के अनुसार) कोई नाम देकर ही करते थे। अष्टाध्यायी, पञ्चाध्यायी दशाध्यायी शतसाहस्री-संहिता, सप्तशती आदि 'नाम' ग्रन्थकार द्वारा ही प्रदत्त नहीं हैं। ये ग्रन्थ-रचना-संबन्धी-विभाग-प्रदर्शक अथवा ग्रन्थ-परिमाण-प्रदर्शक हैं। प्रतिपाद्य विषय की संख्या के अनुसार ग्रन्थनाम प्रचलित हो गया हो—ऐसा उदाहरण नहीं मिलता। यही कारण है कि हम षष्टितन्त्र शब्द को ग्रन्थनाम-ज्ञापक शब्द नहीं समझते, बल्कि 'सांख्यशास्त्र'-परक ही समझते हैं, जिसमें पदार्थों को साठ भागों में विभक्त कर विचार किया गया था (यह विभाग शास्त्र के आदिम प्रवक्ता द्वारा ही किया गया था, यह आवश्यक नहीं है; बाद में किसी प्रतिभावान् आचार्य द्वारा भी ईदृश विभाग किया जा सकता है और उसके बाद शास्त्र का नया नाम व्यवहार में प्ररूढ़ हो जा सकता है।[1]

इस सप्ततिग्रन्थ के श्लोकपरिमाण पर कुछ कहना आवश्यक है। अधिकांश टीकाकारों के अनुसार कारिकाओं की प्राप्त संख्या ७२ है।[2] इससे कुछ विद्वान् 'सप्तति' नाम

१. ग्रन्थनामविषयक इस मत के सविस्तार प्रतिपादन के लिए मेरा प्रकाश्यमान An Introduction to the Yogasutra द्रष्टव्य है।

२. युक्तिदीपिका में ७२वीं कारिका (सप्तत्यां··) की व्याख्या नहीं है—ऐसा कोई कोई कहते हैं। हमारा कहना है कि युक्तिदीपिका में ७१-७२ कारिकाओं की टीका एक साथ की गई है। युक्तिदीपिका का 'नचास्य मूलकनकपिण्डस्य व स्वल्पमपि दोषजातमस्ति' यह वाक्य प्रस्तुत कारिका को लक्ष्य करता है। जिस प्रकार मूल कनकपिण्ड उस पदार्थ से शून्य है, जिसको स्वर्ण में मिलाकर अलंकार बनाया जाता है (यह पदार्थ सुवर्ण की तुलना में निकृष्ट है, अतः अलंकार सदोष सुवर्ण ही है) उसी प्रकार आख्यायिका और परवादरूप अनावश्यक या बहिरंग विषय से शून्य होने के कारण यह सप्तति अत्यन्त शुद्ध है, अर्थात् मूल सांख्य-ज्ञान मात्र की प्रकाशक है। वस्तुतः आख्यायिका और परवादखण्डन से तत्त्वों की उपलब्धि में कोई अन्तरंग सहायता नहीं होती, भले ही बाह्य दृष्टि से समझने में कुछ सौकर्य हो।

'तस्मात् समासदृष्टं···बिम्बम्' रूप एक कारिका ७३वीं कारिका के रूप में माठरवृत्ति में व्याख्यात हुई है। हमारी दृष्टि में यह सप्ततिग्रन्थ के अन्तर्गत नहीं है। हमारी दृष्टि में

के स्वारस्य पर संशय प्रकट करते हैं। पर यह संशय व्यर्थ है, क्योंकि **ग्रन्थ-परिमाण-परक संख्यानिर्देश प्रायेण आसन्न होता है।** निरुक्तसमुच्चय में १०४ मन्त्र हैं, पर "१०० मन्त्रों की यह व्याख्या है" ऐसा ग्रन्थकार ने ही कहा है (व्याख्यातमृचां शतम्, पृ० ९७)। ५१ के लिए ५० का व्यवहार हो सकता है--यह ललितासहस्रनामभाष्य (पृ० १६८) में दिखाया गया है। कूर्मपुराण में देवी के १००८ नाम हैं, पर 'नाम्नां सहस्रेण' कहा गया है (१।१२।१९६)[1]। परमार्थसार, आर्यासप्तशती आदि ग्रंथों के नामों में भी संख्या का ऐसा आसन्नप्रयोग दृष्ट होता है।[2] ग्रंथ-परिमाण-ज्ञापक संख्या के द्वारा ग्रन्थों का नामकरण किस नियम के अनुसार किया जाता था, यह हमें पूर्णतया ज्ञात नहीं है, अतः सप्ततिग्रंथ में ७० से अधिक कारिकाओं को देखकर कुछ भी निर्णय नहीं करना चाहिये।

कोई भी यह देख सकता है कि वस्तुतः सांख्यीय विषयों का प्रतिपादन ७० तम कारिका में समाप्त हो जाता है, क्योंकि प्रमेय, प्रमाण और मूल प्रवक्तृत्रय का उल्लेख ७० तम कारिका पर्यन्त ही है जैसा कि 'आर्याभिः' (७१ का०) पद की व्याख्या में

७२वीं कारिका अवश्य ही अन्तिम कारिका है (अन्त में 'इति' पद का पाठ होने के कारण)। युक्तिदीपिका के १३-१४ मङ्गलाचरण श्लोकों के साथ इसका सादृश्य देखना चाहिये। कई ग्रन्थलेखक 'तन्त्रस्य च बृहन्मूर्तेः' पढ़ते हैं (तृतीय चरण में)--इसमें मात्राधिक्य होता है। सांख्यकारिका पर विग्रहराजभट्टकृत टीका में भी यह कारिका है (इसका हस्तलेख महाराज कश्मीर के व्यक्तिगत हस्तलेखसंग्रह में है)।

१. यह ज्ञातव्य है कि कूर्मपुराण में 'नाम्नाम् अष्टसहस्रेण' (१।१२।६०) की प्रतिज्ञा पहले की गई है (अष्ट सहस्र=८+१०००=१००८), तथापि उपसंहार में 'नाम्नां सहस्रेण' ही कहा गया है। परिमाणज्ञापक शब्दों का प्रयोग कितने श्लथ रूप से किया जाता था—इसका यह उदाहरण है। प्रसंगत यह ज्ञातव्य है कि Winternitz ने H. I. L. में कूर्मपुराण के 'अष्टसहस्रेण' शब्द का अर्थ किया है—Eight thousand (आठ हजार) (द्र० Vol.I, part II p. 503)। सामान्यतया अष्टसहस्रम् का अर्थ 'अष्ट च सहस्रं च' ही होता है।

२. संख्या शब्दों के ईदृश आसन्न प्रयोगों के १० उदाहरण डा० मुसलगाँवकर जी ने दिये हैं (भूमिका, पृ० ५६)। ललितासहस्रनाम-भाष्यकार का वचन आवश्यक होने के कारण यहाँ उद्धृत किया जा रह है-पञ्चाशच् शब्दोऽयं प्रकृते लक्षणयैकपञ्चाशत्परः, सान्निध्यरूपशक्यसम्बन्धात्। अतएव 'नित्यानन्द-वपुर्निरन्तरगलत्-पञ्चाशदर्णैः क्रमात्' इति शारदातिलकश्लोके पञ्चाशत्पदमेकपञ्चाशत्-परतयैव व्याख्यातं हर्षदीक्षितैः। प्रायेण दशत्रिंशत्यादिदशकशब्दानां शतसहस्रादिशब्दानां च एकद्वित्रि-न्यूनाधिकभावे बहुत्वमात्रविवक्षया च लोके प्रयोगः प्रचुरं दृश्यते···किं बहुना द्वात्रिंशच्-छब्दोऽपि पञ्चत्रिंशद्व्यञ्जनेपु सूतसंहितायां प्रयुक्तः पूर्वं दर्शितः। तदिह···पञ्चाशन्मातृकेति व्यवहारेऽपि एकपञ्चाशत् परतैव तस्य वक्तव्या।··· एकपञ्चाशतो न्यासमुक्त्वा तदन्ते पञ्चाशद् वर्णरूपेयम्···प्रयोगाश्चोपपद्यन्ते (ललिता० पृ०१६८)।

जयमङ्गला में कहा गया है—"आर्याभिरिति सप्तत्येत्यर्थः। 'दुःखत्रयाभिघातात्' 'एतत् पवित्रम्' इति सप्तत्याऽभिहितम्"। ७१-७२ में ग्रन्थकार और ग्रन्थ का परिचय मिलता है, अतः ये दो श्लोक मूल विषयों में नहीं आते (यद्यपि ये श्लोक ग्रन्थकार-कृत ही हैं)। इस प्रकार 'सप्तति' संज्ञा[1] का स्वारस्य (सप्तत्याख्यं प्रकरणम्—युक्तिदी०) बैठ जाता है। ग्रंथनामभूत 'सप्तति' एक संज्ञाशब्द है; संज्ञा के लिए यह आवश्यक नहीं है कि संज्ञी में वस्तुतः ७० कारिकाएँ ही हों। 'पञ्चाम्र' आदि संज्ञाशब्दों में कथित संख्या पदार्थसंख्या से अधिक या न्यून होती है, यह देखा जाता है।

कारिका के गौडपादभाष्य को देखकर कुछ विद्वान् यह कहते हैं कि मूल ग्रंथ ६९ तम कारिका तक ही है, ७२ तम कारिका तक नहीं। मेरी दृष्टि में यह चिन्ता असंगत है। ६९ तम कारिका में 'परमर्षिणा समाख्यातम्' कहा गया है। अतः 'कस्मै आख्यातम्' रूप जिज्ञासा की पूर्ति के लिए ७०वीं कारिका रची गई है। मूल आचार्यों की परम्परा का उल्लेख प्रमाण-प्रमेय उल्लेख की तरह ही आवश्यक होता है, अतः ७०वें श्लोक पर्यन्त मूल-विषय-परक ग्रन्थ है, इसमें संशय नहीं है। (७१-७२ कारिकाद्वय ग्रंथकार-कृत परिशिष्टभूत अंश है)। किंच जिस पञ्चशिखकृत षष्टितन्त्र ग्रंथ के आधार पर यह सप्तति रची गई है, उसके एक वाक्य में 'कपिलकर्तृक आसुरि के प्रति उपदेश दान' कथित हुआ है (द्र० व्यासभा० १।२५)। यही तथ्य ७०वीं कारिका में अनुस्मृत हुआ है। इस प्रकार हम समझते हैं कि सप्ततिसंज्ञा उचित ही है (ग्रन्थ में ७२ कारिकाओं के रहने पर भी)। गौडपाद स्वयं हि 'एताः सप्ततिः' कहते हैं। (अन्तिम मङ्गलाचरण श्लोक)। सभी कारिकाओं की व्याख्या भाष्यकार को करनी ही होगी—ऐसी कोई मर्यादा पूर्वाचार्यों को स्वीकृत नहीं है, अतः अनावश्यक समझकर ६९वीं कारिका के बाद भाष्यकार भाष्य को समाप्त कर ही सकते हैं।

सांख्यसप्तति को ६९वीं कारिका में समाप्त मानकर कल्पना के बल पर एक कारिका की रचना करके (मुख्यतः ६१ कारिकोक्त गौडपाद भाष्य के आधार पर) श्री बालगंगाधर तिलक ने सप्तति संख्या की पूर्ति की थी।[2] तिलक-कल्पित यह कारिका निर्मूल है। इस विषय में हमारी युक्तियाँ ये हैं—

---

१. पाणिनि का 'संख्यायाः संज्ञासंघसूत्राध्ययनेषु' (५।१।५८) सूत्र इस प्रसंग में आलोच्य है।

२. Sanskrit Research, vol. I. pp. 107-117; इस ऊहित कारिका की सत्ता के स्वपक्ष-विपक्ष में अनेक विद्वानों ने विचार किया है (सांख्यदर्शन का इतिहास आदि ग्रन्थों में तथा विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित निबन्धों में)। सर्वप्रथम इस विषय में Wilson ने चिन्ता की थी, यद्यपि उन्होंने ईदृश वचनविशेष की रचना करने की चेष्टा नहीं की। 'ब्रुवते' के स्थान पर 'पुरुषं' पाठ हरदत्तशर्मा द्वारा ऊहित है।

तिलककल्पित कारिका यह है—

कारणमीश्वरमेके ब्रुवते कालं परे स्वभावं वा ।
प्रजाः कथं निर्गुणतो व्यक्तः कालः स्वभावश्च ॥

हमारी दृष्टि में यह श्लोक कथमपि सांख्यकारिका के अन्तर्गत नहीं हो सकता, क्योंकि स्वयं कारिकाकार ने प्रतिज्ञा की है कि इस ग्रन्थ में 'परमत का निर्देशपूर्वक खण्डन' नहीं किया जायेगा। कारिकाकारोक्त युक्ति (स्वपक्षसाधनार्थ) से किसी मत का खण्डन अप्रत्यक्ष रूप से भले ही हो जाये, पर परमतनिर्देशपूर्वक खण्डन करने का कोई आग्रह कारिकाकार में नहीं था—यह स्वीकार्य है। प्रस्तुत श्लोक में 'स्वप्रतिज्ञा-विरोध' है, अतः यह कारिका ईश्वरकृष्ण द्वारा रचित नहीं हो सकती।

किंच गौडपाद के जिस भाष्यांश से इस कारिका का निर्माण तिलकजी ने किया है, वह भाष्यांश भी कारिकासद्भाव का निश्चायक हेतु के रूप में कथमपि प्रतिभात नहीं होता (द्र० ६१ भाष्य—केचिदीश्वरं कारणं····· तथा च श्लोके रूढम्)। इस भाष्यांश में इन कारिकागत शब्दों का प्रतीक दृष्ट नहीं होता। किंच यदि यह भाष्यांश किसी कारिका पर आधृत होता तो 'अत्र सांख्याचार्या आहुः' ऐसा बहुवचन में सामान्य निर्देश (कण्ठतः 'कारिकाकार' न कहकर) करने की क्या आवश्यकता थी जब कि कल्पित कारिका में ही हेतु दिया गया है ?

यह भी सोचना चाहिये कि भाष्यान्त में गौडपाद ने 'तथा च श्लोके रूढम्'[1] कहा है। यदि गौडपाद इस स्पष्टार्थक कारिका को देखते तो वे 'रूढ' शब्द का प्रयोग नहीं करते। वस्तुतः भाष्यगत पुरा प्रकरण गौड़पाद का स्वोपज्ञ है। प्रकृति की सर्वोपादानता, सूक्ष्मता आदि को दिखाने के लिए ही गौड़पाद ने ईश्वर, स्वभाव और काल की कारणता की असंगति पर स्वतन्त्ररूप से विचार किया है। 'तत्र सुकुमारतरत्वं वर्णयति' इस पातनिका से मालूम पड़ता है कि भाष्यकार शायद किसी कारिका को लक्ष्य कर रहे हैं। हमें इस पाठ की मौलिकता पर भी संशय है। संभवतः यहाँ 'वर्णयति' का 'प्रतिवादी वर्णयति' ऐसा तात्पर्य समझना होगा।

यह भी सोचना चाहिए कि किसी भी टीका में इस कारिका के विषय का कोई संकेत तक नहीं है। अनेक ग्रंथों में सांख्यकारिका उद्धृत हुई है, पर इस कारिका का उद्धरण कहीं भी नहीं मिलता। किसी ईश्वरभक्त ने इस कारिका का लोप कर दिया—ऐसा भी एक मत (डा० हरदत्त शर्मा का) प्रचलित है। ईदृश बालोचित मतों का

---

१. Dr. Mainkar के संस्करण में 'तथा च श्लोके रूढम्' वाक्य ६२वीं कारिका की पातनिका है। पर भाष्य को वाक्यसरणि से इस वाक्य को पातनिका मानना संगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि इससे पूरे पातनिकावाक्य के अन्तर्गत पदों के अन्वय में बाधा होती है। 'रूढम्' के साथ 'चोदिते' का अन्वय नहीं होता।

खण्डन करने की भी इच्छा नहीं होती। एक प्रकार का ईश्वर है, जो सृष्टिकर्ता नहीं है—इस मत के प्रतिपादक श्लोक को लुप्त करने की इच्छा किसी ईश्वरभक्त को क्यों होगी? यदि इच्छा होती है तो क्या वह ईश्वरभक्त कहला सकता है? सांख्यकारिका में अनेकत्र ईश्वरतापरक ऐसे मत प्रतिपादित हुए हैं जो प्रचलित ईश्वरवाद पर कटु प्रहार ही हैं। उपर्युक्त कारिका तो इस दृष्टि से कोई प्रहार नहीं करती, अतः लोप करने का कोई हेतु नहीं है। [**ईश्वरता का पूर्णाङ्ग विश्लेषण सांख्यकारिका में है।** ईश्वरता का कारण, कार्य, स्वरूप, भेद आदि सब विषय कारिका में दार्शनिक पद्धति से कहे गये हैं, यह ज्ञातव्य है]। क्या तत्काल-प्रचलित सभी प्रतियों से इस कारिका को लुप्त करना सम्भव था?

परमार्थकृत चीनी अनुवाद ग्रन्थ में 'रूपैः सप्तभिरेव....' कारिका (६३) नहीं है—यह कहा जाता है। चीनी अनुवाद ग्रन्थ के आधार पर हम इतना महत्त्वपूर्ण अनुमान नहीं कर सकते। (अन्य एक कारिका का उल्लेख भी चीनी अनुवाद में नहीं है, उस पर भी हमारा यही वक्तव्य है)। **इन चीनी अनुवादग्रन्थों पर बहुमान प्रदर्शन करने का कोई हेतु नहीं है।**

एक कल्पना की जा सकती है कि ७१वाँ श्लोक शायद प्रक्षिप्त है (ग्रन्थकार का परिचय-प्रशंसा-परक होने के कारण)। ऐसा होने पर ७० वाँ श्लोक तक ही ग्रन्थ को पूर्ण मानना चाहिए (७० वें श्लोक में शास्त्र की परम्परा कही गई है; ७२ वाँ श्लोक (जो अब ७१वाँ होगा) ग्रन्थकार कृत परिशिष्ट-भूत (ग्रन्थपरिचयपरक) श्लोक है। चूँकि ग्रन्थकार ही कह सकते हैं कि विरच्यमान या विरचित ग्रन्थ की रचनाशैली क्या है—अतः 'सप्तत्यां किल' श्लोक को ग्रन्थकार द्वारा रचित मानना ही तर्कलाघवतः संगत होता है। किंच इस श्लोक में ग्रन्थ का नाम भी दिया गया है; यह नामकरण ग्रन्थकार का 'स्वाभाविक' कार्य है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि सप्तति के वर्तमान रूप को सप्तति संख्या द्वारा अभिहित किया ही जा सकता है।

प्रसंगतः ज्ञातव्य है कि आर्याछन्दस्क कई सांख्यपरक श्लोक विभिन्न ग्रन्थों में उद्धृत मिलते हैं। मोक्षकारिका की टीका में भट्ट रामकण्ठ ने एक ऐसा श्लोक उद्धृत किया है (संसरति भोग्यभावात् ..)—यह सूचना Dr. Mainkar ने दी है।[1] ललिता-

---

१. संसरति...श्लोक का तृतीय चरण 'स्वात्मना एव न पुंसः' रूप से उद्धृत हुआ है (Introduction, p. 33)। इस पाठ में मात्रा-दोष होता है (१३ मात्राएँ होती हैं) तथा गणदोष भी होता है। क्या 'स्वात्मन एव न पुंसः' पाठ होना चाहिए? मोक्षकारिका ग्रन्थ में क्या पाठ है, यह मैंने नहीं देखा। यदि वहाँ यही पाठ है और कोई पाठान्तर नहीं दिया गया है तो इस पाठ को भ्रष्ट ही समझना चाहिए।

सहस्रनाम-भाष्य में 'तदुक्तं सांख्यसप्तत्याम्' कहकर "सूक्ष्ममलिङ्गमचेतन मनादिनिधनं तथा प्रसवधर्मि। निरवयव मेकमेव हि साधारण मेतदव्यक्तम् ॥' श्लोक उद्धृत किया गया है (पृ० १०५)। चूँकि इन दोनों कारिकाओं के मत सप्तति में शब्दत: और अर्थत: उक्त हुए हैं, अत: ये दो श्लोक सप्तति के अन्तर्गत नहीं हो सकते; अन्तर्गत करने पर पुनरुक्ति-दोष होगा। Dr. Mainkar ने रामकण्ठ-उद्धृत श्लोक के लिए यद्यपि 'does deserve some consideration' कहा है, पर हमारी दृष्टि में ऐसी संभावना वस्तुत: नहीं है।

सांख्यकारिका रूप एक प्राचीन ग्रन्थ की (जो शंकरचार्य से[1] पर्याप्त प्राचीन है तथा जिसका उल्लेख प्राचीन जैन ग्रन्थों में मिलता है) एक-दो कारिकाओं का लुप्त हो जाना कोई बड़ी बात नहीं है। हमने स्वयं ही ज्योतिष्मतीटीका में एक-दो स्थलों पर कारिकालोप की चर्चा की है; पर इस तिलकचिन्तित श्लोक को सप्तति में स्थान देने के लिए कोई हेतु प्रतीत नहीं होता।

सप्तति के रचनाकाल के विषय में कुछ भी निश्चय कर कहना कठिन है। अनुयोगद्वार में कनगसत्तरि का उल्लेख है। अनुयोगद्वार का जो वर्तमान रूप है, वह ईसा से अर्वाचीन है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, अत: यह ग्रन्थ ईसवी पूर्वकाल का है, इतना ही कहा जा सकता है।

सांख्यकारिका के कई वचन शब्दत: और क्रमत: पुराणों में मिलते हैं।[2] यदि इन पुराणांशों का रचनाकाल निश्चित हो तो कारिकाकाल की अवरसीमा का निर्धारण हो सकता है। यह नहीं कहा जा सकता है कि ये पुराणांश ही कारिका के उपजीव्य हैं। पुराण विश्वकोषजातीय ग्रन्थ हैं—बहुव्यक्तिकर्तृक विभिन्न कालों में लिखित ग्रन्थांशों का संयोजन पूर्वक ही प्रचलित पुराणों की रचना की गई है—यह हमारी मान्यता है; अत: पुराणकारों ने ही सांख्यकारिका के आधार पर उन कारिकांशवत् पुराणश्लोकों

---

१. हमें यह देखकर पर्याप्त विस्मय हुआ है कि Dr. C. K. Raja ने कहा है कि सांख्यकारिका ग्रन्थ शंकराचार्य के द्वारा स्मृत नहीं हुआ है (Sankara does not mention Isvarakrsna's Samkhyakarika, Intro. p. 12). इसको अनवेक्षण कहा जाये या अज्ञता कहा जाये ! शारीरकभाष्य में शंकराचार्य ने सप्तति की तृतीय कारिका को उद्धृत किया है (१.४.११ भाष्य में)।

२. अविशुद्धिक्षयाधिक्यदूषणैरेष निन्दित: (स्कन्द० कुमारिका १०।३४) तथा 'क्षयिष्णव: सातिशया न निर्मला:' (भागवत ७।७।४०) के साथ २री कारिका तुलनीय है; देवीभाग ३।८।४०-५० तथा अश्वमेध ३६।४-७ के साथ अन्योन्याभिभव···(१२ का०) तुलनीय है। प्रत्ययसर्ग, पञ्चक्लेश आदि से सम्बधित पुराणवचन और कारिकावचनों का असाधारण सादृश्य देखने योग्य है।

को लिखा है—यही कहना न्यायप्राप्त होता है। यह भी संभव है कि कारिकावाक्यानुरूप वाक्यों से युक्त अन्यान्य दर्शन-ग्रन्थ भी थे (जो कारिका से प्राचीन या कारिका के समकालीन थे) और पुराणकारों ने उन ग्रन्थों का आश्रय करके कारिकानुरूप श्लोकों को लिखा था। किन ग्रन्थों को देखकर (या परम्परा में रक्षित किन ग्रंथों के वचनों को सुनकर) पुराणकारों ने इन श्लोकों को लिखा है—इसका अवधारण आज नहीं किया जा सकता।

सांख्यकारिका की टीकाओं के आधार पर भी कारिका की अवर सीमा का पता लगाया जा सकता है; पर ये टीकाएँ बहुत प्राचीन नहीं हैं तथा इनके काल का निर्णय करना प्रायेण दुरूह है। कई विद्वान् माठरवृत्तिकार का काल ईसा की पहली शती के आस पास मानते हैं (उदयवीर शास्त्री, सांख्यदर्शन का इतिहास, पृ० ४४६-४४७)। यदि यह प्रमाणित हो जाये तो ईश्वरकृष्ण अवश्य ही ईसा से कई सौ वर्ष प्राचीन होंगे। गौडपादकृत भाष्य का कालनिर्णय (इनमें उद्धृत वचनों के आधार पर) अशक्य है। हमारा अनुमान है कि जयमङ्गला टीका के रचयिता शंकर और भाष्यविवरण के रचयिता शंकर एक ही व्यक्ति हैं। संभवतः इस शंकर ने ही आपस्तम्बधर्मसूत्र-गत अध्यात्मपटल की व्याख्या की है (इन तीनों में ऐसे स्थलों में शब्दशास्त्रीय विचार करने की प्रवणता देखी जाती है, जहाँ वह विचार प्रकृत विषय का उपयोगी नहीं है; अतः इस सादृश्य से इन तीनों की एकता संभावित होती है)। युक्तिदीपिकाटीका को देखने से ज्ञात होता है कि यह किसी ग्रन्थ के वचनों का आश्रय कर के लिखी गई है (जिस प्रकार कात्यायनकृत वार्तिक का आश्रय करके महाभाष्य लिखा गया है)। इस तथ्य पर मैंने अन्यत्र विस्तार के साथ विचार किया है।

पाश्चात्त्य विचार-पद्धति के अनुसार ईश्वरकृष्ण का काल ईसा से अर्वाचीन है[1] जिन युक्तियों से यह निर्धारण किया गया है, वे युक्तियाँ वस्तुतः युक्तियाँ नहीं हैं—निकृष्टतर का अन्दाज है। सांख्यकारिका की शब्दावली से इसके रचनाकाल का कथमपि अनुमान नहीं किया जा सकता। कारिका के प्रचलित व्याख्यानग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य अप्राप्य व्याख्यानग्रन्थ भी थे—ऐसा प्रतीत होता है। ये अनुपलब्ध व्याख्यानग्रन्थ (जो उपलब्ध व्याख्याग्रन्थों से प्रायः प्राचीन होंगे) यदि मिल जायें और उनके काल का निर्णय हो सके तो सप्तति की अवरसीमा का निर्धारण किया जा सकेगा।

---

१. Isvarakrsna cannot be assigned to a date later than 250 A. D. (Belvalkar, A. B. O. R. I. Vol. I, pp. 133-161); The Samkhya-karikas which belong to the sixth century after Christ, (S. S. I. P, p. 120; see also, p. 122); ईसा की प्रथमशती के लगभग इनका काल है, यह भी Belvalkar का मत है (Bhandarkar Commemoration Volume, p. 178).

सप्तति और उसके प्रणेता ईश्वरकृष्ण के विषय में कई बातें बौद्ध परम्परा से प्राप्त होती हैं। इस विषय में हमें दो बातों पर ध्यान रखना होगा—(१) बौद्ध परंपरा में ऐतिहासिक-तथ्य-ज्ञान की प्रामाणिकता का स्तर तथा (२) बौद्ध आचार्यों का काल। बौद्ध परम्पराओं में रक्षित दार्शनिकों की इतिवृत्तपरक बातों को बहुत अधिक प्रामाणिक मानने का अन्ध-विश्वास आधुनिक विद्वानों में पाया जाता है, जो कथमपि अभिनन्दनीय नहीं है। किंच बौद्ध परम्परा की कई बातों में अनेक मतभेद एवं मतविरोध देखे जाते हैं तथा कई स्थलों में तो 'अन्दाज-अटकल' का ही प्रभाव परिलक्षित होता है। ऐतिहासिक कालक्रम निर्धारण में जो अलसता आर्ष दार्शनिकों में देखी जाती है, वह बौद्ध दार्शनिकों (चीनी, तिब्बती परम्परा के अन्तर्गत) में भी समान रूप से है, इसे मानने में हमें कोई दोष प्रतीत नहीं होता। किंच बौद्ध आचार्यों के काल के विषय में भी बहुत कुछ अनिश्चय है, और (जैसा कि पण्डित उदयवीर शास्त्री जी ने दिखाया है) वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति (तथा स्वयं तथागत बुद्ध) आदि के काल ईसा से कई सौ वर्ष प्राचीन भी माने जा सकते हैं।[1] शंकराचार्य आदि के काल पर भी यही दृष्टि प्रयोज्य है और यदि शंकराचार्य का काल भी ईसापूर्व हो जाये तो शंकरोद्धृत होने के कारण सप्तति का काल भी ईसा पूर्व ही सिद्ध होगा।

बौद्ध परम्परा से कारिका की अवर सीमा का निर्धारण किया जा सकता है। परमार्थ ने कारिका का अनुवाद चीनी भाषा में किया था। इस अनुवाद का रचनाकाल ५५७-५६९ ई० कहा जाता है। (द्र० **Takakusu** कृत **Paramartha's Life of Vasabandhu, p. 47**) अतः यह सहजतः अनुमित होता है कि कारिका की रचना ईसा की ३०० वर्ष से पूर्व की अवश्य होगी। (परमार्थ का काल जो कहा गया है, उस पर सन्देह का अवकाश है)।

हमें इस घटना में कुछ ऐतिहासिकता का आभास मिलता है कि वसुबन्धु ने परमार्थसप्तति की रचना हिरण्यसप्तति के खण्डन के लिए की थी (**Kuei-chi**, जो **Yuan-chwang**) का शिष्य था, का यह मत है; (यह हिरण्यसप्तति सांख्यसप्तति है—यह हमारा मत है)। यह परमार्थसप्तति अप्राप्य है[2] यद्यपि कमलशील ने

१. द्र०. वेदान्तदर्शन का इतिहास, अ० १३-१४। शास्त्रीजी द्वारा अनुमित अश्वघोष, नागार्जुन वसुबन्धु, दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के काल (यथाक्रम ईसापूर्व १२५०, १२००, ११००, ७४०, ५५० लगभग) को हम निराधार नहीं कह सकते।

२. कमलशील के द्वारा उद्धृत 'यदेव दधि तत् क्षीरम्' (पृ. २२) श्लोक को कोई कोई परमार्थसप्तति का वचन समझते हैं। हम ऐसा नहीं समझते हैं। हमारा कहना है कि वसुबन्धु का ग्रन्थ अवश्य ही आर्याछन्दोबद्ध था। जो व्यक्ति ग्रन्थविशेष का खण्डन करने के लिए उस ग्रन्थ के श्लोकपरिमाण और नाम का अनुकरण करना आवश्यक समझते हैं, वे छन्द का अनुकरण करना भी आवश्यक समझेंगे—ऐसा मैं समझता हूं।

इस ग्रन्थ का नाम लिया है (आचार्य वसुबन्धुप्रभृतिभिः कोश-परमार्थसप्ततिकादिपु ; पृ० १२९)। हम यह समझना अधिकतर संगत समझते हैं कि अयोध्याधिप विक्रमादित्य द्वारा ईश्वरकृष्ण (विन्ध्यवास नहीं) ही पुरस्कृत हुये थे। यह विक्रमादित्य कौन है—इसकी पहिचान दुरूह है। बौद्धग्रन्थों के ऐसे उल्लेखों के परिपूरक के रूप में कोई घटना-विवरण जब तक आर्ष संप्रदाय के ग्रन्थों में न मिले, तब तक ऐसे उल्लेखों पर निर्भर कर कुछ भी निर्णय करना व्यर्थप्राय है।

सांख्याचार्य विन्ध्यवास और कारिकाकार ईश्वरकृष्ण को अभिन्न मानने की जो एक मान्यता (Takakusu का मत) प्रचलित है, तथा इन दोनों को भिन्न मानने के लिये जो युक्तियाँ दी जाती हैं, उन पर हमें कुछ कहना है। पहले ही ज्ञातव्य है कि हम विन्ध्यवास शब्द को व्यक्तिनाम नहीं समझते, बल्कि गुणकर्मज नाम ('विन्ध्ये वासो यस्य' इस अर्थ में) समझते हैं। यही कारण है कि विन्ध्यवासी नाम भी प्रयुक्त होता है। (विन्ध्यवासः अस्ति अस्य—इस अर्थ में तद्धित प्रत्यययुक्त)। यदि विन्ध्यवास नाम होता तो विन्ध्यवासी और विन्ध्यवास नामान्तर होने की सम्भावना नहीं होती। कुमारिल प्रयुक्त 'विन्ध्यनिवास' शब्द के स्थान पर उम्वेक 'विन्ध्यवासी' शब्द का प्रयोग करता है (श्लोकवा० आकृतिवाद—७६ की टीका द्र०)। हमारी दृष्टि में विन्ध्यवास या विन्ध्यवासी नाम एकाधिक व्यक्तियों के लिये प्रयुक्त हो सकते हैं। 'विन्ध्यवासी' चूँकि व्यक्ति-नाम नहीं है, अतः विन्ध्यवासी के साथ किसी व्यक्ति का ऐक्य होने पर वह व्यक्ति अवश्य ही सांख्याचार्य विन्ध्यवासी होगा, यह नहीं कहा जा सकता।

इन दोनों व्यक्तियों के अभिन्न या भिन्न होने में (यदि प्रमाण है तो) हमें कोई आपत्ति नहीं है। पर हमें जिस बात पर आपत्ति है, वह है—जिन प्रमाणों से इन दोनों को भिन्न व्यक्ति समझा जाता है, उन प्रमाणों की दुर्बलता।

एक उदाहरण लें। कहा जाता है कि विन्ध्यवास ने विशेषतोदृष्ट अनुमान माना है, जब कि ईश्वरकृष्णकृत सप्तति में सामान्यतोदृष्ट अनुमान ही उक्त हुआ है।[1] हमारा कहना है कि कारिका में विशेषतोदृष्ट अनुमान का शब्दतः उल्लेख न होने मात्र से कुछ भी सिद्ध नहीं होता। यदि कोई सामान्यतो दृष्ट अनुमान का उल्लेख करे

१. ईश्वरकृष्ण must be a different person from Vindhyavasin, whose views on anumana as referred to in Slokavarttika p. 392 are altogether different (H. I. P. p. 218)। (यह श्लोकवा. अनु० श्लोक १४३ है, जिसमें विशेषतोदृष्ट अनुमान की बात कही गई है)। विन्ध्यवाससंमत विशेषतोदृष्ट अनुमान ईश्वरकृष्ण को अनुमत नहीं है (not consistent) यह म. म. गोपीनाथ कविराज भी कहते हैं (Introduction, Jayamangala, p. 7)।

और विशेषतोदृष्ट का उल्लेख न करे तो क्या यह समझा जायेगा कि वह विशेषतोदृष्ट अनुमान को नहीं ही मानता है ? शंकराचार्य ने कहा है—सामान्यतोदृष्टस्यानुमानस्य अप्रामाण्ये सति (बृहदा० ४।५।६ भाष्य); पर यह सामान्यतोदृष्ट विशेषतोदृष्ट का भी संग्राहक है (द्र० गिरि—विशेषतोदृष्टस्यापीति द्रष्टव्यम्)। एक बात और। क्या विशेषतोदृष्ट अनुमान ऐसा है[1] कि सामान्यतोदृष्ट अनुमान मानने वाला विशेषतोदृष्ट अनुमान का अवश्य ही नहीं मानने वाला होगा ? विचारकों को सोचना चाहिये कि यह भी सर्वथा संभव है कि ईश्वरकृष्ण का सामान्यतोदृष्ट अनुमान ऐसा है कि उसमें अन्याचार्य संमत विशेषतोदृष्ट अनुमान गतार्थ हो जाता है।[2] ईश्वरकृष्ण के अनुसार अनुमानभेदों का स्वरूप कैसा है–यह हमें यथार्थतः ज्ञात नहीं है। ऐसी स्थिति में यह कथमपि नहीं कहा जा सकता कि विन्ध्यवास-संमत विशेषतोदृष्ट अनुमान ईश्वरकृष्ण को अननुमत ही है। विन्ध्यवास विशेषतोदृष्ट अनुमान से जो पदार्थ समझते थे, वह पदार्थ ईश्वरकृष्ण को अनुमत नहीं है, यह कथमपि सिद्ध नहीं किया जा सकता है।

दूसरा उदाहरण लें। कहा जाता है कि "विन्ध्यवास ने प्रत्यक्ष का लक्षण 'श्रोत्रादिवृत्ति रविकल्पिका' कहकर किया है, जब कि ईश्वरकृष्ण ने 'प्रतिविषयाध्यवसायः' कहकर। ये दो मत विरुद्ध हैं, अतः एक आचार्य के नहीं हो सकते"। हमें इन दोनों लक्षणों में कोई विरुद्धता प्रतीत नहीं होती। आधुनिक गवेषक यदि इन मतों में विद्यमान विरोध को दिखायें तो मैं उत्तर दूँगा।

---

१. वाक्यपदीय २।१९२ की पुण्यराजकृतटीका में, उपदेशसाहस्री पर रामतीर्थकृतटीका में (१८। १२३), तैत्तिरीय उपनिषद्-भाष्य की गिरिकृतटीका में इस अनुमान की चर्चा है।

२. संशय और विपर्यय भिन्न हैं। पर यदि कोई विपर्यय का यह लक्षण करे—'नियत का अनियतत्वेन ग्रहण'—तो इस लक्षण के अनुसार संशय का अन्तर्भाव विपर्यय में हो जायेगा। ईदृश लक्षणकारी को कहीं भी 'संशय' कहने का अवकाश नहीं मिलेगा, विपर्यय से ही वह अपना कार्य चला सकता है। कोई विपर्यय का न्यायशास्त्रीय लक्षण को माने तो उसके लिये विपर्यय से पृथक् कर संशय का उल्लेख करना आवश्यक होगा। जो अपनी दृष्टि के अनुसार संशय का पृथक् उल्लेख नहीं करता, वह संशय को नहीं मानता--यह नहीं कहा जा सकता। हमारा अनुमान है कि ईश्वरकृष्ण के सामान्यतोदृष्ट में विन्ध्यवासी का विशेषतोदृष्ट अन्तर्गत हो जाता होगा। हम यहाँ तक समझते हैं कि कोई व्याख्याकार यदि यह कह भी दे कि ईश्वरकृष्ण विशेषतोदृष्ट नहीं मानते पर विन्ध्यवासी मानते हैं—तब भी हमें सोचना पड़ेगा कि कहीं वे व्याख्याकार ईश्वरकृष्ण की दृष्टि को समझने में भ्रान्त तो नहीं हुए हैं। ईश्वरकृष्ण सामान्यतोदृष्ट का स्वरूप क्या समझते थे, यह जब तक हमें ज्ञात नहीं हो जाता तब तक हम 'विशेषतोदृष्ट अनुमान ईश्वरकृष्ण-संमत नहीं है' ऐसा नहीं मान सकते।

यह भी कहा गया है कि विन्ध्यवासी का "सत्त्वतप्यत्वमेव पुरुषतप्यत्वम्" (भोज-वृत्ति ४।२२ में उद्धृत) मत और "पुरुषोऽविकृतात्मैव… …" (विन्ध्यवासी का यह मत षड्दर्शनसमुच्चय की गुणरत्नसूरिकृत टीका में उद्धृत है) मत ईश्वरकृष्णकृत सप्तति के मत के अनुरूप नहीं हैं (are not always consistent)। (द्र० जयमङ्गला-टीका का M. M. Gopinath Kaviraj कृत Introduction, p. 7)। **हमें स्पष्ट शब्दों में कहना है कि हमें कारिका के मत के साथ उपर्युक्त दो मतों की परस्पर असंगति अणुमात्रा में भी प्रतीत नहीं होती है।** चूँकि कविराज जी ने inconsist·ncy को समझाया नहीं है, अतः हम इस पर अधिक कुछ नहीं कहना चाहते हैं।[1]

अन्तराभव शरीर को लेकर भी ऐसी ही बात कही जाती है कि विन्ध्यवासी अन्तराभवदेह (सूक्ष्म शरीर) को नहीं मानते हैं (द्र० श्लोकवार्त्तिक तथा युक्तिदीपिका), जब कि ईश्वरकृष्ण सूक्ष्मशरीर को मानते हैं। इस मत के मानने वालों को यह सोचना चाहिये कि विन्ध्यवास के द्वारा 'प्रत्याख्यात' अन्तराभव शरीर ईश्वरकृष्ण-संमत सूक्ष्मशरीर ही है—यह निश्चित है क्या ? अनेक प्रकार के सूक्ष्मशरीर होते हैं, तथा सूक्ष्मशरीर का वर्गीकरण भी नाना प्रकार से किया जा सकता है। ईश्वरकृष्ण-संमत सूक्ष्मशरीर कोई एक ही प्रकार का शरीर नहीं है। अनेक प्रकार के सूक्ष्म शरीर हैं, यह उनका मत है, अतः उन्होंने 'सूक्ष्मा.' कहा है। इन अनेक प्रकारों में एक प्रकार है—अन्तराभव शरीर। यदि इस अन्तराभव को विन्ध्यवासी नहीं मानता तो इस 'अस्वीकार' का तात्पर्य पहले जानना चाहिए––किस रूप से 'नेष्यते'––यह ज्ञातव्य है। यदि अन्तराभव शरीर विशेषनिर्मित है तो ईश्वरकृष्ण उस शरीर को अवश्य स्वीकार करेंगे––इसमें संशय नहीं है।

किंच जो किसी पदार्थ को नहीं मानते हैं, उनका न मानने का स्वरूप क्या है—[2] इसका परिज्ञान हुए विना किसी आचार्य की असंमति-मात्र से उनका आशय समझ

---

१. पुरुषोऽविकृतात्मैव…श्लोक में यह लक्षणीय है कि इसमें पुरुष को ही उपाधि कहा गया है : पुरुषः अविकृतात्मा एव; सान्निध्यात् अचेतनं मनः स्वनिर्भासं करोति; यथा उपाधिः स्फाटिकं (स्वनिर्भासम्) करोति--यह अन्वय है। चूँकि उपमा से तथ्य को समझाया जा रहा है अतः पुरुष को उपाधि मानकर भी समझाया जा सकता है। उपमा से कुछ सिद्ध नहीं होता; उपमा न्यायशास्त्रीय दृष्टांत नहीं है। उपमा में इस प्रकार के परिवर्तन से (अर्थात् प्रायः मन आदि को ही उपाधि रूप से कहा जाता है) सिद्धान्त में भेद नहीं होता।

२. जैसे कोई कह दे कि 'वैशेषिक शब्दप्रमाण नहीं मानता' तो क्या इसका अर्थ है कि 'शब्द प्रमा का करण नहीं है'—यह वैशेषिक मत है ? उपर्युक्त मत का अर्थ है--वैशेषिक शब्द को अनुमान से पृथक् कोई प्रमाण नहीं मानता।

में नहीं आ सकता, विशेषकर जब उद्धरण के बल पर ही सब कुछ सोचना पड़ता है। जो लोग पूर्व-पूर्व आचार्यों के मतों को उद्धृत करते हैं, वे सर्वत्र इन आचार्यों के आशय को जानकर ही उद्धृत करते हैं—ऐसा नहीं समझना चाहिए।

ईश्वरकृष्ण विन्ध्यवासी के बाद हैं—इस बात की संभावना हमें प्रतीत होता है। युक्तिदीपिका कहती है कि विन्ध्यवासी आदि आचार्यों ने जिज्ञासा आदि अनुमानाङ्गों का उपदेश स्व-स्व ग्रन्थों में किया था, अतः सांख्यकारिकाकार ने इन विषयों का विवरण स्वग्रन्थ में नहीं किया (द्र० अनुमानाङ्गं हि···प्रथम कारिका की टीका)। इससे यह संभावना होती है कि विन्ध्यवासी ईश्वरकृष्ण से प्राचीन हैं[1]। यदि प्रमाणान्तर से ईश्वरकृष्ण ही प्राचीनतर सिद्ध हो जायें तो सांख्यीय विचार के क्षेत्र में कुछ भी परिवर्तन नहीं होगा—यह स्पष्टतया ज्ञातव्य है।

विन्ध्यवासी का नामान्तर रुद्रिल है, ऐसा ज्ञात होता है[2]। इस रुद्रिल आचार्य (जो विन्ध्यवास के कारण विन्ध्यवासी नाम से प्रसिद्ध हुये) के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। रुद्रिल नामक सांख्याचार्य अत्यन्त अप्रसिद्ध है। 'रुद्रिल' यही प्रकृत नाम है, अथवा यह रुद्रदत्त आदि किसी नाम का रूपान्तर है, यह अज्ञात है।

सांख्यकारिका के प्रणेता और मेघदूतकुमारसंभवादि के प्रणेता कालिदास अभिन्न हैं—ऐसी स्थापना Dr. Mainkar ने की है। उनका ग्रन्थ (Kalidasa, Art and Thought) अभी तक मैं देख न सका, पर इस विषय में मैं अपना मत कहना चाहता हूँ। Dr. Mainkar स्वयं ही इस ऐक्य पर बहुमान नहीं करते हैं, जैसा कि उनके There is as yet little evidence to support. (Preface, Sam. Ka)-- इस वाक्य से विज्ञात होता है।

इस ऐक्य के लिये निम्नोक्त प्रश्नों पर विचार करना होगा—(१) काव्य-नाटककार कालिदास को कारिकाग्रंथ लिखने की प्रेरणा कहाँ से मिली या लिखने की आवश्यकता क्यों अनुभूत हुई ? (२) क्या यह सिद्ध होता है कि कवि कालिदास सांख्यपरम्परा में शिक्षित हुये थे; (३) कालिदास के टीकाकारों तथा कालिदास-प्रशंसापरक श्लोक लिखने वालों को क्या यह ज्ञात था कि कालिदास ही सप्तति के प्रणेता हैं ? (४) कालिदास चण्डीभक्त थे, इसका उल्लेख जिस प्रकार स्पष्ट शब्दों में मिलता है (कवेश्चाण्डत्वात्-दुर्घटवृत्ति) क्या उसी प्रकार कालिदास के सांख्यवेत्तृत्व का उल्लेख कहीं

---

१. पण्डित उदयवीर शास्त्री इस मत को नहीं मानते हैं। इस पर उनके विशेष विचार के लिए द्र० सांख्यदर्शन का इतिहास, पृ. ४३६।

२. यदेव दधि तत् क्षीरं यत् क्षीरं तद् दधीति च। ब्रुवता रुद्रिलेनैव ख्यापिता विन्ध्यवासिता॥ (तत्त्वसंग्रह, पञ्जिकाटीका, पृ. २२ में उद्धृत)।

मिलता है? (५) सांख्य-पातञ्जल-नाथ-हठयोगादि-सम्प्रदायों[1] के ग्रन्थों में कारिकाप्रणेतृत्व का कोई संकेत मिलता है क्या? कालिदास के वाक्यों में क्वचित् सांख्यज्ञान का प्रतिपादन देखकर यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि उनको सांख्यपरम्परा से सांख्यज्ञान मिला था या वे सांख्यपरम्पराश्रित व्यक्ति थे। कालिदास गुप्तयुक्त के थे और गुप्तयुग में विन्ध्यवास (जो ईश्वरकृष्ण ही हैं) जीवित थे—ईदृश तर्क वस्तुतः इतना अप्रतिष्ठ है कि इसमें कुछ निश्चित निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिये। कवि कालिदास सांख्यकारिका के प्रणेता के रूप में यदि सिद्ध हो जायें तो हमे कोई आपत्ति नहीं है, पर कालिदास दर्शनशास्त्र के गूढार्थ के विद्वान् थे - यह ज्ञात नहीं होता। ऐसी स्थिति में कारिका-सदृश ग्रन्थ की रचना करने में उनको प्रवृत्ति हुई थी—यह कहना बहुत ही कठिन है। कालिदास के विषय में इतना गौरवमय एक कार्य परम्परा में दीर्घकाल तक विस्मृत ही रहा है—यह विश्वासयोग्य नहीं होता। क्यों विद्वत्-समाज कालिदास को इस कृति को विस्मृत हो गया—इसका संगत हेतु जब तक न दिया जाये, तब तक उपर्युक्त ऐक्य-स्थापना अविचारितरमणीय बात के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।[2]

अन्त में वाचस्पति पर कुछ कहा जा रहा है।

वाचस्पतिमिश्र नाम में जो मिश्र शब्द है, वह प्रशंसा-पूजादि भाव का प्रतिपादक है—'पूज्यः प्रशंसितो वा वाचस्पतिः=वाचस्पतिमिश्रः'। यहाँ नित्यसमास है, अतः इसका विग्रह उपर्युक्त प्रकार से करना चाहिये। पाद आदि शब्द भी इसी भाव के द्योतक हैं और आचार्यपाद आदि शब्द में भी नित्यसमास है (द्र० गणरत्नमहोदधि २।११३—प्रशंसावचनश्चैषां समास एवेति वाक्यं न भवति)।

सांख्ययोग के ग्रंथकारों में वाचस्पति का समादर है। योगचिन्तामणि के मङ्गलाचरण श्लोक में 'यद्व्यासवाचस्पतिभोजदेवैः पातञ्जलीयं निरणायि तत्त्वम्' कहा गया है। जीवगोस्वामी ने भगवत्-सन्दर्भ में (अनुच्छेद १०) 'अन्योन्याभिभवाश्रय-जननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः' (कारिका १३) की वाचस्पतिकृत व्याख्या का उद्धरण दिया है। परिमलटीका में 'स्वालक्षण्यम्…'(का० २९) की वाचस्पतिटीका का उद्धरण

---

१. दार्शनिक समाज में कालिदास सुप्रतिष्ठित थे; इस विषय में मेरा लेख दार्शनिकों के द्वारा कालिदासप्रामाण्य का स्वीकार' द्रष्टव्य है (अजन्ता, मई १९५८)।

२. कवि कालिदास और सप्ततिकार ईश्वरकृष्ण एक व्यक्ति नहीं हो सकते—इसके लिये एक बलिष्ठ हेतु है। सप्तति के कई आर्याछन्दस्क श्लोक सदोष (यतिभङ्गदोष-युक्त) हैं (जैसा कि यथास्थान दिखाया गया है)। शकुन्तला आदि ग्रन्थों में जितने भी आर्याछन्दस्क श्लोक हैं, उनमें कहीं भी यतिभङ्ग दोष नहीं है। व्यक्तिनाम-घटित ७०वें श्लोक में यतिभङ्ग हो जाना बहुत बड़ा दोष नहीं है, पर अन्य श्लोकों में जो यतिभङ्ग दोष है, वह कालिदासीय रचना में कथमपि संभव नहीं है।

दिया गया है। प्रसिद्ध स्मार्त विद्वान् रघुनन्दन ने भी इस टीका का उद्धरण दिया है–यह हमने पहले ही कहा है। सर्वदर्शनसंग्रह में 'तत्त्वकौमुद्यामाचार्यवाचस्पतिभिः (पृ० ३१८) वाक्य है, तथैव स्याद्वादमञ्जरी में 'तथा च वाचस्पतिः' (पृ० ११६) एवं 'कौमुदी-गौडपादभाष्यप्रसिद्धानाम्' वाक्य प्रयुक्त हुये हैं (पृ० १२०)।

यह टीका न्यायवार्त्तिक-तात्पर्य-टीका के बाद लिखी गई है, यह नवमकारिका की टीका को देखने से (९।११) ज्ञात होता है। तत्त्ववैशारदी में यद्यपि सांख्यकारिका उद्धृत हुई है पर तत्त्वकौमुदी का नाम कहीं भी नहीं लिया गया। इतना अवश्य है कि दोनों टीकाओं के कुछ वाक्यों में अत्यन्त सादृश्य है।

भामती और न्यायवार्त्तिक-तात्पर्य-टीका में स्थान-स्थान पर सांख्यमत की चर्चा अल्पाधिक विशदरूपेण है। इन स्थलों में वाचस्पति ने जो सांख्यमत दिखाया है, उसके साथ तत्त्वकौमुदी-दर्शित मत का कोई विरोध कहीं मिलता है या नहीं—यह द्रष्टव्य है। इस विषय में न्यायदर्शनोक्त सर्वनित्यतावाद पर वाचस्पति का मत (४।१।३०) आलोचनीय है। तथैव तत्त्ववैशारदी और तत्त्वकौमुदी के मतों में कहीं असामञ्जस्य है या नहीं—यह भी द्रष्टव्य है। उदाहरणार्थ पञ्चप्राण की सामान्यकरण-वृत्तिता से संबन्धित वाचस्पति का जो मत इन दो ग्रन्थों में है, वह विचार्य है।

इति श्रीरामशंकरभट्टाचार्य-प्रणीता ज्योतिष्मती समाप्ता

ज्योतिष्मती का परिशिष्ट

तत्त्वकौमुदी के कतिपय विशिष्ट स्थलों की व्याख्या

ज्योतिष्मती व्याख्या का मुख्य उद्देश्य है—सांख्यीय तत्त्वज्ञान को प्रकटित करना तथा वाचस्पति (एवं अन्यान्य विद्वानों) के उन मतों की समीक्षा करना जो हमारी दृष्टि में सांख्य-दृष्टि के अनुसारी नहीं हैं। तत्त्वकौमुदी में प्रयुक्त वाक्यों का स्पष्टीकरण करना ज्योतिष्मती का उद्देश्य नहीं है। तत्त्वकौमुदी में कुछ ऐसे स्थल हैं, जिनकी विशद व्याख्या करना—विशेषकर छात्रों के लिए—आवश्यक है। तत्त्वकौमुदी के वाक्यों के आगे जो संख्या दी गई है, तदनुसार ही यहाँ टिप्पणियाँ रखी गई हैं। प्रथम अंक कारिका की संख्या का सूचक है और द्वितीय अंक वाक्य की संख्या का। उदाहरणार्थ (२।२) का अर्थ होगा—द्वितीय कारिका की टीका का २ संख्यावाला वाक्य।

तत्त्वकौमुदी के प्रचलित हिन्दी अनुवादों की कुछ अशुद्धियाँ यहाँ दिखाई गयी हैं। प्राय: अनुवादकों के नाम नहीं कहे गये हैं। ग्रन्थ में संक्षिप्तता लाने के लिए संस्कृतवाक्यों का हिन्दी अनुवाद भी सर्वत्र नहीं किया गया। अनुवाद में जो बातें स्पष्ट नहीं हुई हैं या जो आवश्यक बातें छूट गयी हैं, उनका उल्लेख इस परिशिष्ट में किया गया है।

प्रथम मङ्गलाचरणश्लोक—इस श्लोक का उपजीव्य श्लोक श्वेताश्वतर उपनिषद् में है—अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वी: प्रजा: सृजमानां सरूपा:। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्य: (४।५)। (ईदृश एक श्लोक तै० आ० १०।१० में भी है)। शुक्ल-लोहित-कृष्ण शब्द से सत्त्व-रज:-तम: को लक्षित करना प्राचीन परिपाटी है (द्र० शान्तिपर्व ३०२।४५-४६, देवीभागवत ३।८ अ०) लोहितादि के साथ इन गुणों का साधर्म्य (वस्तुत: बाह्य सादृश्य) है, जैसा कि सर्वदर्शनसंग्रह में कहा गया है—अत्र लोहितशुक्लकृष्णशब्दा रञ्जकत्व-प्रकाशकत्वावर-कत्वसाधर्म्याद् रज:सत्त्व-तमो-गुणत्रयप्रतिपादनपरा: (पृ० ३२७ पूना संस्क०)।

'बह्वी:' में जो बहु शब्द है, वह कार्यगत वैचित्र्य-बोधनार्थ है और बहुवचन कृत्स्नता का ग्राहक है (पूर्णिमा)।

सृजधातु का आत्मनेपदित्व छान्दस है (अत: शानच् हुआ है); वाचस्पति ने छान्दस शब्द का अनुकरण किया है। मन्त्रस्थ एक=एकविध तथा अन्य = अन्यविध हैं।

द्वितीय मङ्गलाचरणश्लोक[1]—एते नमस्यामः=एते वयं नमस्यामः; 'नमस्यामः' इस क्रिया पद के अनुरोध से 'वयम्' को कर्तृपद के रूप में स्वीकार करना होगा। 'वयम्' के कर्तृपद हो जाने से 'शेषे प्रथमः' (अष्टा० १।४।१०८) इस सूत्र के द्वारा प्रथम पुरुष का प्रयोग होने की संभावना नहीं रहती।

'वयम्' के साथ 'ते' और 'एते' का ईदृश प्रयोग बहुत्र मिलता है—ते सांप्रतं प्रवृद्धाः स्मः (मार्कण्डेयपु. ३।११), एते मन्यामहे (महाभाष्य १।१।४४), ते वयं विज्ञास्यामः (महाभाष्य ६।१।५०); तुल० इमे ब्रूमः (महाभाष्य ५।१।५९; द्र० कैयट)।

नमस्यामः—इस तिङन्त पद के साथ 'कपिलाय' आदि चतुर्थी-विभक्ति-युक्त पदों का संबन्ध 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' (अष्टा० २।३।१४) सूत्र से होता है। जिस प्रकार 'फलानि आहर्तुं याति' के लिये 'फलाय याति' होता है, उसी प्रकार 'कपिलम् अनुकूलयितुम् प्रीणयितुं वा नमस्यामः' के लिए 'कपिलाय नमस्यामः' होता है। नमः-स्वस्ति (अष्टा० २।३।१६) से चतुर्थी विभक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि नमस्य शब्द में नमस् अर्थवान् नहीं है। 'एते' के स्थान पर 'एतान्' पाठान्तर मिलता है। 'एतन्नमस्यामः' पाठ भी है, जैसा कि आवरण-वारिणी में कहा गया है—एतन्नमस्याम इति पाठे तु एतदिति नमस्यनक्रिया-विशेषणम्, कपिलादीन् उद्दिश्य एष नमस्कार इत्यर्थः।

चतुर्थीविभक्ति के इस प्रकार का एक उदाहरण वाचस्पति की तत्त्ववैशारदी के मङ्गलाचरण श्लोक में मिलता है—नमामि जगदुत्पत्ति-हेतवे वृषकेतवे। 'वृषकेतवे' का अर्थ 'वृषकेतुं प्रसादयितुम्' जानना चाहिये[2]।

(१।१) **प्रेक्षा**—प्रकर्षेण ईक्षा प्रेक्षा, 'हानोपादेय-विषयिणी बुद्धिः' (तत्त्ववि०)। (१।३) स चैषां⋯एषाम् (इदंशब्द) से पूर्वोक्त प्रेक्षावानों का ही ग्रहण होगा। (१।४) एवं हि=तर्हि।

(१।४-५) Dr. C. K. Raja का कहना है कि तत्त्वकौमुदी के इन वाक्यों में there is also a hint tbat the philosopher's position is higher

---

१. इस श्लोक का 'मुनये तस्य शिष्याय चासुरये' पाठ किसी किसी संस्करण में मिलता है। छन्द दृष्टि से यह पाठ अशुद्ध है (चतुष्कल गण की दृष्टि से दोष होता है)।

२. टीकाकार राघवानन्द कहते हैं—'तुमर्थाच्च भाववचनादि' त्यनुशासनाद् वृषकेतुं प्रसादयितुम् इत्यर्थं नमामि वृषकेतवे इति, फलेभ्यो व्रजतीतिवत्। टीकाकार की दृष्टि असंगत है। वृषकेतु में जो चतुर्थी है वह 'तुमर्थाच्च भावचनात्' (२।३।१५) सूत्र से नहीं है—वृषकेतु शब्द भाववचन नहीं है ३।३।११) और न ही तुमर्थ से उसका कोई संबन्ध है। यहाँ भी २।३।१४ सूत्र से चतुर्थी होगी-यह ज्ञातव्य है।

than what has to be assigned to the others; यह कहकर वे कहते हैं— I have nowhere seen the point considered that the suffering and the cessation of suffering contemplated in philosophy relate only to the sufferings of a philosopher and not the sufferings of the common people of the world. (pp. 47-48). हमारा कहना है कि तत्त्वकौमुदी के उपर्युक्त वाक्यों से वह आशय अणुमात्रा में भी नहीं निकलता, जिस आशय का उल्लेख Dr. Raja ने लिखा है।

(१ । ६) तत्र=पूर्वोक्तेपु पञ्चसु रूपेषु मध्ये ।

(१ । ७) आत्मनि=अध्यात्मम् (अव्ययीभावसमास); अध्यात्मं भवम्= आध्यात्मिकम् । इसी प्रकार 'देवेषु' अधिदेवम्, तत्र भवम् आधिदैविकम्, भूतेषु अधिभूतम्, तत्र भवम् आधिभौतिकम् । दुःख के स्वरूप के अनुसार इन शब्दों की व्युत्पत्ति करनी चाहिये, अतः 'अध्यात्मनिमित्तम् आध्यात्मिकम्' इस प्रकार से टीकाकारों ने (द्र० तत्त्व-विभाकर आदि) व्युत्पत्ति की है। द्र० आत्मानमधिकृत्य जायमानम् आध्यात्मिकम् (विद्वत्०) । दुःखानां त्रयमित्यत्र त्रयपदं व्यूहत्रयपरम् । आध्यात्मिकादेरपि प्रत्येकं नानात्वात् । अभेदः षष्ठ्यर्थः । तथा च दुःखाभिन्न-व्यूहत्रयम् इत्यर्थः (तत्त्ववि०) । आध्यात्मिक=arising from atman or self (C. K. Raja) कहना सांख्यीय दृष्टि से असंगत है। कोई कोई यह कहते हैं कि दुःख को द्विविध मानना चाहिए--आन्तर और बाह्य । आन्तर के दो भेद हैं--भूतहेतुक और देवहेतुक । कोई कहते हैं कि परमार्थतः दुःख शारीर-मानस-भेद से द्विविध हैं; आधिदैविक-आधिभौतिक दुःख की शरीर-मन में ही उत्पत्ति होने के कारण पृथक् रूप से इन दो दुःखों की कल्पना करना व्यर्थ है।

(१ । ९) आन्तरोपायसाध्य=आभ्यन्तर-सामग्री-जन्य । [साध्य=निवर्त्य--ऐसा कुछ व्याख्याकार कहते हैं। नाश्य अर्थ में साध्य का प्रयोग वराहपुराण में है— अज्ञानं ज्ञानसाध्यं तु (९९ । ६)] । राध साध संसिद्धौ, संसिद्धिः फलनिष्पत्तिः (क्षीरतरङ्गिणी, ५।३९) । आन्तरोपाय-साध्य का तात्पर्य आन्तरोपायमात्र-साध्य ऐसा जानना चाहिए।

(१ । १२) चेतनाशक्तेः प्रतिकूलतयाभिसंबन्धोऽभिघातः— प्रतिकूलतया=अनिष्ट-तया। "प्रतिकूलवेदनीयतयेति प्रतिकूलवेदनं द्वेष्यसाक्षात्कारः, तदर्हतया आश्रयत्वेन तद्योग्यतया । वेदनशब्दादीयप्रत्ययेन गेयादित्वाभ्युपगमात् कर्तरि अनीयप्रत्ययेन वा निष्पन्नोऽयं शब्दः । अभेदे तृतीया; अभिसम्बन्धः अभिमतः आरोपितः सम्बन्धः (पूर्णिमा) ।

"अभि सम्मुखं हन्ति गच्छतीत्यभिघातः प्रतिबिम्बाख्यो विकारः, अन्तःकरणपरिणाम एव सम्बन्धः:" (तत्त्ववि०) ।

(१ । १३) अभिभव=अनागत दुःख की अनुत्पत्ति (तत्त्ववि०) । न सन्निरुध्यते—(सम्+निरुध्यते)—निरन्वयं यथा स्यात् तथा न नश्यति (तत्त्ववि०) । 'सन्निरुध्यते' (सत्+निरुध्यते) को कोई-कोई सम्+निरुध्यते भी समझते हैं; द्र० सन्निरुध्यते समुच्छिद्यते (आवरण०) । अभिभव का अर्थ किसी-किसी के अनुसार अविषय भी है ।

(१।१४-१५) कुछ अनुवादक 'तदपघातक इस समास में' तथा 'दुःखत्र्याभिघातात् इस समास का' ऐसा लिखते हैं । शास्त्रीय पद्धति के अनुसार यहाँ समास न कहकर 'समस्तपद' कहना चाहिये । सर्वनाम का जो 'पूर्व परामर्श' है उसे कुछ अनुवादक 'अध्याहार' समझते हैं । पूर्वपरामर्श अध्याहार नहीं है, यह ज्ञातव्य है । पाणिनि के वृद्धिरादैच् (१।१।१) सूत्र पर जो यह कहा जाता है कि 'वृद्धिसंज्ञो भवति'—यह अध्याहार का उदाहरण है । (यहाँ वाक्यशेष का अध्याहार है—उद्द्योतन) ।

(१ । १५) उपसर्जनस्यापि .... । उपसर्जन=अप्रधान[1] । दुःखत्रयाभिघात पद में (यहाँ उत्तरपदप्रधान तत्पुरुष समास है) अभिघात शब्द प्रधान है और दुःखत्रय या दुःख शब्द अप्रधान (=उपसर्जन)=गौण है (अन्यविशेषणत्वेन स्वार्थोपस्थापकम् उपसर्जनम्) । 'तदपघातक' शब्द (तस्य अपघातकः=तदपघातकः, तस्मिन्=तदपघातके) में जो तद् सर्वनाम है, वह पूर्वस्थ शब्दविशेष को लक्ष्य करता है—यह नियम है; चूंकि दुःख या दुःखत्रय अप्रधान शब्द है, अतः उसके साथ 'तद्' का अन्वय होना सम्भव नहीं है और (उत्तरपद होने के कारण) प्रधान जो अभिघात शब्द है उसके साथ ही अन्वय प्राप्त होगा । समाधान यह है कि वक्ता की विवक्षा है कि यहाँ दुःख या दुःखत्रय का ही सम्बन्ध 'तद्' के साथ हो, अतः बुद्धि द्वारा उसका पृथक्करण करके उसका योग अपघात के साथ किया जायेगा । इससे 'तदपघातक' का अर्थ होगा—दुःख-त्रय-अपघातक । सर्वनाम पूर्वपरामर्शी ही होता है—यह बात नहीं है; सर्वनाम बुद्धिस्थ पूर्वपद-परामर्शी होता है । प्रकृत स्थल में दुःख या दुःखत्रय ही वह पूर्वपद है, जो बुद्धिस्थ है । व्याकरण शास्त्र में समस्तपद के अन्तर्गत पदों का परस्पर सम्बन्ध तथा सर्वनाम शब्द—इनमें इस प्रकार का व्यवहार सिद्ध है । यही कारण है कि 'अथ शब्दानुशासनम्' (महाभाष्य, प्रथम वाक्य) के बाद 'केषां शब्दानाम्' ऐसा प्रश्न किया जा सका (शब्दानुशासन शब्द में शब्द उपसर्जन है, अनुशासन शब्द प्रधान है ।)

---

१. यह अप्रधान लौकिक नहीं, शब्दशास्त्रीय है, अर्थात् लोक में प्राधान्य-अप्राधान्यसंबन्धी जो दृष्टि है, उसका कुछ भी संबन्ध शास्त्रीय प्राधान्य-अप्राधान्य से नहीं है । 'राज-पुरुषम् (आनय)' में पुरुष प्रधान है (यह तत्पुरुष समास है) । यही कारण है कि आनयनक्रिया में पुरुष का ही योग है, राजा का नहीं ।

उपसर्जनसंबन्धी शास्त्रीय दृष्टि में इस विचार की आवश्यकता है। Sovani कहते हैं कि इस विचार से क्या लाभ होता है?[1] मनमानी ढंग से जो व्यक्ति संस्कृत भाषा में रचित दर्शनग्रन्थ नहीं पढ़ते हैं उसको इस विचार से लाभ अवश्य ही होता है। Sovani जी को धैर्यपूर्वक यह देखना चाहिए था कि वाचस्पति-दर्शित विचार क्यों आवश्यक है। Sovani जी का यह व्यर्थता-प्रदर्शन वस्तुतः शोच्य है।

(१।१७) अस्तु दुःखत्रयम्—यह 'अस्तु' तिङन्त प्रतिरूपक अव्यय है, इसका अर्थ है—असूयापूर्वक अङ्गीकार। अस्तु इति निषेधासूयाङ्गीकारयोः (गणरत्न०)।

(१।२२) एकान्त-अत्यन्त में जो 'अन्त' शब्द है उसका अर्थ है—स्वरूप या निर्णय। एक मन्तं यस्य (बहुव्रीहि)। 'स्वरूपेऽन्तं विनाशे ना।'

(का० २।१) सहस्रसंवत्सर—ईदृश वाक्यों में संवत्सर का अर्थ दिन है–ऐसी प्रसिद्धि है। 'विश्वसृजामयनं सहस्रसंवत्सरम्' इत्यादि स्थलों में संवत्सर का दिन रूप अर्थ मीमांसा में माना गया है (६।७।४०; तस्मादहःसु संवत्सरशब्द इति)। मीमांसा में अधिकरण ही है—सहस्रसंवत्सरशब्दस्य सहस्रदिनपरताधिकरणम्। शतसंवत्सर-सहस्र-संवत्सर-व्यापी यज्ञों का उल्लेख कात्यायन श्रौत (२४।५।२३-२४) में है।

(२।४) ध्यान देना चाहिए कि यज्ञद्वारा प्राप्त स्वर्ग को सुखविशेषमात्र माना गया है, कोई सूक्ष्मदेशविशेष नहीं। जैमिनि, शबर और कुमारिल के ग्रन्थों में ऐसा कथन उपलब्ध नहीं होता जिसमें इस स्वर्ग को कोई सूक्ष्म देशविशेष माना गया हो (द्र० म. म प्रमथनाथतर्कभूषण कृत लेख, C. H. I III, p. 163)। कोई कहते हैं कि देशविशेषरूप स्वर्ग अर्थापत्तिगम्य है।

(२।६) अपाम सोमम्—अपाम सोमम् इत्यादिके द्वे सोमपानोत्तरकालीन-आस्थाभिमर्शने हृदयाभिमर्शने च क्रमेण विनियुक्ते। कृणवत्=कुर्यात्। धूर्तिः=हिंसकः। किमु=किंवा (सायण)।

(२।७) मुहूर्त=४८ मिनट का काल। याम=एक प्रहर=३ घण्टे का समय। "मुहूर्तमात्रनिर्वर्तनीयं सन्ध्योपासनादि, याममात्र-निर्वर्तनीयं पिण्डपितृयज्ञादि, मासनिर्वर्तनीयं मासाग्निहोत्रादि, संवत्सरनिर्वर्तनीयं ज्योतिष्टोमादि" (विद्वत्०)।

(२।९) दृष्टवदानुश्रविकः='दृष्टस्य वर्तनतुल्यम् आनुश्रविकस्य वर्तनम्' यह अर्थ है। यहाँ दृष्ट और आनुश्रविक की अस्तित्व-रूप क्रिया में तुल्यता दिखाई गयी है। कौमुदी में इसीलिए 'दृष्टेन तुल्यं वर्तते' कहा गया है; द्र० तेन तुल्यं क्रिया चेद् वतिः' (अष्टाध्यायी ५।१।११५)।

---

1. Vacaspati has laboured hard to show that it refers to the concept formed of threefold pain and not to the whole compound. But what has he gained thereby? (C.S.S.S., p. 14)

(२।१०) कर्मकलापाभिप्रायः—आनुश्रविक इति प्रयोगः कर्मकलापाभिप्रायः इत्येवं योज्यम् । कर्मकलापामिप्रायम् पाठ हो तो—आनुश्रविक इत्यभिधानं कर्मकलापाभिप्रायं द्रष्टव्यम्–ऐसी योजना करनी चाहिए ।

(२।११) 'न स पुनरावर्तते' इस छान्दोग्य० ८।१५।१ वचन के अन्तर्गत 'सः' का अर्थ कुछ अनुवादक 'विवेकज्ञानवान्' करते हैं। प्रकरणानुसार इसका अर्थ है—'उपरतेन्द्रिय सर्वाहिंसक साधक जिसने ब्रह्मलोक को प्राप्त किया है' (द्र० शांकरभाष्य)।

(२।१२) सोमादियागस्य पशुबीजादिवधसाधनता––होमद्रव्य शस्यविशेष है; शस्यवीज प्राणी है, अतः यज्ञ में प्राणी का वध होता है। यह भी एक पक्ष है कि यज्ञ में जिन वीजों का व्यवहार किया जाता है वे 'त्रिवर्षपरिमोषित' (तीन वर्षों से अधिक पुराने) होते हैं अतः इससे हिंसा नहीं होती । ये वीज अज-संज्ञक होते हैं (खेत में उगने अयोग्य) ।

(२।१३) पञ्चशिख का यह सन्दर्भ २।१३ व्यासभाष्य में इस प्रकार उद्धृत है––स्यात् स्वल्पः संकरः सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः, कुशलस्य नापकर्षायालम्, कस्मात् कुशलं हि मे वहु अन्यदस्ति यत्रायमावापंगतः स्वर्गेऽपि अपकर्षम् अल्पं करिष्यति । इस वाक्य का विषय है—प्रधान कर्म में अप्रधान कर्म का आवापगमन अर्थात् प्रधान कर्म के विपाक-काल में फलोन्मुख होना । यह किसी यज्ञकारी के स्वमुखोच्चारित वाक्य के रूप में कथित हुआ है, जो 'मे' (=मेरा) पद से ध्वनित होता है । यज्ञकारी कहता है—"यज्ञ में प्रधान पुण्य के साथ-साथ अप्रधानीभूत पाप (हिंसादिहेतुक) का जो संकर होता है, वह स्वल्प है (पशुहिंसादिजात अनर्थहेतु अपूर्व के साथ प्रधानापूर्व का जो मिश्रण है, वही संकर है); प्रायश्चित्त के द्वारा वह संकर (=पाप) परिहार करने योग्य है तथा वह संकर आनुषङ्गिक सहनीय दुःख के साथ वर्तमान है । यह पाप कर्म यज्ञकारी कुशल मुझ में कोई अपकर्ष नहीं कर सकता, क्योंकि पुण्यकारी मेरे अनेक कुशल कर्म हैं, जिन कर्मों में यह (पूर्वोक्त स्वल्प संकर) आवापगत होकर स्वर्ग में भी अल्प ही अपकर्ष करेगा ।"

आवापं गतः—जिस प्रकार धान्यवीजों के साथ उत्पन्न तृणवीजों का धान्यवीजों के साथ ही वपन किया जाता है स्वतन्त्र रूप से नहीं (क्योंकि कुसूल में वे दो एक साथ रहते हैं) इसी प्रकार प्रधान याग के अङ्गरूप से अनुष्ठित पशुहिंसादि की स्वतन्त्र रूप से फलदान में सामर्थ्य नहीं रहती, और प्रधान कर्म के विपाकसमय में ही वे फलोन्मुख होते हैं। इस वाक्य में 'संकर' विशेष्य है, स्वल्प, सपरिहार एवम् सप्रत्यवमर्ष—ये तीन उसके विशेषण हैं । तीव्रसंवेग द्वारा अनुष्ठित जो कर्म अदृष्टजन्मवेदनीय (अर्थात् अनियतफल) होता है उसकी तीन गतियाँ होती हैं—(१ फल

देने से पहले ही उसका नाश होना (जैसे, प्रायश्चित्त के द्वारा किसी पाप कर्म का नाश); (२) प्रधानकर्म में आवापगमन (जैसा कि यहाँ दिखाया गया है) और (३) नियत-विपाक जो प्रधान कर्म, उससे अभिभूत होकर दीर्घकाल तक फल न देकर रहना।

कुछ लोग 'स्वल्पः संकरः' ऐसा नहीं पढ़ते हैं, वे 'स्वल्प-संकरः' को एक पद समझते हैं। "स्वल्प-संकर इति सूत्रे तदर्थे च स्वल्पेन पशुहिंसादिजन्मना अनर्थहेतुना अपूर्वेण संकरः इति क्वचित् पाठः। स्वल्पेन प्रवीणापूर्वफलापेक्षया स्वल्पफलेनानर्थहेतुना अपूर्वेण संकर इति तदर्थः" (पूर्णिमा पृ० १४ । "स्वल्पः संकरः हिंसादिना अस्येति स्वल्पसंकरोऽविशुद्ध इत्यर्थः' । भारतीयतिव्याख्या)। आवरणवारिणी का भी यही पाठ है—"तथा चायं स्वल्पसंकरः सपरिहारः" ।

(२।१३) अपूर्व का स्वरूप यह है=कर्मभ्यः प्रागयोग्यस्य कर्मणः पुरुषस्य वा। योग्यता शास्त्रगम्या या परा साऽपूर्वमिष्यते (तन्त्रवा० २।१।५)—अङ्गकर्मो के पूर्ण अनुष्ठान से पहले प्रधान कर्म फलदान में अयोग्य रहता है; तथैव पुरुष भी फललाम में अयोग्य रहता है। प्रधानकर्म एवं अङ्गकर्म अनुष्ठित होने पर पुरुष में और कर्म में जो योग्यता उत्पन्न होती है, वह अपूर्व है—जो शास्त्रगम्य है। यह यागजन्य शक्ति-विशेष है, जो यागकर्ता का आश्रय करके फलप्राप्ति के अव्यवहित पूर्वक्षण पर्यन्त रहता है। परमापूर्व (नामान्तर फलापूर्व) ही फलोत्पत्ति के पूर्वक्षण तक रहता है। एक-एक अङ्गक्रिया से जो अपूर्व उत्पन्न होता है, वह अङ्गापूर्व है। अपूर्व की बहुविधता में कल्पनागौरव दोष नहीं होता, क्योंकि फलमुख गौरव दोषावह नहीं है। फलमुख गौरव—फलाधीन गौरव। अनर्थहेतु अपूर्व दुरितापूर्व कहलाता है। पू० मी० २।१।२-५ में अपूर्वसंबन्धी विचार द्रष्टव्य है।

(२।१४) स विपच्यते—सः=संकरः। विपचते पाठ अधिक संगत प्रतीत होता है। 'पच्यते' या 'विपच्यते' पाठ में 'अपूर्वेण पच्यते' रूप अर्थ करना होगा। कोई-कोई 'विपच्यते' या 'पच्यते' पाठ मानकर इसको कर्मकर्तृवाच्य का रूप समझते हैं। असौ=संकरः। (२।१५) मृष्यन्ते हि—ईदृश वाक्य तत्त्ववैशारदी २।१५ में भी है।

(२ । १६) हमने संस्कृत टिप्पणी में यह कहा है कि 'आलभते' यह लेट्लकारान्त रूप है, अतः यह पद विधायक है। यह दृष्टि 'यजति' पद के विषय में भी प्रयोज्य है। 'यजति' लेट्लकारान्त भी है, अतः यजति-पद-घटित वाक्य विधिवाक्य हो सकता है; तुल० न चात्र 'यजति' इति वर्तमानापदेशः शङ्कनीयः पञ्चमलकारस्याश्रयणात् (जैमिनीयन्यायमालाविस्तार २ । २ । अधि० ४)। सर्वा भूतानि—'सर्वाणि' के स्थल पर सर्वा छान्दस प्रयोग है।

(२ । १६) सामान्यविशेषशास्त्र=उत्सर्ग-अपवादशास्त्र। विशेषशास्त्र अधिक-

तर बलवान् है, इस मत पर उदासीन जी की यह टिप्पणी द्रष्टव्य है—'सामान्यशास्त्रं हि विधेयसामान्यद्वारा विशेषम् उपसर्पति इति विलम्बेन प्रवृत्तत्वाद् दुर्वलं तत्। विशेषशास्त्रं तु साक्षादेव विशेषमुपसर्पति इत्याशुतरप्रवृत्तत्वात् प्रबलं तत्। प्रकृतस्थल में सामान्यशास्त्र=भूत (=प्राणी)-सामान्यविषयक शास्त्र; विशेषशास्त्र=भूत (=प्राणी)-विशेष-विषयक-शास्त्र।

(२ । १७) उदासीनजी ने भिन्न विषय का एक स्पष्ट दृष्टान्त दिया है। 'आमतक्रं कोष्ठे कफं हन्ति' 'आमतक्रं कण्ठे कफं करोति'—इन दोनों वाक्यों में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि दोनों में विषयभेद है। प्रथमवाक्य से इष्टसाधनत्व प्रतिपादित हुआ है और द्वितीय से अनिष्ट-साधनत्व। इसी प्रकार ' न हिंस्यात्' वाक्य का विषय है —अनर्थहेतुत्व और 'अग्नीषोमीयम्—' का है यज्ञोपकारकत्व, अतः दोनों में कोई विरोध नहीं है। यह निश्चित है कि इन दोनों वाक्यों में सामान्य-विशेषभाव है, पर विषयभेद होने के कारण विरोध नहीं है–यह स्मर्तव्य है।

(२ । १६-१९) ये स्थल रघुनन्दनकृत दुर्गोत्सवतत्त्व में इस प्रकार उद्धृत हुए हैं—"यद्यपि नानादर्शनटीकृद्भिर्वाचस्पतिमिश्रैः तत्त्वकौमुद्याम् अभिहितम्—न च हिंस्यात् सर्वा भूतानीति सामान्यशास्त्रं विशेषशास्त्रेण अग्नीषोमीयं पशुमालभेत इत्यनेन बाध्यत इति वाच्यम् विरोधाभावात्·····"

(२ । १८) निषेधवाक्य में नञर्थ का अन्वय लिङर्थप्रवर्तना में होता है। अतः उससे निवर्तना की ही प्रतीति होती है, पर इस वाक्य से यह भी आक्षिप्त होती है कि निषेध्य बलवदनिष्ट का साधक है। अतः ' 'अनर्थहेतुभावो ज्ञाप्यते' यह कौमुदी-वाक्य उचित ही है।

(२।१८) वाक्यभेद—वाक्य=अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद् विभागे स्यात्। (मीमांसा २।१ ४६)। अर्थ=प्रयोजन; यावन्ति पदानि एकं प्रयोजनमभिनिर्वर्तयन्ति तावन्त्येकं वाक्यम् (शवरभाष्य २।२।२७)। (अर्थ=अभिधेय—ऐसा भी एक पक्ष है)। प्रस्तुत स्थल में वाक्यभेद का तात्पर्य यह है कि एक वाक्य दो पृथक् विधियों का विधायक नहीं हो सकता। प्रकृत स्थल में सोचना यह है कि 'मा हिंस्यात्—' इस निषेधवाक्य से इतना ही ज्ञात होता है कि हिंसा अनर्थकारी है। उसी प्रकार 'अग्नीषोमीयम्—' वाक्य से इतना ही ज्ञात होता है कि हिंसा यज्ञोपकारिणी है। अब इन दोनों (अर्थात् अनर्थहेतुत्व और यज्ञोपकारित्व) में कोई विरोध (एक धर्मी में विरुद्ध धर्मद्वय का होना) नहीं है, क्योंकि पश्वालम्भन यज्ञोपकार कर हिंसाजनित अनर्थ का अपनयन करेगा—यह नहीं कहा जा सकता। अब यदि यह माना जाये कि हिंसा यज्ञोपयोगिनी होती हुई अनर्थकारिका नहीं है, तब पूर्वोक्त दोनों वाक्यों में (एक हिंसा-

निषधेक और अन्य हिंसाविधायक) विरोध अवश्य होगा। पर इस विरोध को लाने में 'अग्नीषोमीयम्—' वाक्य के दो तात्पर्य मानने होंगे; तथैव 'मा हिंस्यात्' का यदि यह तात्पर्य माना जाये कि हिंसा अनर्थकारी है, साथ ही वह यज्ञोपयोगिनी भी नहीं है, तो अग्नीषोमीय—' वाक्य से उसका विरोध होगा; इस विरोध के लिए 'मा हिंस्यात्' के दो अर्थ मानने होंगे। यह द्विविध-अर्थ-स्वीकार ही वाक्य-भेद-दोष है।

'विषयभेद' को प्रदर्शित करने के लिए यह वाक्यभेद दिखाया गया है। चूँकि 'न हिंस्यात्' और 'अग्नीषोमीयम्' वाक्य के विषय भिन्न भिन्न हैं (अनर्थहेतुत्व और क्रतूपकारकत्व) अतः इन दोनों में विरोध नहीं है। मीमांसक कहते हैं कि अहिंसा-विधायक वचन का बाध हिंसाविधातक वाक्य से होता है। 'पश्वालम्भन से कोई पाप नहीं होता है, यह भी मीमांसकों का कहना है। अग्नीषोमीय वचन में पशु=छाग है—अनादेशे पशुः छागः (तिथितत्त्व)।

(२।१९) आवक्ष्यति—वह्, लृट्, तिप्,=प्रापयिष्यति।

(२।२०) 'उपचरित'=उपचारयुक्त। साहचर्य आदि किन्हीं निमित्तों के द्वारा कोई शब्द जब अपने मुख्य अर्थ से भिन्न अर्थ को कहता है तब 'उपचार' होता है। 'उपचारो नीतार्थः, सहचरणादिनिमित्तेन अतद्भावे तद्वदभिधान मुपचारः' (न्यायभा० १।२।१४)। उपचारश्च सादृश्यसंबन्धेन प्रवृत्तिः सादृश्यातिशयमहिम्ना भिन्नयोर्भेदप्रतीति-स्थगनं वा (काव्यप्रकाशप्रदीप)। उपचारो गुणवृत्तिलक्षणा (लोचन, पृ. ५१)। गौण अर्थ का मुख्य अर्थ के साथ कुछ सम्बन्ध अवश्य ही रहता है।

(२।३१) यह ध्यान देना चाहिये कि पुनरावृत्ति–हेतुभूत आनुश्रविक उपाय (यज्ञादि) को प्रशस्य माना गया है। यह प्रशस्य है, यह सांख्यपरम्परा द्वारा अनुमोदित है। पर यह कैवल्यसाधक नहीं है। अतः अनावृत्तिकारक विवेकज्ञान इसके विपरीत है। कारिकास्थ 'श्रेयान्' पद के बल पर वाचस्पति ने जिस दृष्टि का परिचय दिया है, वह क्लिष्टकल्पना है—यह Max Muller कहना चाहते हैं [1]। वस्तुतः यहाँ कोई क्लिष्टकल्पना या अर्थ की खींचातानी नहीं है। अतः Max Muller का मत अश्रद्धेय है।

(२।३१) 'सत्त्वपुरुषान्यता-प्रत्यय' में सत्त्व creation का वाचक है—यह Max Muller कहते हैं। यहीं 'अथवा' कहकर सत्त्व को पुरुष-भिन्न पदार्थ भी माना गया है। मुझे यह ज्ञात नहीं हो सका कि मैक्समूलर को इतना बड़ा भ्रम कैसे हो गया कि 'सत्त्वपुरुषान्यताप्रत्यय' शब्द में सत्त्व का अर्थ creation है। मैक्स् मूलर

1. Vacaspati has strained the meanings to show that there is no open hostility against Vedie rituals in the Samkhya (S. S. I. P.).

ने तत्त्वकौमुदी के इसी स्थल का संकेत भी दिया है (द्र० S. B. E. Vol viii, p. 351, f. n. 8)। दर्शनशास्त्र में मैक्समूलर की गति कैसी थी—यह इस एक उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है। द्र० द्रव्यमात्रमभूत् सत्त्वं पुरुषस्येति निश्चयः' (अश्वमेध ५०।१३)।

(का० ३।१) तदेवम्......। इस प्रकार के कथन को उपोद्घातसंगति कहा जाता है—'चिन्तां प्रकृतसिद्ध्यर्थामुपोद्घातं प्रचक्षते'।

(३।२) प्रकृतिः प्रधानं सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था—"साम्यावस्थोपलक्षितं-सत्त्वादिगुणत्रयं प्रकृतिः" यह टीकाकारगण कहते हैं। "सत्त्वादिद्रव्याणां या साम्यावस्था अन्यूनानतिरिक्तावस्था न्यूनाधिकभावेन असंहतावस्थेति यावत्, अकार्यावस्थेति निष्कर्षः, अकार्यावस्थोपलक्षितं गुणसामान्यं प्रकृति रित्यर्थः, यथाश्रुते वैषम्यावस्थायां प्रकृतित्व-नाशप्रसंगात् (विद्वत्०)।

(३।५) अनवस्था का स्वरूप यह है—जिस आपत्तिप्रवाह का कोई अन्त नहीं है—तुल्ययुक्ति से जो आपत्ति धारावाहिक रूप से चलती ही रहेगी—वह आपत्ति अनवस्था कहलाती है। अनवस्थारूप दोष यदि प्रामाणिक हो, तो वहाँ अनवस्था नहीं मानी जाती। जीव के जन्म और कर्म में कार्य-कारणभाव का अन्तिम निर्धारण करना सम्भव नहीं है; वस्तुतः जन्म-कर्म के कार्य-कारण-भाव में जो अव्यवस्था रूप दोष होता है वह प्रामाणिक होने के कारण कोई दोष नहीं होता। अनवस्था यहि प्रमाणसिद्ध न हो तो उसे नहीं माना जाता; वात्स्यायन ने ठीक ही कहा है—न चानवस्था शक्याऽनुज्ञातु-मनुपपत्तेः (२।१।१७)।

अनवस्था के विषय में निम्नांकित बात ज्ञातव्य है—अनवस्था षट्तर्कों में अन्यतम है—यह खण्डनखण्डखाद्य में कहा गया ही (अन्य पाँच हैं—आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक, व्याघात तथा प्रतिवन्दी। आत्मतत्त्वविवेक में तर्क को पाँच भागों में विभक्त किया गया है—स च आत्माश्रय–इतरेतराश्रय—चक्रक—अनवस्था—अनिष्टप्रसंगभेदेन पञ्चविधोऽ पि···(पृ० ८६३, Bib. Ind. संस्क०)। अनवस्था होने पर मूल प्रतिज्ञा की सिद्धि नहीं हो पाती—यही दोष अनवस्था में है—'मूलक्षतिकरीमाहुरनवस्थां हि दूषणम्' (न्यायमञ्जरी, भा० १, पृ० २१)

(३।१०) षोडशसंख्यापरिमितो गणः षोडशकः—षोडश+कन्; द्र० संख्यायाः संज्ञा-संघसूत्राध्ययनेषु (अष्टा० ५।१।५८)। 'षोडशसंख्यापरिमित'; संघः=गणः।

षोडशक पर युक्तिदीपिका का मुद्रितपाठ है—षोडशपरिमाणमस्य षोडशकः संघः, तस्य परिमाणम्। संख्यायाः संज्ञासंघसूत्राध्ययनेषु (अष्टा० ५।१।५८) इति कन्-प्रत्ययः'। यहाँ मुद्रितपाठ ईषत् भ्रष्ट है—तदस्य परिमाणम् पाठ होगा।

(३।१४) इहाभिप्रेतम्—"प्रकृतिविकारभूते महदादौ अपि प्रकृतित्वव्यवहृति-निष्पत्त्यर्थं तत्त्वान्तरोपादानत्वरूपमेव प्रकृते प्रकृतित्वलक्षणम् आश्रितं न सूत्राद्यभिहितम् इत्यर्थः" ।। (विद्वत्०) ।

(३।१५) गोघटादीनां ··न तत्त्वान्तरत्वम् । डा० मुमलगांवकर गो, घट को भी तत्त्व समझते हैं जैसा कि उनके कथन से जाना जाता है—(१) घटादितत्त्वों को पृथिवी आदि तत्त्वों से...; (२) पृथिवी तत्त्व से गो-घटादि तत्त्व भिन्न नहीं हैं (पृ० ३९)। यह असांख्यीय दृष्टि है । तत्त्वान्तर का अर्थ पदार्थान्तर करना (द्र० सारबोधिनी) उचित नहीं है; तत्त्व और पदार्थ समार्थक नहीं हैं । पद से जो अभिहित हो या जो समझा जाये वह पदार्थ है और 'अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि' । पर यह ज्ञान तत्त्व का ज्ञान नहीं है । सांख्यीय दृष्टि से तत्त्व भाव पदार्थ है, जो करणों की अवस्थाविशेष में प्रयत्नद्वारा साक्षात्करणीय है ।

(का० ४।१) कुछ व्याख्याकार 'प्रमाण का सामान्य लक्षण' ऐसा कहते हैं, जो वस्तुतः प्रमाणसामान्य का लक्षण होगा । सभी प्रमाणों में अनुगत जो धर्म है, वह है प्रमाणसामान्य; उस सामान्य का लक्षण=प्रमाणसामान्यलक्षण । कुमारिल के "सामान्यलक्षणं त्यक्त्वा विशेषस्यैव लक्षणम् । न शक्यं केवलं वक्तुम्" इस श्लोक (१।१।५ शब्दपरि० श्लोक २) में प्रयुक्त 'विशेषस्य लक्षणम्' शब्द इस प्रसंग में द्रष्टव्य है ।

(४।२) समाख्या—इसके विभिन्न पाठ हैं एवं पाठानुसार अर्थसंगति भी है—(१) समाख्यालक्षपदम् = समाख्यया लक्षयति समाख्यालक्षं तथाविधं पदम् । अर्थात् प्रकृति-प्रत्ययद्वारा लक्षणबोधकम् । (२) समाख्यया लक्ष्यपरम्=योगेन लक्ष्यबोधकम् । (३) समाख्या लक्ष्यपद्म्=समाख्या यौगिकः शब्दः, लक्ष्यबोधकं पदं लक्ष्यपदम्: (४) समाख्या लक्ष्यपरम्=समाख्यया लक्षणबोधकम् । 'समाख्या'-शब्द पूर्वमीमांसा में प्रसिद्ध है । इसका अर्थ है—यौगिक शब्द ।

(४।३) ·तन्निर्वचनम्—"प्रमाणपदप्रकृतिप्रत्ययशक्यं लक्षणम्, अवयवशक्त्या लक्षणपरम् इत्यर्थः (पूर्णिमा) ।

(४।५) प्रमा (=प्रमाणफल) और प्रमाण—इन्द्रियसन्निकर्षादिना जायमानः 'अयं घटः' इति बौद्धो बोधः प्रमाणम्, तदनु उपजायमानो 'घटमहं जानामि' इत्यादिपौरुषेयो बोधश्च प्रमेति भावः (विद्वत्०) ।

(४ । ५) बोधश्च पौरुषेयः फलं प्रमा, तत्साधनं प्रमाणम्—प्रमाण करणविशेष है । जो मानते हैं कि करण व्यापारवान् होता है, उनके अनुसार चित्सान्निध्य व्यापार है । चिद्रूप पुरुष बुद्धिगत है । अतः इस व्यापार की संभावना है ही । कुछ व्याख्याकारों

के अनुसार अत्रत्य 'च' का अर्थ 'तु' है और यह भिन्नक्रम है—'फलं तु पौरुषेयो बोधः प्रमा'—यह अर्थ जानना चाहिए।

(४ । ९) योगिनामूर्ध्वस्रोतसां च—यह पाठ योगी और ऊर्ध्वस्रोताः को पृथक् मान कर है। क्वचित् 'च' पाठ नहीं है, तब ऊर्ध्वस्रोताः शब्द योगी का विशेषण होगा। ('च' के न रहने पर भी ये दो पृथक् पदार्थ हो सकते हैं।) ऊर्ध्वस्रोताः=ऊर्ध्वरेताः। (द्र० ऊर्ध्वरेतसाम्=आयमितरेतसाम्—देवबोध, सभा० ११।३४)।

'ऊर्ध्वस्रोताः' एक देवजातिविशेष का नाम भी है जो उच्च-साधन-सम्पन्न है। व्यासभाष्य में इस ध्यानप्रिय देवजाति का उल्लेख है—द्वितीते तपसि लोके त्रिविधो देवनिकायः, ते भूतेन्द्रियवशिनः ध्यानाहारा ऊर्ध्वरेतसः (३ । २६)। विष्णुपु० १।५।११ में भी ऊर्ध्वस्रोताः देवजाति का उल्लेख है। श्रीधर कहते हैं—ऊर्ध्वमुपरि देहाद् बहिरेव स्रोत आहारस्य ग्रहणं यस्य स' अमृतदर्शनादेव तृप्तः········सात्विकोर्ध्वे सात्त्विकं सुखप्रकाशादिकमूर्ध्वमधिकं यथाभवत्येवम् अवर्तत। अश्वमेध ३८। १२–१३ में सत्वगुण के प्रसङ्ग में 'ऊर्ध्वस्रोताः वैकारिक देव' का उल्लेख है, जो नानाविध योगैश्वर्य-सम्पन्न है। आर्षं तु विज्ञानं—यह आर्षविज्ञान वही है, जो प्रशस्तपादभाष्य में इस प्रकार वर्णित हुआ है—आम्नायविधातॄणामृषीणाम्·· तदार्षमित्याचक्षते (गुण-निरूपण)। प्रातिभ इसका नामान्तर है।

(४ । १०) विभिन्न वादियों द्वारा उपमानादिप्रमाणस्वीकार के विषय में ये कारिकाएँ द्रष्टव्य हैं—

प्रत्यक्षमेकं चार्वाकाः कणादसुगतौ पुनः।
अनुमानं च तच्चाथ सांख्याः शब्दं च ते अपि॥
न्यायैकदेशिनोऽप्येवमुपमानं च केचन।
अर्थापत्त्या सहैतानि चत्वार्याह प्रभाकरः॥
अभावषष्ठान्येतानि भाट्टा वेदान्तिनस्तथा।
संभवैतिह्ययुक्तानि तानि पौराणिका जगुः॥

(मानसोल्लास २ । १७–१९)। तार्किकरक्षा के प्रमाणप्रकरण में ये श्लोक उद्धृत हैं।[1]

(४।१२) पाठक्रम का अनादर पूर्वक अर्थक्रमानुसार व्याख्या करना पूर्वाचार्यानु-मोदित पन्था है—"अर्थक्रमविरोधे वा कः पाठमनुरुध्यते।" इस विषय में 'अग्निहोत्रं जुहोति यवागूं पचति' इस वैदिक वाक्य का उदाहरण मीमांसाग्रन्थों में प्रायेण दिया

1. Dr. T. G Mainkar ने इन कारिकाओं को उद्धृत किया है (p. 50.)। उनके द्वारा उद्धृत पाठ में जो तच्चापि है, वह तच्चापि होगा, प्राभाकराः (आहुः), प्रभाकराः होगा। (यहाँ सम्भवतः मुद्रणप्रमाद हुआ है)।

जाता है और यह निश्चित किया जाता है कि अग्निहोत्रानुष्ठान का प्राथम्य (पाठ में) होने पर भी यवागू का पाक ही पहले किया जाएगा, क्योंकि अग्निहोत्रानुष्ठान के बाद यवागूपाक का प्रयोजन नहीं रह जाता। अर्थाच्च (५।१।२) इस मीमांसासूत्र में इस उदाहरण पर विचार किया गया है और कहा गया है कि प्रयोजन के अनुसार ही पहले यवागू का पाक होगा और बाद में होम किया जायेगा। पू० मी० ५।४।२ में भी यही सिद्धान्तित हुआ है कि यवागूपाक के बाद ही अग्निहोत्रहोम करना होगा, क्योंकि सभी पदार्थ प्रयोजनसापेक्ष (=अर्थपर) हैं।

किसी विषय के प्राधान्यद्योतन के लिए भी पाठक्रम का विपर्यास करके विषय-विवेचन किया जाता है; इसका एक उदाहरण भाष्यविवरण २।१८ में है। न्यायदर्शन के द्वितीयपाद के आरम्भ में ही संशय की परीक्षा की गई—प्रमाणादि की परीक्षा उसके बाद की गई है। संशय की पूर्ववर्तिता के कारण ही ऐसा किया गया है—यह तात्पर्य-टीका में कहा गया है। सेयमार्या—आर्या=आर्याछन्द में रचित श्लोक। आर्याछन्द-में रचित श्लोक (जिसमें विचारों का सार कथित होता है) 'संग्रहार्या'-पद से अभिहित होता है (द्र० व्यक्तिविवेक)—यह ज्ञातव्य है।

(का० ५। १) ज्येष्ठत्वात् तदधीनत्वाच्च अनुमानादीनाम्—अनुमान भूयोदर्शनमूलक है। "आप्तवचनस्य च व्यवहारदर्शनाधीनशक्तिग्रहसत्त्वापेक्षणात्" (आवरणवारिणी)। ज्येष्ठ=उपजीव्यत्व—यह कहना अधिक संगत है।

(५। ३) समानासमानजातीयव्यवच्छेदो लक्षणार्थः—(लक्षणार्थ=लक्षण का प्रयोजन)। चूंकि लक्षण व्यतिरेकिहेतुवचन होता है, अतः इस प्रकार का व्यवच्छेद करना लक्षण का स्वभाव है। व्यवच्छेद दो अर्थों में प्रयुक्त होता है—(१) पृथक्करना तथा (२) भेदनिश्चय। प्रकरणानुसार अर्थ का अवधारण करना चाहिये।

(५।४) स्वेन रूपेण निरूपणीयं कुर्वन्ति=स्वेन रूपेण स्वकीयेनाकारेण निरूपणीयं निरूपणार्हं स्वाकारोपरक्तं कुर्वन्तीति यावत्। घटादयो विषया हीन्द्रियसन्निकर्षादिना विषयिणं चित्तं (=चित्तवृत्तिरूपं ज्ञानम्) स्वाकारेण उपरञ्जयन्ति। यदिदमुपरञ्जनं विषयिणि चित्ते विषयाणां स्वाकारार्पणम् एतदेव स्वेन रूपेण निरूपणीयत्वमिति तत्त्वम् (विद्वत्०)।

(५।६) विषयं विषयं प्रति वर्तते प्रतिविषयम्—'वर्तते' इति पदघटकवृद् धात्वर्थ-रूपा वृत्तिश्चात्र सन्निकर्ष एव न तु इन्द्रियाणां विषयदेशगमनम् (विद्वत्०)। पूर्णिमा के अनुसार 'विषयं प्रति' ही संगत पाठ है—"विषयं विषय मित्यपपाठः, वीप्सायास्ता-त्पर्यगोचरत्वात्। विषयं विषय मिति द्वित्वेन प्रतिशब्दलभ्यवीप्साबोधने स्वरूपेण पुनः

प्रतेरुपादानानौचित्याच् च। विषयं प्रतीति पाठः। प्रतिना वर्तते इत्यर्थो लभ्यते तथा प्रतिविषयमिति सप्तम्यर्थेऽव्ययीभावः।

(५।७) उपात्तविषयाणाम्—"उपात्तो गृहीतः—प्रतिबिम्बरूपेण लब्धो विषयो यैस्तेषाम् इन्द्रियाणां वृत्तौ सत्यां विषयाकाराकारितत्वे सति यो बुद्धेस्तमोरूपावरणानादरपुरःसरसत्त्वात्मकप्रकाशबाहुल्यरूपो धर्मविशेषः सोऽध्यवसाय इति वृत्तिरिति ज्ञानमिति चाभिधीयते इत्यर्थः॥ (विद्वत्०)। उपात्तशब्द को सन्निहितवाची मानकर एक वैकल्पिक व्याख्या सारबोधिनी में मिलती है। यहाँ यह भी कहा गया है कि सत्त्वोद्रेक ही वृत्ति है, तमः का अभिभव इसका कारण है तथा इन्द्रियसन्निकर्ष, व्याप्तिज्ञान आदि तमः के अभिभव में निमित्त हैं।

(५।८) अनेन यश्चेतनाशक्तेरनुग्रहः तत् फलं प्रमा बोधः—अनुग्रहः = संबन्धः (आवरण०)। "अनुग्रहो हि पुरुषप्रतिबिम्बे स्वाश्रयोपाधिकत्वसंबन्धरूपो व्यापारः, स च पुरुषे आरोपितसंबन्ध इत्युच्यते" (पूर्णिमा)। "अनेन विषयाकारपरिणामधारिणा बुद्धितत्त्वेन चेतनाशक्तेः चेतनस्य पुरुषस्य योऽनुग्रहः स्वोपगृहीतानां विषयाणां स्वप्रतिबिम्बे चेतने समर्पणं तत् फलमिति बोध इति प्रमेति चाभिधीयते इत्यर्थः" (विद्वत्० तथा सारबोधिनी)। यही अधिकतरयुक्त है कि प्रमा और प्रमाण को दो दो प्रकार का न मानकर एक-एक प्रकार का ही माना जाये। इस विषय में उदासीन जी का मत द्रष्टव्य है—'यद्यपि पूर्वत्र चित्तवृत्तिः पौरुषेयबोधश्चेति प्रमाद्वयमभिहितं तथापि योगभाष्ये पौरुषेयबोधस्यैव फलत्वाभिधानेन प्रमाद्वयस्वीकारो नावश्यक इत्याशयेनात्र चित्तवृत्तेः प्रमाणत्वं पौरुषेयबोधस्य च प्रमात्वम् इति प्रमैक्यमभिहित मिति बोध्यम्।"

पौरुषेय बोध केवल प्रमाण का ही फल है—यह बात नहीं, वह विपर्यय-विकल्प-निद्रा-स्मृति रूप वृत्तियों का भी फल है—यह हमारा मत है, जैसा कि व्याख्या में कहा गया है।

(५।१०) सोऽयं बुद्धितत्त्ववर्तिना—"तच्छायापत्त्येति बुद्धितत्त्वतादात्म्यपत्त्या इत्यर्थः, चितिचित्तयोरभेदग्रहादिति यावत्। तत्प्रतिबिम्बित इति बुद्धितत्त्वे प्रतिबिम्बितः। एवं च बुद्धावेव प्रमाख्यं फलं जायते न पुरुषे तस्यासङ्गत्वेन प्रमाधारत्वाभावात्, चितिचित्तयो रभेदग्रहाच्च पौरुषेयो बोध इत्युपचर्यंत इत्यत्र फलितम्" (विद्वत्०)। पुरुष में बुद्धि का प्रतिबिम्ब होता है—यह भिक्षु का मत है, जिसका खण्डन उदासीन जी ने यहाँ (तथा व्यासभाष्य १।७ की टीका में) पुष्कलरूप से किया है। प्रतिबिम्ब के विषय में हमारा जो मत है, वह व्याख्या में कहा गया है।

(५।१४) नाना प्रकार के प्रत्यक्षलक्षणों की समीक्षा के लिये वाचस्पतिकृत न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका (१।१।४) तथा युक्तिदीपिका (४) द्रष्टव्य है।

(५।१६) जो व्याख्याकार 'अभिप्रायभेदाद् वचनभेदाल् लिङ्गात्' ऐसा पाठ समझते हैं, उनके अनुसार अर्थ होगा—वचनभेद-रूप लिङ्ग से अभिप्राय (=वक्तृ-तात्पर्यविशेष) का भेद अनुमित होता है—यह कहना होगा। 'अभिप्रायभेदाद् वचन-भेदलिङ्गात्' पाठ भी है—"वचनभेदो लिङ्गं यस्य तादृशाद् अभिप्रायभेदरूपलिङ्गाद् अज्ञानाद्यनुमानमित्यर्थो बोध्यः" (विद्वत्०)। लौकायतिक के खण्डन में यहाँ जिस युक्ति का प्रयोग किया गया है, उसीका अन्यत्र भी कथन मिलता है; द्र० न्यायवार्त्तिकतात्पर्य-टीका १।१।४; भामती ३।३।५४।

(५।१५) अनुमान प्रमाण क्यों नहीं है, इस पर लौकायतिकों का कहना है कि व्याप्ति का निश्चय चूँकि नहीं होता है, इसलिए अनुमान प्रमाण नहीं है। यदि सकृत् (एक बार) दर्शन से व्याप्ति का निश्चय हो तो वह्नि और रासभ की भी व्याप्ति निरूपित हो सकती है; भूयोदर्शन से व्याप्ति निश्चित होने पर भी उस पर एकान्त निर्भर नहीं किया जा सकता। एक-एक सत्य घटना को देखने पर भी कोई सामान्य नियम नहीं बनाया जा सकता—सर्वोपसंहारिणी व्याप्ति का निर्धारण अशक्य है। किसी भी नियम को निश्चित करने के लिए यह निश्चित करना आवश्यक है कि उसमें कोई उपाधि तो नहीं है; यह उपाधि विधूनन चार्वाकों की दृष्टि से असम्भव है। व्यभिचार का अज्ञान और सहचार का ज्ञान व्याप्तिनिश्चय का कारण है, पर इन दोनों का निर्धारण नहीं हो सकता—यह लौकायतिकों का कहना है।

नैयायिकों ने व्याप्तिनिर्णय के उपाय कहे हैं। सार बात यह है कि व्यभिचार के अज्ञान के साथ सहचार का ज्ञान व्याप्ति का ग्राहक है;[1] सर्वत्र व्यभिचार की शंका होती भी नहीं; जहाँ ऐसी शंका होती है वहाँ अनुकूल तर्क द्वारा उसकी निवृत्ति की जाती है।

(५।१५) लौकायतिकेन—उदासीनजी तथा सारबोधिनीटीकाकार शिवनारायण शास्त्री जी ने यह सूचना दी है कि 'बृहस्पति ने राजपुत्र को लोकायत शास्त्र के माध्यम से मुग्ध किया था जैसा कि हरिवंश में लिखा है।' यह अनवेक्षण है। यहाँ राजपुत्र शब्द के स्थान पर रजिपुत्र होगा (रजि नामक सोमवंशीय राजा के—जो नहुष के बाद हुए थे—अनेक पुत्र)। इन पुत्रों के द्वारा इन्द्र पराजित हुए थे। यह विषय हरिवंश के अतिरिक्त मत्स्य पुराण में भी आया है।

---

१. व्यभिचारज्ञानविरहसहकृतं सहचारदर्शनं व्याप्तिग्राहकम्। ज्ञानं निश्चयः शङ्का च। सा च क्वचिद् उपाधिसन्देहात्, क्वचिद् विशेषादर्शनसहितसाधारणधर्मदर्शनात्। तद्विरहश्च क्वचिद् विपक्षबाधकतर्कात् क्वचित् स्वतः सिद्ध एव (तत्त्वचिन्तामणि, पृ० ६६२, चौखम्बा)। उपाध्यभावजनितसंस्कारसहकृतेन भूयोदर्शनजनितसंस्कारसहकृतेन साहचर्यग्राहिणा प्रत्यक्षेणैव धूमाग्न्योर्व्याप्तिरवधार्यते (तर्कभाषा)।

(५।१७) प्रत्यक्षकार्यत्वादनुमानम्—द्र० न्यायसूत्र १।१।५; अत्रत्य तत्-पूर्वक का अर्थ 'प्रत्यक्षादिपूर्वक' किया गया है—ते द्वे प्रत्यक्षे पूर्वे यस्येति। एक है अविनाभावग्राही प्रत्यक्ष और दूसरा है—लिङ्गदर्शन।

(५।१८) लिङ्गं व्याप्यम्। लिङ्गि व्यापकम्—व्याप्य=व्याप्ति का आश्रय (व्याप्ति=स्वाभाविक संबन्ध)। त्रिरूपलिङ्गवादी कहते हैं कि लिङ्ग को पक्ष में रहना चाहिये, स्वपक्ष में रहना चाहिये तथा विपक्ष में नहीं रहना चाहिये। जो वस्तु जिसके साथ अविनाभूत है, वह उसका व्याप्य है। परवर्ती वाक्य में जो स्वभाव-प्रतिबद्ध कहा गया है वह अविनाभाव को ही लक्ष्य कर कहा गया है। उदाहरणार्थ धूम नियमतः वह्निसहचर है। पर वह्नि धूमसहचर नियमतः नहीं है। (तप्त लौहपिण्ड में वह्नि है, पर धूम नहीं है)। अतः धूम को ही वह्नि-व्याप्य कहा जाता है। जिस पर साध्य की व्याप्ति होती है वह व्याप्य है। यह रीति प्रसिद्ध है कि व्याप्ति को कहने के समय पहले व्याप्य का और बाद में व्यापक उल्लेख किया जाये। व्याप्ति के विषय में निम्नांकित विषय विशेषतः ज्ञातव्य हैं। जिस प्रकार वह्नि के साथ चक्षु-संयोग होने पर वह्निसत्ता का निश्चय होता है, उसी प्रकार विशिष्ट धूम-दर्शन से भी वह्निसत्ता निश्चित होती है, अतः मानना पड़ता है कि वह्नि-धूम का सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध को 'अविनाभाव' कहा जाता है। विनाभाव=अभाव में भी भाव; तद्विरुद्ध=अविनाभाव, अर्थात् एक के अभाव से अपर का अभाव। इसी प्रकार भावों का नियम भी होता है—एक पदार्थ के सत्त्व से अपर का सत्त्व। भाव का नियम=अन्वय-सहचार। अभाव का नियम=व्यतिरेक-सहचार। धूम के रहने पर वह्नि रहता है (अन्वय); वह्नि के न रहने पर धूम नहीं रहता (व्यतिरेक)। यह अविनाभाव-सम्बन्ध ही व्याप्ति है। व्याप्य धूम के दर्शन से वह्नि का जो निश्चय होता है, वह अनुमिति है। (सांख्यीय दृष्टि में यह निश्चय चित्तवृत्ति है, अतः यही अनुमानप्रमाण होगा। इस अनुमान रूप वृत्ति का फलभूत पौरुषेय बोध अनुमिति होगा)। अनुमिति रूप ज्ञान का करण (=असाधारण कारण) अनुमान है (अनुमिति-अर्थ में भी अनुमान का प्रयोग होता है)। इस 'कारण' के विषय में मतभेद हैं। कोई व्याप्तिज्ञान को करण मानता है, कोई लिङ्गपरामर्श को। लिङ्गपरामर्श=पर्वत वह्निव्याप्य धूमवान् है—यह ज्ञान। पूर्वोक्त अविनाभाव रूप नियत साहचर्य (नियतं यत् साहचर्यम् अथवा नियतेन साहचर्यम्) को न्यायवार्तिककार अव्यभिचरित सम्बन्ध, तात्पर्यटीकाकार स्वाभाविक सम्बन्ध, न्यायलीलावतीकार 'कार्त्स्न्येन संबन्धः', गङ्गेशादि 'अनौपाधिकः सम्बन्धः' कहते हैं। अनौपाधिक=उपाधि का अनधीन। इस प्रकार व्याप्तिनिश्चय से पहले उपाधि का स्वरूप जानना आवश्यक हो जाता है।

व्याप्तिके विषय में अज्ञान के कारण कितनी हास्यजनक बातें की जाती हैं, उनका एक रोचक उदाहरण हिन्दू विश्वविद्यालय के विज्ञानविभाग के चार अध्यापकों द्वारा लिखित The Nature of the Physical World ग्रन्थ (पृ० ५) में मिलता है। यहाँ न्यायशास्त्रीय व्याप्ति के प्रसंग में उदाहरण दिया गया है - यत्र धूमस्तत्रवह्निः, यत्र धूमो नास्ति तत्र वह्निर्नास्ति' (मुद्रित पाठ बहुत कुछ भ्रष्ट है)। जहाँ धूम नहीं है, वहाँ वह्नि नही है ऐसा कोई नैयायिक कह ही नहीं सकता। जडविज्ञान के अध्यापकों की अज्ञता वस्तुत: शोच्य है।

(५।१९) उपाधि—जो पदार्थ साध्य का व्यापक हो कर (साध्यधर्म के समस्त आधारों में ही वर्तमान) हेतु का अव्यापक होता है (हेतुपदार्थ के सभी आधारों में नहीं रहता), वह उपाधि है। (यदि अनुमान किया जाये कि 'पर्वत: धूमवान् वह्नि-मत्त्वात्' तो आर्द्र इन्धन (जलसिक्त काष्ठ) उपाधि होगा। यह इन्धन धूमरूप साध्य का नियत है, पर वह्निरूप हेतु का अव्यापक है, क्योंकि वह्नियुक्त स्थानमात्र में आर्द्र इन्धन नहीं रहता। यह उपाधि द्विविध है—सन्दिग्ध (=शङ्कित) और निश्चित (=समारोपित)। वह्निहेतुक धूम के अनुमान में आर्द्र इन्धन निश्चित उपाधि है। जिस हेतु में साध्य का व्यापकत्व या हेतु का अव्यापकत्व अथवा दोनों का ही सन्दिग्धत्व है, वहाँ सन्दिग्ध उपाधि है। इसका प्रसिद्ध उदाहरण है—मित्रा का भावी पुत्र श्यामवर्ण होगा, चूँकि वह मित्रा का गर्भजात है। चूँकि मित्रा के अनेक पुत्र श्याम हो चुके हैं, इसलिये मित्रा का अनागत पुत्र भी श्याम होगा—ऐसा निर्धारण करना सम्भव नहीं है। शाकविशेष (चिकित्साशास्त्रीय पारिभाषिक शाक) का भक्षण करने से पुत्र श्यामवर्ण होता है—यह आयुर्वेद से जाना जाता है। मित्रा के प्राक्तन पुत्र मित्रापुत्र होने के कारण ही श्यामवर्ण हुए हैं, ऐसा कहना संगत नहीं है। यदि शाकभक्षण से ही श्याम पुत्र हुए हों, तो मित्रा का जो भी पुत्र होगा वह श्यामवर्ण होगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता. क्योंकि शाकभक्षण न करने पर गौरवर्ण पुत्र भी हो सकता है। अतएव मित्रा-पुत्र के श्यामत्व के अनुमान में मित्रा-गर्भजातत्व हेतु नहीं हो सकता। यहाँ 'शाकपाकजन्यत्व' सन्दिग्ध उपाधि है। निश्चित उपाधि हेतु में साध्य का व्यभिचार-निश्चय करता है; सन्दिग्ध उपाधि हेतु में साध्य का व्यभिचार-संशय कराता है।

(५।२१) यह विशेषत: ज्ञातव्य है कि अनुमान के दो अंग हैं—व्याप्ति और पक्षधर्मता। व्याप्ति-वाक्य द्वारा जो साहचर्य दिखाता जाता है, वह 'नियत' होता है। कोई कोई भ्रमवश इस साहचर्य को 'नित्य' कहते हैं (डा० आद्याप्रसाद : सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ० १३५)। कोई भी नैयायिक अपनी दृष्टि से इस साहचर्य को नित्य नहीं कह सकता। लिङ्गी (लिङ्गिन्) की आवृत्ति और पक्षधर्मताज्ञान—व्याप्य-

व्यापक-भाव का ज्ञान, पक्ष में लिङ्गदर्शन तथा पुनः लिङ्गदर्शन (जिसको तृतीय लिङ्गपरामर्श, लिङ्गपरामर्श या परामर्श कहा जाता है; जिसका आकार है–वह्निव्याप्य-विशिष्टधूमवान् पर्वत)—इनके बाद ही अनुमिति होती है। वाचस्पति का यह विचार न्यायभाष्य के इस सन्दर्भ पर प्रतिष्ठित है–तत्पूर्वकमित्यनेन लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्ध-दर्शनं लिङ्गदर्शनं चाभिसम्बध्यते। लिङ्ग-लिङ्गिनोः सम्बद्धयोर्दर्शनेन लिङ्गस्मृतिरभि-सम्बध्यते। स्मृत्या लिङ्गदर्शनेन चाप्रत्यक्षोऽनुमीयते (१।१।४)।

पक्षधर्मता=पक्षवृत्तिता (पक्ष में रहना)। स्वार्थ में ताप्रत्यय करने पर पक्षधर्मता का अर्थ पक्षता भी होता है। वाचस्पति व्यासभाष्यस्थ 'सम्बन्ध' शब्द की व्याख्या में कहते हैं—सम्बध्यते इति सम्बन्धो लिङ्गम्। अनेन पक्षधर्मतां दर्शयन् असिद्धतां निवारयति (तत्त्ववै० १।७)।

(५।२२) पर्वत में (वह्निव्याप्य) धूम को देखने के बाद व्याप्तिस्मृति होने पर बुद्धि में जो वह्न्याकार वृत्ति उत्पन्न होती है, वह अनुमानरूप प्रमाण है। इस वृत्ति के साथ जो चित्-संबन्ध होता है, वह फल है, प्रमा है, पौरुषेय बोध है—यह टीकाकारों का कहना है। सांख्यीय दृष्टि में यह अनुमानफल=अनुमिति भी कहलायेगा।[1]

(५।२३) 'तन्त्रान्तरलक्षितान्' पर हमें कुछ कहना है। 'यदि तन्त्रान्तर में विशेष रूपेण विचारित' यह अर्थ हो तो यह संगत होगा, अन्यथा यह मत असंगत है। सांख्य-दर्शन का मुख्य कार्य है अलौकिक पदार्थों को लौकिक पुरुषों को समझाना; यह अनुमान के बिना कथमपि संभव नहीं है, अतः यह सहजतः अनुमित होता है कि सांख्याचार्यों को अनुमानप्रक्रिया पर भी पर्याप्त विचार करना पड़ा था।

(५।२४) पूर्व=कारण; शेष=कार्य। पूर्ववत्=जिसमें कारण विषयरूपेण विद्यमान हो=कारण हेतुक अनुमान—मेघ की उन्नतिविशेष से वृष्टि होने के अनुमान। शेषवत्=जिसमें कार्य विषयरूपेण विद्यमान हो; कार्यहेतुक अनुमान—नदीस्रोत की प्रखरताविशेष को देखकर वृष्टि होने का अनुमान। पूर्ववत् आदि के व्याख्यान्तर भी हैं (द्र० न्यायभाष्य १।१।४); शेषवत् की जो द्वितीय व्याख्या है, वह तत्त्वकौ० में उदाहृत हुआ है। लिङ्गि-लिङ्ग-सम्बन्ध के अप्रत्यक्ष होने पर भी (किसी पदार्थ के साथ लिङ्ग के समानताहेतुक) अप्रत्यक्ष लिङ्गी की अनुमिति जहाँ होती है, वह सामान्यतोदृष्ट का उदाहरण है। न्यायमञ्जरी का यह वाक्य इस विषय में द्रष्टव्य है—सामान्यतोदृष्टं तु यद् अकार्यकारण-भूताल् लिङ्गात् तादृशस्यैव लिङ्गिनः अनुमानम्; यथा कपित्थादौ रूपेण रसानुमानम् (भाग १, पृ० ११९)।

---

१. सांख्यीय परिभाषा के अनुसार अनुमान बुद्धिवृत्तिविशेष है। इस वृत्ति का करण क्या है, इसका विचार कारिका में नहीं है। यह करण ही न्यायशास्त्र का अनुमान है, जो मतभेद से कभी परामर्श, कभी ज्ञात लिङ्ग, कभी लिङ्गज्ञान, कभी स्मृतिरूप व्याप्तिज्ञान माना जाता है।

(५।२५) तत्र प्रथमतस्तावद् द्विविधं वीत मवीतं च। वीतम्="विशेषण साधनसत्त्वे साध्यसत्तारूपान्वयदृष्टचा इतं प्राप्तम् उपस्थितमिति यावत्। यत् साध्यकारबुद्धि-व्यापाररूपं ज्ञानं तदेव वीत मनुमानम्"। केवलान्वयी अनुमान (इदं वाच्यं ज्ञेयत्वात्) तथा अन्वयव्यतिरेकी अनुमान (पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात्) दोनों ही वीत हैं। न वीत=अवीत। "साध्याभावे साधनाभावरूप-व्यतिरेक व्याप्त्या प्रवर्तमानं प्राप्तं यद् बुद्धिवृत्तिरूपं ज्ञानं तदेवावतसंज्ञक मनुमानमित्यर्थः" (आवरण०)। सांख्यीय सिद्धान्त में अनुमान चित्तवृत्ति-विशेष है—एकधर्मिक-व्याप्ति-पक्षधर्मत्व-विषयक-निश्चय-जन्या तादृशी वित्तवृत्तिरेवानुमानम् (पूर्णिमा)।

कई व्याख्याकार 'प्रथमम्' का अर्थ 'आदौ' करते हैं। हमारे अनुसार—तत्र (=सामान्यतो लक्षित और विशेषतो लक्षित अनुमानों में) प्रथमं (=सामान्यतो लक्षित अनुमान) द्विविध है—यह अर्थ है। 'तत्र' के स्वारस्य से यही अर्थ युक्त प्रतीत होता है।

(५। २५) अन्वयमुख, व्यतिरेकमुख—इन शब्दों में प्रयुक्त 'मुख' शब्द का सार्थक्य है—"ननु अन्वयेनेत्यादि लक्षणमस्तु मुखशब्दस्यानर्थक्यमिति चेन्न, तथा सति केवलान्वयिन एव वीतत्वं न तु अन्वयव्यतिरेकिणः, तद्व्युदासार्थमुक्तं मुखेनेति। अन्वय-मुखेन=अन्वयप्राधान्येन" (भारतीयति)। "अवीतं व्यतिरेकप्राधान्येन प्रवर्तते, वीतं यद्यपि व्यतिरेकेणापि प्रवर्तते अन्वयव्यतिरेकिरूपं तथापि तदन्वयमुखेन स्यात् नतु व्यतिरेकमुखेनेति" (भारतीयति)।

(५। २६) प्रसक्तप्रतिषेधे (न्यायभाष्य का सन्दर्भ जो ३।२।३८ में भी है)—यह शेषवत् अनुमान की द्वितीय व्याख्या है। शेषवत् अनुमान का तात्पर्य है—शेषविषयक अनुमान।

(५। २७) पूर्ववत् अनुमान की जो व्याख्या दी गई है, वह पूर्ववत् की द्वितीय व्याख्या है। पूर्ववत्=पूर्व+मतुप् (द्र० न्यायभाष्य १।१।५)

दृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयम्—"दृष्टं सहचारदर्शनवेलायां प्रत्यक्षीकृतं स्वलक्षणं स्वस्वरूपं यस्य सामान्यस्य तत् दृष्टस्वलक्षणम्। तच्च तत् सामान्यं चेति दृष्टस्वलक्षण-सामान्यम् इत्यर्थः। अत्र सामान्यपदं सामान्यधर्मावच्छिन्नवस्तु-विशेषपरम्" (आवरण०)। "वस्तुनो हि द्विविधं रूपम्—असाधारणं साधारणं च। तत्र यद् असाधारणं पृथुबुध्नो-दरादिकं तत् स्वलक्षणम्, यच्च सकलव्यक्तिसाधारणं घटत्वादिक तत् सामान्यलक्षणरूप-मिति। तथा च दृष्टं पूर्वमधिगतं स्वलक्षण मसाधारणं रूपं यस्य सामान्यस्य तद् दृष्टस्व-लक्षणं सामान्यं तद्विषयकं यज् ज्ञानं पूर्ववदनुमानमित्यत्र फलितम्" (विद्वत्०)।

(५ । २८) अनुमान के द्वारा जिस वह्नि का निश्चय ज्ञान (पर्वत में) होता है, उसमें अग्नि का रूप, परिमाण आदि का ज्ञान नहीं होता (यद्यपि उस अग्नि का अवश्य ही स्वीय रूप, परिमाण आदि हैं) बल्कि अग्निसामान्य का (किसी विशेष प्रकार का नहीं) ज्ञान होता है। जिम प्रकार की वह्नि की अनुमिति होती है, उसको यहाँ 'वह्नित्वसामान्यविशेष' कहा गया है। इसका एक तात्पर्य है—यद्यपि अनुमेय पर्वतीय वह्नि-विशेष है, पर अनुमिति द्वारा 'वह्नित्वावच्छिन्न वह्नि' ही अनुमित होती है। वह्नित्वसामान्य के किसी एक विशेष की अनुमिति होती है—यह कहना असंगत है, बल्कि वह्नित्व की ही अनुमिति होती है, जो सामान्य होता हुआ भी विशेष है। इसका दूसरा तात्पर्य है—वह्नित्वरूप सामान्य धर्म के एक विशेष की अनुमिति होती है। इस मत के मानने वाले कहते हैं कि अनुमान स्थल में 'मैं (पर्वत में) वह्नि का अनुमान करता हूँ, ऐसा ही अनुभव होता है', वह्नित्व का अनुमान करता हूँ—ऐसा नहीं। अनुमान का विषय वह्नि है—वह्निरूप सामान्य धर्म से अवच्छिन्न एक विशेष वह्नि है (वह्नित्व नहीं)।

अब 'वह्नित्वसामान्यविशेषः'—पर टीकाकारों की व्याख्याएँ देखिये—

"वह्नित्वरूपसामान्यधर्मवान् विशेषः = × × एतेन वह्नित्वरूपसामान्यधर्मावच्छिन्नः साध्य इति दर्शतम्" (आवरण०)। "वह्नित्वरूपो धर्मविशेषः" (पूर्णिमा)। "वह्नित्वावच्छिन्न-पर्वतीय-वह्निव्यक्तिविशेषः" (तत्त्ववि०)। वह्निविशेषः = "वह्नित्वावच्छिन्न-महानसीयवह्निव्यक्तिविशेषः" (सारबोधिनी)। उदासीन जी ने दिखाया है कि वह्नित्वरूप जो अनुमेयधर्म है वह सामान्य भी है, विशेष भी है; अतः वह 'सामान्य-विशेष' कहलाता है.। अनुवृत्तिप्रत्यय का हेतु होने के कारण सामान्य और विजातीयों से व्यावृत्ति करने के कारण विशेष है (पृ० १०२)।

(५।२९) सामान्यतः व्याप्तिप्रयुक्त दृष्टदर्शन (ज्ञान) = सामान्यतोदृष्ट। जो कार्य भी नहीं है, कारण भी नहीं है, ऐसा व्याप्तिविशिष्ट हेतु सामान्य हेतु है। वाचस्पति कहते हैं—"अविनाभावित्वं स्वभावप्रतिबद्धत्वं सर्वेषामेव हेतूनां सामान्यतः; अत्र धर्मधर्मिणोरभेदविवक्षया हेतुरेव सामान्यमुक्तः। सामान्येन अविनाभाविना हेतुना लक्षितं दृष्टं धर्मिरूपमनुमानम् सामान्यतोदृष्टमनुमानम्, तृतीयायास्तसिः" (न्या० वा० १।१।५)। रूपादिविज्ञानानां क्रियात्वेन—"न च ज्ञानस्य क्रियात्वाभावात् हेत्वसिद्धिरिति शङ्क्यम्, स्वमताभिप्रायेण तथाभिधानत्" (सारबो०)।

(५।३५) स्वार्थसम्बन्धज्ञानसहकारिणश्च—स्वं शब्दस्य अर्थः वाच्यं चेति स्वार्थौ तयो र्थः सम्बन्धः शक्तिवृत्त्यादिप्रयुक्तो वाच्यवाचकत्वादिरूपः संसर्गविशेषः, तज्ज्ञानसह-

कृतयैस्व शब्दस्यार्थज्ञानजनकत्वादित्यर्थः। इस वाक्य के विशदीकरण के लिये ता० टी० २।१।५५ द्रष्टव्य है (तथाहि वृद्धवचन''''वाचकत्वं कल्पयति)।

(५।३६) आप्तश्रुति—आप्ता चासौ श्रुतिश्चेति आप्तश्रुतिः''''—यहाँ श्रुति का अर्थ शाब्दी प्रतिपत्ति=शाब्दबोध है। श्रु धातु का अर्थ 'शब्दजन्यज्ञान' भी होता है। 'आत्मा श्रोतव्यः' इस उपनिषद्वाक्य में श्रु धातु का इसी अर्थ में प्रयोग है—ऐसा कृष्णनाथ जी कहते हैं। वाक्यार्थज्ञान = वाक्यार्थविषयक अध्यवसाय। यह अध्यवसाय ही बुद्धिवृत्ति है, जो प्रमाण है (तीन प्रमाण अध्यवसाय के ही तीन भेद हैं)। श्रुतिशब्द का ज्ञानविशेष रूप अर्थ कैसे होता है, इस पर उदासीन जी कहते हैं—श्रुतिपदेन वाक्यं लक्ष्यते, पुनश्च वाक्येन तज्जन्यं ज्ञानं लक्ष्यते इत्येवं लक्षितलक्षणासमाश्रयणेनायं ग्रन्थो नेयः। वाक्यार्थज्ञान यदि वेदरूप वाक्य से जनित हो तो वह स्वतः प्रमाण होगा। ध्यान देना चाहिये कि कारिकागत आप्तश्रुति शब्द में जो श्रुति शब्द है उसका अर्थ वेद नहीं है (तत्त्वकौमुदी के अनुसार)।

आप्तवचनम्—आप्तवचन में जो वचन शब्द है, उसका अर्थ है—'वाक्यजनितवाक्यार्थविषयक-अध्यवसायलक्षणं ज्ञानम्'। यह आप्तश्रुति शब्द की व्याख्या से जाना जाता है। आप्तवचन का अर्थ 'आप्त पुरुषों का वाक्य' नहीं है, बल्कि वह वाक्य (अर्थात् वाक्यजनितवाक्यार्थज्ञान) है, जो आप्त=निर्दोष हो। "आप्तं वचनमिति कर्मधारयः। उच्यते वाचा प्रतिपाद्यते यत् तद् वचनं वाक्यार्थः ज्ञायमानवाक्यार्थ इति यावत्" (पूर्णिमा)।

(५।३६) एक प्राचीन परम्परा के अनुसार इस वाक्य का पाठ यह है—आप्ता चासौ श्रुतिश्चेति आप्तश्रुतिः, श्रुतिवाक्यजनितं वाक्यार्थज्ञानम्। तच्च स्वतः प्रमाणम्। इसका तात्पर्य यह है कि आप्तश्रुति का अर्थ है—श्रुतिवाक्यजनितवाक्यार्थज्ञान अर्थात् आप्तवचन का सम्बन्ध श्रुति (वेद) से ही है, जो (=तच्च) स्वतः प्रमाण है। प्रचलित पाठ के अनुसार तात्पर्य यह है कि वाक्यार्थज्ञान स्वतः प्रमाण तभी होता है, यदि वह अपौरुषेय-वेदवाक्यजनित हो।

(५।३७) स्वतः प्रमाणम्—स्वतः = स्वतः ग्राह्य। "स्वतो ग्राह्यत्वं दोषाभावे सति ज्ञानग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वम्। तथा च यया सामग्र्या तस्य ज्ञानत्वं गृह्यते दोषाभावसहकृतया तयैव सामग्र्या तस्य प्रमात्मकज्ञानसाधनत्वेन प्रमाणत्वं गृह्यते" (आवरण०)। "तत्र वेदजनितवेदार्थज्ञानरूपा वृत्तिः स्वकरणकबोधनिष्ठ-प्रमात्वग्राहकतया स्वतः प्रमाणमुच्यते" (पूर्णिमा)। व्याख्याकारों का कहना है कि प्रत्यक्ष, अनुमान तथा वेद से अतिरिक्त अन्य युक्त वाक्यार्थ का ज्ञान परतः प्रमाण है।

'तच्च स्वतः प्रमाण''''युक्तं भवति'—अबाधितार्थविषयं भवति (तत्त्ववि०)। 'यह (=श्रुतिवाक्य का अर्थज्ञान) स्वतः प्रमाण होता है, यह कथन युक्त है'—यह इसका

अर्थ है। यदि श्रुतिवाक्यजात अर्थज्ञान है तो वह स्वतः प्रमाण है। युक्तं भवति = भ्रमादिदोषवदनुच्चारितत्वेन युक्तत्वम् (पूर्णिमा); युक्तम् = निर्दोषम् (आवरण०)।

भ्रमादि दोष ये हैं—भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा और करणापाटव। "उच्चारणीय-वाक्यार्थगोचरो भ्रमः। प्रमादः अनवधानता। सा च वाक्यार्थज्ञानस्वरूपयोग्यस्य वक्तुः उच्चारणीयवाक्यार्थनिश्चयव्यतिरेकः। अन्यथा प्रतीतस्यार्थस्य अन्यथा प्रतिपिपादयिषा प्रतारणा सैव विप्रलिप्सा। करणम् कण्ठताल्वाद्यभिघातः, तस्यापाटवम् असामर्थ्यम् इच्छाविषयीभूतवर्णाननुकूलत्वम् इति यावत्" (सारबोधिनी)। यह स्वतः प्रमाण आगम = आप्तश्रुति = आप्तवचन रूप ज्ञान से संबद्ध है—यह स्मर्तव्य है।

(५।४०) आवटच-जैगीषव्य-संवाद—आवरणवारिणीकार समझते हैं कि यह 'संवाद' महाभारत में है। यह अनवेक्षण है। महाभारत में यह संवाद नहीं है, यद्यपि जैगीषव्य-विषयक कथाएँ हैं। यह संवाद व्यासभाष्य (३।२६) में है।

(५।४१) निर्ग्रन्थ शब्द जैनधर्मी को लक्ष्य करता है। 'संसारमोचकादीनां हिंसा पुण्यत्वसंमता' ऐसा कुमारिल कहते हैं (औत्पत्तिक सूत्र, श्लोक ४)। काशिकाटीका—संसारमोचका नास्तिकाः बाह्यहिंसामेव धर्ममाहुः। यह संप्रदाय अप्रसिद्ध है। संसार-मोचक के विषय में यह श्लोक प्रसिद्ध है—"संसारमोचकं स्पृष्ट्वा शिष्टा स्नान्ति सवाससः। बौद्धैरपि सहैतेषां व्यवहारो न कश्चन" (न्यायमञ्जरी, भा०१पृ० २४३)। प्रतीत होता है कि इन संसारमोचकों के लिये गृहस्थपरिमोषक शब्द विष्णुधर्म उपपुराण (अमुद्रित) में प्रयुक्त हुआ है—राजशुल्कहराःक्षुद्रा गृहस्थपरिमोषकाः। मुनिवेषाकृतिच्छन्ना वाणि-ज्यमुपजीवकाः॥ (अ० ७३) (द्र० Studies in the Upapuranas, Vol. I, p. 150)। संसारमोचक देहात्मवादी चार्वाक को लक्ष्य करता है, यह गजानन शास्त्री जी का मत (पृ० ६३) सांशयिक प्रतीत होता है। देहनाश से मोक्ष मिलता है—यह संसारमोचकों का मत है—ऐसा कई विद्वान् कहते हैं।

(५।४४) जो समझते हैं कि आप्तवचन का अन्तर्भाव अनुमान में हो सकता है, उनका कहना है कि अनुमान के द्वारा अर्थनिश्चय की पद्धति और वचन द्वारा अर्थ-निश्चय की पद्धति एक प्रकार की है, जैसा कि प्रशस्तपाद ने कहा है—शब्दादीनामपि अनुमानेऽन्तर्भावः समानविधित्वात् (अनुमानप्रक०)। नैयायिक की ओर से इसका जो उत्तर है, वह यह है—"शब्द को अनुमान का अङ्ग नहीं माना जा सकता। क्योंकि शब्द सुनने के अनन्तर शब्द से उपस्थित होने वाले अर्थों के परस्पर संसर्ग का यदि अनुमान माना जायगा तब उन शब्दार्थों के साथ कभी उन अर्थों का भी अनुमान होने लगेगा जो शब्द से उपस्थित न होकर किसी अन्य साधन से उपस्थित होंगे और जिनके

सम्बन्धों का अनुमापक कोई अन्य लिङ्ग उपस्थित होगा। किन्तु ऐसा कभी नहीं होता। शब्दार्थों के परस्पर सम्बन्ध के बोध के साथ शब्दानुपस्थाप्य अर्थों के परस्पर सम्बन्ध का बोध होते कभी नहीं देखा जाता। इसलिये यही मानना उचित है कि शब्द सुनने के अनन्तर शब्दों से उपस्थित होने वाले अर्थों के परस्पर सम्बन्ध का जो बोध होता है, वह एक विजातीय यथार्थबोध है और उसका करण होने से शब्द एक स्वतन्त्र विजातीय प्रमाण है" (पं० बदरीनाथशुक्ल-कृत तर्कभाषा-व्याख्या, पृ० १६०–१६१)।

तत्त्वविभाकरटीका में इस वाक्य का एक पाठान्तर यह है—वाक्यार्थो हि प्रमेयो न तु तद्धर्मः येन वाक्यं तत्र······· । प्रमेय वाक्य का धर्म नहीं होता, क्योंकि "यत् यत्प्रमेयं तत् तद्धर्मो न भवति इति नियमस्य रूपादौ दर्शनात्। अयं वृक्षः शिंशपायाः इत्यादिवद् इदं वाक्यार्थवद् वाक्यात्—इत्येवं रीत्या वाक्यार्थे वाक्यं लिङ्गं न भवतीत्यर्थः" (तत्त्ववि०)। इस टीका में प्रचलित पाठ को सदोष कहा गया है।

(५।४५) वाक्यार्थ के विषय में यह जानना चाहिये कि शब्दश्रवण के बाद पदज्ञानजन्य जिन पदार्थों का ज्ञान होता है, वह शब्दबोध नहीं है। सकलपदार्थविषयक स्मृति (=समूहालम्बनस्मृति) के बाद उन पदार्थों का जो परस्पर सम्बन्धबोध होता है, वह अन्वयबोध है, जो शाब्दबोध कहलाता है ('पदार्थसंसर्गात्मा वाक्यार्थः')। उदाहरणार्थ—'घटोऽस्ति' सुनने के बाद अस्तित्व और घट का जो बोध होता है, वह शाब्दबोध नहीं है। अस्तित्व के साथ घट के सम्बन्ध का जो बोध है (अस्तित्वविशिष्ट घट—ऐसा बोध) वही शाब्दबोध या अन्वयबोध कहलाता है। इसमें शक्तिजन्य या लक्षणाजन्य उपस्थित एक पदार्थ में अपर पदार्थ का ज्ञान संबद्ध होता है। यह शाब्दबोध कथमपि अनुमिति नहीं हो सकती।

(५।४७) न्याय, मीमांसा आदि में सर्वत्र उपमान और उपमिति शब्दों का व्यवहार एक ही अर्थ में नहीं है, अतः भ्रम न हो इस उद्देश्य से इन शब्दों के प्रयोग वैचित्र्य (उपमान—उपमिति के आकार के साथ) दिखाया जा रहा है।

उपमिति=(१) सादृश्यज्ञानजन्य पद-पदार्थों के सम्बन्ध (=शक्ति) का ज्ञान। यथा—गवयत्वविशिष्ट पशु गवयशब्द का वाच्य है (यह प्रसिद्ध न्यायमत है); (२) स्मर्यमाण गोव्यक्ति में गवयसादृश्य का ज्ञान (वेदान्तपरिभाषा तथा शाबरभाष्य १।१।५); (३) समाख्या (=संज्ञाशब्द)—संबन्ध की प्रतिपत्ति (न्यायमा० १।१।६; न्यायकु० ३।१०); (४) गवय गवयपदवाच्य है—यह शक्तिज्ञान (सि० मुक्ता०); (५) अयं गवयपदवाच्यः (न्यायसूत्रवृत्ति); (६) असौ गवयपदवाच्यः (उपस्कार ९।२।५)।

उपमान=(१) अतिदेश वाक्य (न्यायमञ्जरी में दर्शित वृद्धनैयायिकों का मत, भाग १, पृ० १२८); (२) अतिदेशवाक्य श्रवणानन्तर गवय में गोसादृश्य का ज्ञान

(प्रसिद्ध नव्यन्याय मत); (३) अतिदेशवाक्यस्मृतिसहकारेण सादृश्यदर्शनम् (तात्पर्य-टीका में वाचस्पति द्वारा दर्शित)।

वाचस्पति का भाव यह है कि उपमानरूप प्रमाण यदि वाक्यविशेष है तो उसका अन्तर्भाव आप्तवचन रूप प्रमाण में होगा। यदि वाच्यत्वज्ञान उपमान है तो उसका अन्तर्भाव अनुमान में होगा। यदि सादृश्यज्ञान उपमान है तो उसका अन्तर्भाव प्रत्यक्ष में होगा।

(५।४८) यो हि शब्दः···· असति वृत्त्यन्तरे—अन्या वृत्तिः = वृत्त्यन्तरम्। वृत्ति या तो शक्ति होगी या लक्षणा होगी (किसी किसी के अनुसार व्यञ्जना भी एक वृत्ति है)। 'तस्य वाचकः' में वाचक का अर्थ प्रतिपादक है 'साक्षात् अभिधान करने वाला' यह अर्थ नहीं है। इस वाक्य के द्वारा वह अनुमान दिखाया गया है जिसके द्वारा उपमान अनुमान में अन्तर्भूत होता है। "गवयशब्दः गोसदृशस्य पशोर्वाचकः, वृद्धै र्वनेचरादिभिर्गोसदृशे प्रयुक्तत्वात्, यो यदर्थे प्रयुज्यते सः असति वृत्त्यन्तरे तद्वाचकः, गोशब्दस्य गोवाचकत्ववत्, तस्माद् गवयशब्दो गोसदृशवाचकः" (सारबोधिनी)।

(५।४९) यहाँ मीमांसकानुमत उपमान का खण्डन है। इनके अनुसार गवयपिण्ड को देखने पर 'गोसदृशोऽयम्' यह जो सादृश्यज्ञान होता है, वह उपमान है (वाचस्पति कहते हैं कि वह प्रत्यक्ष ही है)। यह सादृश्यप्रत्यक्ष वाक्यार्थस्मृति-सहकृत है। सादृश्यप्रत्यक्ष को उपमान-प्रमाण मानना शबरस्वामी द्वारा स्वीकृत हुआ है। (१।१।५) न्यायकन्दली में भी ऐसा स्वीकृत हुआ है (द्र०, पृ० ५३१)। प्रकरणपञ्चिका (पृ० २६६–२७१) में मीमांसकदृष्टि पल्लवित हुई है।

(५।५०) भूयोऽवयवसामान्ययोगः—"भूयसाम् अवयवानां खुरपुच्छशृङ्गादीनां सामान्यं खुरत्व-पुच्छत्व-शृङ्गत्वादि तस्य योगः समवायलक्षण इत्यर्थः" (भारतीयति) "भूयसां बहूनामवयवानां यत् सामान्यमैक्यं तस्य योगः सम्बन्ध इत्यर्थः। तथा च एकस्मिन् जातिविशेषे य एकावयवसम्बन्धः, अन्यस्मिन् जातिविशेषेऽपि स एव एकावयवसम्बन्ध इत्यर्थः" (आवरण०)। "भूयांसि यानि अवयवानां सामान्यानि असाधारण-धर्माः, तेषां योगः सम्बन्धः जात्यन्तरवर्ती, प्रधानावयविरूपवस्त्वन्तरवर्ती जात्यन्तरे पूर्वप्रधानभिन्न-प्रधानावयविनि वस्त्वन्तरे सादृश्य मुच्यते" (तत्त्ववि०)। यह ज्ञातव्य है कि सादृश्य का यह लक्षण प्रकृताभिप्राय से है। यदि ऐसा न माना जाये तो 'सिंहसदृशो देवदत्तः' ऐसे वाक्यों में अव्याप्ति होगी।

(५।५१) उपमान-प्रमाणवादी (जो उपमान को पृथक् प्रमाण मानता है) नैयायिक का कहना है कि गवयत्ववान् गवयपशु में गवयशब्द के वाच्यत्व की जो अनुभूति है, वह उपमिति है। यह अनुभव प्रत्यक्ष से सम्भव नहीं है। शब्दप्रमाण द्वारा (यथा गौः तथा गवयः—इस वाक्य के द्वारा) गवय में गोसादृश्य ही ज्ञात होता है। गवय में

गवयशब्द की शक्ति है—यह इससे ज्ञात नहीं होता। व्याप्तिज्ञान के अभाव के कारण अनुमान द्वारा यह अनुभूति संभव नहीं है (वाचस्पतिप्रदर्शित अनुमान 'यो हि शब्दः.....' असंगत है—यह नैयायिकों का कहना है)। गवयशब्द की शक्ति गवयत्वरूप गवय में है—यह निश्चय अनुमान द्वारा संभव नहीं है—इसके लिए उपमान नामक अतिरिक्त प्रमाण आवश्यक है। विस्तार के लिए फणिभूषण तर्कवागीशकृत न्यायभाष्यव्याख्या (बंगला ग्रन्थ, २।१।४७–४८) द्रष्टव्य है।

(५।५२) अर्थापति–उपपादक कल्पना का हेतुभूत जो उपपाद्यज्ञान है, वह अर्थापत्ति प्रमाण है और उपपादक ज्ञान अर्थापत्ति प्रमा है। (उपपाद्यम् = येन विना यत् न उपपद्यते)। जो उपपाद्य है, उसकी अनुपपत्ति होने पर जिस उपपादक की कल्पना की जाती है वह कल्पना अर्थापत्तिप्रमा है; उपपादककल्पना का हेतुभूत जो उपपाद्य का अनुपपत्तिज्ञान है, वह अर्थापत्ति-प्रमाण है। 'जीवित देवदत्त घर में नहीं है'—यह कैसे सम्भव है—यह है उपपाद्य; 'देवदत्त घर के बाहर कहीं है'—यह है उपपादक। यह जो घर के बाहर में रहने की कल्पना है, यह अर्थापत्ति प्रमाण है। यह अर्थापत्ति शब्द प्रमाण और प्रमा दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है। प्रमाणवाची अर्थापत्ति = अर्थस्य आपत्तिः = कल्पना यस्मात् (उपपाद्य-ज्ञान-रूप करण)। प्रमावाची अर्थापत्ति = अर्थस्यापत्तिः (उपपादकज्ञान-रूप)। प्रमाणवाची अर्थापत्ति में जो बहुव्रीहि-समास है, वह व्यधिकरणपद है।

(५।५२) अनुपपद्यमान-अर्थ के द्वारा उपपादक की कल्पना करना अर्थापत्ति है। यही कारण है कि अर्थापत्ति को 'अनुपपत्ति-करणक' कहा जाता है। यदि यह जाना गया कि चैत्र जीवित है और यह देखा गया कि वह घर में नहीं है, तो 'जीवित व्यक्ति का घर में न रहना' रूप अनुपपद्यमान अर्थ की संगति लगाने के लिए हमें कल्पना करना पड़ता है कि 'वह बाहर है'। यह 'बहिर्भाव की कल्पना' ही अर्थापत्ति है। अर्थापत्ति को समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि इस प्रमाण का सहकारी है—सन्देहापत्ति, जैसे, चक्षु का आलोक (फल—रूपज्ञान), अनुमान का व्याप्तिस्मरण (फल—अनुमिति), उपमान का सादृश्य (फल—उपमिति) (तन्त्ररहस्य, पृ० ३६)।

(५।५३) यदा खलु अव्यापकः सन्—यह व्यतिरेकव्याप्ति-प्रदर्शक वाक्य है। यहाँ 'बाहर में न रहना' व्याप्य है और 'घर में रहना' व्यापक है। "एतेन यदाहं नेह तदान्यत्र इत्यन्वयव्याप्तिर्दर्शिता। मृते व्यभिचारवारणाय जीव न्नित्यर्थकं सन्निति प्रोक्तम् इति बोध्यम्"।

(५।५३) तथा च सतः—यहाँ अनुमान इस प्रकार है—विमतश्चैत्रो बहिर्भवितु मर्हति; जीविते सति गृहे अविद्यमानत्वात्; य न एवं (= साध्याभावः) स न एवं (= हेत्वभावः) यथा गृहे विद्यमानो मैत्रः; न च तथायं भवति; तस्मान्न तथा।

(५।५६) आक्षेपः = अर्थाल्लाभोऽपि; पाक्षिकः = पक्षे प्राप्तः। 'क्वचिदस्ति' कहने पर 'घर में रहना' (गृहसत्त्व) भी तो प्राप्त होता है, अतः गृहसत्त्व और गृह-असत्त्व (घर में रहना और न रहना) का एक ही चैत्र रूप विषय हुआ, सुतरां विरोध हुआ। गृहासत्त्व प्रत्यक्षतः सिद्ध है, अतः असन्दिग्ध है। गृहसत्त्व विकल्परूपेण प्राप्त है—पक्षतः प्राप्त होने के कारण सन्दिग्ध है। चैत्र कहीं (देशसामान्य) है, कहने पर वह देश या तो गृह होगा या गृहभिन्न होगा। इस प्रकार 'गृह में रहना' पक्षतः प्राप्त होता है।

(५।५८) एतेन विरुद्धयोः—अर्थापत्तिवादी का कहना है कि 'चैत्रः क्वचिदस्ति' और 'चैत्रः गृहे नास्ति' इन दोनों वाक्यों के विरोध के नाश के लिए अर्थापत्ति स्वीकार्य है। "चैत्रस्य गृहासत्त्वप्रमाणं प्रत्यक्षम्। सत्त्वप्रमाणं तु अनुमानं शब्दो वा। तत्र असत्त्वस्य प्रामाण्ये सत्त्वस्य प्रामाण्यं विरुध्येत, सत्त्वप्रामाण्ये च असत्त्वप्रामाण्यमित्येकतर-प्रमाणेनापि प्रमोत्पत्त्यसंभवाद् अर्थापत्तेः पृथक् प्रमाणत्वाभ्युपगम आवश्यकः"।

(५।५९) उदाहरणान्तराणि अर्थापत्तेः—सारबोधिनी, डा० मुसलगाँवकर तथा वंशीधर ने इस विषय में वृहद्दीपिका[1] से कई उदाहरण संकलित किये हैं। यथा—दिन में यदि चैत्र नहीं खाता है और पीन दिखाई देता है तो यह कल्पना की जाती है कि वह रात्रि में अवश्य खाता होगा। द्र० 'ताममावोत्थितामन्याम् अर्थापत्ति मुदाहरेत्। पक्षदोषेषु चान्यासामुदाहरणविस्तरः॥ (श्लोकवा० अर्थापत्ति०९)।

(५।६०) अभावोऽपि प्रत्यक्षमेव—अभाव = अनुपलब्धि अर्थात् योग्यानुपलब्धि। अनुपलब्धि के लिए अभाव का प्रयोग मानसोल्लास आदि में मिलता है। परिणाम-विशेषः = "विशेषपदं विशिष्यतेऽन्यस्मात् परिणामादिति विशेषः तस्मात्" (विद्वत्०)। कैवल्यलक्षणात् = "कैवल्यं भावान्तरासंसृष्टत्वरूपं सद्वितीयत्वरूपधर्मापेक्षया धर्मान्तरं तदेव लक्षणं स्वरूपं यस्य तत् कैवल्यलक्षणं तस्मात्" (विद्वत्०)। सांख्यीय दृष्टि में अभाव रूप प्रमाण का स्वरूप होगा—प्रतियोगि-अनुपलब्धि-तन्त्राभावाकारा चित्तवृत्तिः। प्रमाण-विशेष रूप अभाव का अनुवाद 'non-existence' के रूप में करना असंगत है; यह non-apprehension या ईदृश कोई शब्द होगा।

---

१. यह 'वृहद्दीपिका' किसके द्वारा रचित है—यह ज्ञात नहीं हो सका। हमें बृहतीटीका, प्रभाकर-कृत लघ्वीटीका की दीपशिखाटीका; शास्त्रदीपिका, न्यायाध्वदीपिका, भाट्टदीपिका, विषयसंग्रहदीपिका—इन सदृशनामवाले मीमांसाग्रन्थों का परिचय ज्ञात है, पर वृहद्दीपिका नामक मीमांसाग्रंथ का परिचय ज्ञात नहीं है। न्यायरत्नाकर में कहा गया है—अर्थापत्त्यन्तराणामपि उदाहरणप्रपञ्चः बृहट्टीकायां दर्शितः। यह या तो यही ग्रन्थ है, या कुमारिल का ही कोई ग्रन्थ है अथवा प्रभाकरकृत बृहतीटीका है।

(५।६०) अभाव—सांख्यानुसार अभाव का स्वरूप है वह चित्तवृत्ति जो प्रतियोगि-अनुपलब्धि-तन्त्र-अभाव-आकारवती है। "अभाव पदार्थ के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष नहीं होता, अतः अभाव इन्द्रियग्राह्य नहीं है—यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि घट-शून्य भूतलादि में घटाभाव का जो बोध होता है, वह चाक्षुष प्रत्यक्ष है—ऐसा ही अनुभव होता है। यही कारण है कि 'मैं घटाभाव देख रहा हूँ' इस प्रकार घटाभाव बोध का मानस प्रत्यक्षरूप अनुव्यवसाय होता है" (न्यायपरिचय, पृ० १९०)। इस प्रकार अभावज्ञान के लिए अनुपलब्धि नामक प्रमाण (इस प्रमाण को ही यहाँ अभाव पद से कहा गया है) की आवश्यकता नहीं होती है।

(५।६१) प्रतिक्षणं परिणामिनः—भूतल का परिणाम होता ही नहीं, ऐसा यदि कोई कहे तो उसका उत्तर इस वाक्य में दिया गया है।

(५।६२) स च परिणामभेदः—इस वाक्य को कहने का एक उद्देश्य है। घट का अभाव भले ही भूतल-परिणाम-विशेष हो, पर इससे यह कैसे सिद्ध होता है कि अनुपलब्धि रूप पृथक् प्रमाण नहीं है। उत्तर यह है कि कैवल्यात्मक जो परिणाम-विशेष है वह इन्द्रियाश्रित अध्यवसाय का विषय है, अतः प्रत्यक्ष है; अतः यह मानना उचित ही है कि प्रत्यक्ष का अगोचर अभाव रूप कोई विषय नहीं है जिस अभाव रूप विषय के ज्ञान में अभाव (=अनुपलब्धि) नामक प्रमाणान्तर की आवश्यकता हो।

(५।६४) सांख्यानुसार ऐतिह्य-प्रमाण का स्वरूप है—परम्पराप्राप्त-वाक्य-जनित-अर्थ ज्ञान।

(का० ६।५) उपलक्षण—स्वप्रतिपादकत्वे सति स्वेतरप्रतिपादकत्वम् उपलक्षणत्वम्। "उपलक्षणम् अजहत्स्वार्थलक्षणया अनुमानान्तरस्यापि ग्राहकम्" (आवरण०)। प्रत्यक्षायोग्य पदार्थ के अनुमान में सामान्यतोदृष्ट और शेषवत् के सार्थक उपयोग के लिए एक उदाहरण दिया जा रहा है। नैयायिक सामान्यतोदृष्ट अनुमान के बल पर यह सिद्ध करते हैं कि इच्छा आदि गुण परतन्त्र हैं। यह परतन्त्रता लौकिक प्रत्यक्ष से ज्ञात नहीं हो सकती, पर 'गुण परतन्त्र होते हैं, अतः इच्छा भी परतन्त्र है'—इस सामान्यतो-दृष्ट अनुमान से इच्छा की पराश्रितता सिद्ध होती है। इसके बाद इच्छादि देहाश्रित, इन्द्रियाश्रित एवं मन-आश्रित नहीं हो सकते हैं—इस प्रकार विचार कर 'इच्छाश्रय द्रव्य आत्मा है' यह निर्धारण शेषवत् अनुमान के आधार पर किया जाता है। ऐसे स्थलों में पूर्ववत् का कोई उपयोग नहीं होता; यही कारण है कि वाचस्पति ने उपलक्षण-बल से 'शेषवत्' का ही ग्रहण सामान्यतोदृष्ट के साथ किया है।

(७ का०) वाचस्पति ने ८म कारिका से अनुपलब्धि पद की अनुवृत्ति करके इस कारिका की व्याख्या की है। Dr. C. K. Raja कहते हैं कि इस अनुवृत्ति की आवश्यकता नहीं है। कोई वस्तु जिन आठ हेतुओं से परोक्ष होती है, उन हेतुओं का

उल्लेख ८म कारिका में किया गया है (p. 67)। पर प्रश्न यह है कि क्या अतिदूरत्व आदि हेतुओं से कोई वस्तु परोक्ष होती है ? ध्यान देना चाहिए कि ७म कारिका में उस वस्तु को परोक्ष कहा जा रहा है जो 'तस्मादपि चासिद्धम्' है।

(७।२) सिंहावलोकनन्याय—"यथा हि वने व्रजन् सिंहो मध्ये मध्ये हिंसकभीत्या पृष्ठभागमपि विलोकयति तथोत्तरवाक्यस्थपदानां पूर्ववाक्येष्वपि अनुसंधानं संभवतीत्यर्थः" (सारबो०)। त्रिविध अधिकारों (अन्य दो मण्डूकप्लुति और गङ्गास्रोतः हैं) में यह अन्यतम है। अतिदूर = अतिदूरत्व। ईदृश एक प्रयोग न्यायभाष्य में भी है—'दूराद् अगृह्यमाणपृथक्त्वे (२।१।३६)। यहीं जो आरात् शब्द है उसका अर्थ भी दूरत्व है।

(७।७) सौक्ष्म्यात्—इस सूक्ष्मता का स्वरूप सांख्यीय दृष्टि से ज्ञातव्य है। उद्भूतस्पर्शवान् अणुत्रय से अघटित होना यह सूक्ष्मता है—ऐसा कोई कोई व्याख्याकार कहते हैं, जो सांख्यीय दृष्टि के अनुसार नहीं है। यादृश पदार्थ को अणुरूपेण या परमाणुरूपेण न्यायवैशेषिक में माना गया है, वह पदार्थ सांख्यीय दृष्टि में असिद्ध है।

(७।८) 'राजदारादिक' शब्द का अर्थ है—राजदार आदि है जिसका, वह (बहुव्रीहि)। वस्तु विशेष्य है, अतः यह नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त हुआ है। 'राजमहिषियों को' इस रूप में जो अनुवाद किसी ने किया है, वह असंगत है। दार = पत्नी (पत्नीवाचक यह शब्द पुलिंग-बहुवचन में प्रयुक्त होता है; द्र० लिङ्गानुशासनसूत्र १०६)।

(७।९) अभिभव—'ग्राहकसमानजातीयग्रहणकृतम् अग्रहणम् अभिभवः' (न्यायभा० २।२।१३)। (७।१०) समानाभिहार = सजातीयपदार्थमिश्रण।

(७।१२) योग्यप्रत्यक्षनिवृत्तेः—"योग्यस्य प्रत्यक्षयोग्यस्य विषयस्य प्रत्यक्षनिवृत्तेः प्रत्यक्षाभावात् पुरुषो विषयाभावं निश्चिनोति" (आवरण०)। अनुपलब्धि को जो स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं या नहीं मानते हैं—वे दोनों ही 'अनुपलब्धि' से 'योग्य अनुपलब्धि' का ही ग्रहण करते हैं।

(८ का०) प्रकृतिसरूपं विरूपं च—इसका 'इनमें कुछ कार्य प्रकृति के सदृश और कुछ उससे भिन्न या विलक्षण होते हैं'—यह अनुवाद असंगत है। प्रकृति के सभी कार्य प्रकृतिसरूप एवं प्रकृतिविरूप हैं—यह ज्ञातव्य है।

(८।२) सहमरसवत्—छह रस ये हैं—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय (चरक० विमान १।४० सुश्रुत० सूत्र० ४२।३)। रस का ही उदाहरण देना साभिप्राय है क्योंकि रस ६ प्रकार के ही होते हैं—यह निश्चित है। रस छह प्रकार के ही क्यों होते हैं—इस पर युक्त विचार आयुर्वेद में है; द्र० चरक सूत्र० २६।४०, सुश्रुत सूत्र० ४२।२।

(८।४) एक उदाहरण लें। अन्धकार में घट रहने पर उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता, पर इस प्रत्यक्षाभाव रूप अनुपलब्धि से घटाभाव का निर्णय नहीं होता,

क्योंकि यह उपलब्धि योग्यानुपलब्धि नहीं है। त्वक् इन्द्रिय की सहायता से पदार्थज्ञान में आलोक आवश्यक नहीं होता। 'यहाँ यदि घट होता तो त्वक् इन्द्रिय द्वारा घट उपलब्ध होता' इस प्रकार की उपलब्धि की आपत्ति होती है। यह अनुपलब्धि योग्यानुपलब्धि है। अतीन्द्रिय पदार्थों की अनुपलब्धि योग्यानुपलब्धि नहीं है, अतः अनुपलब्धिमात्र से अतीन्द्रिय पदार्थों का अभाव निश्चित नहीं होता। योग्यताविशिष्ट अनुपलब्धि = योग्यानुपलब्धि, योग्या चासौ अनुपलब्धिश्च (कर्मधारय)।

(का०९।१) कार्य-कारणसम्बन्ध में चार मत हैं—"इह कार्यकारणभावे चतुर्धा विप्रतिपत्तिः प्रसरति। असतः सज् जायते इति सौगताः संगिरन्ते। नैयायिकादयः सतोऽसज् जायत इति। वेदान्तिनः सतो विवर्तः कार्यजातं न तु वस्तुसदिति। सांख्याः पुनः सतः सज् जायत इति" (सर्वदर्शनसंग्रह)। सत् = विद्यमान। असतः सज् जायते—यह वैनाशिक-बौद्धमत है। वे कार्य को 'निरन्वय' कहते हैं। कठभाष्य में इस मत का विशद प्रतिपादन है—नास्ति जगतो मूलमात्मा निरन्वयमेवेदं कार्यजातमभावान्तं प्रविलीयते (कठभाष्य २।३।१२)। न्यायभाष्य ४।१।१७–१८, शारीरक २।२।२६–२७ आदि में इस अभावोपादानमत की चर्चा है। अनुमान इस प्रकार है—पटादिकम् अभावोपादानकम् भावकार्यत्वाद् अङ्कुरादिवत्। सृष्टिप्रपञ्चरूप कार्य ब्रह्म का विवर्त है—यह अद्वैतवादियों का मत है। हरिवृषभ विवर्त का परिचय इस प्रकार देते हैं—एकस्य तत्त्वादप्रच्युतस्य भेदानुकारेण असत्यविभक्तान्यरूपोपग्राहिता विवर्तः, स्वप्नविषयप्रतिभासवत् (वाक्यप० १।१ टीका)। सत् से असत् का होना = कार्य कारण में विद्यमान नहीं है बल्कि नूतन निर्माण है—यह न्यायवैशेषिकों का मत है। इस 'नूतनत्व' के लिए वे 'आरम्भ' शब्द का प्रयोग करते हैं। किसी वस्तु को उत्पन्न कहने का अर्थ है कि वह वस्तु पहले नहीं थी, और किसी क्षण में वह सम्बन्धयुक्त हुआ है। वस्तु का यह जो प्रथम अभाव (न रहना) है, वह 'प्रागभाव' कहलाता है। इस दृष्टिकोण से नैयायिक कहते हैं—कार्यं प्रागभावप्रतियोगि। कोई वस्तु उत्पन्न हुई है—ऐसा कहने का अर्थ है कि वह वस्तु किसी एक क्षण में प्रथम सम्बन्धयुक्त हुई है, उससे पहले वह नहीं थी। जिस वस्तु की सत्ता और असत्ता कारण की सत्ता और असत्ता के अधीन है, वह वस्तु कार्य है।

(९।२) एकस्य सतो विवर्तः—विवर्त का लक्षण (पूर्वाचार्यसंमत) यह है (विकार = परिणाम के लक्षण के साथ)—सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदाहृतः। अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदाहृतः। (संक्षेपशारीरक २।५६; यह कारिका वेदान्तसार में उद्धृत है)। विवर्त के लिए कल्पतरु १।२।२१ तथा पञ्चदशी १३।६–१० द्र०। 'विवर्तः स्वाज्ञानकल्पितः स्वज्ञाननिवर्त्यः अतत्त्विकोऽन्यथाभावः' (पूर्णिमा)।

(९।३) सुखदुःख····· ·····वाक्य का एक पाठान्तर यह है—सुखःदुःखमोहभेदवत्स्वरूपपरिणामशब्दाद्यात्मकत्वं हि जगत्कारणस्य प्रधानत्वं सत्त्वरजःतमःस्वभावत्वम्।

इस वाक्य का तात्पर्य है—प्रधान का प्रधानत्व = सत्त्वरजस्तमोगुणस्वरूपत्व = सुखदुःख-मोहात्मकत्व। सुखदुःखमोहरूप भेद (=विशेष) जिसमें हैं, वह सुखदुःखमोहभेदवत्-स्वरूप है। एवंविध जो पञ्चतन्मात्रादिरूपशब्दादि-परिणाम हैं, वे जिसकी आत्मा (स्वरूप) हैं, वह 'सुख········आत्मक' है। मुद्रित मूलपाठ का तात्पर्य यह कि सुखाद्यात्मक जो जगत् है वह स्वकारण के सत्त्वादिस्वरूप का बोध कराता है।[1]

(९।४) निरुपाख्य—भाष्यविवरण में निरुपाख्य का उदाहरण शशविषाण दिया गया है। निरुपाख्य को लक्षणहीन, निःस्वरूप, निःस्वभाव या 'इदन्तयावक्तुमशक्यम्' (उदा०), 'निरुपाख्यः अशेषविशेषशून्यः' (बृहदा० २।१।१५ गिरिटीका) कहा गया है। यह सम्भव ही है कि तत्त्वकौ० में असत् का पर्याय निरुपाख्य दिया गया हो, जैसा कि न्यायभाष्य में प्रयोग है—तत्र समुपाख्यायमानं कथं निरुपाख्यमभावः स्यादिति (४।१।३७); यहाँ अभाव शब्द का अर्थ निरुपाख्य अर्थात् निःस्वरूप अलीक है।

सदसतोस्तादात्म्यानुपपत्तेः—"अत्राभेद एव तादात्म्यम् योगभाष्यव्याख्यायां (३।१३) तु 'अविचारितभेदप्रतीतिसहकृताभेद एव कार्यकारणयोस्तादात्म्यम् इति बोधयति, सर्वथाऽपि न सदसतोस्तादात्म्यम्" (विद्वत्०)।

(९।६) कार्यात्मकं कारणम्—वैशेषिकदर्शन के अनुसार कार्य और कारण (यहाँ उपादान कारण) भिन्न हैं और दोनों में समवाय सम्बन्ध है। अपने अवयवभूत कपालों के साथ घट का समवाय सम्बन्ध है जो नित्य है, अर्थात् जब तक कपालों का एतादृश संयोग रहेगा, तब तक घट अवश्य रहेगा और उस संयोग को नष्ट करने पर ही घट नष्ट होगा।

(९।९) नैयायिकतनयैः—यहाँ तनय का अर्थ पुत्र नहीं है, शिष्य है (तनयवत् शिष्य)। इस प्रकार का एक प्रयोग भागवत (३।१।२५) में भी है (प्राक्-तनय), जहाँ तनय = पूर्वशिष्य, ऐसा श्रीधरस्वामी ने कहा है। यह आश्चर्य है कि भागवत में भी प्राक्-तनय का पाठान्तर 'प्राक्तनय' मिलता है।

(९।१०) बीज से अंकुर की उत्पत्ति कैसे होती है, इसकी पूरी प्रक्रिया शारदा-तिलक १।२७ की राघवानन्दकृत टीका से जाना जाता हैं। अंकुर की उत्पत्ति में सहायक

१. बाह्याध्यात्मिक भेद सुखदुःखमोहात्मक (आत्मा = स्वरूप) है—यह मत (जो असंगत है) शङ्करादि आचार्यों ने स्पष्टतया कहा है—बाह्याध्यात्मकानां भावानां सुखदुःखमोहात्मकतया···· (शारीरक० २।२।१), इदमपि जगद् अचेतनं सुखदुःख-मोहान्वितं सद् अचेतनस्यैव सुखदुःखमोहात्मकस्य कारणस्य कार्यं भवितुमर्हति (शारीरक० २।१।४)। गुणत्रय के प्रसंग में इस भ्रान्त मत पर विशेष विचार द्रष्टव्य है।

बीजध्वंस अवश्य है, पर अङ्कुर किसी सत्पदार्थ से ही उद्गत होता है। आज के अणु-वीक्षण (Microscope)-धारी वैज्ञानिकों के सामने 'अभावरूप ध्वंस से अङ्कुर का उत्पन्न होना' कहने वाला बौद्ध 'उन्मत्तवद् उपेक्ष्येत'।

(९।११) तात्पर्यटीका का कहना है कि अभाव निःस्वरूप या अवस्तु है; यदि वह अंकुर का उपादान हो तो सर्वथा विनष्ट शालिवीज और यववीज का कोई विशेष न रहने के कारण शालिवीज के रोपण करने पर यव की भी उत्पत्ति हो सकती है, चूंकि शालिवीज का अभाव और यववीज का अभाव—इन दोनों में कोई वैशिष्ट्य नहीं है। पर नानाविध कार्यों की उत्पत्ति शक्ति के भेद के कारण होती है। असत् = अभाव = अवस्तु को उपादान कहने पर भिन्न-शक्तियुक्त नाना कार्यों की उत्पत्ति नहीं हो सकती। किंच प्रागभाव यदि उपादान-कारण हो तो प्रागभाव के अनादिता-निबन्धन कार्य की भी अनादिता सिद्ध होती है। फिर प्रागभावों में स्वाभाविक भेद न रहने के कारण उनसे विभिन्न शक्तियुक्त कार्यों की उत्पत्ति नहीं हो सकती (द्र० कन्दली, पृ० ३३९, शारीरक० २।२।२६; भाष्यविवरण १।३२)।

(९।१५) नहि नीलम्—यथा स्वभावनीलं मरकतादिकम् अनीलं न भवतीति (पूर्णिमा)।

(९।१६) सदसत्त्वे घटस्य·····—·····"यथा नीलं कमलमित्यस्य नीलगुणरूपधर्माश्रयः कमलम् इत्यर्थेन बोभूयते तथा असन् घट इत्यस्यापि असत्त्वरूपधर्माश्रयो घट इत्येवार्थो वाच्यः। स च नोपपद्यते, कमलेन सह नीलस्येव असता घटेन सह असत्त्वरूपधर्मस्यासंवद्धत्वात्" (सारबोधिनी)। असंबद्धेन अतदात्मना—असत्त्व के दो विशेषण हैं, असंबद्ध- और अतदात्मा; "असंवद्धेनासत्त्वेन इति कथनं तार्किकमताभिप्रायम्, अतदात्मना चासत्त्वेन इति प्रकृतमताभिप्रायम् (विद्वत्०)।

(९।२३) 'सांख्यवृद्धाः' का प्रकृत अर्थ 'सांख्येषु (सांख्यवित् के अर्थ में भी सांख्य शब्द निष्पन्न हो सकता है) वृद्धाः' नहीं, इसका अर्थ है—'प्रशंसित या पूजित सांख्यविद्'। वृद्ध शब्द प्रशंसावचन है; तातपाद आदि शब्दों में जिस प्रकार पाद शब्द प्रशंसावचन है, तथैव यहाँ भी समझना चाहिए।

(९।२४) शक्तिश्च कार्यदर्शनादवगम्यते—"कारणनिष्ठा शक्तिश्च कार्यदर्शनात्, 'मृद एव घटः कनकादेव कटकम्' इति प्रतिनियतकार्योत्पत्त्यन्यथानुपपत्तिज्ञानाद् अवगम्यतेऽनुमीयते" (सारबो०)।

(९।२४-२५) इस विषयमें विधिविवेक पर वाचस्पतिकृत न्यायकणिका का यह सन्दर्भ मननीय है—अशक्ताद् अशक्यकार्यस्यानुत्पत्तेः अतिप्रसंगात् शक्तादेव कारणात् कार्येण शक्तेन उत्पत्तव्यम्। शक्तियुक्तश्च शक्तः। शक्तिश्च शक्तिमत्—सम्बन्ध-

रूपा, संयोगवद् उभयाश्रया या शक्याभावे न भवतीति शक्यभावोऽभ्युपेयः (पृ० ३०)।[1] यह ज्ञातव्य है कि न्यायकणिका में सत्कार्यसिद्धि के लिए स्वतन्त्र रूप से विशेष चेष्टा की गई है।

(९।२६) नैयायिक के अनुसार शक्ति कारणत्व ही है। 'अथ शक्तिनिषेधे किं प्रमाणम् ? न किञ्चित्। तत् किमस्त्येव, बाढम्, न हि नो दर्शने शक्तिपदार्थ एव नास्ति। कोऽसौ तर्हि ? कारणत्वम्' (कुसुमाञ्जलि १।१३)। इति सुष्ठूक्तं—चूँकि शक्त (=शक्तियुक्त) कारण शक्तिसम्बद्ध शक्य को ही उत्पन्न करता है, असंबद्ध को नहीं, अतः सांख्यीय मत सुष्ठु ही उक्त हुआ है। उदासीन जी की टिप्पणी यहाँ की बात को अत्यन्त स्पष्ट करती है—"कारणे तदात्मना वर्तमाना कार्यस्याव्यक्तावस्थारूपा अनागतावस्थैव कार्यनियामिका शक्तिः, तथा सम्बद्धं कार्यं च शक्यम् इत्यनागतावस्थावत्त्वेन कारणे कार्यस्य सत्त्वात् न कार्यस्य असत्त्वमिति तत्त्वम्" (पृ० १५५)।

हन्त भोः—इससे ध्वनित होता है कि सांख्याचार्य ने समझ लिया कि अब वे जो कुछ कहेंगे, उससे नैयायिक का पक्ष खण्डित हो जायेगा। इसमें परिहास की ध्वनि है, अर्थात् 'यदि आप ऐसा कहें तो मुझे दुःख से कहना पड़ेगा कि····· ·····' यह हार्दिक भाव है।

(९।२९) न पटस्तन्तुभ्यो भिद्यते·····—अनुमान यह है—पटः तन्तुभ्यो न भिद्यते; तद्धर्मत्वात्; इह यद् यतो भिद्यते·····यथागौरश्वस्य। यहाँ व्यतिरेकव्याप्ति है।

(९।३०) इस विषय में ता० टी० २।१।३३ द्रष्टव्य है (यथाभिन्नात्·····तन्तुना प्राप्यते)। उपादान–उपादेय भाव=आरम्भक-आरभ्य–भाव। यहाँ भी व्यतिरेक-व्याप्ति है।

(९।३१) संयोग-अप्राप्ति-अभावात्—संयोगः=परस्परनैरपेक्ष्येण विद्यमानयोः कादाचित्कसम्बन्धः। अप्राप्तिः=तथाविधयोः कदाचिदपि असम्बन्धः (आवरण०)।

---

१. डा० व्रजमोहन ने इस वाक्य को उद्धृत कर 'इति न्यायकणिकाचार्याः' कहा है। इससे जान पड़ता है कि उनके अनुसार न्यायकणिकाचार्य किसी का नाम है; पर वस्तुतः यह नामविशेष नहीं है। अनुसन्धान करने से पता चला कि उपर्युक्त वाक्य को वंशीधर मिश्र ने तत्त्वविभाकर में उद्धृत कर 'इति न्यायकणिकाचार्याः' कहा है (पृ० १९३)। प्राचीन शैली के पण्डित ऐसा लिखते थे, पर आजकल ऐसा लिखना अप्रशस्त ही है। सम्भवतः डा० व्रजमोहन को न्यायकणिकाचार्य शब्दका तात्पर्य ज्ञात नहीं है। इसका तात्पर्य हमने ऊपर लिख दिया है।

(९।३२) गुरुत्वान्तरकार्याग्रहणात्[1]—"ननु गुरुत्वान्तराग्रहणादिति संमानगुरुत्व-वत्त्वात् इति वा हेतोः संभवे गुरुत्वान्तरकार्याग्रहणात् इति कार्यपर्यन्तानुधावनं व्यर्थमिति चेत्, अत्राहुः—'अप्रत्यक्षं पतनकर्मानुमेयम्' इत्युक्तेरतीन्द्रियत्वेन गुरुत्वस्य प्रत्यक्षेण ग्रहणासंभवात् पतनकर्मानुमेयं तत्—इत्याशयेन कार्यपर्यन्तानुधावनम् इति" (सारबो०)।

(९।३२) यथैकपलिकस्य स्वस्तिकस्य....द्विपलिकस्य स्वस्तिकस्य—यहाँ द्विपलिक का प्रसंग ही क्या है—ऐसा प्रश्न हो सकता है। चूंकि रूप आदि कार्य में भी है और कारण में भी है अतः कार्य में कारणगुण की द्विगुणता प्राप्त होती है (कार्य और कारण के भिन्न होने के कारण)। पर ऐसा भेद देखा नहीं जाता, अतः कार्य और कारण परस्पर कथमपि भिन्न नहीं होते। कार्य से कारण को भिन्न मानने पर कारिकोक्त जो गुरुत्वभेद (अर्थात् द्विगुण गुरुत्व) होगा, इसको कई आचार्यों ने कहा है—आरम्भ-वादिनः कार्ये मृदो द्वैगुण्यमापतेत् (पञ्चदशी १३।५२); "पृथग्द्रव्यस्वरूपः सम् समवेतो घटो मृदि। इत्याहुस्तार्किका तत्तु न द्वैगुण्यप्रसंगतः॥ २४। मृद्भाराद् घटभाराच्च गुरुत्वं द्विगुणं भवेत्। तथालङ्कारकर्ता स्यात् कृती हेमादिवृद्धितः॥ २५ (विद्यारण्यकृत अनुभूतिप्रकाश, अ० १)।

(९।३५) इस 'स्वात्मनि....अर्हन्ति' के कई पाठभेद हैं (द्र० टिप्पणी)। हस्तलेख की सहायता से निर्णय करणीय है। स्वाभीष्ट पाठों पर विभिन्न व्याख्याएं हैं, यद्यपि सिद्धान्त में कोई भेद नहीं होता। (क) 'क्रियानिरोधबुद्धिव्यपदेशार्थक्रियाव्यवस्थाभेदः' पाठ में चार युक्तियाँ हैं—(१) क्रिया (=उत्पत्ति)-निरोध (=नाश)-बुद्धिभेद, (२) व्यपदेशभेद, (३) अर्थक्रियाभेद, (४) व्यवस्थाभेद (द्र० उदासीनव्याख्या)। (ख) तत्त्वकौ० के अगले व्याख्यान से 'स्वात्मनि क्रियाविरोधव्यपदेशार्थ-क्रियाभेद-क्रियाव्यवस्थाश्च' यह पाठ भी संगत प्रतीत होता है। क्रिया = उत्पत्ति और निरोध। पञ्चविध हेतु ये होंगे—उत्पत्तिविरोध, निरोधविरोध, व्यपदेश (व्यवहार, आधाराधेयभाव), अर्थक्रियाभेद और क्रियाव्यवस्था। (ग) क्रियानिरोधबुद्धिव्यपदेशार्थक्रिया-क्रियाव्यवस्थाभेदाश्च—तत्त्वकौ० के

---

१. ता० टी० २।१।३३ में गुरुत्वानन्तरकार्यग्रहण का विवरण है (अवयव-अवयवी के सम्बन्ध के विषय में)—अवयवगुरुत्वाद् गुरुत्वान्तरमवयविनस्तस्य यत् कार्यमव-नतिविशेषस्तस्याग्रहणात्। कौमुदीगत दृष्टान्त का उदाहरण न्यायवार्त्तिक में है—गुरुत्वप्रयत्नसंयोगा उन्नतेः (३।२।१२)। वाचस्पति कहते हैं—विधारकः प्रयत्नस्तुलाधारस्य तदपेक्षः संयोगः संयुक्तसंयोगो गुरुत्वं च तत्संयुक्तावयवान्तर-वर्तिकारणमुन्नतेस्तुलावयवस्य अवनतेरपि द्रव्यं गुरुत्ववत्-सुवर्णादि परिमीयमाणं तत्संयोगानुगृहीतो रज्जुतुलासंयोगः कारणम्। अवनति-विशेष के लिए महाभाष्य-प्रदीप में 'नामोन्नाम' (=नमनोन्नमन) शब्द है (५।१।११९)। गुरुत्व का सम-वायी कारण द्रव्य माना जाता है।

अगले व्याख्यान से यह पाठ समीचीन प्रतिभात होता है (द्र० गुणमयीटीका)। इसमें पाँच हेतु हैं—(१) कार्यकारण का उत्पत्ति-प्रतीति-भेद, (२) ध्वंस-प्रतीतिभेद, (३) व्यपदेशभेद, (४) प्रयोजनसाधकताभेद, (५) कार्यविशेषव्यवस्थाभेद। (क्रिया = उत्पत्ति; निरोध = ध्वंस, अर्थक्रिया = प्रयोजनसाधकता) (पूर्णिमा भी द्र०)।

(९।३६) यथाहि कूर्मस्य····निःसरन्ति—'निःसरन्ति' यह पद निःसरत् इस नपुंसकलिङ्ग शब्द के प्रथमाबहुवचन का रूप है। यह वाक्य क्रिया-निरोध-बुद्धि के द्वारा जो ऐकान्तिक भेद दिखाया गया है, उसका प्रतिषेध करता है। उत्पत्ति और ध्वंस वस्तुतः आविर्भाव और तिरोभाव हैं—यह इसमें दिखाया गया है।

(९।३८) व्यपदेश हेतु द्वारा जो ऐकान्तिक भेद सिद्ध किया गया था, उसका प्रतिषेध "एवं च इह तन्तुषु पट इति व्यपदेशोऽपि यथा इह वने तिलका इत्युपपन्नः" इस वाक्य द्वारा किया गया है। यह वाक्य मुद्रणप्रमाद से छूट गया है। एवं चेत् तन्तुषु पट इति—"तिलकसमुदाय एव वनं तद् व्यतिरिक्तं वनं नास्ति तथापि भेदव्यपदेशो भवतीति एतावन्मात्रे विवक्षितेंऽशे दृष्टान्तोऽन्यथा तिलकेषु वनमिति वाच्यम्" (भारतीयति)।

(९।४१) स्यादेतत्···—'स्यादेतत्' की ध्वनि यह है कि कार्य-कारण में भेद सिद्ध करने के लिए जो हेतु दिये गये थे, वे खण्डित हो गये हैं।

(९।४३) जिनके मत में उत्पत्ति से पहले कार्य सत् नहीं है उनके मत में जो दोष होते हैं, उन सबों का एक लघुविवरण गीता १८।४८ के शांकरभाष्य में भी मिलता है। यह विचार तत्त्वकौमुदीवत् है। यहाँ सांख्यपक्ष में भी दोष दिया गया है (सांख्यस्यापि यः परिणामपक्षः सोऽपि अपूर्वधर्मोत्पत्तिविनाशाङ्गीकरणाद् वैशेषिकपक्षान्न विशिष्यते)। यह दोषप्रदर्शन सांख्यदृष्टि को यथावत् न समझकर किया गया है। तत्त्वकौ० के सांख्यपक्ष का उत्तर "यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः। नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थ-विचारणे ॥" न्याय पर निर्भरशील है। (यह कुमारिलकृत श्लोक है)।

(९।४४) अथोत्पत्तिः पटान्नार्थान्तरम्—अनुत्पन्न पट से अनतिरिक्त जो उत्पत्ति है उसकी सिद्धि के लिए कारणव्यापार की अपेक्षा होगी—यह नैयायिक कहना चाहते हैं। इस मत का खण्डन 'तथापि·····' वाक्य में है। नैयायिक का जो प्रकृत आशय है, वह यह है—उत्पत्ति और घट अभिन्न होने पर भी घटमात्र-गत घटत्वनामक धर्म एवं उत्पत्तिमात्रगत उत्पत्ति नामक धर्म का भेद है, अतः 'घट की उत्पत्ति' कहने पर पुनरुक्ति नहीं होती है। एकधर्मरूपेण एक ही पदार्थ की पुनरुक्ति करने पर पुनरुक्त दोष होता है, जैसे 'घटः कलसः' में पुनरुक्ति दोष होता है। घट की उत्पत्ति घट से अभिन्न है, पर उत्पत्तिमात्र घट से अभिन्न नहीं है, अतः उत्पत्तिमात्रगत उत्पत्ति-नामक जो धर्म

है, वह घटत्व से भिन्न होने से उपर्युक्त वाक्य में पुनरुक्तिदोष नहीं होता है (न्याय-परिचय, पृ० ११७ बंगला ग्रन्थ)।

(९।४५) तस्मादियं पटोत्पत्तिः स्वकारणसमवायो वा स्वसत्तासमवायो वा—स्वकारणेन समवायः स्वकारणे समवायो वा स्वोत्पत्तिरित्यर्थः। स्वसत्तया समवायः स्वस्मिन् सत्तासमवायो वा स्वोत्पत्तिरित्यर्थ इति वंशीधरः। अन्ये तु व्याचक्षते—स्वस्य = कार्यस्य कारणे = उपादाने समवायः = सम्बन्ध इत्यर्थः। तथा च मृदः पिण्डत्वाद्यवस्थायां घटस्य तत्र न सम्बन्ध इति न तदानीं घटोत्पत्ति-व्यवहारः। घटाकारत्वावस्थायां तु घटस्य मृदि सम्बन्धात् घटोत्पत्तिव्यवहारः संगच्छते इति भावः। (सारबो०)।

(९।४६) तद्रूपस्याक्रियत्वात्—रूप गुण-विशेष है; गुण क्रिया से अत्यन्त पृथक् पदार्थ है; रूप क्रिया का आश्रय भी नहीं होता। रूप चूँकि निष्क्रिय है (वैशेषिक मत में), अतः वह उत्पद्यमान द्रव्य में समवेत होता है।

(९।४६) क्रियासम्बन्धित्वाच्च कारकाणाम् अन्यथा कारणत्वाभावात्—"क्रिया-संबन्धित्वात् क्रियानुकूलव्यापारवत्त्वात्....तथा च कारयतीति कारणमिति व्युत्पत्त्या क्रियानुकूलव्यापारवत एव कारणपदार्थत्वम्....क्रिया च धात्वर्थः। एवं च उत्पत्तेर्धात्वर्थ-रूपत्वेन क्रियात्वम्, रूपस्य तु धात्वर्थत्वाभावाद् अक्रियात्वमिति भावः" (आवरण०)।

(का० १०।१) सारूप्य = साधर्म्य, सधर्माओं का भाव = साधर्म्य। सधर्मा = समान (अर्थात् एक) धर्म है जिनका, वे। विरुद्ध धर्म जिनका है, वे विधर्म हैं; उनका धर्म वैधर्म्य।

(१०।४) सर्वं परिणामिनम्—यहाँ सर्व शब्द सापेक्ष-साकल्यवाची है, निरपेक्ष साकल्यवाची नहीं है। देखा जाता है कि महदादि कतिपय परिणामी पदार्थों को ही व्यापते हैं।

(१०।५) परिस्पन्द और परिणाम में क्रिया का विभाग प्रसिद्ध है। "ननु परिस्पन्दः परिणामो वा पुरुषस्य क्रियाभ्युपगम्यते...."(उपदेशसाहस्री १६।५० की टीका)। परि-स्पन्दः = स्वस्थानात् स्थानान्तरसम्बन्धः। यह 'संयोगजनकं कर्म' है (पूर्णिमा) अथवा और स्पष्ट भाषा में 'संयोगवियोगानुकूल क्रिया' है।

(१०।७) अभेदेऽपि कथंचिद् भेदविवक्षया—"व्यवहारभेदमात्रमादाय आश्रया-श्रयिभाव इति भावः"। भेदविवक्षया = "गुणजातिक्रियारूपवैधर्म्यविवक्षया" (सारबो०)।

(१०।१३) यद्यपि अव्यक्तस्यास्ति परिणामलक्षणा—क्रिया को यदि धात्वर्थवाची माना जाये तो परिणामरूप क्रिया अव्यक्त में होने के कारण अव्यक्त को निष्क्रिय नहीं कहा जा सकता, अतः क्रिया = परिस्पन्द माना गया है, जो परिस्पन्द अव्यक्त में नहीं है। परिस्पन्द = चलन।

(११ का०) तथा च पुमान्—R. Phukan कहते हैं–The expression तथा च in Sanskrit is a phrase, the meaning of which is 'not with-

standing all that has been said above' (p. 84)। यह अर्थ-कथन सर्वथा असमीचीन है।

(११।४) 'सहोपलम्भनियम' से (द्र० व्यास० ४।१६) विज्ञानवाद को प्रमाणित किया जाता है। सहोपलम्भ का यथार्थ अर्थ है—'एक = अभिन्न काल में उपलब्धि'—एक साथ या नियत रूप से उपलब्धि नहीं, जैसा कि आधुनिक [1]व्याख्याकार समझते हैं। सहोपलम्भ का यह अर्थ तत्त्वसंग्रह (पृ० ५६७) और तत्त्वसंग्रहपञ्जिका (पृ० ५६८) को देखने से ज्ञात होता है।

इस विषय में धर्मकीर्तिकृत प्रमाणविनिश्चय का यह वचन अतिप्रसिद्ध है—सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः। भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानाद् दृश्येतेन्दाविवाद्वये॥ (भ्रान्तिविज्ञानैः, पाठा०)। यह कारिका सर्वदर्शनसंग्रह, न्यायकणिका, भामती, तत्त्ववै० ४।१४ आदि अनेक ग्रन्थों में उद्धृत है। इसका तात्पर्य यह है कि 'नील' और 'तद्विषक ज्ञान' में कोई भेद नहीं है। नीलाकार ज्ञान = नील। इस प्रकार यह स्वीकार्य होता है कि जो जिस ज्ञान के विषय के रूप में स्वीकृत होता है, वह उस ज्ञान का आकारविशेष ही होता है। ज्ञान से पृथक् ज्ञेय विषय की सत्ता नहीं है, क्योंकि सहोपलम्भनियम है अर्थात् ज्ञान की उपलब्धि और ज्ञेय विषय की उपलब्धि एक ही पदार्थ है। यह एकोपलब्धि ही सहोपलम्भ है। ज्ञान की उपलब्धि से पृथक् रूप से ज्ञेय की उपलब्धि नहीं होती। इस एकोपलब्धि से सिद्ध होता है कि ज्ञान और ज्ञेय में भेद नहीं है। पर जिस प्रकार नेत्रदोष से एक चन्द्र दो चन्द्र के रूप में दृष्ट होता है (चन्द्र के एक होने पर भी भेद का दर्शन होता है) उसी प्रकार ज्ञेय और विषय में (अभेद रहने पर भी) भेद-दर्शन होता है।

विज्ञानवाद योगाचारानुसारी बौद्धों का है। चित्तवृत्ति रूप विज्ञान ही विषयाकार से अवभात होता है—यह इनका मत है।

---

1. "Hence it is said : Blue is identical with the cognition of blue, since they are invariably perceived together" (J. N. Sinha : Indian Realism, p. 193) "As Dharmakirti states, the blue colour and the consciousness of the blue colour are identical, beecause they are never perceived to exist separately (Chatterjee and Datta: I. I. P. p. 170) ? यहाँ ग्रन्थकारों ने जैसा कहा है, उससे यह स्पष्ट नहीं है कि वे 'सह' का अभिन्न काल रूप अर्थ समझते थे। 'Invariably perceived होना' तथा 'कभी भी separately perceived न होना' ऐसे पदार्थ नहीं हैं कि उनसे अभिन्न काल में उपलब्धि रूप अर्थ ही व्यक्त हो।

(११।९) प्रसवधर्मेति वक्तव्ये—'प्रसव धर्म है जिसका' इस अर्थ में (बहुव्रीहि समास) प्रसवधर्मन् यह शब्द बनता है। अतः प्रसवधर्म (प्रसवरूप धर्म) है जिसका इस अर्थ में मत्वर्थीय इनि-प्रत्यय (अष्टा० ५।२।११५) करके प्रसवधर्मिन्-रूप शब्द की आवश्यकता क्या है—यह प्रश्न है। मत्वर्थीय प्रत्यय करने पर नित्ययोग रूप अर्थ (विषय) का भी लाभ होता है; अर्थात् प्रसवरूप धर्म नित्य ही रहता है, इस अभीष्ट अधिक अर्थ का लाभ होता है, जो बहुव्रीहिसमास करने पर प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार का कोई अर्थाधिक्य न हो तो बहुव्रीहि समास ही करना चाहिए—'न कर्मधारयान् मत्वर्थीयो बहुव्रीहिश्चेद् अर्थप्रतिपत्तिकरः'। शान्ति० ३०७।२ में अव्यक्त का विशेषण 'सर्गप्रलय-धर्मि' है। मत्वर्थीय प्रत्यय = मतुप् तथा मतुप् के अर्थ में होने वाले प्रत्यय; द्र० अष्टाध्यायी ५।२।९४ से १४०; ये प्रत्यय 'तदस्ति अस्य' 'तदस्ति अस्मिन्' इन दो अर्थों में होते हैं। प्रकृत स्थल में ५।२।११५ सूत्र द्वारा इनि (इन्) प्रत्यय हुआ है।

(११।१०) अतिदिशति = अतिदेश करता है। अतिदेश का अर्थ है—सादृश्य-ग्राहक वाक्य का अथवा एक धर्म का अन्यत्र आरोप।

(का० १२।३) अनागतावेक्षण—हमारा कहना है कि मूल का पाठ 'अनागतावेक्षणेन तन्त्रयुक्त्या' है, 'वा' भ्रान्तिज है। अनागतावेक्षण एक तन्त्रयुक्ति है जिसका उल्लेख सुश्रुत (उत्तर० ६५), चरक (सिद्धिस्थान १२।४०-४५), विष्णुधर्मोत्तर (३।६), भट्टार हरिश्चन्द्रकृत चरक न्यासव्याख्या तथा वाग्भटकृत अष्टाङ्ग संग्रह (उ० ५०।९७) और अर्थशास्त्र[1] (१५।१ अ०) में है। तन्त्रयुक्ति वह शास्त्रीय उपाय है, जिससे वाक्ययोजन और अर्थयोजन होते हैं। तन्त्रयुक्तियों की संख्या में मतभेद हैं। अनागतावेक्षणम् = 'पश्चादेव विहितम्' अथवा 'एवं वक्ष्यामि'। डल्हण् कहते हैं—अनागतस्य भविष्यतोऽवलोकनं कार्यार्थमवेक्षण मित्यर्थः। परत्र वक्ष्यामीत्यनागतवीक्षणम् (वैद्यनाथकृत छाया टीका)। इस अनागतावेक्षण नामक उपाय से प्रीत्यादि के साथ सत्त्वादि गुणों का सम्बन्ध हो ही जाता है। तन्त्रयुक्ति को यदि एक पृथक् हेतु के रूप में माना जाये तो दो हेतु मानने पड़ेंगे, पर इन दोनों हेतुओं में कोई विशेष प्रतीत नहीं होता। तन्त्रयुक्ति का जो अर्थ हो सकता है, उसमें अनागतावेक्षणरूप उपाय का अन्तर्भाव हो जाता है। अनागतावेक्षण ही न्याय (= तन्त्रयुक्ति) विशेष है—इस अर्थ को मानकर ही श्रीधर लिखते हैं—तदनागतावेक्षणन्यायेन अस्मद्बुद्धिभ्यो लिङ्गमृषेरिति प्रतिपादितस्य अस्मद्विशिष्टस्य वक्तुः परामर्शः (कन्दली, पृ० ५२०–५२१)। द्र० शबर १।१।२।[2]

---

१. कौटिलीयतन्त्रयुक्ति पर देखें J. O. R. Madras, Vol. IV, pp. 82 ff.

२. हमें अभी अभी यह सूचना मिली है कि Hamburg से प्रकाशित सांख्यतत्त्वकौमुदी (Srinivasam सम्पादित) में मूलपाठ के रूप में वा-रहित पाठ ही छपा है। मुझे खेद है कि मैं तत्त्वकौमुदी के संपादन में इस संस्करण का उपयोग न कर सका।

(१२।४) इसके अनुरूप श्लोक देवीभागवत ३।८।४४-५० में मिलते हैं। यहाँ जो 'नैषामादिः' कहा गया हैं, उसमें आदि का अर्थ कारण भी हो सकता है। कारण अर्थ में आदि शब्द का प्रयोग वात्स्यायन भाष्य २।२।१३ में है। (१२।५) प्रीतिरात्मा भावो येषाम्—यस्येति वक्तव्ये येषामिति बहुवचनं प्रीत्यादीनां सर्वेषां बोधसूचनाय गौरवसूचनाय वा (तत्त्वसुधा)।

(१२।१०) सत्त्वं रजस्तमसोः उपकरोति—रजस्तमसोः में जो षष्ठी विभक्ति है, वह 'कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठी एव' इस नियम के अनुसार है, जैसा कि 'मातुः स्मरति' में देखा जाता है—मातुः स्मरति = मातृसंबन्धि स्मरणम्, न कि मातृकर्मिका स्मरणक्रिया।

(१२।११) यहाँ तत्त्वसुधाकार का यह मत द्रष्टव्य है—गुणत्रयस्यैतदवस्थात्रया-वलम्बनेनैव ग्रन्थान्तरे अष्टाविंशति-तत्त्ववार्ता कथिता।

(१२।१३) चः समुच्चये—यह उक्तार्थ-समुच्चय है।

(का० १३।८) सुन्दोपसुन्दन्याय–द्र० महाभारत आदि० २०८–२११ अ०। तिलोत्तमा की प्राप्ति के लिए सुन्द-उपसुन्द-नामक दो असुरों ने परस्पर की हत्या की थी—यह इस उपाख्यान में दिखाया गया है। समान बलवानों का परस्पर विरोध दिखाने के लिए यह न्याय प्रयुक्त होता है; सबल-दुर्बलों का विरोध दिखाने के लिए मात्स्यन्याय है।

(१३।१०) पुरुषार्थत इति अनागतावस्थपुरुषार्थत इत्यर्थः। अनागतावस्थ-पुरुषार्थश्च क्वचिद् अदृष्टमिति व्यपदिश्यते (पूर्णिमा)।

(१३।१२) सुखा करोति—यहाँ दो पद हैं—एक पद नहीं—यह ज्ञातव्य है। (प्रमाद से एक पद की तरह मुद्रित हो गया है)। (सुखा करोति = अनुकूल आचरण के द्वारा आनन्द देता है; अनुकूलाचरण रूप अर्थ गम्यमान है)।

(का० १४।३) तत्त्वकौमुदीगत उदाहरण 'भाव-प्रधान निर्देश' का उदाहरण है। अष्टा० १।४।२१ की व्याख्या में कैयट ने कहा है—द्वित्वैकत्वयोश्च द्व्येकशब्दौ वर्तेते इति द्व्येकयोरिति द्विवचनेन निर्देशः, अन्यथा बहुवचनं स्यात्। धर्मिवाचक शब्द जहाँ धर्म-परक के रूप में प्रयुक्त हुआ है (अर्थात् जहाँ धर्मिवाचक शब्द का अर्थ धर्मपरक रूप से लेना है) वहाँ उस प्रयोग को भावप्रधान निर्देश कहा जाता है।[1]

(१४।४) स्फुटत्वादन्वयो नोक्तः—अन्वय = अन्वयव्याप्ति। स्फुटत्वात् अन्वयव्याप्तेः स्फुटत्वात् अभावज्ञानानपेक्षितत्वेन झटित्युपस्थितेरिति यावत्। अन्वयः = त्रैगुण्यसत्त्वे अविवेकित्त्वादिसत्त्वम् इत्येवंरूपोऽन्वयसहचारः नोक्तः कारिकाकारेण मुखतो नाभिहितः।

---

१. इसका यह तात्पर्य नहीं (जैसा कि डा० व्रजमोहन कहते हैं) कि 'जहाँ पर भाव-प्रधान निर्देश करना होता है वहाँ धर्मी-वाचक शब्द का धर्मपरत्वेन भी व्यवहार किया जाता है।' डा० व्रजमोहन के इस वाक्य में 'निर्देश करना होता है' तथा 'धर्मपरत्वेन भी'—ये दो अंश असंगत हैं।

(१४।५) व्यतिरेकम्—यन्नाविवेकि तन्न त्रिगुणम् यथा आत्मतत्त्वम् इत्यात्मकं व्यतिरेकसहचारमाह (सारबो०)।

(१४।८) कार्यं हि कारणगुणात्मकम्''''—'कारण का गुण = आत्मा स्वभाव है जिसका, वह' अर्थात् कारणगुणगुणकम्। 'कारणगुणाः कार्यगुणानारमन्ते'—यह वैशेषिकों की दृष्टि है। अवयव के गुण से अवयवी में समानजातीय गुण उत्पन्न होता है, यही वैशेषिकदृष्टि है। यह गुण विशेषगुण है। समानजातीय का अभिप्राय भी विशेषगुण से ही है। ये गुण स्वाश्रय के व्यवच्छेदक होते हैं (द्र० भाषापरिच्छेद ९१ की टीकायें)। यह ज्ञातव्य है कि मीमांसक के मत में कारण की कार्यरूप-प्राप्ति होने पर कारण का गुण कार्य के गुण की तरह प्रतिभात होता है। इस मत में अवयवी के गुण से अवयव का गुण पृथक् नहीं है।

(१४।८) 'कारणगुणाः कार्यगुणान् आरमन्ते' इसका तात्पर्य डा० व्रजमोहन के अनुसार 'कार्यकारणभाव गुणात्मक ही होता है' (पृ० ७२)। इस हिन्दीवाक्य का तात्पर्य क्या है, मैं समझ नहीं सका। उपर्युक्त वाक्य वैशेषिकदर्शन के एक सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। इस वाक्य में कारणगुण का अर्थ है—समवायी कारण में समवेत विशेष गुण; सामान्यगुण नहीं। व्याख्याकार के वाक्य में पठित गुणात्मक का क्या अर्थ है? गुण है आत्मा जिसकी वह वस्तु? क्या कार्यकारणभाव की आत्मा गुण है? आत्मा-शब्द के जिस किसी भी अर्थ को लेने पर भी कार्यकारणभाव गुणात्मक नहीं हो सकता–यह ज्ञातव्य है।

(का० १५–१६।२) द्व्यणुकादिक्रमेण––प्रशस्तपादभाष्य (सृष्टिप्रक०) में यह क्रम द्रष्टव्य है।

(१५–१६।४) अदृष्टचरेण अव्यक्तेन—अदृष्ट का **'सर्वथा अप्रामाणिक' रूप से अनुवाद करना असंगत है।** अदृष्टचर का अर्थ है––'पहले से अविज्ञात' अर्थात् सांख्य-दर्शन से पहले ऐसा अव्यक्त अज्ञात था; कहने की ध्वनि यह है कि––एक सर्वथा नूतन कारण के आविष्कार करने की क्या आवश्यकता है, जबकि पूर्वज्ञात कारणों से ही काम चल सकता है।

(१५–१६।६) निःसरन्ति––यह तिङन्त नहीं है––शतृप्रत्ययान्त 'निःसरत्' है; नपुंसकलिङ्ग, प्रथमा-बहुवचन में निःसरन्ति पद निष्पन्न होता है। "विभज्यन्ते इत्यत्र विभागो भेदः, भिन्नत्वेन ज्ञानं वा। प्रतिसर्गे प्रलये। अविभागोऽभेदः अभिन्नत्वेन ज्ञानं वा। न च भेदाभेदयोरस्ति विरोधः भेदस्याव्याप्यवृत्तित्वात्" (पूर्णिमा)।

(१५-१६।१०) पृथिव्यादयः तन्मात्राणि''''अव्यक्तयन्ति—अव्यक्तयन्ति=कार्यत्वेन अगृह्यमाणानि कुर्वन्ति।

(१५-१६।१२) स्वार्थिकः ष्यञ्—चतुर्वर्णादिभ्यः स्वार्थे उपसंख्यानम् (अष्टा० ५।१।१४४ वा०) वार्त्तिक के अनुसार । चतुर्वर्णादि आकृतिगण है ।

(१५-१६।१९) भिन्नानां समानरूपता समन्वयः—समानरूपता = एकधर्मसम्बन्धः ।

(१५-१६।२६) परिणामतः सलिलवत्=सलिलस्य इव परिणामात् । जल का दृष्टांत स्वमतपुष्टि के लिए बहुत ही उपयोगी है । निमित्तभेद से जल में भेद होने का एक रोचक विवरण चरक, सूत्र० २०।१९६–१९७ में है ।

(१५-१६।२७) प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात्–इस समस्त पद की व्याख्या इस प्रकार है—गुणो गुणः = प्रतिगुणम् (अव्ययीभाव); तत्र यः आश्रयः (= सहकारिभावः) = प्रतिगुणाश्रयः । प्रतिगुणाश्रयः प्रतिगुणाश्रयः = प्रतिप्रतिगुणाश्रयम् (अव्ययीभाव) । तेन विशेषात् (= भेदात्) = प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् (द्र० पूर्णिमा तथा तत्त्वसुधा) । प्रति प्रति में वीप्सा में द्विर्वचन हुआ है । वीप्सा = व्याप्तिः, कात्स्येंन संबन्धः जैसे— वृक्षं वृक्षं सिञ्चति (यहाँ वीप्सा में द्विरुक्ति हुई है) का अर्थ है—प्रत्येक वृक्ष पर सेचनक्रिया ।

(का० १७।१)' 'तौष्टिकाः तुष्टिः प्रयोजनं येषां तुष्ट्या चरन्ति वार्थे तुष्टिशब्दात् ष्णिकः (= ठक्) । विषयव्यापृता अल्पलाभेन कृतार्थंमन्याः । एष तौष्टिकत्वमेवोपपादयति अव्यक्तं वेति । प्रत्येकं प्राधान्यख्यापनाय प्रत्येकं वा-शब्दः (तत्त्वसुधा) ।

(१७।२) संघातपरार्थत्वाद् इत्यत्र प्रयोजकार्थे पञ्चमी न त्वयं हेत्ववयवः । परार्थत्वसिद्धौ सत्यां धर्मिग्राहकमानेन पुरुषसिद्धिरिति । एव मुत्तरत्र यथासंभवं वेदितव्यम् (पूर्णिमा) ।

(१७।४) त्रिगुणादिविपर्ययात् पर डा० व्रजमोहन लिखते हैं—'तीन गुणों का यह न्यूनाधिक्य हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचने पर बाध्य करता है कि ऐसा भी कोई तत्त्व संभव है, जहाँ इनका नितान्त अभाव है । वही तत्त्व पुरुष है । व्याख्याकर ने जिस बाध्यता की बात कही है, उसे हम समझ नहीं पाये । चूँकि गुणों में वैषम्य है अतः कोई गुणातीत पदार्थ है—यह किस न्यायप्रयोग से कैसे सिद्ध होता है—यह सर्वथा अस्पष्ट है ।

(१७।५) अनवस्था स्यात्—कुछ अनुवादक 'अव्यवस्था होगी' इस रूप से इसका अनुवाद करते हैं । अनवस्था अव्यवस्थाविशेष है, यह सत्य है, अतः अनवस्था के लिए 'अव्यवस्था' लिखना उचित नहीं है । तुल० चक्रकमव्यवस्था प्रसज्येत (महाभाष्य ३।१।९१; चक्रकरूपा अव्यवस्था, उद्द्योत) ।

(१७।६) कल्पनागौरवप्रसंगात्—कल्पनागौरव = अनन्त पदार्थ-कल्पना रूप गौरव ।

(१७।७) दृष्टान्तदृष्टसर्वधर्मानुरोधेन—न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका ४।१।२१ का 'न च शरीरादिसहभावेन ज्ञानस्य''''सर्वानुमानोच्छेदापादकत्वात्' यह अंश द्रष्टव्य है ।

"सर्वेषां परार्थानुमानानाम् अपलापप्रसंगः । स्वार्थानुमानं तु दृष्टान्तमन्तरेणापि संभवतीति । एतत्तु वीतानुमानमुद्दिश्योक्तम् ॥ (तत्त्वसुधा) ।

(१७।९) कठत्वादिकम्—वैशम्पायन का एक अन्तेवासी कठ था, उनके द्वारा प्रोक्त शाखाविशेष का अध्ययन करने वाला 'कठ' ही कहलाता है, क्योंकि वैशम्पायनान्तेभ्यश्च (४।३ वासि १०४) सूत्र से विहित णिनि प्रत्यय का लुक् ४।३।१०७ सूत्र से होता है और अध्येतृवेदितृप्रत्यय का लुक् होता है 'प्रोक्ताल् लुक्' सूत्र (४।२।६४) से। इस प्रकार कठ = कठप्रोक्त-शाखाध्यायी। शाखाध्ययन चूंकि ब्राह्मण-नियत था, अतः जो ब्राह्मण नहीं होगा, उसमें कठत्व सुतरां नहीं हो सकता। सारबोधिनीकार कठत्व को धर्मविशेष कहते हैं। वे समझते हैं कि यहाँ 'चरणाद् धर्माम्नाययोः' वार्तिक की प्रवृत्ति है। यहि यह वार्त्तिक प्रवृत्त होता तो काठक शब्द ही बनता (कठ नहीं) जिसका अर्थ होता है—कठों का धर्म या आम्नाय (कठेन प्रोक्तमधीयते कठाः, तेषां धर्मः)। कठ = कठशाखीय (कठशाखा जिसकी है, वह) भी हो सकता है। अब्राह्मण क्षत्रिय भी तो कठशाखी या कठाध्येता हो सकता है, अतः ब्राह्मण की निवृत्ति होने पर कठत्व की निवृत्ति क्यों होगी—यह प्रश्न हो सकता है। क्या कठ को गोत्रनाम-विशेष मानकर और अब्राह्मणों के गोत्र नहीं होते—यह मानकर इसका समाधान करना चाहिये ?

(१७।९) व्यावर्तयति = त्रिगुणत्वाद्यभावम् अनुमापयति, व्यापकाभावेन व्याप्याभावसिद्धेरप्रत्यूहात् (गुणमयी)।

(१७।१७) अनुमान यह है—बुद्ध्यादयः, स्वातिरिक्तेन ज्ञेयाः, दृश्यत्वात्, घटादिवत्। "अन्येत्विति अस्वरससूचनाय। तद्बीजं तु लक्षणाभ्युपगमः" इति (तत्त्वसुधा)।

(१७।२०) शास्त्राणां दिव्यलोचनानां महर्षीणाम्—"कैवल्यार्थमिति आत्मप्रतिपादनपराणि शास्त्राणि न सुखदुःखस्वभावेषु आत्मत्वं प्रतिपादयन्ति, कैवल्यप्रवर्तकत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा कामशास्त्रम्; अपि च आत्मज्ञानवन्तो महर्षयः सुखदुःखादिस्वभावेषु नात्मज्ञानवन्तः, कैवल्यप्रवृत्तिमत्त्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा पामर इत्यनुमानप्रकारः" (पूर्णिमा)। कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च शास्त्राणाम्—शास्त्र-सम्बन्धित प्रवृत्ति का अर्थ है—"कैवल्यबुद्धिजनकतया प्रवर्तकत्वपरता" (आवरण०)।

(का० १८।२) निकायविशिष्टाभिः—निकाय=औत्तराधर्य से अवस्थित संघात; चिधातु + घञ् 'संघे चानौत्तराधर्ये (अष्टा० ३।३।४२) सूत्र के अनुसार। देह आदि प्राणी नहीं हैं, अतः प्राणियों के समूह में रूढ संघ अर्थ में प्रयोज्य घञ् प्रत्यय कैसे हो सकता है ? उत्तर—'प्राणिसंबन्धित्वेन प्राणिसमूहं संभाव्य प्रकृते निकायपदप्रयोगात्' (सारबो०)। विशिष्टं नाम विशेष-सम्बन्धाद् विशेष्ये समारोपितं रूपान्तरम् (भारतीयति)।

(१८।३) कूटस्थनित्यत्वात्—'कूटस्थ नित्य' कहने का अभिप्राय यह है कि आत्मा परिणामी-नित्य नहीं है, अर्थात् आत्मा परिणामशून्य है । "कूटमयोघनः, तद्वत् तिष्ठति यः", अर्थात् संसर्गियों का नाश होने पर भी जो अनष्ट रहता है ।

(१८।५) सांख्य ने जो दोष दिया है, उसका स्पष्टीकरण यह है—"त्वन्मते (आत्मैकत्ववादिमते) तु देहोपाधिजन्मना तदवच्छेदेन आत्मनि जातत्वव्यवहारवत् देहावयवहस्तादिजन्मनापि आत्मनि जातत्वव्यवहारः स्याद् उपाधित्वाविशेषात्, स च बाधित इति न औपाधिकभेदकल्पनया निस्तारः" (सारबो०) ।

(का० १९।४) अनन्तरोक्तं सन्निधानादिदमो विषयः—इस विषय में यह कारिका प्रसिद्ध है—इदमस्तु सन्निकृष्टे समीपतरवर्तिन्येतदो (?) रूपम् । अदसस्तु विप्रकृष्टे तदिति परोक्षे विजानीयात् ॥ यह भी ज्ञातव्य है कि एतद् या इदम् शब्द जिस प्रकार अतीत-कालीन सन्निहित वस्तु का बोध कराता है, उसी प्रकार भविष्यकालीन सन्निहित वस्तु का भी बोध कराता है (द्र० पू० मी० २।२।८ की व्याख्याएँ) ।

(२० का०) तस्मात् तत्संयोगात्—Dr. C. K. Raja कहते हैं—The first word in the verse is तस्मात् (literally 'therefore'), But I have taken it as a pronominal adjective, meaning "that" and I gave the translation as "from that association" (p. 38). इससे यह सिद्ध होता है कि Dr. Raja के अनुसार 'तस्मात्' (अर्थात् 'तद्' प्रातिपादिक, जो सर्वनाम है) के दो स्वरूप हैं—Pronominal adjective और केवल-pronoun. संस्कृत व्याकरण के अनुसार यह मत असंगत है । 'तस्मात्' सर्वनाम ही है और जब उसका प्रयोग किया जाता है तो उसका विशेष्य अनुक्त भी रह सकता है, जो 'हेतोः' या 'कारणात्' या इस प्रकार का कोई अन्य शब्द होता है । 'तस्मात् संयोगात्' कहने पर भी 'तस्मात्' सर्वनाम ही है । हमारी दृष्टि में तत्संयोगात् का अर्थ है—'पुरुषसंयोगात् । Dr. Raja जिस दृष्टि के अनुसार बात कर रहे हैं तदनुसार 'तस्मात्' कहने की ही क्या आवश्यकता है ? 'तत्संयोग' में विशेषण के रूप में 'तद्' की क्या आवश्यकता है ? जहाँ तक कारिका का पाठ और संस्कृत व्याकरण का सम्बन्ध है, 'तस्मात् को' 'तस्माद् हेतोः' (जैसा कि वाचस्पति ने कहा है) रूप अर्थ में ही लेना चाहिये ।

(२१ का०) Dr. Mainkar कहते हैं कि पङ्गु-अन्ध-उपमा सांख्यवाङ्मय में अत्यन्त प्रसिद्ध (most famous) है (पृ० १०३) । यह असंगत है । न सांख्यसूत्र में और न तत्त्वसमास में यह उपमा मिलती है; योगसूत्रीयव्यासभाष्य में भी यह नहीं मिलती । महाभारतीय सांख्यपरक अध्यायों में तथा पुराणोक्त सांख्यविवरणपरक अंशों में भी इस उपमा का उल्लेख नहीं मिलता ।

(२१।२-३) वाचस्पति कहना चाहते हैं कि 'पुरुषेण' पद का अध्याहार करना होगा—'पुरुषेण प्रधानस्य यद् दर्शनं तदर्थम्' तथा 'पुरुषस्य कैवल्यार्थम्' (संयोगो भवति)। यह समझना गलत है कि कारिकागत 'पुरुषस्य' पद को 'पुरुषेण' रूप से विपरिणत कर कारिका का अर्थ किया गया है। वाचस्पति ने जो 'पुरुषेण' कहा है, इस विषय में आवरणवारिणी का मन्तव्य द्रष्टव्य है—"उभयोः प्राप्तौ कर्मणीत्यनुशासनात् षष्ठीमुत्सृज्य तृतीयाप्रयोगः कृतः। आचार्येण तु कैवल्यार्थमित्यन्वयानुरोधात् षष्ठ्या अवश्यप्रयोज्यत्वे वाक्यभेदभिया सम्बन्धविवक्षया कारिकायामुभयत्रैव षष्ठीप्रयोगं कुर्वता उभयोः प्राप्तौ कर्मणीति नियमस्य प्रायिकत्वं सूचितम्।"

(२१।७) कुतस्त्यः—यह प्रयोग शुद्ध है और 'अव्ययात् त्यप्' (अष्टा० ४।२।१०४) सूत्रीय 'अमेहक्वतसित्रेभ्यः… ' वार्त्तिक के अनुसार है। प्रमादवश ज्योतिष्मती-व्याख्या में इस प्रयोग को दुष्ट कहा गया है। तस्प्रत्ययान्त 'कुतः' से यह त्यप् प्रत्यय जात, भव आदि अर्थों में होता है।

(२२ का०) Dr. Mainkar २२ वीं कारिका के Notes में कहते हैं कि तत्त्वों का परिणामक्रम (The order of evolution) यह है—प्रकृति–महत्–अहंकार–तन्मात्र–भूत–ज्ञानेन्द्रिय–कर्मेन्द्रिय–मन (पृ० १०५)। २२ वीं कारिका से उपर्युक्त क्रम कथमपि सिद्ध नहीं होता, यह कोई भी ध्यान से देखकर जान सकता है। तन्मात्र से ११ इन्द्रियाँ नहीं बनतीं। अहंकार से उत्पन्न मन भूतों से सूक्ष्म है, क्योंकि भूत अहंकारोत्पन्न तन्मात्र का कार्य है।

(२२।३) षोडशकाद् अपकृष्टेभ्यः–'षोडशकात्' में जो पञ्चमी है, उसपर आवरण० कहती है—"यथा घनाद् विद्योतते विद्युद् इत्यत्र घनान् निःसृता विद्युद् विद्योतते इत्यर्थस्तथा षोडशकात् गणात् पञ्चभ्यः षोडशकाद् गणाद् आकृष्टेभ्यः पञ्चभ्य इत्यर्थः"। "षोडशकात्—षोडशकात् गणाद् निकृष्टेभ्यः षोडशकमध्यात् पृथक्कृतेभ्य इति यावत्। सांख्य-चन्द्रिकाकारस्तु षोडकादिति ल्यब्लोपे पञ्चमीति आश्रित्य षोडशकं प्राप्य स्थितेभ्यः पञ्चभ्यः तन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानि जायन्ते इत्येवं व्याचचक्षे" (सारबो०)। कुछ व्याख्याकार अपकृष्ट = हीन समझते हैं; यह व्याख्या असंगत है।

(का० २३।८) यथास्वम्–वीप्सा (=कार्त्स्न्येन संवन्धः) में यथा शब्द के साथ स्व शब्द का अव्ययीभाव समास है—स्वशब्दार्थगतकार्त्स्न्ये द्योत्ये यथाशब्दस्य स्वशब्देन अव्ययीभाव इत्यर्थः। कृत्स्नश्चासौ स्वश्चेत्यस्वपदविग्रहः, नित्यसमासत्वात् (बालमनो० ८।१।१४)। यहाँ स्व शब्द आत्मीयवाची है। तन्मात्र प्रवर्तिषत—यह 'तद्' प्रवर्तनक्रिया का विशेषण है (आवरण०)।

(२३।१३) Dr. C. K. Raja अष्टविभूतियों में अन्यतम विभूति का नाम प्राकाश्य कहते हैं और अनुवाद में Manifestation लिखते हैं (पृ० १४६)। अतः

यह स्पष्ट है कि प्राकाश्य प्राकाम्य के स्थान पर मुद्रणप्रमाद नहीं है। यह प्राकाश्य नाम (विभूतियों में) अश्रुतपूर्व है और यह युक्तितः अष्टविभूतियों में आ भी नहीं सकता।

(२३।१५) निश्चेतव्यमनुविधीयन्ते—यद्यपि सारबोधिनी 'अनुविधीयन्ते' को एक पद मानकर व्याख्या करती है 'अनुसृतानि भवन्ति' (निश्चया:—कर्तृपद है), पर यह अधिकतर संगत है कि 'अनु' को कर्मप्रवचनीय मानकर व्याख्या की जाये - निश्चेतव्यम् अनु लक्षीकृत्य विधीयन्ते। द्र० अनुर्लक्षणे (अष्टा० १।४।८४)।

(का० २५) वैकृत (अहंकार) शब्द की व्याख्या में Dr.C.K. Raja कहते हैं- The वैकृत or what is generated from the विकृति or modification (p. 108). यह व्याख्या सर्वथा काल्पनिक है। क्या भूतादि modificaton से generated नहीं है? वैकृत संज्ञा का अवयवार्थ हमें ज्ञात नहीं है। राजस अहंकार की संज्ञा तैजस है। Dr. Raja तैजस को fiery कहते हैं। यह भी असंगत है। ग्राह्यविषय-क्षेत्र से ही सम्बद्ध fire को ग्रहणक्षेत्र से सम्बन्धित करना अनुचित है। जिस तेजः शब्द से यह तैजस शब्द निष्पन्न हुआ है, वह तेजः fire नहीं है। यदि उपमा की दृष्टि से fire शब्द प्रयुक्त हुआ हो तो बात दूसरी है। कुछ अनुवादक समझते हैं कि वैकृत शब्द का अर्थ सात्त्विक है। यह दृष्टि असंगत है। वैकृत शब्द सात्त्विक अहंकार की संज्ञा (=नाम) है। प्राचीन संज्ञायें प्रायः अन्वर्थ होती हैं, पर इसकी अन्वर्थता दुश्चिन्त्य है।

(२६ का०) कुछ व्याख्याकार 'पायूपस्थानि' पढ़ते हैं; यह पाठ अशुद्ध है; क्योंकि इस पाठ में मात्राधिक्यरूप दोष होता है। उपस्थ शब्द नित्यनपुंसकलिङ्ग नहीं है, अतः अस्मदीय 'पायूपस्थान्' पाठ ही संगत है।

(२६।१) एकादशकमाख्यातुम्—हमारे अनुसार 'सात्त्विकम् एकदशकम्' पाठ हैं—एकादश अवयव जिस गण में हैं, वह एकादशक। ११ बाह्य इन्द्रियाँ तथा १ मन— ये सभी सात्त्विक हैं। जो व्याख्याकार एकादश पाठ करते हैं और अर्थ करते हैं— 'ग्यारहवीं इन्द्रिय का वर्णन करने के लिए' वे असङ्गत बात करते हैं। 'सात्त्विक ११ वें पदार्थविशेष के वर्णन करने के लिए इन १० इन्द्रियों का वर्णन किया गया' ऐसे कथन का स्वारस्य क्या है? इन्द्रियाँ जब सात्त्विक हैं और एकादशम्—यह पाठान्तर मिलता ही है तब न्यायप्राप्त 'एकादशकम्' पाठ को ही मूलपाठ क्यों न समझा जाये।

(२६।३) यहाँ इन्द्रिय-शब्द की व्युत्पत्ति दिखाई गई है। पाणिनि कहते हैं— इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टम्····(५।२।९३); सूत्रगत इन्द्र=आत्मा है (काशिका)। आत्मा का लिङ्ग (= ज्ञापक चिह्न) होने के कारण चक्षुरादि करण 'इन्द्रिय' कहलाते हैं—यह वाचस्पति कहना चाहते हैं।

(२६।४) लिङ्ग शब्द को करण या साधन का वाचक मानकर 'स्पर्शग्रहणस्य लिङ्गं = स्पर्शग्रहणलिङ्गं त्वक्'—ऐसा कहा जा सकता है। स्पर्शग्रहण लिङ्ग है जिसका—ऐसा बहुव्रीहिसमास करने पर 'स्पर्शग्रहणलिङ्गा त्वक्'—ऐसा ही प्रयोग होगा।

(का० २७।४) श्लोक में जो 'सम्मुग्धम्' पद है, वह 'गृह्णन्ति' का विशेषण है—ऐसा कई व्याख्याकार कहते हैं, जो उचित प्रतीत होता है। अविकल्पितम्='इतर-व्यावर्तक-धर्मावच्छिन्नप्रकारताशून्यम्'। कोई कोई इसको भी क्रियाविशेषण मानते हैं। सामान्य=साधारणधर्म; विशेष=असाधारणधर्म।

(२७।५) बालमूकादिविज्ञानसदृशम्[1]—तत्त्वप्रकाशिकाकार लिखते हैं—"छोटे बच्चे को या जन्म से ही मूकबधिक को या घोर मूर्ख को धर्मधर्मिविवेकरहित ज्ञान होता है, ठीक उसके तुल्य ही यह निर्विकल्पक ज्ञान है"। यह असंगत है। यहाँ जो सादृश्य लिया गया है, वह केवल इस दृष्टि से है कि बालकादि का ज्ञान ज्ञाता द्वारा अनभिलाप्य (अन्य पुरुष के प्रति प्रकटन करने का अयोग्य) होता है। बालकादि का ज्ञान विशिष्ट वस्तु का ग्राहक होता ही है, क्योंकि बालक में भी वैसी ही प्रवृत्ति देखी जाती है, जो वाक्पटु में है। निर्विकल्पक ज्ञान अनभिलाप्य, अप्रवर्तक एवं विशिष्ट वस्तु का अग्राहक होता है।

बालमूकादिविज्ञानसदृशम्— यहाँ आदि पद से 'अमनस्कपुरुष' लेना चाहिए। आलोचन ज्ञान को निर्विकल्प ज्ञान भी कहा जाता है; उसी प्रकार प्रत्यक्ष को सविकल्प ज्ञान। Max Muller समझते थे कि निर्विकल्प ज्ञान और सविकल्प ज्ञान यथाक्रम with doubt और without doubt है (S. S. I. P. p. 186)। क्या प्रकारताहीन निर्विकल्प ज्ञान के साथ संशय का कोई सम्बन्ध है? यह एक ही उदाहरण सिद्ध करता है कि Max Muller को न्यायशास्त्रीय चिन्ता से गाढ़ परिचय नहीं था।

निर्विकल्प प्रत्यक्ष के विषय में न्यायशास्त्रीय विचार विशेषतः ज्ञातव्य है। संक्षेपतः न्यायशास्त्रीय विश्लेषण इस प्रकार है—"प्रत्यक्ष-प्रमाण से जब वस्तु का बोध होता है तब इन्द्रिय-सम्बन्ध के बाद ही जो बोध होता है, वह 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष' है। यथा—जल में चक्षुसंयोग के बाद ही जल-जलत्व-विषय में एक आलोचन होता है। अर्थात् जलत्वविशिष्ट जल ऐसा बोध न होकर पृथक्रूप से जल और जलत्व के विषय में जो प्रत्यक्ष होता है, वही 'आलोचन' (=निर्विकल्प) ज्ञान है। यह अविशिष्ट प्रत्यक्ष है। इस अविशिष्ट प्रत्यक्ष के बाद 'जलत्वविशिष्ट जल' ऐसा विशिष्ट प्रत्यक्ष होता है। ईदृश विशिष्ट प्रत्यक्ष का नाम 'सविकल्प प्रत्यक्ष' है। जब किसी पदार्थ को विशेषणविशिष्टरूप से समझा जाता है तब उस ज्ञान में विकल्प (=विशेष्य-विशेषण-भाव)

१. R. Phukan महोदय ने इन श्लोकों को पुराणोक्त माना है। यह अनवेक्षण है।

रहता है; यही कारण है कि उस ज्ञान का नाम सविकल्प है। जिस ज्ञान में दोनों पदार्थों का विशेष्य-विशेषण-रूप से बोध नहीं होता, वह निर्विकल्प ज्ञान है (फणिभूषण तर्कवागीश कृत न्यायदर्शन की बंगला व्याख्या, भाग १, पृ० १०६)।

(२७।७) इन्द्रलिङ्गत्वम्। इसका लक्ष्य पाणिनि का इन्द्रियशब्द-व्युत्पादक सूत्र है—'इन्द्रियम् इन्द्रलिङ्गम्'....(५।२।९३)।

(२७।८) व्युत्पत्तिनिमित्त, प्रवृत्तिनिमित्त—प्रवृत्तिनिमित्त का अर्थ शक्यतावच्छेदक है—प्रवृत्तौ शब्दानामर्थबोधनशक्तेः निमित्तं प्रयोजकम् (शब्दशक्तिप्रकाशिका)। यह शक्यतावच्छेदक धर्म जाति-द्रव्य-गुण-क्रियारूप चतुर्विध है। हम जब किसी शब्द को 'यह जातिशब्द है' ऐसा कहते हैं, तब उसका अर्थ होता है—जातिप्रवृत्तिनिमित्तक शब्द। गो एक जातिशब्द है। प्रातिपदिक का जो अर्थ 'स्वार्थ' कहलाता है, वह प्रवृत्तिनिमित्तरूप है; द्र० प्रदीप ८।२।५९ (भित्त शब्द के विषय में)। "व्युत्पत्तिलभ्येऽर्थे प्रकारतया भासमानं व्युत्पत्तिनिमित्तम्। यथा कुशलशब्दे कुशग्राहित्वम्। शक्तिज्ञाने प्रकारतया भासमानं प्रवृत्तिनिमित्तम्, यथा गोशब्दे गोत्वम्" (सारबोधिनी)। जिस धर्मरूप से जिस पदार्थ में जिस शब्द का वाच्यत्वसम्बन्ध है, उस धर्म को उस शब्द का शक्यतावच्छेदक (अर्थात् प्रवृत्तिनिमित्त) कहा जाता है। वाच्यत्वसम्बन्ध = शक्ति।

(२७।९) अदृष्टसहकारिभेदात् कार्यभेदः—"दृष्टान्तदार्ष्टन्तिकयोरेतावांस्तु विशेषो यदेकस्य उपादानगुणवैषम्यविरहेऽपि सहकारिणो गुणवैषम्यस्य अदृष्टनाम्नो भेदाद् भेदः, अन्यस्य तु उपादानगुणवैषम्यभेदादपीति ध्येयम्" (पूर्णिमा)।

(२८ का०) आलोचनमात्रम्—"मात्रशब्देन सामान्यविशेषविवेचनवैधुर्यं तस्य बोध्यते" (सारबो०)। यह ध्यान देने की बात है कि आलोचन में सामान्य-विशेषभाव का अविविक्तज्ञान होता है—निर्विकल्पक में सामान्य-विशेष धर्म का अभाव नहीं हो जाता—निर्विकल्पकबोधेऽपि द्व्यात्मकस्यापि वस्तुनः। ग्रहणं लक्षणाख्येयं ज्ञात्रा शुद्धं तु गृह्यते॥ (१।१।४ श्लोकवा० ११८)। द्व्यात्मक = सामान्यविशेषात्मक।

(२८।१) स्वरूपत उक्त्वा = ११ इन्द्रियाँ कौन-कौन हैं—यह कहकर।

(२८।२) तस्या वृत्तिर्वचनम्—वचनं वर्णोत्पत्तिप्रयोजकव्यापारः, स च वागिन्द्रियनिष्ठः कर्मविशेषः, तेन कण्ठताल्वाद्यभिघातद्वारा वर्णोऽभिव्यज्यते (पूर्णिमा)।

(का० २९।४) जीवन—द्र० समस्तेन्द्रियवृत्तिः प्राणादिलक्षणा जीवनम् (व्यासभाष्य ३।३९)। "वृत्तिरन्तः समस्तानां कारणानां प्रदीपवत्। अप्रकाशा क्रियारूपा जीवनं कायधारिका॥ (युक्तिदी० धृत श्लोक)। वाचस्पति के वाक्य से न्यायशास्त्रीय दृष्टि स्फुट रूप से ज्ञात होती है—'सदेहस्यात्मनो मनसा संयोगो विपच्यमानकर्माशयसहितो जीवनमिष्यते' (न्यायभाष्य ३।२।२६)। नैयायिक के अनुसार प्रयत्न तीन प्रकार का

है—प्रवृत्ति, निवृत्ति और जीवनयोनि। जीवनयोनि प्राणादिव्यापारविषयक है, जो निद्राकाल में भी रहता है। यह जीवन-शब्द णिजन्त जीवधातु से निष्पन्न है—अर्थ है 'शरीरधारण'। "द्वयी इन्द्रियाणां वृत्तिः, बाह्या आभ्यन्तरी च। बाह्या रूपाद्यालोचन-लक्षणा। आभ्यन्तरी तु जीवनम्। स हि प्रयत्नभेदः शरीरोपगृहीतमारुतक्रियाहेतुः सर्व-करणसाधारणः (तत्त्ववैशारदी)।[1]

(२९।५) पादाङ्गुष्ठ' का अर्थ है—पैर का अङ्गुष्ठ, न कि पैर और अङ्गुष्ठ (अंगुलिविशेष) जैसा कि कई व्याख्याकार कहते हैं। व्याख्याकारों का मत असङ्गत है। चूंकि पैर में अङ्गुष्ठ का अन्तर्भाव हो ही जाता है, अतः अङ्गुष्ठ को कहने की आवश्यकता नहीं रहती। किञ्च पाद में और अङ्गुष्ठ में—ऐसा अर्थ करने पर अङ्गुष्ठ शब्द से हाथ के अंगुष्ठ का भी ग्रहण प्राप्त होगा—क्या यह अर्थ व्याख्याकारों को अभीष्ट है? प्राण-स्थानों के विषय में 'पादाङ्गुष्ठेऽपि केचन' वाक्य प्रसिद्ध योगग्रन्थों में है। परम्परागत रूप से हम जानते हैं कि यहाँ पाद का 'अङ्गुष्ठ' अर्थ ही ग्राह्य है। हस्तिजिह्वा नामक नाडी का स्थान 'वामनेत्रादारभ्य वामपादाङ्गुष्ठपर्यन्तम्' कहा जाता है। क्या यहाँ 'वामपाद और अङ्गुष्ठपर्यन्त' माना जायगा?

(२९।६) कृकाटिका तथा पार्श्व—कृकाटिका=गलघण्ट, जो घेंटी या टेंटुआ भी कहलाता है। यह Laryangeal prominence (Adam's apple) है।

(२९।७) सन्धि—सन्धियाँ दो प्रकार की हैं—चेष्टावान् (जिनमें अस्थियाँ चाल्य होती हैं) और स्थिर (जिनमें स्नायुओं से अस्थियाँ सुबद्ध रहती हैं)। अस्थियों के समागनस्थल को सन्धि कहते हैं (सुश्रुत, शारीर० ५।२४-२५)। अस्थि के साथ अस्थि का संयोग सन्धि है। यद्यपि पेशी, शिरा, स्नायु आदि की भी सन्धियाँ हैं, पर यहाँ सन्धि से अस्थिसन्धि ही ग्राह्य है। आकृतिभेद से सन्धियाँ आठ प्रकार की होती है—यह आयुर्वेदशास्त्र में कहा गया है। Max Muller के अनुसार Udana is at all the joints (S. B. E. vol VIII, p. 250, f. n. 3., यहाँ तत्त्वकौमुदी का स्मरण भी किया गया है)। उदान सम्बन्धी यह मत अशास्त्रीय है।

(२९।८) तालु—मुखकुहर की छत। तालु ब्रह्मरन्ध्र के अर्थ में भी आता है (द्र० शान्तिपर्व—तालुदेशमथोद्दाल्य, २००।२०)। हमारी दृष्टि से उदान का सम्बन्ध इस तालु से मुख्यतया होना चाहिए, क्योंकि उत्क्रान्ति के साथ उदान का सम्बन्ध है। सम्भवतः यह तालु मूर्धा के अन्तर्गत है।

१. वायु-पदार्थ ही प्राण नहीं है—इस पर पूर्णिमा का मत द्रष्टव्य है—वायुसादृश्यात् प्राणादीनां वायुसंज्ञा, न तु वस्तुगत्याऽपि प्राणादीनां वायुत्वम्, तथात्वे 'एतस्माज् जायते प्राणो····इति श्रुतौ प्राण इति वायुरिति च पृथगुपादानमसंगतम्।

(२९।९) व्यानस्त्वग्वृत्तिः—वाचस्पति को प्राण और उनके कार्य के विषय में विशद ज्ञान नहीं था, अतः उन्होंने यह बात कही है। स्थूल साधारण दृष्टि से ही ऐसा कहा जा सकता है। प्रश्न ३।६, छान्दोग्य १।३।५ में व्यान का जो कार्य दिखाया गया है, उससे व्यान का त्वग्वृत्तित्व (आयुर्वेदानुसार त्वक् के छह स्तर हैं) सिद्ध नहीं होता। शायद वाचस्पति यह समझते थे कि चूँकि व्यान के पित्तावृत होने पर गात्र-विक्षेप होता है, सर्वशरीर में दाह होता है और कफावृत होने पर सर्वगात्र गुरु हो जाता है और चूँकि व्यान द्वारा प्राण का आवृत होने पर त्वग्दोष, रोमाञ्च और स्वेद होते हैं अतः व्यान त्वग्वृत्ति है।

(का० ३०।३) कर्णान्ताकृष्ट—कोदण्ड (नपुंसकलिंग) के तीन विशेषण हैं—कर्णान्ताकृष्टम्, सशरशिञ्जितम् तथा मण्डलीकृतम्। इस प्रकार का कोदण्ड (धनु) है जिसका वह 'कर्णान्ता····कोदण्डः' है। सशरशिञ्जितम्=शर और शिञ्जित (=ध्वनि विशेष) के साथ।

(का० ३०।५) दर्शनपूर्वाः प्रवर्तन्ते—अनुमान में वह्निधूमप्रत्यक्षपूर्वकत्व, आगम में व्यवहार-प्रत्यक्ष-पूर्वकत्व और स्मृति में विषयानुभवपूर्वकत्व आवश्यक है—यह व्याख्याकारगण कहते हैं।

(का० ३२।१) तद् विभजते—विभाग=सामान्यधर्मावच्छिन्नानां परस्परविरुद्धसाक्षात्-तद्व्याप्य-धर्मपुरस्कारेण धर्मिप्रतिपादनम्।

(का० ३३।१) अवान्तरविभागं करोति—किसी पदार्थ का अवान्तर (=अन्तर्गत) विभाग करने का अर्थ है—स्वगत भागों में (अंश, अवयव आदि में) विभक्त करना—'सूक्ष्म रूप से कहना नहीं, जैसा कि कुछ अनुवादक कहते हैं।

(३३।३) द्वारी भवति। कई संपादक 'द्वारीभवति' ऐसा (एक पद की तरह) पढ़ते हैं। यह भ्रान्त दृष्टि है। च्वि-प्रत्ययान्त शब्द के साथ गतिसमास होता है, (यथा—ब्रह्मीभूत, प्रधानीभूत, अव्यक्तीभूत आदि) यदि अन्तिम पद तिङन्त न हो। वर्तमान काल में प्रकाशित अनेक संस्करणों में यह संपादकीय प्रमाद निरन्तर दृष्ट होता है—यह दुःख की बात है। मेरे संस्करण में यदि कहीं मुद्रणप्रमाद से एकशब्दवत् मुद्रण हो गया हो तो उसको दो पद की तरह जान लेना चाहिये। "द्वारी भवति=प्रवेशनिर्गम-द्वाररूपं भवति, विषयस्य अभ्यन्तरकरण-प्रवेशनिमित्तं भवति। उत्पत्तिज्ञप्त्यन्यतर-हेतुत्वमत्र द्वारत्वम्" (पूर्णिमा)।

(३३।५) जिस न्यायवैशेषिक दृष्टि के अनुसार वाचस्पति ने ऐसा कहा है, उसका स्पष्टीकरण यह है—पहले वागिन्द्रियव्यापाररूपा क्रिया, ततः विभाग, विभाग से पूर्वसंयोगनाश तथा उत्तरसंयोगोत्पत्ति, ततः क्रियानाश। क्रियानाशक्षण में ही उत्तर-संयोगज वर्ण उत्पन्न होता है, अतः वागिन्द्रियव्यापार का वर्ण—अधिकरण-क्षण-वृत्तित्व नहीं है।

(३३।७) वैशेषिक के अनुसार कालरूप एक नित्य पदार्थ है; अवच्छेदभेद से वह काल भूत-वर्तमान-भविष्यत्-रूपेण व्यवहृत होता है, यथा—जिसके प्रागभाव से जो काल अवच्छिन्न होता है, वह उसका अनागतकाल है; अवस्थित वस्तु द्वारा जो काल अवच्छिन्न होता है, वह वर्तमान काल है; जिसके ध्वंस से जो काल अवच्छिन्न होता है, वह उसका अतीतकाल है।[1]

(३३।७) सन्तु त एवोपाधयः—उपाधिभेद का अर्थ है—तत्तद्विशिष्टकर्मादि-भेद। यथा—एक ही काल, जो किञ्चिद्-धर्मविशिष्ट है, 'क्षण' कहलायेगा तथैव अन्य प्रकार के धर्म से विशिष्ट होने पर 'दिन' कहलायेगा, इत्यादि (यहाँ उपाधि को परिचायक कहना चाहिये)।

(का० ३४।१) विषयं विवेचयति—वि + विच धातु का अर्थ है—'भेद दिखाकर कहना', अच्छी तरह से कथन नहीं, जैसा कि कुछ अनुवादक लिखते हैं। एक एक इन्द्रिय के विषय को पृथक् कर कहना ही यहाँ विवेचन है।

(३४।३) तन्मात्रशब्द मूल कारिका में नहीं है, अतः यह प्रश्न हो सकता है कि वाचस्पति द्वारा स्वप्रयुक्त तन्मात्रशब्द की व्याख्या करना क्या संगत है? उत्तर—पूर्वाचार्यों में यह प्रथा देखी जाती है कि वे स्वप्रयुक्त शब्द की भी व्याख्या कभी-कभी करते हैं; भाष्यग्रंथ में इस शैली का प्रचुर व्यवहार है। टीका में भी यदाकदा यह शैली अनुकृत हुई है। रघुवंश १२।३२ की व्याख्या में श्लोक में अप्रयुक्त पर स्वप्रयुक्त शूर्पणखा-शब्द के अन्तर्गत ण-वर्ण की उपपत्ति के लिए टीकाकार मल्लिनाथ ने विचार किया है—यह इस शैली का प्रसिद्ध उदाहरण है।

(३४:७) वाचस्पति के 'पाण्याद्याहार्याणां घटादीनां पञ्चशब्दाद्यात्मकत्वादिति' वाक्य के विषय में Dr. C. K. Raja कहते हैं—"Vacaspati Misra says that the remaining organs of activity handle things that are characterised by the five tanmatras (p. 126)। यह कथन असमीचीन है। यह सहजतया समझ में आ सकता है कि वाचस्पति प्रयुक्त शब्दादि-शब्द का अर्थ विशेष-अविशेषरूप द्विविध शब्दादि हैं। यही बात दूसरी है कि साधारणजन अपनी कर्मेन्द्रियों द्वारा सूक्ष्म शब्दादियुक्त वस्तुओं का व्यवहार न कर सकते हों।

१. काल के विषय में सांख्यीयदृष्टि 'क्षणतत्क्रमयोः संयमाद् विवेकजं ज्ञानम्' (योगसूत्र ३।५२) सूत्र के भाष्य में द्रष्टव्य है। इस सूत्र में जो 'विवेकज' शब्द है, उसके अन्तर्गत विवेक का अर्थ 'प्रकृतिपुरुषविवेक' नहीं है, जैसा कि Dr. P. V. Kane समझते हैं (H. Dh. S. Vol V, p. 471, f. n. 667a)। सार्वज्ञ्यादि-विवेकजज्ञान या सिद्धि हैं, जो प्रकृत विवेक के विरोधी भी हो सकते हैं।

(का० ३५।२) द्वारि प्रधानम्—द्वारमस्यास्तीति द्वारि बाह्यकरणानि द्वारतुल्यानि द्वारविशिष्ट-गृहतुल्यां बुद्धिमुपकुर्वन्ति (विद्वत्०)।

(का० ३७।५) एकव्यापारी भवन्ति=एको व्यापारः विषयप्रकाशलक्षणं फलं येषां ते एकव्यापाराः, तद्रूपा भवन्तीत्यर्थः। अथवा एकव्यापारी भवन्ति एकस्या बुद्धेरेव व्यापाररूपतामापद्यन्ते (पूर्णिमा)। यहाँ दो पद हैं; 'एकव्यापारीभवन्ति' इस प्रकार एक पद के रूप से लिखना संपादकीय प्रमाद या मुद्रणप्रमाद है।

(का० ३९।१) अवान्तरविशेषम्—अवान्तर का सूक्ष्म या सूक्ष्मतर रूप से अनुवाद करना असंगत है। इसका अर्थ है—अन्तःपाती, अन्तर्गत।

(३९।२) स्नायु दो प्रकार के होते हैं—Fibre तथा tendon या ligament (बन्धनकारक पेशी)। मांस या मांसपेशी—muscle है। जो स्नायु स्नायुरज्जु-रूप हैं, वह कण्डरा कहलाता है; जो रज्जुरूप नहीं है, वह स्नायुसूत्र या सूक्ष्मस्नायु है: कण्डरा वृत्तस्नायु है (वृत्त=रज्जु की तरह)। मज्जा अस्थिमध्यस्थ धातु है। यह मेदवत् है, पर कार्यभिन्नता के कारण पृथक् धातु के रूप में माना गया है (मेदस्—प्रतिपादिक है)। लोम-लोहित-मांस—यहाँ लोम पद त्वक् का ही बोधक है, जैसा कि गर्भोपनिषद् के वाक्य से जाना जाता है—"एतत् षाट्कौशिकं शरीरं त्रीणि पितृतस्त्रीणि मातृतः। अस्थिस्नायुमज्जानः पितृतः, त्वङ्-मांस-रुधिराणि मातृतः"। चरक ने कहा है कि त्वक्, लोहित, मांस और मेद मातृज हैं, अतः लोम से त्वक् का ग्रहण अभीष्ट होता है। त्वक् लोमाधार है, अतः लोम से त्वक् का ग्रहण लक्षणा से हो ही सकता है।

(३९।४) रसान्ता—रसा=पृथिवी शब्द भी हो सकता है—अर्थात् पृथिवी में मिलकर एक हो जाता है।

(का० ४०।८) महाप्रलयेऽपि—कल्प और प्रलय एकार्थक हैं (अमरकोश), अतः महाकल्प और महाप्रलय भी समार्थक होंगे। इसके स्वरूप पर पूर्णिमा में विशद विचार किया गया है। आ चादिसर्गात्—'आ' के योग से ईदृश पञ्चमी का प्रयोग वाचस्पति के ग्रन्थों में (द्र० तत्त्ववै० ३।१५) मिलता है। कुछ व्याख्याकार ईदृश प्रयोग को दुष्ट प्रयोग समझते हैं ('च' का प्रयोग बीच में आ जाने से)। पर यह असंगत चिन्ता है। उपर्युक्त प्रयोग में समास नहीं है, अतः 'च' का प्रयोग हो सकता है।

(४१ का०) Dr. C. K. Raja कहते हैं—He [Vacaspati] too means the five tanmatras by the term visesa, specific (p. 135). यदि सर्वथा भ्रान्त दृष्टि है। वाचस्पति 'विना विशेषैः' की व्याख्या में कहते हैं—सूक्ष्मैः शरीरैः' (४१।३)। वाचस्पति की दृष्टि यह है कि सूक्ष्म शरीर (४० कारिकोक्त) 'विशेष' नाम से कहलाता है, क्योंकि वह शान्त-घोर-मूढ इन्द्रियों द्वारा अन्वित है। (शान्त-घोर-मूढ विशेष ही हैं)। वाचस्पति ने कहीं भी विशेष शब्द द्वारा तन्मात्र

का ग्रहण नहीं किया है (तत्त्ववैशादरदी में भी)। पूर्णिमा 'अविशेषैः' पद की पक्षपातिनी है; इस पर हमारा मत व्याख्या में कहा गया है।

(४१।२) प्रत्युत्पन्नशरीराश्रिताः⋯=उत्पन्नैकैकशरीराश्रिताः। "प्रतिपुरुषम् उत्पन्नं प्रत्युत्पन्नम् एकैकपुरुषादृष्टजन्यमित्यर्थः" (पूर्णिमा)। "प्रत्युत्पन्न-पञ्चतन्मात्रवत्त्वे=उत्पन्नैकैकपञ्चतन्मात्रसमानकालीनत्वे सति" (सारबो०)।

(का० ४२।३) परशुरामो वाऽजातशत्रुर्वा वत्सराजो वा⋯। ये तीन अवश्य ही प्रसिद्ध रूपकग्रन्थों के नायक थे। डा० मुसलगांवकर लिखते हैं कि परशुराम वीरचरित नाटक का, अजातशत्रु वेणीसंहार नाटक का और वत्सराज (उदयन) रत्नावली नाटिका का पात्र है। अजातशत्रु युधिष्ठिर का नामान्तर है जो इस नाटक में व्यवहृत हुआ है। परशुराम, अजातशत्रु और वत्सराज में जो कालिक पौर्वापर्य है तदनुसार ही नाम रखे गये हैं। शिशुनागवंश में भी अजातशत्रु नामक राजा हो चुके हैं। असम्भव नहीं कि ये भी किसी नाटक में नायक के रूप में आये हों।

'उदयन' नाटकीय पात्र के रूप में हमारे देश में सुप्रसिद्ध रहे हैं। कई रूपक उदयन चरित का आश्रय कर लिखे गये हैं। ९वीं शती (वाचस्पति का काल) में भी अनङ्गहर्ष ने 'तापस-वत्सराज' नाटक रचा था।

(४२।४) विश्वरूपं प्रधानस्य--इस वचन के आकरस्थल का परिज्ञान न रहने के कारण कुछ अनुवादक भ्रमवश यह समझते हैं कि इस श्लोक का विषय 'सूक्ष्म शरीर का परिणाम' है। पुराणों में भुवनकोश के अन्तिमांश में यह श्लोक पठित हुआ है (सप्तद्वीप-विवरण के उपसंहार के रूप में--प्रधान-रूप सर्वमूल कारण के विषय में)।

(का० ४३।१) विभजते=सामान्योद्दिष्टानां विशेषसंज्ञाविधानं तन्त्रान्तरे विभाग इति निर्देश इति कथ्यते (न्यायकन्दली, पृ० २१)।

(४३।४) प्राचेतसप्रभृतीनाम्--प्रचेतस् + अण्=प्राचेतस। प्रचेताः के पुत्र दक्ष प्राचेतस की व्यावृत्ति के लिए महर्षि विशेषण दिया गया है, ऐसा प्रतीत होता है। रामायणकार वाल्मीकि प्रचेतः-कुल में उत्पन्न हुये थे। वाल्मीकि शाखाकार थे, अतः उनके ऋषित्व में संशय नहीं है। शाङ्खायनगृह्य के तर्पणप्रकरण में 'रामं वाल्मीकिम्' पाठ है (आह्निक प्रकाश, पृ० ६५८ पर उद्धृत)।

(४३।५) अङ्ग-प्रत्यङ्ग—शरीर का षडङ्ग-विभाग कहा गया है (चरक० शारीर० ७।५); इसमें २ बाहू, २ सक्थि (पैर), मध्य शरीर और मस्तक आते हैं। प्रत्यङ्ग को उपाङ्ग भी कहा जाता है, जो शरीर के प्रधान अंगों के अन्दर छोटे अवयवों के लिए प्रयुक्त होता है। कण्डरा=सुषुम्नाधार मांसपेशी है—यह तत्त्वविभाकर में कहा गया है, जो असंगत है। वायु० १४।१८–१९ में कललादि पर कहा गया है—"स्त्रीपुंसयोः प्रयोगेण जायते हि पुनः पुनः। ततस्तु गर्भकाले तु कललं नाम जायते। कालेन कललं (कलनं पाठ

अशुद्ध है) चापि बुद्बुदश्च प्रजायते । मृत्पिण्डस्तु यथा चक्रे चक्रावर्तेन पीडितः" ॥ इस विषय में भाग० के श्लोक हैं—"कललं त्वेकरात्रेण पञ्चरात्रेण बुद्बुदम् । दशाहेन तु कर्कन्धूः पेश्यण्डं वा ततः परम् ॥ मासेन तु शिरो द्वाभ्यां बाह्वङ्घ्र्याद्यङ्गविग्रहः" । ३।३१। २-३ ॥ सुश्रुत (शारीर अ०), याज्ञ० स्मृति ३।७५, गर्भोपनिषद् आदि इस विषय में द्रष्टव्य हैं । सम्भवतः कललावस्था morula है और बुद्बुदावस्था blastula है ।

(का० ४४।३) सुतलादिषु लोकेषु—पुराणों में सुतल नाम से पातालों की गणना हमारे देखने में नहीं आई । हम समझते हैं कि बलि के निवासस्थान होने के कारण सुतल नामक पाताल अत्यन्त प्रसिद्ध हो गया था; इस प्रसिद्धि के कारण वाचस्पति ने सुतल नाम से ही गणना का आरम्भ किया है ।

(४४।७) प्रकृतिबन्ध, वैकारिकबन्ध और दक्षिणाबन्ध इति बन्धत्रयी (देवल) । पहला प्राकृतिक बन्ध भी कहलाता है; दूसरा वैकृतिक भी कहलाता है; तीसरा दाक्षिणक भी कहलाता है ।[1] हमारी दृष्टि में 'पुरुषरूप से उपासना करना' बन्ध का स्वरूप नहीं है; उन-उन पदार्थों पर अत्यधिक आसक्ति (जो विवेक ज्ञान की बाधिका है) ही बन्ध है । 'आत्मरूप से उपासना करना' रूप दृष्टि दक्षिणाबन्ध में घटती नहीं है, यह ज्ञातव्य है । अष्ट प्रकृति में आसक्त होना प्राकृतिक बन्ध है; षोडश विकार (अर्थात् इन्द्रिय एवं इन्द्रियार्थ) में आसक्त होना वैकारिक (=वैकृतिक) बन्ध है; दक्षिणा-निष्पाद्य कर्म (स्थूलसूक्ष्म-लाभोपयोगी कर्म) में आसक्त होना दाक्षिणकबन्ध है । वैकारिकबन्धनयुक्त जो विदेह है, उसे 'चार्वाकमतावलम्बी' मात्र समझना (जैसा कि कुछ व्याख्याकार समझते हैं) भ्रम है; उच्चयोगाभ्यासी को भी ईदृश आसक्ति होती है ।

(४४।८) मन्वन्तर—ब्रह्मा का एक दिन=४३२०००००० दिन है (मनुष्यों का) । इस काल में १४ मनु होते हैं, और एक मनु का काल मन्वन्तर है (मनूनाम् अन्तरम् अवकाशः अवधि र्वा मन्वन्तरम्—क्षीरस्वामीकृत अमरटीका) ।

(४४।९) उपास्यमानेषु—इस उपासना का स्वरूप यह है—उपासनं तु यथाशास्त्र-समर्थितं किञ्चिदालम्बनमुपादाय तस्मिन् समानचित्तवृत्तिसन्तानकरणं तद्विलक्षणप्रत्य-यान्तरितम् इति (छान्दोग्य० १।१।१ भाष्य) ।

(४४।१०) इष्ट और पूर्त=इष्टापूर्त । इष्टकर्म का लक्षण—वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च । अन्नप्रदानमारामः पूर्तमित्यभिधीयते ॥ अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां

---

१. Chinese version में दाक्षणिक (daksanika) पाठ है, ऐसा Takakusu महोदय के ग्रन्थ से ज्ञात होता है; द्र० S. S. Suryanarayana Sastri कृत अंग्लानुवाद, p. 76, f. n. 2 । यह अशुद्ध है; दक्षिणा शब्द से दाक्षणिक शब्द निष्पन्न नहीं हो सकता ।

चैव साधनम्। आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते (अत्रिसंहिता ४३-४४)। देवल का वचन है—इष्टापूर्तादिभिर्बन्धो दक्षिणाबन्धः। "दक्षिणायां प्रसृतः दाक्षिणकः। दक्षिणाकर्मण उदीच्याङ्गरूपा तदन्तमेव कर्मेति। दक्षिणस्मिन् पितृयाने प्रसृत इति दाक्षिणको वा" (पूर्णिमा)।

(४७।२) डॉ० दाशगुप्त 'तमिस्रा' शब्द का पाठ करते हैं (H. I. P. Vol I, p. 220, f. n.)। यह सम्भवतः मुद्रणप्रमाद है।

(४७।३) यद्वा यदविद्यया—प्रथम व्याख्यान में विपर्यय में मुख्यगौणभेद आ जाता है। ऐसे भेद को जो नहीं मानते हैं, उनका मत यहाँ कहा गया है। यदविद्यया .... में जो यद् शब्द है, वह 'अवधार्यते' क्रिया का विशेषण है (आवरण०)। अस्मिता आदि अविद्या से भिन्न नहीं हैं—यह जो मानते हैं, उनका अनुमान यह है—अस्मितादयो नाविद्याया भिद्यन्ते, विपर्ययावधारणमात्रदशायां तत्सामानाधिकरण्ये सति विपर्ययावधारितवस्तुविषयकत्वात्, अविद्यावत् (पूर्णिमा)।

(४७।४) वार्षगण्य शब्द पर डा० आद्याप्रसाद का मत यह है—"वृषगणशब्द से गर्गादिभ्यो यञ् (४।१।१०५) सूत्र द्वारा यञ् प्रत्यय जोड़कर वार्षगण्य बनता है... फिर वृषगण एवं वार्षगण्य दोनों से ही 'तदधीते तद्वेद' (७।२।५९) सूत्र के अनुसार ञ-प्रत्यय जोड़कर वार्षगण पद प्राप्त होता है" (सांख्यदर्शन का इतिहास पृ० १६४, टि० ३)। यह कल्पना अशास्त्रीय है। क्या 'तदधीते तद्वेद' सूत्र व्यक्तिविशेष के लक्षक या वाचक शब्दों पर भी प्रवृत्त होता है? यह ञ-प्रत्यय क्या है? क्या ञ-प्रत्यय की कोई सम्भावना 'तदधीते तद्वेद' प्रकरण में है? कहीं ऐसा तो नहीं कि 'तदधीते--' सूत्र के अव्यवहित पूर्व सूत्र (४।२।५८) में ञ--प्रत्यय का विधान रहने के कारण आद्याप्रसाद जी ने यह समझ लिया कि ४।२।५९ सूत्र में ञ की अनुवृत्ति हो जायेगी। यह चिन्ता सर्वथा दूष्य है।

(४८।१) अवान्तरभेदाद् द्वाषष्टिः—अवान्तर का सूक्ष्मभेदरूप अनुवाद करना असङ्गत है।

(४८।५-६) रञ्जनीय तथा कोपनीय शब्दों में जो अनीय रूप कृत्यप्रत्यय है, वह कर्ता में है—भव्यगेयप्रवचनीयादीनां (अष्टा० ३।४।६८) कर्तरि निपातनस्य प्रदर्शनार्थत्वात् कोपनीयरञ्जनीयवद् अत्रापि कर्तरि कृत्यप्रत्ययः (तत्त्ववै० २।५२)। इसी प्रकार 'मोहनीयरञ्जनीयकोपनीयैः शब्दादिभिः' प्रयोग तत्त्ववै० २।५४ में है। रञ्जनीयाः कोपनीया इति कर्तरि कृत्यो भव्यगेयादिपाठात् (ता० टी० ४।१।६)। कोपनीयाः=कोपहेतवो द्वेष्याः (पूर्णिमा)। कोपनीया भवन्तीति....अष्टादशधेति—प्रथम 'इति' शब्द का तात्पर्य है—'अनेन कोपनीयसंख्याप्रदर्शनेन'; द्वितीय 'इति' हेतु का द्योतक है।

(४८।७) मास्म उपघानिषत—यहाँ कर्मवाच्य है—'असुरादिभिः अणिमादयः मा स्म उपघानिषत' (उप + हन्धातु + लुङ्लकार, सिच् + प्रथमपुरुष बहुवचन; अडागम का लोप)।

(४९ का०) विपर्ययात् तुष्टिसिद्धीनाम्—यह पञ्चमी ल्यब्लोपे पञ्चमी है—"तत्तद्-अभावव्याप्यत्वमादाय इत्यर्थः, विभक्ता इति शेषः। अथवा प्रयोजकपञ्चमी" (पूर्णिमा)। कारिकोक्त वध=दोष=विकलता=अप्रवृत्ति है, जैसा कि युक्तिदी० में कहा गया है—स्वसंस्कारविषययोगात् ···· अप्रवृत्तयः। न्यायदर्शन के 'न कार्याश्रयकर्तृवधात्' (३।१।६) में भी वध=उपघात, वैकल्य या मारण है।

(४९।७) ९ तुष्टियों और ८ सिद्धियों के विपर्ययों के नाम भी व्याख्याकारों ने क्वचित् कहे हैं। युक्तिदी० कहती है—"तस्मादव्युत्पन्नस्य अम्भःप्रभृतिषु नव अनम्भः-प्रभृतयो बुद्धिवधाः। तारकादिविपर्ययेण अष्टौ अतारकादयः"। तार आदि सिद्धियों के (= ऊहादि सिद्धियों के) प्राचीन नाम हैं; उनके विपर्ययभूत असिद्धियों के नाम भी सुतरां नञ्घटित होंगे (अतार आदि)। इस विषय में जय० में एक भ्रष्टपाठयुक्त वाक्य है—तासां चासिद्धीनां मोषमुष्णामानरिमत्याद्याः (?) संज्ञाः। यही बात तुष्टि में भी घटती है—अम्भः के विपर्यय अनम्भः आदि हैं, जैसा कि कुछ व्याख्याकारों ने कहा है।

(५०।९) मदालसापत्यानि—गन्धर्वराज विश्वावसु की कन्या मदालसा के कुवलयाश्व से विवाह एवं पुत्रप्राप्ति, मदालसा का पुत्रानुशासन आदि मार्क० पु० अ० २६-३५ में वर्णित हुए हैं। यद्यपि मदालसा के तीन पुत्र हुए थे, पर मदालसा ने अलर्क को ही उपदेश दिया था—यह मार्कण्डेयपुराण से जाना जाता है। वाचस्पति ने 'अपत्यानि' शब्द का प्रयोग किया है। क्या अन्य किसी पुराण के वर्णन को लक्ष्य कर वाचस्पति ने ऐसा कहा है? इस प्रसङ्ग में यह ज्ञातव्य है कि 'शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि·····' इत्यादि प्रसिद्ध श्लोक (पुत्र को लक्ष्य कर मदालसा का वचन) मार्कण्डेय पुराण में नहीं मिलता, यद्यपि कई टीकाकारों ने ऐसा कहा है। सम्भवतः अन्य किसी पुराण में भी यह उपाख्यान है।

(५०।१४) दुःखा कुर्वन्ति—ये दो पद हैं। जो संपादक इसको एक पद की तरह समझते हैं, वे भ्रान्त हैं—यहाँ समास का कोई प्रसंग नहीं है।

(५०।१९) एवं नानुपहत्य भूतानि (किसी प्राणी को बिना कष्ट दिये कोई विषय-भोग नहीं कर सकता)—तत्त्वविभाकर में कहा गया है—"न हिंस्यात् सर्वा भूतानि अन्यत्र तीर्थेभ्यः इति श्रुतिमाश्रित्य पञ्चमीमाह एवं नानुपहत्येति"। ऐसा कोई श्रुतिवाक्य नहीं है। छान्दोग्य० ८।१५।१ का वाक्य है—अहिंसन् सर्वभूतानि अन्यत्र तीर्थेभ्यः। इस श्रुतिवाक्य से उपर्युक्त वाक्य का निकट संबन्ध नहीं है। 'नानुपहत्य···' वाक्य २।१५ व्यासभाष्य में, शान्तिपर्व की नीलकण्ठी टीका में (२०६।२०) तथा अन्यान्य कई ग्रन्थों में मिलता है।

(५०।२०) भिक्षु ने तुष्टि की मिश्रकृत व्याख्या की असंगति दिखाने की चेष्टा की है। भिक्षुव्याख्या की सदोषता आवरणकारिणी में द्रष्टव्य है। व्याख्याकारों ने अम्भः आदि नामों की अन्वर्थता (नामानुरूप अर्थ से युक्त=अन्वर्थ) दिखाई है, जो व्याख्यान-ग्रन्थों में द्रष्टव्य है। व्याख्या-ग्रन्थों में पाँच बाह्य तुष्टियों के नामों में कुछ भेद पाये जाते हैं।

(५१।७) 'संशय-पूर्वपक्ष' का अनुवाद 'सन्दिग्ध पूर्वपक्ष' करना असमीचीन है। जो पूर्वपक्ष होता है, वह खण्डनीय ही होता है, अतः उसके विशेषण के रूप में 'सन्दिग्ध' पद का प्रयोग करना व्यर्थ है। किंच संशय का सन्दिग्ध अर्थ करने के लिए लक्षणा का आश्रय लेना होगा—जिसकी कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। यही कारण है कि हम 'संशय और पूर्वपक्ष' ऐसा अर्थ करना ही युक्त समझते हैं। सारबोधिनी टीका में कहा गया है—'संशयनिराकरणेन पूर्वपक्षः, तन्निराकरणेन च उत्तरपक्षव्यवस्थापनम्''। पर संशय का निराकरण-पूर्वक पूर्वपक्ष को व्यवस्थित किया जाता है—यह कहना संगत नहीं है। संशय में दो कोटियाँ होती हैं—उसकी एक कोटि को मतविशेष के रूप में रखना (जो अवश्य ही बाद में खण्डनीय है) पूर्वपक्ष है। इसमें संशय का सम्यक् निराकरण नहीं हो जाता क्योंकि बाद में संशय की अन्यतर कोटि को ही सिद्धान्त रूप से (अखण्डनीय मत) के रूप से दिखाया जाता है।

(५१।१३) अन्ये तु—यह गौडपाद का मत है--ऐसा पूर्णिमाकार कहते हैं। डा० आद्याप्रसाद के अनुसार यह जयमङ्गला का मत है। किसने सबसे पहले ऐसी व्याख्या की थी--यह दुर्निरूपणीय है।

(५१।१८) अस्य च युक्तायुक्तत्वे······इस व्याख्या की अयुक्तता आवरणवारिणी तथा गुणमयी टीका में स्पष्टतया दिखायी गयी है। यहाँ गुणमयी-कृत खण्डन उदाहृत हो रहा है—"तत्र प्रथमे स्वयमुहनेऽपि गुरूपदेश आवश्यकः, उपदेशं विनेत्यसङ्गतिः। द्वितीये स्वकृत-पाठादपि तत्त्वज्ञानं नोत्पद्यते किमुत अन्यदीयपाठमाकर्ण्येति स्वकृतपाठत्यागे बीजा-भावश्चेति। तृतीये यथाश्रुतार्थत्यागः, अध्ययनपदस्य विधिवद् वेदायत्तीकरणे शक्तत्वात्। चतुर्थे सुहृदुपदेशं विना ज्ञानासम्भवात् शब्देन सहास्याः पौनरुक्त्यम्। पञ्चमे तत्त्वज्ञानां सर्वथा विरक्तानां धनादेरनावश्यकतया 'पुष्कलेन धनेने'ति नीतिर्न सङ्गच्छते—इति नादृश-व्याख्याने दूषणानि योजनीयानीति।"

(५१।२१) सिद्धिकरिणीणाम्—अङ्कुशपद-सामर्थ्य से सिद्धि पर करिणी-बुद्धि होती है, जैसे गुणसिन्धु कहने पर सिन्धुपद के सामर्थ्य से गुणपर जलबुद्धि होती है। अङ्कुश को आकर्षक अर्थ में लेकर भिक्षु ने व्याख्या की है (द्र० सांख्यसूत्र-भाष्य ३।४४); इस व्याख्या का खण्डन अत्रत्य पूर्णिमा तथा आवरणवारिणी में उपलब्ध होता है।

(५२।७) अन्योन्याश्रय—पाँच प्रकार के तर्कों में यह (आत्माश्रय, चक्रक, अन-वस्था, प्रमाणबाधितार्थप्रसंग—ये अवशिष्ट चार हैं) अन्यतम है। यह इतरेतराश्रय

भी कहलाता है — द्वयोरन्योन्यापक्षेणमितरेतराश्रयः । 'अन्योन्यस्य अव्यवहितान्योन्यापेक्षित्वम्' (खण्डनखण्डखाद्य) । शरीर धर्मादिजन्य है और धर्मादि शरीरजन्य हैं—ऐसा कहने पर अन्योन्याश्रय दोष होता है ।

(५३।३) पशु-मृगभेद पर टीकाकारों ने विचार किया है—पशुपदं विजातीयलोमवल्लाङ्गूलावच्छिन्नजीवपरम्, नातो मृगवैयर्थ्यम् । मृगपदमपि चतुष्पदादिसकलपरं नातो मूषिकादेरपरिनिबन्धतन्न्यूनता (गुणमयीटीका); मृगपदं लोमवल्लाङ्गूलवत्-प्राणिपरम् (आवरण०); पशुत्वं लोमवल्लाङ्गूलवत्त्वम् । लोमरहितलाङ्गूलवत्त्वं लोमवल्लाङ्गूलरहितत्वे च सति चतुष्पदत्वं वात्र मृगत्व तेन मूषिकादिपरिग्रहः (पूर्णिमा) ।

वस्तुतः ग्राम्य पशु और आरण्य पशु रूप दो भेद प्रतिष्ठित हैं; तदनुसार ही यहाँ समझना चाहिये—पशु ग्राम्य हैं और मृग आरण्य हैं। उदासीनजी का यही मत संगत जंचता है—पशवो ग्राम्याश्चतुष्पदाः, मृगा आरण्यका श्चतुष्पदा हरिणादयः' ।[1]

(५४।२) द्युप्रभृतिः—द्यौः प्रभृतिः (=आरम्भः) यस्य ।

(५४।१) चैतन्योत्कर्ष-निकर्ष—चैतन्य का अर्थ यदि पुरुषतत्त्व हो तो यह जानना चाहिये कि अपरिणामी चैतन्य के उत्कर्ष-अपकर्ष होते नहीं हैं । सोपाधिक पुरुष की जो उपाधि है, उसमें उत्कर्षापकर्ष होते हैं । चैतन्य का अर्थ यदि वृत्तिरूप ज्ञान हो तो उसके उत्कर्षापकर्ष संभव हैं ।

(५४।५) ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त=ब्रह्मा से शुरू कर स्तम्ब नामक तृणविशेष पर्यन्त (ब्रह्मा और स्तम्ब—दोनों ही जीव हैं) । सांख्यसूत्र में आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तम् (३।४७) कहा गया है। इसके अनुवाद में J. R. Ballantyne कहते हैं — from ब्रह्मा down to a post. यह अशुद्ध है; स्तम्ब का अर्थ post नहीं है । Ballantyne के अनुसार स्तम्ब पाठ ही है, स्तम्भ नहीं ।

(५५।३) दुःखं च भयहेतु :—कोई कोई टीकाकार हेतु=कार्य समझते हैं; भयहेतुः=भयकार्यम् ।

(५५।४) लिङ्गं च तत्सबन्धीति का 'लिङ्ग बुद्धि से संबद्ध है' रूप अनुवाद करना असंगत है । तद् का लक्ष्य है—दुःखादि, न कि बुद्धि ।

(५९।९) विप्रतिपत्तीः निराकरोति—विप्रतिपत्ति का 'विभिन्न मत' रूप से अनुवाद न कर 'विरुद्ध मत' रूप से अनुवाद करना संगततर है—विरुद्धा प्रतिपत्ति विप्रतिपत्तिः ।

---

१. प्रशस्तपाद के 'मानुषपशुमृगानां जरायुजम्' (पृथिवीप्रक०) की टीका में श्रीधर कहते हैं—पशवः छागाः, मृगाः कृष्णसारादयः (कन्दली) । यह व्याख्या असंगत है । पशु का छागरूप अर्थ 'अग्नीषोमीयं पशुमालभते' सदृश वाक्य में ही लिया जाता है—'अनादेशे पशुः छागः' इस न्याय के आधार पर ।

(५६।५) नेश्वराधिष्ठित'''--इस वाक्य में पातञ्जलमत का निराकरण किया गया है-यह पूर्णिमाकार कहते हैं; पर क्लेशादि-अपरामृष्ट निरतिशय-सार्वज्ञ्य-युक्त ईश्वर प्रकृति का अधिष्ठान करके सृष्टि करते हैं—यह पातञ्जलमत नहीं है। यत्रकामावसायित्व रूप ऐश्वर्यशाली कोई पुरुष-विशेष (ऐशचित्त-युक्त पुरुष) सृष्टि करते हैं--यह योग-दर्शन का मत है। यह सृष्टिकारी पुरुष क्लेशादि से सर्वथा अपरामृष्ट है--ऐसा नहीं कहा जा सकता है।

(५७।४) 'साध्यत्वात्' के स्थान पर 'साध्यवत्त्वात्' पाठ मिलता है। इस पर पूर्णिमाकार का विवेचन न्यायशास्त्ररसिकों के लिये उपादेय है—"साध्यवत्त्वादित्यत्र साध्यत्वादिति क्वचित् पाठः, तस्य साधुत्वस्वीकारे साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञेति सूत्रे साध्यपदस्य साध्यविशिष्टधर्मिपरत्ववद् अत्रापि साध्यपदस्य साध्यविशिष्टधर्मिपरत्वं साध्यविशिष्टपरत्वं वाभ्युपेयम्"। साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा यह न्यायसू० १।१।३३ है। धर्मी-परक साध्यपद न्याय-भाष्यादि में स्वीकृत हुआ है (द्र० १।१।३६ सूत्र की व्याख्याएँ)।

(५८।१) तद् विभजते=विशेषेण प्रतिपादयति; नूतन उपमा से कहना विशेषेण प्रति-पादन ही है। किसी को अन्य से पृथक कर जो दिखाया जाता है, वह 'विवेचन' होता है। ईदृश विवेचन यहाँ नहीं है, अतः अनुवाद में 'विवेचन करते हैं' कहना ठीक नहीं है।

(५९।२) रङ्ग=नृत्यस्थान; इसका पारिषदरूप अर्थ लक्षणा के बल पर किया गया है। रङ्ग में सम्बन्धमात्र-विवक्षा में षष्ठी है; कारिका के पूर्वार्ध में भी 'आत्मानम्' का अध्याहार करना पड़ता है—'नर्तकी अपने को दिखाकर''' यह अर्थ होगा। हम ऐसा भी समझ सकते हैं कि यहाँ रङ्ग का अर्थ ही नृत्य है, 'रङ्गो नृत्ये' (विश्वकोश, द्र० रुचिपति उपाध्याय कृत अनर्घराघव टीका १।४)। इस पक्ष में 'नृत्य को दिखाकर जिस प्रकार नर्तकी निवृत्त होती है,' यह अर्थ होगा। 'दर्शकों को दिखाकर' वाक्यसामर्थ्य से इसका स्वतः अध्याहार हो जायेगा।

(६१।३) अतिमन्दाक्षमन्थरा--मन्दाक्ष=लज्जा। मन्थरा=चापल्य-रहिता। सिचय= स्त्रियों का कञ्चुलिका-नामक वस्त्र जो स्तनों का आवरण करता है। अञ्चल=वस्त्रप्रान्त।

(६२।२) प्रेत्यभावापरनामास्ति--प्रेत्य=मृत्वा; भावः=जन्म (पुनर्जन्म)। इस ल्यबन्त या क्त्वान्त शब्द के साथ जो समास हुआ है, वह 'मयूरव्यंसकादि' (अष्टा० २।१।७२) सूत्र के अनुसार ही हुआ है-यह समझना चाहिये। इस गण में इस प्रकार के कई शब्द पठित हुये हैं--प्रोह्यपद या प्रोह्यपदि, प्रोष्यपापीयान्, निकुच्यकर्णि, भुक्त्वासुहित, स्नात्वा-कालक आदि[१]।

---

१. बौद्धों का प्रतीत्यसमुत्पाद शब्द भी एतदनुरूप है। इत्य शब्द को तद्धितप्रत्ययान्त मानकर (इती साधवः इत्याः) भी एक व्याख्या प्रचलित है (माध्यमक-वृत्ति, का० ६)।

उपसंहारव्याजेन अभ्युपगच्छन्–अर्थात् पुरुष का मोक्ष होता है, यह कथन व्यर्थ है– यह जो पूर्वपक्षी का कहना था, वह वस्तुतः उत्तरपक्षी का अन्तिम निर्णय है। यह दिखाया गया है कि शङ्काकारी का जो पक्ष है, वही सिद्धान्ती का भी अन्तिम स्वीकार्य पक्ष है। यही कारण है कि 'उपसंहारव्याजेन अभ्युपगच्छन्' कहा गया है।

(६३।१) 'किंसाधनाः पुनरेतैः प्रकृतेः' का 'प्रकृति का इनसे क्या लाभ होता है' इस रूप से अनुवाद करना असंगत है। इसका अर्थ है––'कानि साधनानि येषां ते।'

(६४।६) अनादिना मिथ्याज्ञानसंस्कारेण––'मिथ्याज्ञानसंस्कार' समस्त पद है, अतः 'अनादि' मिथ्याज्ञान का विशेषण नहीं हो सकता––मिथ्याज्ञान (=अविद्या) का जो संस्कार है, वह अनादि है। यही कारण है कि 'अनादि अविद्या के संस्कार से' इस रूप से इसका अनुवाद करना असंगत है।

(६४।७) इससे ध्वनित होता है कि–अतत्त्वज्ञान औपाधिक है––यह व्याख्याकारगण कहते हैं। 'तत्त्वपक्षपातो हि स्वभावो धियाम्' (भामती-अध्यासभाष्य पर)। तत्त्ववैशारदी १।५० में भी यह वाक्य है।

(६४।८) यदाहुर्बाह्या अपि—निरुपद्रव···यहाँ बाह्य=वेदबाह्य अर्थात् बौद्ध आदि। विपर्ययैः निरुपद्रव-भूतार्थस्वभावस्य यत्नवत्त्वेऽपि न बाधः । [कुतः] बुद्धेः तत्-पक्षपाततः (अन्वय)। निरुपद्रव (=संशयादिशून्य) भूतार्थस्वभाव (=स्वभावतः सत्य) जो अर्थ है, दृढसंस्कारमहिमा के कारण (यत्नवत्त्वेऽपि) उसका बाध नहीं होता, क्योंकि बुद्धि का भूतार्थ-पक्षपातित्व है। यह ज्ञातव्य है कि यहाँ 'आत्मभाव' को ही भूतार्थ-स्वभाव कहा गया है। यद्यपि इस बौद्ध दृष्टि को टीकाकार नहीं मानते हैं, पर 'मिथ्याज्ञान से सत्य ज्ञान बाधित नहीं होता'—इतना ही यहाँ विवक्षित है।

निरुपद्रव···कारिका के विषय में पूर्णिमाकार की व्याख्या द्रष्टव्य है—विपर्ययैः विपरीतविषयकमिथ्याज्ञानैः। यत्नवत्त्वेऽपि मिथ्याज्ञानधर्मिक-प्रामाण्य-निश्चयेऽपि, भूतार्थस्वभावं भूतार्थविषयकं ज्ञानम्। निरुपद्रवं संशयभिन्नम्। बाधः प्रतिबन्धः, अगृहीता-प्रामाण्यक-विपरीतभ्रमैरपि साक्षात्कारिप्रमा न प्रतिबध्यते इत्यर्थः। कुतः बुद्धेः तत्त्वभूत-पदार्थपक्षपातित्वात् तत्त्वभूतपदार्थ-ज्ञानजनकत्वस्वाभाव्यादित्यर्थः।

तत्त्वविभाकरव्याख्या यह है––उपद्रवः प्रवृत्तिज्ञानानि; तैः शून्यो यो भूतार्थं आलय-विज्ञानरूपं स्वभावो यस्य। विपर्ययैः प्रवृत्तिविज्ञानैः विज्ञानरूपतायाः । न बाधः, अयत्न-वत्त्वेऽपि तत्त्वज्ञानस्यानावृत्तौ अपि। 'न बाधः स्यात् नवत्वेऽपि' इति पाठे निर्दोष-निरात्म-तत्त्वज्ञानस्य सादित्वेऽपि अनादिमिथ्याज्ञानैर्न बाधः।

रमेशचन्द्र जी की व्याख्या यह है––"उपद्रवः प्रवृत्तिविज्ञानम्। भूतार्थः आलय-विज्ञानम्। प्रवृत्तिविज्ञानशून्यालयविज्ञानस्येत्यर्थः। यत्नवत्त्वेऽपि चिरकालाभ्यस्तत्वेऽपि। तत्पक्षपातित्वाद् भूतार्थपक्षपातित्वात्" (गुणमयी)। यह व्याख्या स्वारसिक नहीं है।

विपर्यय-शब्द में जो षष्ठी विभक्ति नहीं हुई है, उसका हेतु है—'उभयप्राप्तौ कर्मणि' सूत्रोक्त नियम (अष्टा० २।३।८) ।

इसकी भारतीयतिकृत व्याख्या यह है--निरुपद्रवो निर्दोषः । भूतार्थस्याभावो यस्य नैरात्म्यादितत्त्वज्ञानस्य तस्य विपर्ययै मिथ्याज्ञानैर्बाधो न स्यात् । ननु यद्यपि तत्त्वज्ञानं भूतार्थस्वरूपं तथापि यत्नाधीनमिति । मिथ्याज्ञानेन तद्बाध इत्यत्राह अयत्नवत्त्वेऽपीति । यस्य बलवत्त्वेन बाधो बुद्धेः पक्षपातित्वेन प्रबलत्वादित्यर्थः । यदि 'न बाधोऽत्रलवत्त्वेऽपि' इति पाठः, अर्थस्तु स एव । 'न बाधे यत्नवत्त्वेऽपि' इति वा पाठः, तस्यार्थः–यस्यार्थभावना-प्रकर्षविषयदार्ढ्यं सर्वविषयं ज्ञानमुत्पद्यते, तेन विषयीकृतस्य निरुपद्रवपरमार्थस्वभावस्य संस्कारबलादनुवर्तमानैर्विपर्ययैर्न बाधा, कुतो बुद्धेः परमार्थस्वभावजन्याया वस्तुपक्षपातित्वेन प्राबल्यात्……अत्र तु अयत्नवत्त्वेऽपि अधिकप्रयत्नानपेक्षत्वेऽपि बुद्धेस्तत्पक्षपातित्वेनो-दयो निरतिशयोत्कर्षासिद्धिश्चेत्यर्थः । विशेषतस्तु चिदात्मस्वभावस्य कुतो बाध इत्युक्तं भवति । तदुक्तं वार्तिककारेण--"बाधितत्वादविद्याया विद्वांसो नैव बासते (?) । तद्वासना-निमित्तत्वं याति विद्यास्मृतेध्रुवम् ॥"[1]

वाचस्पति ने 'बाह्य' शब्द का उल्लेख करके ही इस श्लोक का उद्धरण क्यों दिया—यह प्रश्न हो सकता है । सत्यज्ञान की शक्ति मिथ्याज्ञान से अधिक है--यह हमारा मत वेदबाह्य द्वारा भी स्वीकृत है--यह वे कहना चाहते हैं--ऐसा कुछ लोग कहते हैं। पर 'बौद्धा अपि' 'सौगता अपि' ऐसे सद्भावद्योतक शब्दों का प्रयोग न कर हेयताबोध-गर्भक शब्द का प्रयोग ही क्यों किया गया--यह प्रश्न भी उठता है । किसी पातक के कारण धर्मकीर्ति वर्णाश्रमी-समाज द्वारा बहिष्कृत हुये थे (और बौद्ध समाज ने उनको गौरवित स्थान दिया था)--यह सूचना उदयन ने दी है (द्र० आत्मतत्त्वविवेक पृ० ९०७ सोसायटी संस्क०) । कोई पतित भी यदि प्रामाणिक बात कहे तो हम उसको पतित समझते हुये भी उसका आदर करते हैं--यह वाचस्पति सूचित करना चाहते हैं क्या ? शाक्यभिक्षु के विषय में उन्होंने अपना मत तो कह ही दिया है (द्र० का० ५, अनुच्छेद ४१–४२) ।

(६४।९) महाभाष्य का सन्दर्भ यह है--अथवा कृभ्वस्तयः क्रियासामान्यवाचिनः, क्रियाविशेषवाचिनः पचादयः । प्रदीप टी० —पाकादिषु क्रियाविशेषेषु भिन्नलिङ्गसंख्या-नुगतेष्वपि भावशब्दवाच्यं शाबलेयादिष्विव गोत्वं विद्यते, तच्च एकं पुंस्त्वानुगतं चेति तदाश्रित्य प्रत्यया विधास्यन्त इत्यर्थः ।

---

१. वार्तिककार के श्लोक का जैसा पाठ यतिकृत टीका में छपा है, वही यहाँ दिया गया है । यह वस्तुतः बृहदारण्यकवार्तिक या तैत्तिरीयोपनिषद्वार्तिक का श्लोक नहीं है, नैष्कर्म्यसिद्धि (१।३८) का है, जो इस प्रकार है—"बाधितत्वादविद्याया विद्वांसा नैव बाधते । तद्वासना-निमित्तत्वं याति विद्यास्मृतेध्रुवम् ॥"

(६४।१२) कुतः स्वाभाविकी स्वामिता—भारतीयतिकृत टीका में 'कुतोभाविकी' एकं पद है—कुतो भवनं कुतोभावः। तेन चरतीति कुतोभाविकी, न कुतोऽपि स्वामितेति।

(६४।१३) 'अथवा नास्मि...न प्रसवधर्मा' इस वाक्य पर डा० ब्रजमोहन लिखते हैं—"वाचस्पति ने इन तीनों वाक्यांशों का एक वैकल्पिक अर्थ भी किया है। नास्मि का अर्थ...पुरुष हूँ" (पृ. २०१)। यह कथन असंगत है। वाचस्पति का कहना है कि 'नास्मि' का पदच्छेद 'ना + अस्मि' भी हो सकता है, यहाँ ना का अर्थ है पुरुष (नृ शब्द की प्रथमा विभक्ति का एकवचन)। यह पदच्छेद केवल 'नास्मि' का है, यह 'तीनों वाक्यांशों का एक वैकल्पिक अर्थ' नहीं है।

(६६।५) 'यया विवेकख्यातिर्न कृता' इस वाक्य का यह अनुवाद असंगत है—'प्रकृति पुरुष में जब तक विवेकख्याति उत्पन्न नहीं करती।' पहले यह बात स्पष्टतया जान लेनी चाहिये कि यहाँ प्रकृति—गुणत्रयमात्र नहीं है, बल्कि गुणविकार का फलभूत बुद्धितत्त्व है। चूंकि विवेकख्याति चित्तवृत्तिविशेष है, अतः वह बुद्धि का ही परिणाम है तथा वह बुद्धि में ही उत्पन्न होती है। अपरिणामी पुरुष में कुछ भी उत्पन्न नहीं होता। विवेकख्याति उत्पन्न होने पर बुद्धि शाश्वत-निरोधाभिमुख हो जाती है।

(६७।७) वेगाख्यसंस्कार—वैशेषिक के अनुसार संस्कार के तीन भेद हैं—वेग, भावना और स्थितिस्थापकता। यह संस्कार गुण है। संस्कार का लक्षण है—यज्जातीयः समुत्पाद्यः तज्जातीयस्य कारणम्। स्वयं तस्माद् विजातीयः संस्कारः स गुणो भवेद्॥ (तार्किकरक्षा ५।४८)।

(६७।८) शरीरस्थितौ प्रारब्धपरिपाकौ—"प्रारब्ध उत्पादयितुमारब्धः अथचापरिसमाप्तः परिपाक एतच्छरीरफलभोगो याभ्यां तौ इति" (आवरण०)।

(६९।५) यत्र='जिस ज्ञान रूप फल के लिये' (प्राणियों के सृष्टि-स्थिति-विनाश विचारित होते हैं)। विचार अर्थ मे चिन्ता का प्रयोग शारीरकभाष्य, चरकसंहिता आदि में मिलता है।

(६९।५) चर्मणि द्वीपिनं हन्ति यह 'निमित्ताद् कर्मसंयोगे' (२।३।३६ का वार्त्तिक) का उदाहरण है। हरदत्त 'कर्मयोगे' पाठ करते हैं और योग=संयोग तथा समवाय—दोनों मानते हैं। भट्टोजि और उनके व्याख्याकार भी ऐसा ही मानते हैं।

तत्त्वकौ० में यद्यपि निम्नोक्त वाक्य नहीं है तथापि व्याख्याकारों ने महाभाष्योक्त (२।३।३६) पूर्ण श्लोक का उद्धरण देकर व्याख्या की है। 'सीम्नि पुष्कलको हतः' की व्याख्या में डा० गजानन शास्त्री लिखते हैं कि 'सीमा का अर्थ है—राज्य की सीमा तथा पुष्कलक का अर्थ है—पुष्कल नामक राजा।' दोनों अर्थ सर्वथा निर्मूल हैं। पुष्कलक का अर्थ है—गन्धमृग तथा सीमा का अर्थ है—अण्डकोश (द्र० ६३३ सिद्धान्तकौमुदी

और इसकी टीकाएँ। सीमा का अर्थ राज्यसीमा ही नहीं, ग्रामादि की सीमा भी है। पुष्क-लक=शङ्कु—यह हरदत्त कहते हैं—सीमाज्ञान के लिए शङ्कु का निखात किया जाता है। पुष्कल नामक राजा सर्वथा अप्रसिद्ध है। यह सोचना चाहिए कि चमरी, कुञ्जर और व्याघ्र (द्वीपी) व्यक्तिनाम नहीं हैं, अतः पुष्कलक भी व्यक्तिनाम नहीं होगा। चमरी आदि 'कोई भी चमरी, कुञ्जर और व्याघ्र' इस अर्थ में प्रयुक्त हुये हैं, पुष्कलक भी तथैव प्रयुक्त हुआ है; यह संज्ञा नहीं है।

(७०।१) श्रद्दधीमहि--श्रद् उपसर्गवत् है, द्र० श्रदन्तरोरुपसर्गवद् वृत्तिः। यहाँ समास नहीं है, श्रद् का प्राक्प्रयोग मात्र है।

(७० का) सांख्यविद्या के साथ प्रधानतम शास्त्रव्यवस्थापक आचार्य के रूप में पञ्चशिख की प्रसिद्धि इतनी प्ररूढ थी कि कभी-कभी कपिल का नाम न लेकर पञ्चशिख का नाम लेकर ही सांख्यशास्त्र को लक्षित किया गया है—'विषधर-कणभक्ष-शंकरोक्ती-र्देशबल-पञ्चशिखाक्षपादवादान्' यह नृसिंहपुराणवचन (९।७) इसमें प्रमाण है (यह वाक्य जीवगोस्वामी-कृत परमात्मसन्दर्भ, अनु० ६१ में उद्धृत है)।

(७१।१) आराद् याता तत्त्वेभ्य इत्यार्या—इसमें आरात् का अर्थ जब समीप है, तब अर्थ होगा—तत्त्वों की समीप याती हुई; जब आरात् का अर्थ दूर होगा, तब 'याता अतत्त्वेभ्यः' पाठ होगा—'अतत्त्वों से दूर जाती हुई।' यह द्वितीय व्याख्या तत्त्वविभाकर की है।

(७२।१) प्रकरणम्—प्रकरण=प्रकरणग्रन्थ। इसका लक्षण है—शास्त्रैकदेश-सम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्। आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः॥

(७२।) हमारी दृष्टि में राजवार्त्तिक वह वार्तिक ग्रन्थ (उक्त-अनुक्त-दुरुक्त-चिन्ताकारक) है, जो सांख्यकारिका पर लिखा गया था। इस वार्तिक ग्रन्थ की सामग्री युक्तिदीपिका के अन्तर्गत है। कात्यायनवार्त्तिक और महाभाष्य में जो संबन्ध है वह बहुत कुछ राजवार्त्तिक और युक्तिदीपिका में भी है--यह मैं समझता हूँ। ग्रन्थान्तर में यह तथ्य प्रमाणित किया जायेगा।

(७२।२) शेषवृत्ति—इसकी व्याख्या में वाचस्पति ने वृत्तिस्थिति रिति…कहा है। इस पर पूर्णिमाटीका द्रष्टव्य है--"वृत्तिरिति शेषपदं विहाय वृत्तिपदं स्थूलसूक्ष्ममधिकृत्येति। शेषाणामिति शेषः। स्थूलसूक्ष्माणां मध्ये ये शेषाः प्रोक्ताः प्रधानपुरुषाभ्यामन्ये तेषां शेषवृत्तिः शेषेषु स्वलयानन्तरमवशिष्टेषु स्वकारणेषु इति यावत्, वृत्तिः स्थितिः इत्यर्थः; अथवा स्थूलसूक्ष्ममिति प्रधानपुरुषातिरिक्त-यावत्-तत्त्वपरम्। पूर्ववदन्यत्। वृत्तिः स्थितिरित्यत्र वृत्तिरिति यत्र क्वचिन्न पठ्यते तत्रापि स्थितिरिति राजवार्त्तिकस्थवृत्तिशब्दव्याख्येत्यव-गन्तव्यम्" (पूर्णिमा)।

(७२१२) मौलिकार्थाः--मूलिकार्थाः और चूलिकार्थाः पाठान्तर हैं। "चूलिकार्था इति क्वचित् पाठः तस्याप्युक्त एवार्थः" (तत्त्वविभाकर)। युक्तिदीपिका के मूलपाठ में 'चूलिकार्थाः' ही छपा है और 'मूलिकार्थाः' पाठान्तर माना गया है। इस विषय में राजानक-रत्नाकर-कृत हरविजय-काव्य का यह श्लोक आलोच्य है--

प्रकृतेः पृथक् प्रकृतिशून्यतां गतः
प्रतिषिद्धवस्तु-गतधर्म-निष्क्रियः ।
पुरुष स्त्वमेव किल पञ्चविंशकः
स्फुट-चूलिकार्थवचनै र्निगद्यते ॥

इति कृष्णयजुर्वेदीय-तैत्तिरीयशाखिना गार्ग्येण गार्ग्याङ्गिरसात्रेयप्रवरेण आपस्तम्ब-सूत्रानुयायिना रामशंकरभट्टाचार्येण कृता स्वामि-हरिहरानन्दारण्यानुशासनगर्भा ज्योतिष्मती समाप्ता।

नमः परमर्षये नमः परमर्षये

२ मई १९७६, अक्षयतृतीया, संवत् २०३३

शुद्धि-पत्र

जिन मुद्रणाशुद्धियों के कारण अर्थबोध में विपर्यास हो सकता है, उन अशुद्धियों का ही उल्लेख किया गया है। किसी पैराग्राफ में जो शब्द एकाधिकबार प्रयुक्त हुआ है, यदि उस पैरा में उस शब्द में मुद्रणाशुद्धि है तो उसका उल्लेख प्रायेण यहाँ नहीं किया गया है। ा–ो, व–ब, म–भ, से सम्बन्धित मुद्रणाशुद्धियों का निर्देश भी यहाँ नहीं किया गया है।

पृष्ठ	पंक्ति	मुद्रित पाठ	शुद्ध पाठ
९	२९	अन्याय	अन्यान्य
२५	३	सङ्गता	साङ्गता
३९	२३	यश्चाप्यति	यत्राप्यति [इस वाक्य का आकरस्थल श्लोकवा० २।११४ है]
४१	९	कहा जाता कि	कहा जाता है कि
६२	१०	पुरुषगतत्वेत	पुरुषगतत्वेन
६३	३	के सुनने समय	सुनने के समय
८०	८	गुरुत्वान्तर:कार्यं	गुरुत्वान्तरकार्यं
८२	४	× ×	३८ वाक्य के बाद 'एवं चेह तन्तुषु पट इति व्यपदेशोऽपि यथेह वने तिलका इत्युपपन्नः'—यह अंश जोड़ना चाहिये।
८२	२२	अर्थक्रिया ही की	अर्थक्रिया की
८५	७	यह असंगत इस बोध है	यह असंगत है
८५	८	के साथ	इस बोध के साथ
८६	१	सन्निवेश का	किसी एक सन्निवेश का
९०	७	हर्यं	हर्षं
१०३	१२	वाक्य में अनेक का अर्थ	वाक्य में 'अनेक नहीं है' का अर्थ
१०४	१७	लक्षणम्	तल्लक्षणम्
११५	२६	×	यहाँ हमने 'ऊर्ध्वं चाप' का अर्थ 'ऊर्ध्वस्थ वायु का दबाव जो ऊपर से नीचे की ओर आता है' इस अर्थ में किया है।

पृष्ठ	पंक्ति	मुद्रित पाठ	शुद्ध पाठ
११८	२०	होहात्मक	मोहात्मक
११८	१४	अविवेकी रूप धर्म का वाचक	अविवेकी—यह धर्मी-वाचक शब्द
११९	२२	अव्यक्त व्याप्ति के अमाव	अव्यक्त को पक्ष मानने पर अन्वय व्याप्ति का अभाव
११९	२३	×.×	दोनों को पक्ष मानने पर····लक्षित होता है—यह अंश मूलार्थ को समझने के लिए है, मूल का अनुवाद नहीं है। इस अंश में अन्वय यह शब्द नहीं रहेगा (पं० २४) तथा अन्तिम शब्द के बाद एवं पुरुषतत्त्व (पं० २६) शब्द के वाद कोष्ठक नहीं रहेगा।
१२८	१५	अप्राधान्य भाव	के अप्राधान्य भाव
१३३	१	भामती २।२।९	भामती २।२।१
१३८	२६	गृहावयवसमूहरूप फल	गृहावयवसमूहरूप गृह
१३८	२७	'शयन करना' रूप बहु	शयन करना रूप फल बहु-
१४४	२०	that pure self which is many	that the pure self which is consciousness is many
१५८	३	पुत्रज	पुञ्ज
१५९	६	अपने जो	अपने को
१६८	३	तन्मात्राओं	तन्मात्रों
१८२	२४	ठीक हो जाती है	ठीक ही रहती है
२०४	२७	अवयवसांख्यीय संवन्धी धारणा	अवयवसम्वन्धी धारणा सांख्यीय
२०६	६	वृत्तिद्वैविम्यं	वृत्तिद्वैविध्यं
२१३	२१	प्रयोग से अर्थ इसकी	प्रयोग से इस अर्थ की
२१६	२७	व्यवसेय नामक	व्यवसाय नामक
२३६	८	रूपेवैति	रूपेवेति
२५०	१३	अवयवप्रदर्नन	अवयवप्रदर्शन
२६८	२९	आवश्यकता को	आवश्यकता

पृष्ठ	पंक्ति	मुद्रित पाठ	शुद्ध पाठ
२७८	२९	प्राण-	प्राणी-
२७९	५	प्रभवणाम्	प्रभवाणाम्
२८७	११	व्याख्या	दृष्टि
२९१	१२	पञ्च नव ऐसा	पञ्च च नव ऐसा
३०९	६	दुःखगविशिष्टम्	दुःखमविशिष्टम्
३१०	३	अनिवृत्तिः	आविनिवृत्तेः
,,	२३	परप्रकाश	परप्रकाश्य
३१४	१७	प्रवृत्त ही	प्रवृत्ति
३१८	३१	असमाभेय	असमाधेय
३२७	७	प्रकृते	प्रकृतेः
३३३	२५	मोक्ष के लिये	लिये
३३४	३	पुरुषेपूपचयेन्ते	पुरुषेपूपचर्यन्ते
३३५	२७	गपिनी	पाणिनि
,,	२७	नानाऔननसह	नानाञौ नसह
३४९	१३	किये करता	किये रहता
३५१	११	को ध्वनि है	की यह भी ध्वनि है
३६६	१२	मनगांसि	मनांसि
३९८	१२	व्यापक उल्लेख	व्यापक का उल्लेख
३९९		भ्रमकश	भ्रमवश
४१८	२०	ज्ञेय	ज्ञान
४२३	५	नान्तेभ्यश्च (४।३ वासि १०४)	नान्तेवासिभ्यश्च (४।३।१०४)
४२७	१८	समझते थे	समझते हैं
४२८	२७	कण्ठतात्त्वाद्यमि	कण्ठताल्वाद्यभि
४३२	१२	रञ्जु की तरह	रज्जु की तरह

●●●